जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूं-341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम.ए. (उत्तरार्द्ध)

विषय : राजनीति विज्ञान

षष्ठ पत्र : पश्चिमी राजनीतिक चिन्तन

संवर्ग

संवर्ग-1 पश्चिमी राजनीतिक चिंतन का महत्त्व, प्लेटो, अरस्तू।

संवर्ग-2 सन्त अॅगस्टाइन, सन्त थॅमस एक्वीनास, मैकियावली।

संवर्ग-3 टॉमस हॉब्स, जॉन लॉक, जीन जैक्स रूसो।

संवर्ग-4 एडमण्ड बर्क, इमेनुअल काण्ट, जेरेमी बेन्थम, एलेक्सिस डी टॉकविले, जे.एस. मिल।

संवर्ग-5 जॉर्ज विलियम फ्रेडरिक हीगल, कार्ल मार्क्स।

Expert Committee

Sr. No.	Name	Designation	Organization
1.	**Prof. K.S. Saxena**	Retd. Professor	Rajasthan University, Jaipur
2.	**Prof. Kanta Katariya**	Professor	Jai Narayan Vyas University, Jodhpur
3.	**Dr. Rajesh Sharma**	Associate Professor	Rajasthan University, Jaipur
4.	**Prof. Anil Dhar**	Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
5.	**Dr. Jugal Kishore Dadhich**	Associate Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
6.	**Prof. A.P. Tripathi**	Professor,	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

ISBN No. 978-93-83634-49-1

लेखक

डॉ. बलबीर सिंह चारण

सहा-आचार्य, आचार्य कालूकन्या महाविद्यालय
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं 341306 (राजस्थान)

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2019

मुद्रित प्रतियां : 140

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं - 341306 (राजस्थान)

मुद्रक :

M/s ADITYA PRINTERS & STATIONERS, JAIPUR

विषय-सूची

क्र. सं.	ईकाई	पृष्ठ संख्या
1.	पश्चिमी राजनीतिक चिंतन का महत्त्व	01–03
2.	प्लेटो	04–33
3.	अरस्तू	34–57
4	सन्त ऑगस्टाइन	58–62
5	सन्त थॉमस एक्वीनास	63–71
6	मैकियावेली	72–92
7	टॉमस हॉब्स	93–111
8	जॉन लॉक	112–131
9	जीन जैक्स रूसो	132–153
10	एडमण्ड बर्क	154–163
11	इमेनुअल कॉण्ट	164–180
12	जेरेमी बेन्थम	181–199
13	एलेक्सिस डि टॉकविले	200–202
14	जे.एस. मिल	203–218
15	जॉर्ज विलियम फ्रेडरिक हीगल	219–241
16	कार्ल मार्क्स	242–279

इकाई–1
पश्चिमी राजनीतिक चिंतन का महत्त्व

संरचना–

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 पश्चिमी राजनीतिक चिंतन का महत्त्व

1.2.1 तुलनात्मक अध्ययन में सहायक

1.2.2 नैतिक मूल्यों पर बल

1.2.3 सत्यान्वेषण में सहायक

1.2.4 यर्थाथवादी दृष्टिकोण पर बल

1.2.5 विधि के शासन पर बल

1.2.6 धर्मनिरपेक्षता पर बल

1.2.7 सामाजिक समझौता सिद्धात का प्रतिपादन

1.2.8 राज्य के उपायोगितावादी स्वरूप पर बल

1.2.9 सामाजिक समता पर बल

1.3 निष्कर्ष

1.0 उद्देश्य–

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत पश्चिमी राजनीतिक चिंतन के महत्त्व का वर्णन किया गया है। इस अध्याय को अध्ययन करने के पश्चात् अध्ययनकर्ता–

- पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के स्वरूप को समझ सकेंगे
- पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की मौलिक विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- राजनीतिक विश्लेषण करने में पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के महत्त्व को समझ सकेंगे।
- पश्चिमी राजनीतिक दर्शन की मूल प्रवृतियों को समझ सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

किसी भी युग के राजनीतिक चिंतन एवं दर्शन पर तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों का प्रभाव परिलक्षित होता है। पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन एवं दर्शन पर भी उस समय की राजनीतिक सताओं एवं शासन प्रणाली का प्रभाव पड़ा। प्लेटों एवं अरस्तू को पााश्चात्य राजनीतिक विश्लेषण में शुरूआती चरण में महत्त्वपूर्णस स्थान प्राप्त है जिन्होंने सुकरात के दर्शन को दिशा दी एवं आगे बढ़ाया। इनके विश्लेषण को एवं चिंतन को आधार मानकर कालांतर में अनेक अध्ययनकर्ता को एवं चिंतकों ने अपने विचारों की प्रतिपादन किया। अतः पाश्चात्य दर्शन एवं चिंतन की अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो जाता है। जिसकी उपादेयता का अध्ययन करना समीचीन है।

1.2 पश्चिमी राजनीतिक चिन्तन का महत्त्व

पश्चिमी राजनीतिक चिंतन का महत्त्व क्या है? इसकी अध्ययन एवं विश्लेषण हेतु क्या प्रांसगिकता है? इस हेतु कई कारक उतरदायी माने जा सकते है। जिनका वर्णन इस प्रकार है–

1.2.1 तुलनात्मक अध्ययन में सहायक

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन कर्ताओं का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता हैं। इन्होंने विभिन्न शासन प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन करके नये रूप में अपने विचारों का प्रतिपादन किया। अतः तुलनात्मक अध्ययन हेतु पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन का महत्त्व माना जा सकता है।

1.2.2 नैतिक मूल्यों पर बल–

परम्परागत पश्चिमी राजनीतिक चिंतन में प्लेटों जैसे विचारकों ने नैतिकता वाली दृष्टिकोण अपनाकर शाषकों एवं जनता में अपेक्षा की कि समाज में नैतिकता का माहौल होना आवश्यक है। वर्तमान समय में भी यदि समाज में नैतिकता का

माहौल बना रहे तो उनके समस्याओं से समाज का उबारा जा सकता है। अर्थात् मानव जीवन में नैतिकता का निष्कर्ष अनेक समस्याओं के हल का साधन माना जा सकता है। इस कारण भी पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है।

1.2.3. सत्यान्वेषण में सहायक

पश्चिमी राजनीतिक चिंतन में सुकरात जैसे विचारकों ने अपना ध्येय सत्य का अन्वेषण करना रखा। हालांकि कुछ विचारकों द्वारा यह भी मत व्यक्त किया गया कि मानव स्वार्थी होते है तथा सभी की शक्तियां बराबर नहीं होती लेकिन फिर भी सत्यान्वेषण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया हो जिसकी व्याख्या पाश्चात्य विचारकों द्वारा की गई। इस आधार पर भी पश्चिमी राजनीतिक चिंतन का अध्ययन का महत्त्व है।

1.2.4. यर्थाथवादी दृष्टिकोण पर बल

राजनीतिक चिंतन में अरस्तू को यथार्थवादी विचारक की श्रेणी में माना जाता है। इन्होंने आदर्शवादी दृष्टिकोण की बजाय यर्थाथवादी एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया। इसके अलावा कालांतर में भी पाश्चात्य दृष्टिकोण में यर्थाथवाद पर बल दिया गया। अतः इस कारण भी पश्चिमी राजनीतिक चिंतन एवं दर्शन का विश्लेषण करना महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी माना जा सकता है।

1.2.5. विधि के शासन पर बल

विधि का शासन एक सकारात्मक दृष्टिकोण माना जाता है। प्रत्येक शासन प्रणाली एवं संविधान की सार्थकता का आधार विधि का शासन भी माना जाता है। पश्चिमी राजनीतिक चिंतन का अवलोकन करें तो इसमें भी विधि के शासन को स्वीकार किया गया है। इस कारण भी पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन का अध्ययन उपयोगी माना जा सकता है।

1.2.6. धर्मनिरपेक्षता पर बल

मैकियावली के राजनीतिक चिंतन पर तत्कालीन पुर्नजागरण आंदोलन का प्रभाव पड़ा तथा राजनीतिक चिंतन में उन्हें आधुनिक राजनीतिक विचारक के नाम से जाना जाता है। इस समय पाश्चात्य दर्शन में अंधविश्वासों का विरोध कर व्यवस्थित राजनीतिक विचारों सूत्रपात किया गया। इसके अलावा राष्ट्र राज्य की अवधारणा की पश्चिमी विचारक मैकियावली की देन है। अतः इस आधार पर भी पश्चिमी राजनीतिक चिंतन का महत्त्व माना जाता है।

1.2.7. सामाजिक समझौता सिद्धात का प्रतिपादन

जॉन लॉक तथा जीन जैकस रूसों को राजनीतिक चिंतन में संविदावादी की विचारक माना जाता हैं जिन्होंने राज्य की उत्पत्ति का आधार सामाजिक समझौता माना। राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई इस हेतु एक आधार यह भी माना जाता है। इसलिए पाश्चात्य दर्शन एवं चिंतन की उपादेयता मानी जा सकती है।

1.2.8. राज्य के उपायोगितावादी स्वरूप पर बल

जेरेमी बेंथम तथा जौन स्टुअर्ट मिल ने राज्य की प्रकृति का विवेचन करते हुए राज्य की उपयोगिता का आधार बतलाया और राज्य के संदर्भ में उपयोगितावाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। अतः इस कारण भी राजनीतिक चिंतन में पश्चिमी राजनीतिक चिंतन को महत्त्वपूर्ण एवं सहायक माना जा सकता है।

1.2.9. सामाजिक समता पर बल–

युनानी दर्शन में समाज में समानता स्थापित करना अध्ययनकर्ताओं एवं चिंतनकर्ताओं का मुख्य लक्ष्य रहा है। विशेषरूप से कार्ल मार्क्स ने समाज में आर्थिक समानता अपना मुख्य लक्ष्य रखा तथा इसके लिए रचनात्मक प्रयासों पर भी बल दिया। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक समानता स्थापित करने का मुख्य आधार आर्थिक समानता को माना तथा इस हेतु अपने कुछ सिद्धांतों का भी प्रतिपादन किया। अतः यह माना जा सकता है कि सामाजिक समानता स्थापित करना एक आदर्श होता है जिसकी स्थापना करने का लक्ष्य पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में रखा गया। इस कारण भी पश्चिमी राजनीतिक चिंतन का महत्त्व स्वीकार किया जाना समीचीन है।

1.3 निष्कर्ष–

इस प्रकार पश्चिमी राजनीतिक चिंतन की राजनीतिक दर्शन में महत्त्वपूर्ण प्रभावशाली भूमिका मानी जा सकती है। भारतीय दर्शन के अध्ययन के साथ–साथ राजनीतिक अध्ययनकर्ताओं को पाश्चात्य राजनीतिक दृष्टिकोण एवं चिंतन का अध्ययन करना जरूरी है क्योंकि पश्चिमी राजनीतिक चिंतनकर्ताओं ने भी अनेक सिद्धांतों का निर्माण किया एवं राजनीतिक अवधारणाओं का प्रतिपादन किया। अतः पश्चिमी राजनीतिक दर्शन के विभिन्न चरणों एवं आयामों का अध्ययन कर उनके विकासात्मक पहलुओं का अध्ययन करना चाहिए। एक अध्ययन की विषय वस्तु के रूप में पश्चिमी राजनीतिक चिंतन को मुख्य आधार एवं विषय वस्तु माना जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन पर अपने विचार लिखिए।
2. पश्चिमी राजनीतिक चिंतन के महत्व को स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के महत्व के कोई चार आधार बतलाइये।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. तुलनात्मक अध्ययन से क्या आशय है?
2. विधि के शासन को स्पष्ट कीजिए।

इकाई–2
प्लेटो

संरचना–

2.0 उद्देश्य–

2.1 प्रस्तावना

2.2 जीवन परिचय

2.3 प्रमुख रचनाएं

2.4 प्लेटो का आदर्श राज्य

- 2.4.1 प्लेटो के आदर्श राज्य में व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध
- 2.4.2 प्लेटो के आदर्श राज्य की उत्पत्ति : विकास चरण
- 2.4.3 आदर्श राज्य के निर्माणक तीन वर्ग
- 2.4.4 आदर्श राज्य की आधारशिला–न्याय
- 2.4.5 आदर्श राज्य के आधारस्तम्भ–शिक्षा और साम्यवाद
- 2.4.6 आदर्श राज्य की बागडोर–दार्शनिक शासक के हाथों में
- 2.4.7 आदर्श राज्य की अवधारणा : आलोचनात्मक मूल्यांकन
- 2.4.8 प्लेटो के आदर्श राज्य का व्यावहारिक आधार
- 2.4.9 आदर्श राज्य की अवधारणा की उपादेयता

2.5 प्लेटो का न्याय सिद्धांत

- 2.5.1 प्लेटो के न्याय सिद्धांत की विशेषताएँ
- 2.5.2 प्लेटो के न्याय सिद्धांत की आलोचना

2.6 प्लेटोवादी साम्यवाद का सिद्धान्त

- 2.6.1 प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा के स्रोत
- 2.6.2 प्लेटो के साम्यवाद का क्षेत्रः साम्यवाद केवल संरक्षक वर्ग के लिए
- 2.6.3 सम्पत्ति संबंधी साम्यवाद
- 2.6.4 परिवार विषयक साम्यवाद

2.7 प्लेटो की शिक्षा सिद्धान्त

- 2.7.1 प्रारम्भिक शिक्षा
- 2.7.2 उच्च शिक्षा
- 2.7.3 प्लेटो के शिक्षा सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएँ
- 2.7.4 प्लेटो की शिक्षा योजना की आलोचना
- 2.7.5 प्लेटो के शिक्षा सिद्धांत की उपादेयता

2.8 निष्कर्ष

2.0 उद्देश्य–

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत प्लेटों के राजनीतिक दर्शन को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् अध्ययनकर्ता–

- प्लेटो के जीवन काल के बारे जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्लेटो द्वारा बतलायी गई न्याय व्यवस्था एवं न्याय के स्वरूप के बारे में अपनी समझ बढ़ा सकेंगे।
- प्लेटो की शिक्षा योजना के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

- प्लेटों द्वारा बतलाये गये परिवार विषयक एवं सम्पत्ति विषयक साम्यवाद का अध्ययन कर वर्तमान साम्यवाद से तुलना कर सकेंगे।
- प्लेटों की आदर्श राज्य की धारणा का अध्ययन कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना–

पश्चिमी राजनीतिक चिंतन में सुकरात प्लेटो एवं अरस्तू की गुरू शिष्य की त्रि श्रृंखला रही है। सुकरात के दर्शन को प्लेटों ने आगे बढ़ाया तथा प्लेटों के दर्शन में रही कर्मियों को दूर कर नये रूप में अरस्तू ने यर्थाथवादी स्वरूप में उसे नई दिशा दी। अतः इनका पाश्चात्य दर्शन को आधारशिला में विशेष योगदान माना जाता है। सुकरात ने "सदगुण ही ज्ञान है" को आधार माना तथा प्लेटो ने भी सदगुण पर विशेष बल दिया व इसे अपने चिंतन का केन्द्र बिन्दु भी स्वीकार किया। इसी कारण प्लेटों को राजनीतिक चिंतन ने काल्पनिक, स्वपनदृष्टा एवं आदर्शवादी विचारक की श्रेणी में माना जाता है अतः उसके मूल विचारों उसके द्वारा प्रतिपादित प्रमुख का अध्ययन करना आवश्यक है।

2.2 जीवन परिचय

महान काल्पनिक एवं स्वप्नदृष्टा चिंतक प्लेटो का जन्म 427 ईसा पूर्व ऐथेंस के एक कुलीन परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम अरिस्तोन तथा माता का नाम परिकतिओन था। प्लेटो का मूल नाम अरिस्तोक्लीज था लेकिन इनके चौड़े–चौड़े कन्धे एवं हृष्ट–पुष्ट शरीर के कारण इनके गुरू इन्हें प्लाटॉन कहा करते थे और कालांतर में इन्हें प्लेटो के नाम से जाना जाने लगा। युवावस्था में प्लेटो एवं चिंतनशील एवं क्रांतिकारी विचारधारा से प्रभावित था, और उनका लक्ष्य था कि वे एक सक्रिय राजनेता के रूप में उभर कर आयेंगे लेकिन अपनी चिंतनशीलता से वे राजनेता तो नही बन पाये पर एक महान चिंतक एवं दार्शनिक जरूर बन गये।

प्लेटो को शिक्षा ग्रहण के दौरान महान दार्शनिक सुकरात से शिक्षा प्राप्त करने का मौका मिला। सुकरात की शिक्षा पद्धति एवं विचारों से प्लेटो काफी प्रभावित हुआ तथा इसी कारण उन्होंने अपने जीवन में नैतिकता, सद्गुण तथा विवेक के शासन पर बल दिया और इन्हें अपने आदर्श के रूप में स्वीकार किया। 28 वर्ष की अवस्था में प्लेटो के जीवन में एक महत्वपूर्ण मोड़ आया जब उनके गुरु सुकरात को विष देकर मरवा दिया गया तो उन्हें सांसारिक जीवन से विरक्ति हो गयी। उन्होंने सोचा कि जब तक शासक विवेकी एवं बुद्धिमान नहीं होंगे तब तक इस सांसारिक जीवन की समस्याओं की समाधान सम्भव नहीं है और विवेकी शासक के बिना कोई भी राज्य अपने लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं कर सकता। अतः प्लेटो ने लोगों को शिक्षा प्रदान करने तथा विवेकी शासक बनाने के लिए शिक्षणालय की खोला, जिसका नाम "द अकादमी" गया। अपने जीवन के शेष वर्ष प्लेटो ने इसी अकादमी में बिताये तथा लगभग 40 वर्षों से इसी अकादमी में अध्ययन–अध्यापन का कार्य किया। इस अकादमी में प्लेटो ने गणित एवं ज्यामिति की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। अकादमी के मुख्य द्वार पर अंकित था कि गणित के ज्ञान के बिना कोई प्रवेश प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है। इसके अलावा राजनीति, दर्शन, तर्कशास्त्र, मानवशास्त्र आदि की शिक्षा भी दी जाती थी।

367 ईसा पूर्व में सिराक्युज में शासक दियोनिसियस द्वितीय गद्दी पर आसीन हुए तथा उन्होंने प्लेटो से आग्रह किया कि वे उसे एक दार्शनिक शासक बनने में सहायता एवं मार्गदर्शन प्रदान करें। प्लेटो को लगा कि अपने आदर्शवादी विचारों को व्यावहारिक धरातल पर उतरने का उचित अवसर है। अतः वह इस महान कार्य में लग गया लेकिन चाटुकारों द्वारा इस वैमनस्य पैदा कर प्लेटो की इस योजना को भी अप्रभावी बना दिया गया। प्लेटो वापस ऐथेंस लौट आया। इसके पश्चात् वह आदर्शवादिता के स्थान पर व्यवहारिकता की और अग्रसर हुआ तथ नैतिकता एवं आदर्श के स्थान पर कानून एवं व्यवहारिकता में विश्वास रखने लगा। 347 ईसा पूर्व में 81 वर्ष की आयु में इस महान आदर्शी, दार्शनिक एवं कल्पनावादी चिंतक का देहावसान हो गया।

2.3 प्रमुख रचनाएं

प्लेटो की रचनाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण रचना "रिपब्लिक" का नाम लिया जाता है। इसके अलावा अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएं निम्न मानी जाती है–

1. द स्टेटसमेन
2. अपोलोजी
3. क्रीटो
4. युथीफ्रो
5. मीनो
6. फेडो

7. जोर्जियस
8. प्रोटागोरस
9. सोफिस्ट
10. द लॉज

2.4 प्लेटो का आदर्श राज्य

रिपब्लिक में दार्शनिक प्लेटो के समस्त चिन्तन का केन्द्रीय विषय **'आदर्श राज्य' है।** अपने **'आदर्श राज्य'** के भव्य भवन के निर्माण हेतु उसने न्याय सिद्धांत को आधारशिला तथा शिक्षा योजना एवं साम्यवाद के सिद्धांत का आधार स्तम्भ के रूप में प्रयोग किया है। आदर्श राज्य की बागडोर वह ऐसे दार्शनिक शासकों के हाथों में सौंपता है जिनमें सुन्दर आत्मा के सभी गुण होते हैं। अर्थात् वे सर्वज्ञ, विवेकशील, सर्वदृष्टा तथा परममत् के गुणों से युक्त शासक होते हैं।

प्लेटो एक ऐसे आदर्श राज्य की रचना करना चाहता था जो पूर्णरूपेण **'आदर्श राज्य'** हो अर्थात् उसकी रचना, उसकी दृढ़ता, उसके सौन्दर्य एवं उसकी आदर्शवादिता में कहीं भी किसी भी प्रकार की वह त्रुटि नहीं रखना चाहता था। आदर्श की आदर्श के हेतु उपासना ही रिपब्लिक में उसके चिन्तन का एकमात्र लक्ष्य था। उसको इस बात की विशेष चिन्ता नहीं थी कि उसके द्वारा चित्रित आदर्श राज्य व्यावहारिक भी है अथवा नहीं। उसने स्वीकार किया है कि "वह नगर (आदर्श राज्य) शब्दों में निर्मित है; क्योंकि मेरे विचार से पृथ्वी पर यह कहीं भी नहीं है।" राजनीतिक जीवन को आदर्श बनाने अथवा राज्य का आदर्श मॉडल निर्मित करने की उसकी इतनी तीव्र लालसा थी कि इसे व्यावहारिक बनाने के लिए इसमें किंचित मात्र भी संशोधन करने को वह तैयार न था। **नैटलशिप** के शब्दों में, "रिपब्लिक में वह अपने आदर्श को किंचित मात्र भी न्यून नहीं करता, उसे केवल इस बात से सन्तोष है कि वह इसे (राज्य को) एक **'आदर्श'** रूप में प्रदर्शित कर रहा है।"

2.4.1 प्लेटो के आदर्श राज्य में व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध

अपने आदर्श राज्य के निर्माण का प्रारम्भ प्लेटो ने व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों की प्रकृति पर विचार करते हुए किया है। उसके अनुसार राज्य तथा व्यक्ति दो पर्यायवाची शब्द है। राज्य व्यक्ति के विराट रूप की अभिव्यक्ति है। प्लेटो का मत था कि राज्य वृक्षों या चट्टानों से पैदा नहीं होते किन्तु उन व्यक्तियों के चरित्र से निर्मित होते हैं, जो उनमें रहते हैं। प्लेटो को राज्य की चेतना में तथा व्यक्ति की चेतना में एकता का आभास हुआ है। **प्रो. बार्कर** के शब्दों में, "राज्य की चेतना ठीक उसके सदस्यों की चेतना है, जब वे (राज्य के) सदस्य के रूप में विचार कर रहे हों।" राज्य तथा व्यक्ति में उसे एक नैतिक समानता अथवा यों कहना चाहिये नैतिक एकता का भी आभास हुआ है। उसने यह भी स्वीकार किया है कि व्यक्ति और राज्य के ना तो उद्देश्यों में ही अन्तर है और न ही उनके हितों में ही किसी प्रकार का विरोधाभास है। उसके मतानुसार अच्छे जीवन की प्राप्ति ही राज्य तथा व्यक्ति के जीवन का महानतम् उद्देश्य है।

2.4.2 प्लेटो के आदर्श राज्य की उत्पत्ति : विकास चरण

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य का निर्माण के तीन चरण माने है। मानव की आर्थिक आवश्यकताओं को ही राज्य उत्पत्ति का प्रमुख आधार उसने माना है क्योंकि इनकी पूर्ति के लिए ही व्यक्ति किसी न किसी प्रकार का सहयोग करने के लिए बाध्य होता है। **बर्कर** के शब्दों में, "भोजन, उष्णता तथा प्रश्रय की इच्छाएं सामान्य प्रयास के अभाव में उचित रूप से पूरी नहीं की जा सकती है।" **प्लेटो** के शब्दों में, "राज्य मानव समाज की आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है..... कोई भी आत्मनिर्भर नहीं है।" इस प्रकार प्लेटो के अनुसार मानव की आर्थिक आवश्यकताएं ही राज्य को एकता के सूत्र में बांधने वाले प्रारम्भिक बिन्दु हैं। इकाई के रूप में कोई भी व्यक्ति अपने आर्थिक जीवन की समस्त आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता, जबकि पारस्परिक सहयोग एवं विनिमय से सभी अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की अधिक से अधिक मात्रा में पूर्ति करने में सफल हो सकते हैं। किसी भी व्यक्ति या समाज के आर्थिक हितों की समुचित रूप से रक्षा तभी हो सकती है जब व्यक्ति अपने द्वारा तैयार की गयी वस्तुएं समष्टि को प्रदान करे तथा अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुाएं समष्टि से प्राप्त करे। आर्थिक जीवन की वस्तुओं का इस प्रकार का आदान–प्रदान श्रम विभाजन तथा कार्य विशिष्टीकरण को जन्म देता है। आर्थिक आधार पर प्लेटो ने इस आदान–प्रदान को उचित ठहराया है। इस आर्थिक पहलू का राजनीतिक महत्त्व भी उसे दृष्टिगोचर हुआ है, क्योंकि कार्य विशिष्टीकरण का सिद्धांत उसकी दृष्टि में राज्य की एकता का सृष्टा है। **प्लेटो** के शब्दों में, "इरादा यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे काम में लगाया जाय जिसके लिए प्रकृति ने उसका चयन किया है। एक व्यक्ति को एक काम दिया जाय और तब प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वयं का कार्य करेगा।" राज्य की उत्पत्ति के इस प्रथम चरण में राज्य के उस वर्ग का विकास होत है जिसे प्लेटो 'उत्पादक वर्ग' कहकर पुकारता है एवं जिसका प्रमुख गुण 'सम्पत्ति प्रेम' तथा 'लालसा' है।

राज्य की उत्पत्ति का **दूसरा चरण** तब प्रारम्भ होता है जब प्लेटो उस वर्ग के निर्माण की योजना प्रस्तुत करता है जो राज्य के साहस तथा उत्साह का प्रतिनिधि है। राज्य के अंग के रूप में इस वर्ग का प्रमुख गुण उत्साह है। प्लेटो के

अनुसार मनुष्य सिर्फ आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह अपनी सांस्कृतिक इच्छाओं को भी तृप्त करना चाहता है। उसे संगीत, साहित्य, काव्य, कविता, कला आदि विभिन्न वस्तुओं की तृष्णा होती है। इन विभिन्न वस्तुओं की प्राप्ति हेतु अधिसंख्यक लोगों का होना आवश्यक है। अधिसंख्यक लोगों के निवास और भरण पोषण के लिए विशाल भू–प्रदेश की आवश्यकता होती है। विशाल भू–प्रदेश को अधिकृत करने हेतु युद्ध होता है। युद्ध के हेतु सैनिक वर्ग का उदय होता है। अतः सैनिक वर्ग के कार्यों, दायित्वों और गुणों का विश्लेषण कर प्लेटो ने यही दर्शाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार आत्मा का साहस तत्त्व आदर्श राज्य के निर्माण एवं संरक्षण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

जिस प्रकार प्लेटो के आदर्श राज्य के निर्माण के प्रथम चरण में उत्पादक वर्ग का उदय होता है उसी प्रकार उसके द्वितीय चरण में सैनिक वर्ग का अभ्युदय होता है। सैनिक वर्ग का मुख्य कार्य बाहरी आक्रमण से राज्य की रक्षा करना एवं आन्तरिक शान्ति–सुरक्षा कायम करने में सहयोग देना है। यद्यपि प्लेटो ने सैनिक वर्ग के विकास की व्याख्या राज्य की आक्रमणकारी लिप्सा के संदर्भ में की है, तथापि प्लेटो का आदर्श राज्य स्वयं आक्रामक नहीं होता। अतएव, आदर्श राज्य में सैनिक वर्ग का प्रमुख कार्य रक्षात्मक है, आक्रामक नहीं। प्लेटो ने सैनिकों को प्रहरी की संज्ञा दी है और उनकी तुलना रखवाली करने वाले कुत्तों से की है। चेतना और साहस उनके मुख्य गुण होते हैं।

आदर्श राज्य के निर्माण का **तीसरा चरण** तब प्रारम्भ होता है जबकि सैनिक वर्ग में से ही प्लेटो राज्य के विवेक तत्व का प्रतिनिधित्व करने वाले सर्वोच्च वर्ग का निर्माण करता है। उसके अनुसार सैनिक वर्ग के लोगों में सामान्यतया उत्साह तथा विवेक पाया जाता है। किन्तु इनमें कतिपय ऐसे व्यक्ति भी होते है जिनमें उत्साह की अपेक्षा विवेक का अत्यधिक बाहुल्य होता है ऐसे लोगों को प्लेटो ने राज्य के दार्शनिक शासक माना है। विवेक के अन्तर्गत प्लेटो ने दो गुण माने हैं। प्रथम, विवेक से व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है तथा द्वितीय विवेक ही व्यक्ति को प्रेम करना सिखाता है। अतः प्लेटो के अनुसार शासक विवेकशील होना चाहिये एवं उसमें पर्याप्त मात्रा में स्नेहशीलता होनी चाहिये।

इस प्रकार तीना चरणों में राज्य निर्माण, उन तीन वर्गों के क्रमशः विकास के साथ सम्पन्न होता है, जो राज्य की तीन मूलभूत आवश्यकताओं– 'उत्पादन', 'रक्षा' तथा शासन की पूर्ति अपने तीन गुणों–क्षुधा, साहस तथा विवेक के आधार पर करते हैं।

2.4.3 आदर्श राज्य के निर्माणक तीन वर्ग

प्लेटो के अनुसार राज्य की उत्पत्ति के विकास चरणों में तीन ऐसे वर्गों का विकास हुआ जिनके कंधों पर आदर्श राज्य का भार डाला जा सकता है। प्लेटो के आदर्श राज्य का निर्माण करने वाले ये तीन वर्ग–उत्पादक वर्ग, सैनिक वर्ग तथा दार्शनिक शासक क्रमशः राज्य की आत्मा के तीन गुणों–क्षुधा, उत्साह तथा विवेक का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें से दो वर्गों–सैनिक तथा दार्शनिक शासक–को प्लेटो ने राज्य का संरक्षक माना है। इसका कारण यह है कि राज्य का विवेक राज्य के उत्साह की सहायता से राज्य के संरक्षक की जिम्मेदारी को समुचित रूप से निभा सकता है। प्लेटो का मानना था कि राज्य के इन तीनों वर्गों के अनुरूप ही कार्यों का संचालन करना चाहिए; इस प्रकार उसके आदर्श राज्य की एक विशेषता कार्य विभाजन के सिद्धांत की क्रियात्मक उपस्थिति थी।

2.4.4 आदर्श राज्य की आधारशिला–न्याय

प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य की आधारशिला न्याय के सिद्धांत पर टिकी हुई है। चूँकि आदर्श राज्य में तीन वर्ग होते हैं और कार्य विभाजन एवं विशिष्टीकरण की धारणा के आधार पर इन तीनों वर्गों को अपना–अपना कार्य दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप किये बिना करना होता है इसलिए न्याय राज्य का वह गुण है जिसकी उपस्थिति के कारण ही राज्य के विभिन्न वर्ग अपने–अपने कार्य–क्षेत्रों तक अपनी कार्यवाहियों को सीमित रखते हुए अपनी प्राकृतिक क्षमता एवं प्रशिक्षण के आधार पर निश्चित हुए कार्य को पूरी तन्मयता एवं लगन से सम्पन्न करते हैं एवं श्रेष्ठता को प्राप्त करते हैं। प्लेटो की दृष्टि में वह राज्य न्याय पर आधारित है जिसमें नागरिक अपने–अपने निर्धारित क्षेत्रों से अपने जिम्मे के कार्य सम्पन्न करते है।

2.4.5 आदर्श राज्य के आधारस्तम्भ–शिक्षा और साम्यवाद

यदि न्याय का सिद्धांत राज्य की आधारशिला है तो शिक्षा योजना तथा साम्यवादी व्यवस्था आदर्श राज्य के आधारभूत स्तम्भ है। उसने रिपब्लिक में **शिक्षा** को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि रूसो ने इसे राजनीति विषयक ग्रन्थ न मानकर शिक्षा विषयक एक अत्यन्त श्रेष्ठ ग्रन्थ माना है। प्लेटो का दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा व्यक्ति को एक विशेष कार्य का प्रशिक्षण देकर उसे वही कार्य सम्पन्न करते रहने की प्रेरणा देगी। राज्य द्वारा नियोजित शिक्षा प्रणाली को अपनाकर एक बहुत बड़ी सीमा तक व्यक्ति के दृष्टिकोण को सही दिशा में बदला जा सकता है। आदर्श राज्य द्वारा प्रदत्त शिक्षा योजना की निम्नलिखित विशेषताओं पर प्लेटो जोर देता है।

साम्यवाद प्लेटो के आदर्श राज्य का दूसरा आधारस्तम्भ है। यह शिक्षा द्वारा प्रजनित भावनाओं को दृढ़ करने एवं उन्हें क्रियाशील बनाने का कार्य करता है। प्लेटो का दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा के द्वारा नैतिक विकासस कर लेने मात्र से ही आदर्श राज्य का निर्माण नहीं हो जायेगा क्योंकि अनेक बाह्य परिस्थितियां ऐसी होती हैं जिनका अनिष्टकारी प्रभाव मानव के हृदय पटल पर पड़ता है। अतः साम्यवाद के द्वारा अपने आदर्श राज्य में वह उन बाह्य परिस्थितियों को जड़ मूल से नष्ट कर देना चाहता था जो मानव समाज के नैतिक विकास का मार्ग अवरूद्ध करने वाली दुर्गम चट्टानें दृष्टिगोचर हुईं जिन पर प्रहार करके उसने अपने आदर्श राज्य के प्रासाद की नींव सुदृढ़ करने का प्रयास किया है।

प्लेटो ने अपने साम्यवाद को आदर्श राज्य के दो वर्गों– शासकों तथा सैनिकों तक ही सीमित रखा है। उसका साम्यवाद राज्य के अल्पसंख्यकों के लिए था। अपनी निजी सम्पत्ति तथा अपने पारिवारिक जीवन की आहुति राज्य के दार्शनिक शासक वर्ग तथा सैनिक वर्ग को ही देनी थी और उन्हें भी इसलिए देनी थी कि प्लेटो के आदर्श राज्य का सफल निर्माण उनकी कार्यकुशलता, क्षमता, स्वार्थहीनता तथा राज्य के प्रति उनकी आस्था पर ही आधारित था। प्लेटो की योजना में संरक्षक वर्ग के पास न तो सम्पत्ति होती है और न ही परिवार। उनकी सेवाओं के बदले राज्य उनकी आर्थिक आवश्यकताओं–भोजन, वस्त्र, निवास आदि का सामूहिक रूप से प्रबन्ध करता है। संक्षेप में, आदर्श राज्य में प्लेटो राज्य की राजनीतिक शक्ति तथा आर्थिक शक्ति का एक हाथों में आ जाना किसी भी प्रकार से वांछनीय नहीं समझता है।

2.4.6 आदर्श राज्य की बागडोर–दार्शनिक शासक के हाथों में

प्लेटो अपने आदर्श राज्य की बागडोर दार्शनिक वर्ग को प्रदान करता है। दार्शनिक शासक सर्वाधिक शिक्षित, सुसंस्कृत, साहसी, आत्मसंयमी, ज्ञानी और निर्लोभी होते है। प्लेटो की यह धारणा है कि आदर्श राज्य में शासक कार्य परम बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथों में रखना चाहिए जो कंचन और कामिनी से दूर रहते हुए शासन का संचालन करें। राज्य के कल्याण के साथ वह अपना कल्याण एवं राज्य के अहित के साथ वह अपना कल्याण एवं राज्य के अहित के साथ अपना अहित जुड़ा हुआ मानता है। प्लेटो उसे "विवेक का प्रेमी..... और नगर का सच्चा तथा अच्छा संरक्षक" मानता है। दार्शनिक शासक उसे समस्त गुणों का आगार प्रतीता होता है। उसके अनुसार दार्शनिक सर्वकाल तथा सर्वसत्ता का दृष्टा है।

इस प्रकार के सर्वज्ञाता, सर्वदृष्टा, विवेकशील तथा ममत्वशील दार्शनिक शासक को प्लेटो 'आदर्श राज्य' की बागडोर निर्बाध रूप में सौंप देना चाहता है। इस श्रेष्ठ मल्लाह के नेतृत्व में आदर्श राज्य की नौका आंधी ओर तूफान के झंझावतों से बचती हुई अपनी मंजिल तक अवश्य ही पहुंच जायेगी। प्लेटो को यह बिल्कुल स्वीकार नहीं था कि इस दार्शनिक शासक के कार्य में किंचित मात्र भी व्यवधान उपस्थित किया जाय। इसलिए इस महाशक्तिमान द्वारा शासित आदर्श राज्य में प्लेटो ने कानून को भी कोई स्थान नहीं दिया है। **बर्कर** ने आदर्श राज्य के दार्शनिक शासक विषयक प्लेटो के विचारों पर टिप्पणी करते हुए कहा है, "दार्शनिक शासक केवल अनुबन्ध मात्र या योग मात्र नहीं। जिस सम्पूर्ण विधि के अनुसार आदर्श राज्य के निर्माण की ओर बढ़ा गया है, उसका वह (दार्शनिक शासक) एक तर्कसंगत परिणाम है।"

2.4.7 आदर्श राज्य की अवधारणा : आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्लेटो के आदर्श राज्य की अवधारणा की डनिंग, पॉपर, रसेल आदि विद्वानों ने कटु आलोचना की है। डनिंग के अनुसार आदर्श राज्य की अवधारणा अव्यावहारिक है। पॉपर के अनुसार प्लेटो ने आदर्श राज्य का निर्माण इस प्रकार किया है कि उसकी वेदी पर उसने व्यक्ति को राज्य के परिप्रेक्ष्य में एक साधन मान लिया है। रसेल ने आदर्श राज्य को रोमांसवाद की संज्ञा दी है। मोटे रूप से प्लेटो के आदर्श राज्य की अवधारणा की निम्नलिखित आलोचनाएं की जाती हैं–

1. आदर्श राज्य एक काल्पनिक धारणा– प्लेटो के आदर्श राज्य की अव्यावहारिकता को देखते हुए उसे एक स्वप्निल संसार कह कर पुकारा है। उसे बादलों में स्थित नगर की संज्ञा दी गई है; ऐसा संध्याकालीन तन्तु कहा गया है जो क्षण भर के एि दृष्टिगोचर होकर रात्रि की नीरवता में विलुप्त हो जाता है। आदर्श राज्य निरी कल्पना तथा मृगतृष्णा है।

2. स्वतन्त्रता का विरोध– प्लेटो का आदर्श राज्य व्यक्तियों को आवश्यक स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करता है। वह इतना नियन्त्रणकारी है कि इसमें व्यक्तियों की सभी प्रवृत्तियों का विकास सम्भव नहीं है। प्लेटो का आदर्श राज्य एक सर्वाधिकारवादी राज्य है और वह अपने स्वभाव से ही मानवीय स्वतन्त्रता के हित में नहीं हो सकता है।

3. उत्पादक वर्ग की अवहेलना– प्लेटोवादी आदर्श राज्य की आलोचना का एक प्रमुख आधार यह है कि इसमें उत्पादक वर्ग की नितान्त उपेक्षा की गयी है। वह अन्य दोनों के समान इनके लिए न तो विशेष शिक्षा की व्यवस्था करता है और न ही सामाजिक ढाँचे में उनको महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान करता है। उत्पादक वर्ग की यह शोचनीय उपेक्षा राज्य के अस्तित्व को ही नष्ट करने वाली है।

प्लेटो इस बात को स्वीकार करता है कि निम्न वर्ग में उत्पन्न व्यक्तियों को अपनी योग्यता के आधार पर उच्च वर्ग में सम्मिलित होने का अधिकार मिलना चाहिए, लेकिन प्लेटो इस कार्य को सम्भव बनाने हेतु उत्पादक वर्ग के लिए समुचित शिक्षा सुविधाओं की व्यवस्था नहीं करता।

4. शासक वर्ग की निरकुंश सत्ता– प्लेटो के आदर्श राज्य में कानूनों और नियमों का पूर्ण अभाव है और इसमें दार्शनिकों को निरकुंश सत्ता सौंप दी गई है, जिसे किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। इन व्यक्तियों को शिक्षा द्वारा चाहे कितना ही विवेकशील और वीतरागी क्यों न बना दिया गया हो, अनियन्त्रित शक्ति पा जाने पर मानवीय स्वभाव के अनुसार इसमें दोष आ जाना नितान्त स्वाभाविक है। इसी आधार पर बार्कर ने प्लेटो के आदर्श राज्य को 'प्रबुद्ध निरंकुशवाद' की संज्ञा दी है।

5. कार्यात्मक विशेषीकरण की पद्धति अव्यवहारिक– प्लेटो के आदर्श राज्य का एक मुख्य आधार कार्यात्मक विशेषीकरण की पद्धति या न्याय है। कार्यात्मक विशेषीकरण की पद्धति या न्याय के आधार पर मानवीय व्यक्तित्व का एक विशेष पक्ष ही विकसित हो पाता है और शेष व्यक्तित्व अप्रभावित रहता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि प्लेटोवादी आदर्श राज्य में मानवीय व्यक्तित्व के सभी पक्षों के विकास की सम्भावना नहीं है।

6. कानून की उपेक्षा– आदर्श राज्य में कानून को कोई स्थान न देकर भी प्लेटो ने बड़ी भूल की है। आगे चलकर 'लॉज' में कानून की अनिवार्यता को उसने स्वयं स्वीकार किया है। 'कानून' की सम्पूर्ण उपेक्षा के कारण ही प्लेटो के 'आदर्श राज्य' की अत्यन्त कठोर आलोचना उसके काल से लेकर अब तक होती चली आयी है। उसके शिष्य अरस्तू ने घोषणा की है कि 'कानून इच्छाओं से अप्रभावित विवेक है।' तथा महानतम विवेक सम्पन्न शासक भी कानून की अवहेलना नहीं कर सकता।

7. व्यक्ति और राज्य की समानता को अत्यधिक महत्त्व– अपने आदर्श राज्य में प्लेटो ने व्यक्ति एवं राज्य में जिस बड़ी मात्रा में समानता के दर्शन किये हैं, उस मात्रा में व्यक्ति एवं राज्य में समानता वास्तव में होती नहीं है। इसी समानता को तथ्य मानकर, प्लेटो ने मानव प्रकृति के तीन तत्वों–विवेक, उत्साह तथा क्षुधा के आधार पर राजनीतिक समुदाय का निर्माण करने वाले लोगों को बड़ी कठोरता के साथ तीन भागों में बांट दिया है।

8. शासन के लिए आवश्यक तत्वों की उपेक्षा– प्लेटो ने आदर्श राज्य में शासन के लिए आवश्यक अनेक तत्वों की घोर उपेक्षा की है। उनके द्वारा कानूनों, सरकारी पदाधिकारियों को दण्ड देने की व्यवस्था का कोई वर्णन नहीं किया गया है। इन तत्वों की उचित व्यवस्था के बिना एक आदर्श राज्य का कार्य संचालन कठिन ही प्रतीत होता है।

अरस्तू द्वारा अवलोकन– अरस्तू ने अपने ग्रन्थ पॉलिटिक्स में प्लेटो के आदर्श राज्य की धारणा की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की है–

1. प्लेटो की साम्यवादी योजना मानवीय प्रकृति के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध है।
2. प्लेटो का राज्य में पूर्ण एकता का विचार राज्य के लिए विनाशकारक है क्योंकि राज्य की प्रकृति का मूल तत्व ही विविधता है।
3. प्लेटो अपने आदर्श राज्य के उत्पादक वर्ग की बिल्कुल उपेक्षा करता है जो कि राज्य की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग है। प्लेटो की यह उपेक्षा समाज को दो परस्पर विरोधी वर्गों में विभाजित कर सकती है।
4. प्लेटो ने पुरुषों में पायी जाने वाली ईर्ष्या की भावना का बहुत ही कम अनुमान लगया था कि जबकि उसने यह सोचा कि पुरुष पत्नी को अन्य व्यक्तियों के साथ बांटकर सन्तुष्ट हो जायेगा।
5. यह मानकर कि माताएं अपनी सन्तान को अपने से अलग करने करने और उनका हृदयहीन तथा अज्ञात लोगों द्वारा पालन कराने पर राजी हो जाएंगी, उसने मातृत्व की भावना की उपेक्षा की थी।
6. परिवार को समाप्त कर वह अपने विचारों को अमनोवैज्ञानिक बना देता है।

क्या प्लेटो का आदर्श राज्य काल्पनिक है?

प्लेटो के आदर्श राज्य पर सबसे बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि प्लेटो स्वप्नदृष्टा था और उसकी रिपब्लिक में वर्णित राज्य ऐसा स्वप्नलोकीय है जिसकी इस पृथ्वी पर कहीं भी सता नहीं है। स्वयं ने स्वीकार किया है कि साम्यवाद और दार्शनिकों के शासन पर आधारित आदर्श राज्य की क्रियान्विति सरल नहीं है। किन्तु इसके बावजूद प्लेटो के आदर्श राज्य को मात्र काल्पनिक नहीं कहा जा सकता है। **बार्कर** के शब्दों में "रिपब्लिक में राज्यों के रोग का निदान और उपचार दोनों ही केवल किन्हीं पहले से कल्पित दार्शनिक सिद्धांतों के आधार पर निश्चित नहीं किये गये; वरन् यूनानी जीवन के तथ्यों के आधार पर निर्धारित किये गये।"

प्लेटो के आदर्श राज्य के बारे में **बार्कर** का विचार है कि "यह वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित है।" रिपब्लिक की आठवीं तथा नवीं पुस्तक में प्लेटो ने तत्कालीन यूनान की शासन प्रणालियों–स्पार्टा के वर्गतन्त्र का और कीर्तितन्त्र, एथेन्स के लोकतन्त्र और सिराक्यूज के निरंकुशतंत्र का उल्लेख किया है। प्लेटो की दृष्टि में ये सभी विकृत शासन प्रणालियां है क्योंकि इनमें विवेक पर अज्ञान और वासना के तत्वों की प्रधानता है। प्लेटो इन तत्कालीन राज्यों के रोग का निदान भी बतलाता है। उसके अनुसार वह निदान यह है कि शासन में विवेक या विशुद्ध बुद्धि को सर्वोच्च स्थान

दिया जाये एक नूतन शिक्षा पद्धति तथा साम्यवाद की प्रणाली द्वारा वासना और उत्साह को विवेक द्वारा नियंत्रित किया जाये। इस प्रकार उसने वास्तविक परिस्थितियों के आधार पर ही शासन के रोगों का निदान प्रस्तुत किया है।

उसके आदर्श राज्य की कल्पना थोथी भावुकता पर आश्रित नहीं है, यह नितान्त अप्राप्य आदर्श नहीं है; अपितु वह ठोस आधार पर आश्रित एक ऐसा आदर्श है, जिसकी प्राप्ति भी एक बड़ी सीमा तक संभव हो सकती है। बार्कर के अनुसार साम्यवादी योजना एवं शिक्षा योजना का राज्य के गिने–चुने लोगों (संरक्षक वर्ग) के लिए प्रस्तुत करना ही इस बात का द्योतक है कि प्लेटो अपने आदर्श राज्य के व्यावहारिक होने के प्रति जागरूक था। स्वयं प्लेटो ने इन शब्दों में अपने आदर्श राज्य के व्यावहारिक होने का दावा किया, जो कुछ भी राज्य तथा उसकी सरकार के बारें में कहा गया है वह केवल स्वप्न मात्र नहीं है और यद्यपि कठिन है किन्तु असम्भव नहीं है क्योंकि यह केवल उसी स्थिति में सम्भव हो सकता है, जब दार्शनिक राजा हो या राजा में दार्शनिक गुण आ जाए।

2.4.8 प्लेटो के आदर्श राज्य का व्यावहारिक आधार

एक हजार वर्ष तक यूरोप पर संरक्षकों के एक वर्ग का शासन था, जो बहुत कुछ उसी तरह के थे जिनकी कल्पना प्लेटो ने की थी। मध्यकाल में ईसाइ देशों की जनता को मजदूरों, सैनिकों तथा पादरियों में विभाजित करने की प्रथा थी। संख्या में कम होते हुए भी पादरियों के वर्ग का संस्कृति के साधनों और अवसरों पर एकाधिकार था तथा विश्व के सबसे शक्तिशाली महाद्वीप के आधे भाग पर उनका करीब–करीब अनियन्त्रित शासन था। ये पादरी लोग प्लेटो के संरक्षकों की भांति ही, सत्ता के पदों पर आसीन थे। ये पद उन्हें जनता की सम्पति से नहीं मिले थे, बल्कि धार्मिक अध्ययन और प्रशासन में प्रदर्शित अपनी प्रतिभा के कारण, चिन्तन और सरलता के जीवन के प्रति उनके लगाव के कारण प्राप्त हुए थे। इस काल के उत्तरार्द्ध में, जबकि उनका शासन था, ये पादरी लोग परिवार की चिन्ताओं से उसी भांति मुक्त थे जैसा कि प्लेटो भी चाहता था; और कहीं–कहीं तो ऐसा प्रतीत होता था कि उन्हें प्रजनन की स्वतन्त्रता प्लेटो के संरक्षकों से भी बहुत कम थी। अविवाहित जीवन पादरी की सत्ता के मनोवैज्ञानिक स्वरूप का भाग था क्योंकि एक ओर तो वे परिवार की संकुचित स्वार्थ भावना से अलग थे, तो दूसरी ओर कर्मक्षेत्र में उनकी स्पष्टता श्रेष्ठता थी।

इन उदाहरणों से प्रकट होता है कि सीमाओं के भीतर और कुछ हेर–फेर के साथ प्लेटो की योजना कार्यान्वित की जा सकती है। वास्तव में उसने इस योजना का बहुत कुछ रूप तथ्यों से ग्रहण किया था, जो उसने अपने पर्यटन के समय विभिन्न स्थानों में कार्यरूप में देखा था। वह मिस्र के धर्म तन्त्र से प्रभावित हुआ था। स्पार्टा में उसने एक छोटा सा शासक वर्ग देखा था, जो अपनी प्रजा के बीच सामान्य रूप से परिश्रमी और सरल जीवन व्यतीत करते थे। वे एक साथ भोजन करते थे, परिवार विज्ञान के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्त्री–पुरुष के मिलन पर प्रतिबन्ध लगाते थे और वीर पुरुषों को अनेक पत्नियों का विशेषाधिकार देते थे। उसने निस्संदेह यूरीपिड्स के तर्क सुन रखे थे जो वह पत्नियों का समाज, दासों की मुक्ति और हेलेनिक लीग द्वारा यूनान के प्रदेशों में शान्ति स्थापित करते के पक्ष में दिया करता था और इस बात में शंका नहीं कि वह कुछ सिनिक्स विचारकों को भी जानता था जिन्होंने उन लोगों के बीच एक सबल साम्यवादी आन्दोलन खड़ा किया था, जिन्हें आज हम सोक्रेटिज के वामपक्षी अनुयायी कह सकते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्लेटो ने यह अवश्य अनुभव किया होगा कि अपनी योजना को प्रस्तुत कर वह सत्य की खोज में, जिसे वह अपनी आंखों से देख चुका था, किसी असम्भव पथ पर आगे नहीं बढ़ रहा है।

2.4.9 आदर्श राज्य की अवधारणा की उपादेयता

किसी भी राजनीतिज्ञ का काम मौजूदा राज्यों की जानकारी कर लेने मात्र से नहीं चल सकता। मौजूदा राज्य किस सीमा तक श्रेष्ठ हैं तथा किस सीमा तक निकृष्ट हैं इस तथ्य का भान तभी हो सकता जब उनको किसी आदर्श राज्य के समकक्ष खड़ा करके देखा जाए। ऐसा किये बिन किसी मौजूदा राज्य में अंशमात्र भी सुधार करने की गुंजाइश नहीं रहती। अब प्लेटो के आदर्श राज्य का महत्त्व उन राजनितिज्ञों के लिए जो किसी राज्य के निर्माण कार्य में जुटे हुए हैं, किसी आदर्श मॉडल को दृष्टिगत रख कर कदम बढ़ाने से ही राजनीतिक जीवन के निर्माण कार्य में समुचित रूप से सफलता मिलने की आशा की जा सकती है, अन्यथा नहीं। इसी तथ्य को पहचान कर प्लेटो ने आदर्श राज्य के चित्रण का प्रयत्न किया है। उसका आदर्श राज्य एक प्रकाश स्तम्भ के रूप में राज्यों की नौका खेने वाले नाविकों का मार्गदर्शन करता है। उसका आदर्श राज्य वह मंजिल है जिस तक पहुंचना प्रत्येक राज्य के लिए वांछनीय है। उसका आदर्श राज्य वह ऊँचाई है जो मौजूदा राज्यों को उनकी लघुता का बोध कराती है और उन्हें उनके व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने की चुनौती देती है। यह ठीक है कि किसी भी आदर्श की सम्पूर्ण रूप से प्राप्ति नहीं की जा सकती किन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि आदर्श का आभास होने पर ही आदर्श की दिशा में चला जा सकता है एवं अपनी वर्तमान स्थिति तथा आदर्श के बीच की दूरी को कम किया जा सकता है। **प्रो.नेटलशिप** के शब्दों में "आदर्श के सम्बोधन में एक ओर तो वह सन्निहित होता है कि वह कभी भी पूर्णरूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता और दूसरी ओर यह सन्निहित होता है कि यह निरन्तर प्राप्त किया जा रहा है।"

सेबाइन ने अनुसार प्लेटो का दिमागी रूझान वैज्ञानिक था। इसका मतलब यह था कि उसका सिद्धांत केवल वर्तमान राज्य का ही वर्णन न करे बल्कि एक आदर्श राज्य का भी खाका खींचे। यह बात कुछ विरोधाभास सी लग सकती है। लेकिन, यह सही है कि प्लेटो ने एक काल्पनिक राज्य का चित्र इसलिए नहीं खींचा है कि यह डर्निंग की शब्दावली में एक रोमांस हैं। काल्पनिक राज्य कार चित्रण करने में प्लेटो का मुख्य उद्देश्य सत् के विचार को वैज्ञानिक आधार देना था। प्लेटो के विचार से राजनेता के लिए यह जरूरी है कि वह यह जाने कि सत् किसे कहते हैं और एक श्रेष्ठ राज्य के निर्माण के लिए क्या चीजें जरूरी है। उसे यह भी जानकारी होनी चाहिए कि राज्य क्या है, अपने परिवर्तनशील रूप में नहीं बल्कि अपने शाश्वत् और मूल रूप में..... यह गौण प्रश्न है कि वास्तविक राज्य आदर्श के अनुसार हो सकते हैं या नहीं..... प्लेटो वास्तविक परिस्थितियों से कितना दूर था इस सम्बन्ध में हम बहुत कुछ कह सकते हैं। लेकिन प्लेटो ने जिस रूप में समस्या को समझा था उसको ध्यान में रखते हुए यह प्रश्न कि क्या आदर्श राज्य का निर्माण किया जा सकता है, असंगत था। वह केवल यही प्रदर्शित कर रहा था कि सिद्धांत में एक राज्य को क्या होना चाहिए। यदि तथ्य सिद्धांत के अनुकूल नहीं है, तो यह तथ्यों की ही कमजोरी है। इसी बात को दूसरे शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि प्लेटो यह मानकर चल रहा था कि 'सत्' कए वस्तुपरक चीज है; लोग उसे चाहते हैं या चाहने के लिए राजी किये जा सकते हैं यह बिल्कुल दूसरा प्रश्न है। यदि सद्गुण ज्ञान है तो वह माना जा सकता है कि लोग 'सत्' को प्राप्त करना चाहेंगे। लोग 'सत्' को प्राप्त करते हैं या नहीं इससे 'सत्' अच्छा या बुरा नहीं हो जाता।

2.5 प्लेटो का न्याय सिद्धांत

सिफालस और पोलीमारकस, थ्रेसीमेकस तथा ग्ल्यूकोन न्याय से सम्बन्धित जिन दृष्टिकोणों का प्रतिपादन करते हैं, उन तीनों की ही एक समान विशेषता है कि वे न्याय को बाह्य वस्तु मानते हैं। इसके विपरीत प्लेटो न्याय को आत्मा के अन्दर की वस्तु मानता है और इसी आधार इन तीनों दृष्टिकोणों को अस्वीकार कर देता है। प्लेटो का कहना है कि, "न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक मांग है।" ई. एम. फॉस्टर के शब्दों में, "जिसे हम नैतिकता कहते हैं वहीं प्लेटो के लिए न्याय है।"

न्याय पर चिन्तन करते समय दो प्रश्न प्लेटो के सामने आ उपस्थित होते हैं–प्रथम तो उसे न्याय की वास्तविक प्रकृति की खोज करनी है; दूसरे, उसे 'न्याय' के निवास स्थान को ढूंढ निकालना है। न्याय उसे एक और तो व्यक्ति के मानस में स्थित दृष्टिगोचर होता है और दूसरी और उसे समस्त नगर (राज्य या समाज) में इसका दिखलाई पड़ता है। उसके विचार से व्यक्ति तथा राज्य (समाज) में इस प्रकार की वैसी ही एकरूपता विद्यमान है, जैसी कि छोटे अक्षरों में और बड़े अक्षरों में होती है। राज्य व्यक्ति से बहुत बड़ा है, अतः इस बात की अधिक सम्भावना है कि राज्य में न्याय विराट् मात्रा में उपस्थित हो और वहां उसकी खोज आसानी से की जा सके। राज्य में स्थित न्याय की प्रकृति ढूंढ निकालने पर व्यक्ति में स्थित न्याय के स्वरूप को समझना अधिक सरल होगा।

प्लेटो व्यक्ति और राज्य में पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड का संबंधी मानता है। व्यक्ति में जो गुण और विशेषताएँ अल्प मात्रा में पाई जाती हैं, वहीं विशाल रूप में राज्य में पाई जाती हैं। 'यथा' पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' राज्य व्यक्ति की विशेषताओं का विराट रूप है। व्यक्तियों की चेतना और गुण राज्य की चेतना का निर्माण करते हैं। प्लेटो के अनुसार न्याय के दो रूप हैं–व्यक्तिगत और सामाजिक। वह मानवीय आत्मा (व्यक्ति) में तीन तत्व या नैसर्गिक प्रवृत्तियां मानता है–(i) इन्द्रिय तृष्णा या वासना; (ii) शौर्य या साहस; (iii) बुद्धि या ज्ञान।

ये तीनों गुण जब उचित अनुपात में मानव मस्तिष्क में विद्यमान रहते हैं, तभी व्यक्ति न्याय का पालन कर सकता है। दूसरे शब्दों में इन्द्रिय तृष्णा, शौर्य तथा बुद्धि का उचित समन्वय और सामंजस्य व्यक्ति के जीवन में न्याय की सृष्टि करता है। जब यह सन्तुलन बिगड़ता है तो व्यक्ति में धर्मान्धता और कामान्धता का विकास होता है।

ये तीन तत्व–तृष्णा, साहस, और बुद्धि प्लेटो के दर्शन के प्रमुख आधार हैं और इसी के आधार पर उसने राज्य को उत्पन्न करने वाले तीन तत्वों का तथा राज्य का निर्माण करने वाले तीन वर्गों का प्रतिपादन किया है। प्लेटो के अनुसार जिस प्रकार छोटे अक्षरों की तुलना में बड़े अक्षर आसानी से पढ़े जा सकते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन की उपेक्षा राज्य में न्याय को स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है। राज्य के संबंधी में प्लेटो का विचार है कि "राज्य मानव मस्तिष्क का ही विराट रूप है। राज्य बलूत के वृक्ष अथवा चट्टानों से नहीं निकलते, वरन् वे उन लोगों के मस्तिष्क और चरित्र का परिणाम होते हैं, जो उनमें निवास करते हैं।"

प्लेटो की मान्यता है कि व्यक्ति की भांति राज्य में भी तीनों गुण–वासना, साहस और बुद्धि विद्यमान होते हैं। इन तीनों गुणों के प्रतिनिधि के रूप में राज्य के उत्पन्न करने में तीन सहायक होते हैं–आर्थिक, सैनिक और दार्शनिक। आर्थिक तत्व का यह अभिप्राय है कि मनुष्य कामतत्व से संबंधी रखने वाली भोजन, वस्त्र, निवास आदि की आवश्यकताएँ एकाकी रूप में पूर्ण नहीं कर सकता, ये अनेक व्यक्तियों के सहयोग से तभी पूर्ण हो सकती हैं जब इन्हें पूरा करने के लिए समाज में अन्न उत्पन्न करने वाले किसानों, मकान बनाने वाले कारीगरों, कपड़ा बनाने वाले जुलाहों, जूता बनाने वाले मोची आदि की विशेष आर्थिक श्रेणियां बन जायें। आर्थिक तत्व के अतिरिक्त राज्य का निर्माण करने वाला दूसरा तत्व

सैनिक है। यह आत्मा के गुणों में उत्साह या शौर्य के साथ साम्य रखता है। केवल आर्थिक आवश्यकताएँ पूरा करने वाला राज्य तो ग्लूकोन के शब्दों में केवल अपना पेट भरने में सन्तुष्ट होने वाला सूअरों का राज्य होगा। मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तुष्ट नहीं होता, यह केवल रोटी से ही नहीं जीता, उसमें अपने को सुसंस्कृत एवं परिमार्जित बनाने की कुछ आकांक्षाएँ होती हैं। इनसे चित्र, मूर्ति, संगीत आदि कलाओं का जन्म होता है। इन्हें पूरा करने के लिए अधिक जनसंख्या और प्रदेश होने चाहिए। यह प्रदेश युद्ध द्वारा प्राप्त हो सकता है। अतः राज्य का एक कार्य पर्याप्त प्रदेश को उपलब्ध करना तथा उसे अपने अधिकार में बनाये रखना होता है। अतः राज्य में उत्साह या शौर्य का तत्व उत्पन्न होता है। राज्य की रक्षा के लिए शूरवीय रक्षकों की आवश्यकता होती है। विशेषीकरण के नियम के अनुसार इसे करने वाले योद्धाओं का एक विशेष वर्ग होना चाहिए। इनसे राज्य अपनी रक्षा और प्रदेश विस्तार का कार्य करता है। राज्य की सत्ता इन पर निर्भर है। राज्य के निर्माण का तीसरा आधार दार्शनिक तत्व है। इसका संबंधी आत्मा के विवेक या बुद्धितत्व से है। शासक का विवेक विशेष रूप से इस बात में निहित है कि वह बुद्धिमान हो तथा शासितों से प्रेम करे, उनका कल्याण अपना कल्याण तथा उनका अहित अपना अहित समझे। वह अपने विवेक और प्रजा प्रेम की भावना से राज्य की एकता को बनाए रखता है। वस्तुतः विवेक राज्य का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, अतः विवेक सम्पन्न दार्शनिक को ही राजा होना चाहिए।

राज्य निर्माण के उपर्युक्त तीन तत्वों के आधार पर प्लेटो ने अपने राज्य में तीन वर्गों की सत्ता मानी है–(i) तृष्णा या वासना तत्व की पूर्ति करने वाले उत्पादक या कृषक वर्ग; (ii) शौर्य या साहस गुण के प्रतिनिधि सैनिक या संरक्षक; तथा (iii) बुद्धि या विवेक गुण का प्रतिनिधित्व करने वाले संरक्षक। समाज का यह त्रैवर्गिक विभाजन मध्यकालीन यूरोप में बड़ा लोकप्रिय हुआ। उस समय योरोपीय समाज को निम्नलिखित तीन वर्गों में बांटा जाता था–(1) पादरी; (2) योद्धा; तथा (3) मजदूर वर्ग।

प्लेटो के अनुसार राज्य में जब शासक निःस्वार्थ भाव से शासितों के हितों की रक्षा करते हुए शासन कार्य करता है; सैनिक वर्ग प्राणों की बाजी लगाते हुए देश की सीमाओं की रक्षा करता है और उत्पादक वर्ग सब कष्टों को सहन कर अपने उपयोग से अधिक उपयोग की सामग्रियां पैदा करता है–तभी राज्य में न्याय स्थिर रहता है। न्याय वस्तुतः कर्तव्य पालन से परे कोई वस्तु नहीं है।

राज्य के इन तीन वर्गों–दार्शनिक शासक, सैनिक वर्ग तथा उत्पादक वर्ग द्वारा अपने–अपने कार्य क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त कर लेना तथा अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से निर्वाह करने की मनोकामना का नाम ही 'न्याय' है। (हिन्दू दृष्टिकोण से स्वधर्म पालन करते रहना एवं स्वधर्म में अधिकतम श्रेष्ठता प्राप्त कर लेने को अत्यन्त श्रेष्ठ माना गया है।) यह राज्य के तथा व्यक्ति के हित में है कि व्यक्ति अपनी प्राकृतिक प्रतिभा एवं क्षमता के आधार पर अपना कार्यक्षेत्र निर्धारित कर ले और उस कार्य में अधिक से अधिक योग्यता बढ़ाकर अधिकतम श्रेष्ठता प्राप्त करे। न्याय के सिद्धांत की मांग है कि राजा विवेकशील हो; सैनिक साहसी हो और उत्पादक वर्ग आत्म संयमयुक्त हो। अगर ऐसा है तो उस राज्य में। 'न्याय' का निवास है, अन्यथा नहीं।

न्याय क्या है और उसका अधिवास कहां है, इसका उत्तर देते हुए प्लेटो ने कहा है कि "यह अपने निश्चित स्थान में अपने कर्तव्यों का पालन करना और दूसरे के कर्तव्यों में हस्तक्षेप न करना ही है और इसका निवास स्थान अपना निश्चित कर्तव्य पूरा करने वाले प्रत्येक नागरिक के मन में हैं।" प्लेटों की न्याय संबंधी धारणा विशेषीकरण के इस विचार पर आधारित है कि एक व्यक्ति को केवल एक ही ऐसा कार्य कुशलतापूर्वक करना चाहिए जो उसके स्वभाव के नितान्त अनुकूल हो।

प्लेटो के इस न्याय सिद्धांत के संबंधी में बार्कर का विचार है–"नागरिक की स्वधर्म की चेतना तथा सार्वजनिक जीवन में उसकी अभिव्यंजना ही राज्य का न्याय है।" क्वायरे के अनुसार, "प्रत्येक नागरिक को उसके अनुकूल भूमिका और कार्य देना है न्याय है।" फॉस्टर ने प्लेटो के सामाजिक न्याय के विचार को वास्तुकला की संज्ञा दी है जिसमें प्रधान शिल्पकार जिस प्रकार अधीनस्थ कारीगरों को नियन्त्रण व अनुशासन में रखता है ताकि सुन्दर व सुढढ़ भवन का निर्माण हो सके, उसी प्रकार समाज में न्याय सब मनुष्यों से उनका कर्तव्य पूरा कराते हुए उन पर इस प्रकार से नियन्त्रण रखता है कि वे सामर्थ्यवान होते हुए भी अपने क्षेत्र में बाहर न जाएँ, स्वधर्म का पालन करें तथा समाज के सभी अंगों में सामंजस्य बना रहे। सेबाइन के अनुसार, "न्याय समाज का एकतासूत्र है, यह उन व्यक्तियों के परस्पर तालमेल का नाम है, जिनमें से प्रत्येक ने अपनी प्रकृति और शिक्षा–दीक्षा के अनुसार अपने कर्तव्य को चुन लिया है।"

प्लेटो की न्याय संबंधी परिभाषा यह है कि "प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य उपलब्ध हो। व्यक्ति के लिए प्राप्य क्या है, इससका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के साथ उसकी योग्यता और शिक्षा दीक्षा के अनुसार ही व्यवहार होना चाहिए। व्यक्ति से क्या प्राप्य है, इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति की योग्यता के अनुसार उसको जो काम सौंपे जाएँ उन्हें वह पूरी ईमानदारी के साथ करे।"

प्लेटो के राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख उद्देश्य एक आदर्श राज्य की रूपरेखा तैयार करना था। इस आदर्श राज्य को वह तत्कालीन यूनानी नगर राज्यों में पाई जाने वाली अक्षमता, अस्थिरता, अव्यवस्था, अत्यधिक व्यक्तिवाद तथा राजनीतिक स्वार्थपरता आदि से पैदा होने वाली कमजोरियों से बचाना चाहता था। अतः न्याय के सिद्धांत की रचना उसने अपने आदर्श राज्य के रक्षक एवं त्राता के रूप में की है। यह सिद्धांत मुख्यतः नैतिक तथा मानसिक है। इसके दो पहलू हैं पहला, सामाजिक तथा दूसरा व्यक्तिगत। जब न्याय के सामाजिक पहलू पर विचार किया जाता है तो 'न्याय' का आशय राज्य के विभिन्न वर्गों एवं समूहों द्वारा स्वयं निर्धारित मर्यादाओं का निर्वाह कर दूसरों के उचित कार्यों एवं अधिकारों में अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करने से है। शासक, सैनिक एवं उत्पादक वर्ग के मेल से राज्य का निर्माण होता है। इन तीनों के लोग अगर अपने–अपने कार्यक्षेत्र में ही रहें और एक–दूसरे के कार्यक्षेत्र पर अतिक्रमण न करें तो राज्य न्यायपूर्ण होगा एवं अनेक त्रुटियों से मुक्त होगा। "राज्य का न्या नागरिक का अपने क्षेत्र में कर्तव्य ज्ञान है जो विश्व के सामने सार्वजनिक कार्यवाही के रूप में प्रकट होता है।" इसी प्रकार जब हम न्याय के व्यक्तिगत पहलू को दृष्टि में रखकर सोचते हैं तो "न्याय का अर्थ होता है कि व्यक्ति अपना काम अपने उस कार्यक्षेत्र में रहते हुए करे जो कि उसकी क्षमता के आधार पर निश्चित हुआ है।"

जोवेट के शब्दों में "न्याय व्यक्तिगत जीवन के उस प्रकार का नाम है जहां आत्मा का हर अंग अपना स्वयं का कार्य करता है। राज्य का वह जीवन है जहां प्रत्येक वर्ग अपने विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करता है।"

2.5.1 प्लेटो के न्याय सिद्धांत की विशेषताएँ

प्लेटो के न्याय सिद्धांत की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं

1. **तीन गुणों का समावेश**–प्लेटो के अनुसार 'न्याय' राज्य तथा व्यक्ति के मौलिक सद्गुणों का एक अंग है। व्यक्ति में तीन नैसर्गिक गुण हैं–इन्द्रिय तृष्णा, साहस एवं बुद्धि। राज्य में भी ये तीन गुण हैं–उसका उत्पादक वर्ग इन्द्रिय तृष्णा को; सैनिक वर्ग साहस को; और शासक वर्ग विवेक गुण को अभिव्यक्त करता है। इन तीन गुणों का सुव्यवस्थित सन्तुलन और जीवन संचालन ही न्याय है।
2. **नैतिक सिद्धांत**–प्लेटो की न्याय संबंधी धारणा वैधानिक नहीं वरन् नैतिक सर्वव्यापी है। इसमें मानव के केवल वैधानिक कर्तव्यों का ही नहीं वरन् समस्त कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है।
3. **न्याय जीवन का एक आन्तरिक तत्व और सन्तुलनकारी धारणा**–प्लेटो के अनुसार न्याय कृत्रिम या बाह्य वस्तु ने होकर मनुष्य के अन्तःकरण की एक पवित्र भावना है जिसका आधार आत्मसंयम एवं आत्म त्याग है। इसमें इस बात पर बल दिया गया है कि जीवन में अति को नहीं वरन् सन्तुलन को अपनाया जाना चाहिए।
4. **कार्य विशिष्टिकरण का सिद्धांत**–न्याय सिद्धांत कार्यों के विशिष्टीकरण का प्रतिपादक है। प्रत्येक राज्य तथा तथा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य 'श्रेष्ठता' की प्राप्ति है। यह तभी प्राप्त की जा सकती है जबकि व्यष्टि तथा समष्टि के रूप में सब लोग अपनी प्राकृतिक क्षमता के आधार पर निश्चित कार्य करें एवं उस कार्य के करने में अधिक से अधिक कार्यकुशलता प्राप्त की जाये।
5. **अहस्तक्षेपवादी सिद्धांत**–न्याय का सिद्धांत मुख्यतः निर्बाध का सिद्धांत है। 'न्याय' इसी में है कि राज्य के विभिन्न अंग अपने कार्य सम्पन्न करें तथा दूसरों के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। डॉ. रूज के शब्दों में "अपने स्वयं का कार्य करना एवं अन्य कार्यों में हस्तक्षेप न करना न्याय है।" राज्य का निर्माण करने वाले तीन अंगों का अपना विशिष्ट कार्यक्षेत्र है। उनके लिए उचित है कि वे अपने–अपने कार्यक्षेत्र की मर्यादाओ में रहते हुए कार्य करें; एक–दूसरे के कार्यक्षेत्र का अतिक्रमण न करें। यथा शासक वर्ग का कार्य शासन संचालन, सैनिक वर्ग का रक्षण तथा उत्पादक वर्ग का उत्पादन करना है। इन सबको अपने–अपने कायक्षेत्र में निर्बाध रूप में कार्य करते रहने देना ही न्याय है। कार्य विशिष्टीकरण का यह सिद्धांत राज्य में एकता स्थापित करने में सहायक सिद्ध होगा। प्रो बार्कर के अनुसार "नगारिक अव्यवस्था उस राज्य में असम्भव है जो कार्यों के विशिष्टीकरण पर आधारित
6. **अति व्यक्तिवाद का विरोधी**– प्लेटो नहीं मानता था कि समष्टि (राज्य–समाज) से भिन्न एवं प्रतिकूल व्यक्ति का कोई अस्तित्व अथवा हित है। उसके विचार से, व्यक्ति तथा राज्य दोनों का लक्ष्य एक श्रेष्ठ जीवन का विकास है। राज्य के अंग के रूप में अपनी प्राकृतिक क्षमता तथा प्रशिक्षण के आधार पर निर्धारित क्षेत्र में अधिक से अधिक श्रेष्ठता प्राप्त करके ही व्यक्ति अपनी जीवन का समुचित विकास कर सकता है। सोफिस्ट विचारकों ने यूनानी युवकों के हृदय में घोर व्यक्तिवाद का जो विष–वमन किया था, वह उन्हें तुच्छ राजनीतिक स्वार्थों के पीछे दौड़ने को बाध्य कर रहा था और नगर राज्यों के जीवन के लिए बहुत अभिशाप बना हुआ था। –न्याय' के सिद्धांत के माध्यम से प्लेटो, ग्रीक नवयुवकों के हृदय से व्यक्तिवाद के तुच्छ विचार निकालकर, उन्हें उनके स्वयं

के तथा नगर राज्य के कल्याण के लिए समष्टिवाद का मंगलकारी मार्ग दिखाना चाहता था। वह मानता था कि व्यक्ति को उसके लिए समुचित स्थान पर अवस्थित करने का अधिकार राज्य को है।

7. **सावयव एकता का सिद्धांत**—प्लेटो के न्याय सिद्धांत में 'व्यक्ति बनाम राज्य जैसी' कोई चीज नहीं। इसमें व्यक्ति राज्य के लिए है। राज्य के प्रति उसके कर्तव्य ही हैं, अधिकार नहीं; राज्य साध्य है व्यक्ति साधन। प्लेटो ने स्पष्ट लिखा है कि "नागरिकों में कर्तव्य भावना ही राज्य का न्याय सिद्धांत है।" राज्य से पृथक् व्यक्ति की कोई अपनी इच्छाएँ, आवश्यकताएँ या आकांक्षाएँ नहीं। व्यक्ति आंगिक और सुव्यवस्थिता पूर्ण का अंग है। संक्षेप में, न्याय वह सिद्धांत है जो राज्य में समरसता तथा एकता स्थापित करता है।
8. **मनोवैज्ञानिक आधार**—प्लेटो के न्याय संबंधी विचार मनोवैज्ञानिक तत्व के लिए हुए हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि अपनी प्राकृतिक क्षमता एवं तदुनरूप प्रशिक्षण पर आधारित अपने विशिष्ट कार्य क्षेत्र में रहकर काम करने वाले व्यक्ति को किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं होगी। वह स्वभावतः ही अपने कार्य में अधिक से अधिक रुचि लेगा एवं अपने तथा समाज के लिए अधिकतम श्रेष्ठता प्राप्त करने का अविरल प्रयत्न करेगा।
9. **दार्शनिक शासक**—न्याय की प्राप्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य की शासन व्यवस्था विवेकशील, निःस्वार्थी और कर्तव्यपरायण व्यक्तियों के हाथ में हों। इन्हीं गुणों से युक्त व्यक्ति समूह को प्लेटो के द्वारा शासक का नाम दिया गया है।

2.5.2 प्लेटो के न्याय सिद्धांत की आलोचना

यूनान की तत्कालीन परिस्थितियों की दृष्टि से न्याय की घोषणा उपयोगी थी और उसका अपना महत्व था, लेकिन वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उनके आधारों पर आलोचकों ने प्लेटो के न्याय सिद्धांत की कड़ी अग्नि परीक्षा की है। सेबाइन ने लिखा है—"यह अत्यधिक स्थैतिक, व्यक्तिनिष्ठ, नैतिक रूप से पतनकारी, अमनोवैज्ञानिक एवं अव्यावहारिक है।"

1. **न्याय को कानूनी धारणा न मानकर नैतिक धारणा मानना**—'न्याय' शब्द के कानूनी पहलू को ध्यान में रखकर कुछ आलोचक यह कहते हैं कि उसका न्याय कानूनी न्याय नहीं है। यह न्याय आत्मसंयम, आत्म निषेध नैतिक सिद्धांतों पर आधारित है, लेकिन कानूनी शक्ति के अभाव में यह निष्क्रिय सिद्धांत है। व्यक्तियों की इच्छाओं एवं विभिन्न हितों में टकराहट होने की दशा में प्लेटो का न्याय सिद्धांत अधिक कारगर सिद्ध नहीं होता। अतः इस शब्द का वह अर्थ नहीं है जो साधारणतया न्याय शब्द का अर्थ समझा जाता है।
2. **व्यक्ति को राज्य का अधीनस्थ बना देना**—प्लेटो का न्याय सिद्धांत व्यक्ति को पूर्णतया राज्य के अधीन कर देता है। इकाई के रूप में व्यक्ति का, चाहे वह किसी वर्ग का क्यों न हो कोई विशेष महत्व नहीं माना गया है। सभी वर्ग के लोगों के हाथ पैर जकड़े हुए हैं। केवल सामाजिक अंग के आधार पर ही व्यक्ति के बारे में विचार किया गया है। वेपर के शब्दों में, "निम्न वर्ग शासकों की बिना असन्तोष व्यक्त किये आज्ञा मानता है ताकि अभद्र की इच्छाएँ कुछ भद्रों की इच्छाओं तथा विवेक द्वारा संचालित रहें और भद्रों को अपने व्यक्तिगत हित राज्य के हितों के लिए छोड़ने को बाध्य करता है।"
3. **अत्यधिक एकीकरण पर बल**—अरस्तू ने न्याय सिद्धांत को 'अत्यधिक एकीकरण' की दिशा में ले जाने वाला कहा है। यह व्यक्ति को राज्य के हित साधन के लिए यन्त्रमात्र समझता है। व्यक्ति के हाथ पैर बंधे हैं। वह अपनी आत्मा के केवल उसी एक गुण का विकास कर सकता है जो अन्य दो गुणों से कुछ ज्यादा प्रबल है। अतः प्लेटो के न्याय सिद्धांत पर आधारित व्यवस्था में व्यक्ति के बाकी के दो गुणों के विकास की आहुति 'अत्यधिक एकीकरण' की वेदी पर चढ़ा दी जाती है।
4. **अत्यधिक पृथकीकरण**—जहां अरस्तू ने प्लेटो के न्याय सिद्धांत को 'अत्यधिक एकीकरण' की दिशा में ले जाने वाला कहा है, वहां कतिपय आलोचकों ने प्लेटो को राज्य के 'अत्यधिक पृथकीकरण' के लिए जिम्मेदार ठहराया है। उनके विचार में प्लेटो का राज्य एक इकाई नहीं है, बल्कि एक राज्य के नागरिकों का वर्गीकरण करके तथा उनमें कार्यों का विभाजन करके, प्लेटो ने राज्य की एकता को आंच पहुंचाई है। इस वर्गीकरण एवं कार्य विभाजन के कारण, राज्य के विभिन्न वर्गों में सामान्य हित की भावना का अभाव हो जाता है। उनका समूचा ध्यान अपने वर्गगत हितों की और केन्द्रित हो जाता है और वे वर्गहित साधन के सिवाय अन्य किसी प्रकार के उद्देश्यों को ध्यान में नहीं रखते।
5. **प्रजातन्त्र विरोधी**—झेनोफोन तथा जोन बोवले के अनुसार, प्लेटो का न्याय सिद्धांत अप्रजातान्त्रिक है। इसमें एक वर्ग का राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार है जो अल्पसंख्यक है जबकि दूसरे वर्ग को, जो बहुसंख्यक है उससे वंचित रखा गया है। इतना ही नहीं, इसमें प्रत्येक वर्ग के लोगो के पांव में जंजीरें हैं, वे चाहें भी तो अपना वर्ग बदल नहीं सकते। स्पष्टतः यह सिद्धांत प्रजातान्त्रिक सिद्धांतों, विशेषकर समानता और स्वतन्त्रता के सिद्धांतों के विपरीत है।

6. **विरोधाभास**–यह कहा जाता है कि प्लेटो का न्याय सिद्धांत विभिन्न वर्गों में पारस्परिक अहस्तक्षेपएवं समानता को प्रोत्साहन देने वाला है। राज्य के तीन अंग एक दूसरे के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करते, किन्तु व्यावहारिक रूप में हम पाते हैं कि प्लेटो के आदर्श राज्य में राज्य के विवेक का प्रतिनिधि दार्शनिक शासक, बाकी दो वर्गों–सैनिक तथा उत्पादक वर्ग–के कामों में हस्तक्षेप ही नहीं, कठोर नियन्त्रण भी रखता है। साथ ही इस वर्ग का स्थान अन्य वर्गों की बराबरी का भी नहीं है। इसका स्थान अपेक्षाकृत अत्यन्त उच्च है।
7. **अधिकारों और दण्ड की व्यवस्था का अभाव**–प्लेटो के न्याय सिद्धांत में व्यक्ति के अधिकारों, उसकी स्वतन्त्रताओं, उसके ऐच्छिक कार्यों के क्षेत्र, आदि की कोई व्यवस्था नहीं। प्लेटो यह तो कहता है कि कोई किसी दूसरे के कार्य या क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करे, परन्तु इस बात की कोई व्यवस्था नहीं करता कि यदि कोई हस्तक्षेप करता है तो उसके लिए क्या दण्ड होगा। वस्तुतः प्लेटो का न्याय सिद्धांत व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक संघर्षों का कोई सामाधान नहीं करता।

पॉपर ने प्लेटो के न्याय सिद्धांत की कड़ी आलोचना की है। उसके अनुसार प्लेटो के न्याय सिद्धांत में सर्वसत्ताधिकारवादी राज्य के अंकुर छिपे हुए हैं। पॉपर ने यह भी आरोप लगाया है कि प्लेटो का न्याय सिद्धांत परिवर्तन और सुधार का विरोधी है क्योंकि न्याय का अर्थ अपनी जगह पर सदा पड़े रहना है। कतिपय आलोचकों के अनुसार प्लेटो के न्याय सिद्धांत में फासीवादी के बीच भी दृष्टिगोचर होते हैं। न्याय सिद्धांत असमानता का समर्थन करता है, प्रजातन्त्र का विरोधी है, मानव अधिकार की उपेक्षा कर सिर्फ मानव कर्तव्य पर जोर देता है और शासन कार्य का विशेषाधिकार कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों को सौंपता है। पॉपर के शब्दों में, "प्लेटों के न्याय की परिभाषा के पीछे मौलिक रूप से सर्वसत्ताधिकारवादी वर्ग के शासन की उसकी मांग एवं उसे कार्यान्वित करने के उसके निर्णय छिपे हुए हैं।"

2.6 प्लेटोवादी साम्यवाद का सिद्धान्त

प्लेटो के अनुसार उसकी शिक्षा योजना के सांचे में ढले हुए शासक वर्ग तथा सैनिक वर्ग के लोगों का नीर–क्षीर–विवेक अत्यन्त उच्चकोटि का होगा, किन्तु जहां शिक्षा के महत्व का प्लेटो को इतना आभास था वहां उसे यह भी भली–भांति ज्ञात था कि केवल शिक्षा के द्वारा नैतिक विकास कर लेने मात्र से ही उसका उद्देश्य पूरा नहीं होगा; क्योंकि अनेक बाह्य परिस्थितियां ऐसी होती हैं जिनका अनिष्टकारी प्रभाव मानव के हृदयपटल पर अवश्यमेव पड़ता है। अतः प्लेटो को यह अनिवार्य प्रतीत हुआ कि अन्य बाह्य परिस्थितियों में उन तत्वों को जड़ मूल से नष्ट कर दिया जाय जो मानव समाज के नैतिक विकास का मार्ग अवरुद्ध करने वाली दुर्गम चट्टानें सिद्ध हो सकती हैं तथा जिनकी अनुपस्थिति में ही न्याय सिद्धांत क्रियाशीलता प्राप्त कर सकता है। बार्कर के शब्दों में, "मानव मन का स्थायी सुधार एक सीमा तक उन सामाजिक परिस्थितियों की प्रकृति पर आश्रित है जिनमें उन्हें काम करना होता है और न्याय का शासन भी एक सीमा तक उन भौतिक परिस्थितियो की अनुपस्थिति पर आश्रित है, जो उसके लिए प्रतिकूल पड़ती हैं।"

व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा परिवार अर्थात् कंचन और कामिनी को प्लेटो संरक्षक वर्ग के लिए ऐसी दुर्गम चट्टान मानता था जिनसे टकराकर उनके नैतिक जीवन के क्षत–विक्षत होने की पूर्ण आशंका थी, अतः अपने आदर्श राज्य में अपनी समस्त प्रतिभा के साथ उसने इन दो बाधाओं पर प्रहार किया और साम्यवाद की योजना प्रस्तुत करके अपने आदर्श राज्य रूपी प्रासाद की नींव सुदृढ़ करने का प्रयास किया है। नैटिलशिप के शब्दों में, "प्लेटो का साम्यवाद शिक्षा द्वारा उत्पन्न की हुई विचारधारा को प्रभावशाली बनाने वाला तथा उसे नवजीवन एवं नवशक्ति प्रदान करने वाला अनुपूरक यन्त्र है।" न्याय पर आधारित आदर्श राज्य की स्थापना के लिए यदि शिक्षा सकारात्मक और आध्यात्मिक साधन है तो साम्यवाद निषेधात्मक और भौतिक। प्लेटो का साम्यवाद राजनीतिक सत्ता तथा आर्थिक लोलुपता के सम्मिश्रण की बुराई को दूर करने के लिए एक साहसिक उपचार है।

2.6.1 प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा के स्रोत

प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा पूर्णतया नवीन अथवा मौलिक नहीं थी। प्लेटो के अभ्युदय से पूर्व ही यूनानियों को साम्यवाद का सन्देश प्राप्त हो चुका था और इसका व्यावहारिक रूप यूनान के नगर राज्यों में उपलब्ध था। उदाहरण के लिए, स्पार्टा में स्त्रियों को राज्य के हित की दृष्टि से राज्य को सौंप दिया जाता था, बालकों को सात वर्ष की अल्पायु के बाद ही राज्य द्वारा ले लिया जाता था और उनके भरण–पोषण का सम्पूर्ण भार राज्य ही वहन करता था। स्पार्टा में सार्वजनिक जलपान–गृह तथा भोजनालयों की प्रथा थी जिनमें स्त्री, पुरुष, बच्चे सभी को समान रूप से भोजन प्राप्त होता था। स्पार्टा में व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा थी, पर स्पार्टा के नागरिकों की उपज का एक भाग उनके सामूहिक भोजनालयों को जाता था। यहां सामाजिक उपयोग तथा व्यक्तिगत स्वामित्व का सुन्दर समन्वय था। क्रीट नामक नगर राज्य में सहकारी खेती की व्यवस्था थी। वहां सार्वजनिक खेतों से सार्वजनिक दास किसानों द्वारा खेती की जाती थी, जिसके लगान से सरकार के सामान्य व्यय तथा भोजन संस्थाओं का खर्च चलाया जाता था। पांचवीं शताब्दी के एथेन्स में भी इसी प्रकार के साम्यवादी विचारों का प्रचलन था। एथेन्स राज्य के ऐतिहासिक काल में राज्य का व्यक्तिगत सम्पत्ति पर नियन्त्रण था तथा राज्य के पास अपने स्वयं के जंगलात एवं खानें थीं। पाइथोगोरस का मत था, "मित्रों की सम्पत्ति

पर सबका समान रूप से अधिकार है।" उसके इस विचार में स्पष्टतः साम्यवाद की गन्ध थी। यूरिपाइड ने भी प्लेटो के 'रिपब्लिक' की रचना से पूर्व नारी साम्यवाद के सिद्धांत को सामने रखा था। अतः ऐसी दशा में यह कहना कि प्लेटो से ही साम्यवादी विचारों का उद्‌भव हुआ, संदिग्ध होगा। प्लेटो ने तो विचारों का संकलन करके उन्हें सजीव बनाकर अपने आदर्श राज्य की नींव को दृढ़ किया। प्रो. बार्कर ने ठीक ही लिखा है कि स्पार्टा तथा क्रीट की परिपाटियों में तथा प्लेटो के सम्पत्ति विषयक विचारों में बहुत गहरा साम्य है।

प्लेटो के काल में सम्पत्तिशाली वर्ग के हित में शासन संचालित होता था, शोषण प्रथा प्रचलित थी एवं आर्थिक तत्व राजनीतिक वातावरण को प्रभावित करते रहते थे। इसी कारण राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता पायी जाती थी। उस युग में स्त्रियों की दशा भी अत्यन्त दयनीय थी। सामाजिक जीवन में उनकी स्थिति गौण थी। बाल्यावस्था में ही उन्हें वैवाहिक बन्धन में बांध दिया जाता था। उनका कर्तव्य अपने पति की कामवासना की तृप्ति, सन्तान की उत्पत्ति तथा उनके पालन–पोषण करने तक ही सीमित था। बार्कर के अनुसार "एथेन्स में पायी जाने वाली मातृ दासता, एकांगिता तथा नारी की महत्वहीनता के प्रति प्लेटो के हृदय में आक्रोश का भाव विद्यमान था। एथेन्स का राजनीतिक जीवन पुरुष प्रधान राजनीतिक जीवन था, वहां के समाज के अर्द्धभाग (स्त्रियों) को गृहों की दीवारों के पीछे पशुवत जीवन बिताना पड़ता था। मातृजाति की इस प्रकार की दयनीय दशा उसके लिए असंह्य थी।" अतएव प्लेटो ने साम्यवादी विचार का प्रतिपादन करके इन समस्त बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया है।

इस प्रकार प्राचीन ग्रीस के कतिपय राज्यों के सामाजिक जीवन से जहां प्लेटो ने एक ओर 'स्त्रियों के साम्यवाद' की बीज बटोरे, वहां कुछ अन्य राज्यों के सामाजिक जीवन की त्रुटियों से उसने यह प्रेरणा ग्रहण की कि मातृजाति का उद्धार कर अपने आदर्श राज्य के लिए उनकी सेवाएँ प्राप्त करें।

2.6.2 प्लेटो के साम्यवाद का क्षेत्रः साम्यवाद केवल संरक्षक वर्ग के लिए

प्लेटो के साम्यवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके द्वारा साम्यवादी व्यवस्था को अपनाने का सुझाव राज्य की समस्त जनता के लिए नहीं वरन् केवल संरक्षक वर्ग (सैनिक और शासक वर्ग के लिए) के लिए ही दिया गया है और उसके द्वारा इस विशेष स्थिति को अपनाये जाने का कारण यह है कि उसके साम्यवाद का उद्देश्य वर्तमान साम्यवाद की भांति आर्थिक नहीं, वरन् राजनीतिक है। उसका उद्देश्य तो एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है, जिसमें शासक वर्ग अपने सार्वजनिक कर्तव्यों का सर्वाधिक श्रेष्ठतापूर्वक सम्पादन कर सके। क्योंकि प्लेटो की सामाजिक व्यवस्था का तीसरा वर्ग–उत्पादक वर्ग शासन व्यवस्था के संचालन से सम्बन्धित नहीं है, उसके द्वारा उत्पादक वर्ग को साम्यवाद की परिधि में सम्मिलित नहीं किया गया है। जहां तक संरक्षक वर्ग का संबंध है, प्लेटो उन्हें राज्य कार्य के योग्य बनाने हेतु उनके लिए व्यापक शिक्षा की व्यवस्था करता है और कालान्तर में शिक्षा का प्रभाव समाप्त होकर दूषित तत्व उनके मानस में प्रवेश न कर लें, इस दृष्टि से वह संरक्षक वर्ग हेतु साम्यवादी व्यवस्था का निर्देश करता है। प्लेटो के अनुसार सैनिकों तथा शासकों को राज्य के हित की दृष्टि से वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार नहीं रखना चाहिए। यदि वे इन्हें रखेंगे तो कंचन और कामिनी के मोह में फंस जायेंगे, धनलोलुपता, स्वार्थपरता और पारिवारिक कार्यों में आसक्ति उनके निष्पक्ष भाव से शासन के स्वकर्तव्य पालन में बाधक होगी। वे इन झंझटों में फंसने के कारण राज्य के कार्यों की अपेक्षा करेंगे, अतः वीतराग वृत्ति से उनके शासन के संचालन के लिए सम्पत्ति और परिवार के क्षेत्र में साम्यवाद की व्यवस्था आवश्यक है। बार्कर के अनुसार, "प्लेटो का साम्यवाद राज्य के अल्पसंख्यकों के लिए था। अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अपने पारिवारिक जीवन की आहुति राज्य के दार्शनिक शासक वर्ग तथा सैनिक वर्ग को ही देनी थी।"

2.6.3 सम्पत्ति संबंधी साम्यवाद

व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा का एक अंग है। प्लेटो की धारणा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्ति को स्वार्थी, लालची, ईर्ष्यालु, प्रतिद्वन्द्वी और हीन बनाती है और राज्य की एकता और न्याय को संकट में डाल देती है। अतः प्लेटो अपने आदर्श राज्य के दार्शनिक शासकों और सैनिकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति से वंचित रखता है। वह धन या सम्पत्ति को अनैतिक बतलाते हुए कहता है कि एक ही व्यक्ति के हाथ में सम्पत्ति और शासन की शक्ति रहने से वह पथभ्रष्ट होकर भीषण परिस्थितियों उत्पन्न कर सकता है। अतः सम्पत्ति को शासन से अलग रखना ही श्रेयस्कर है। शासक तथा सैनिक वर्ग निजी सम्पत्ति के अधिकारी नहीं बन सकते।

प्लेटो संरक्षक वर्ग के लिए सम्पत्ति विषयक साम्यवाद का प्रतिपादन करते हुए कहता है कि "पहली बात यह है कि उनके पास तो केवल उतनी ही सम्पत्ति होगी जितनी जीवन के लिए नितान्त अनिवार्य है। न तो उनके पास अपना कोई घर होगा और न कोई ऐसा गोदाम जो सबके लिए खुला न हो। ..... उन्हें सामान्य भोजनालयों में भोजन करना चाहिए। सिपाहियों की तरह डेरों में रहना चाहिए और केवल ये ही ऐसे नागरिक हैं जिन्हें सोना–चांदी छूना तक न चाहिए। इसी में उनकी मुक्ति है और ऐसा करने से वे राज्य के रक्षक बन सकेंगे।" प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था में संरक्षक वर्ग के पास किसी प्रकार की कोई सम्पत्ति नहीं होगी। उनकी सेवाओं के पुरस्कारस्वरूप उत्पादक वर्ग उन्हें प्रति वर्ष वस्तुओं के

रूप में निश्चित वेतन देगा। इन वस्तुओं का उपयोग एवं स्वामित्व भी व्यक्तिगत आधार पर नहीं होगी, सामूहिक रूप से ही वे इनका उपयोग कर सकेंगे।

राज्य के तीसरे वर्ग–उत्पादक वर्ग को ही प्लेटो ने व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया है। राज्य के अंग के रूप में इस वर्ग का गुण क्षुधा है, अतः सम्पत्ति पैदा करने एवं संचय करने का अधिकार केवल इसी को दिया जा सकता है, किन्तु प्लेटो इस वर्ग को यह अधिकार स्वच्छन्द रूप से प्रदान नहीं करता। यह वर्ग सम्पत्ति का उत्पादन राज्य के कठोर नियन्त्रण में ही करेगा।

सरकार व्यापार, व्यवसाय तथा उद्योग–धन्धों पर कठोर नियन्त्रण रखेगी। राज्य इस बात को भी ध्यान में रखेगा कि उत्पादक वर्ग में कोई बहुत अधिक धनी तथा कोई बहुत अधिक निर्धन न हो जाय। कतिपय हाथों में धन का बाहुल्य होना तथा बहुसंख्यक लोगों का आर्थिक अभाव से पीड़ित होनाये दोनों ही स्थितियां प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य के लिए अवांछनीय हैं। वह आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत आधार पर उत्पादन एवं राज्य नियन्त्रण का समर्थक है।

प्लेटो के अनुसार राज्य को न केवल सम्पत्ति के अत्यधिक बाहुल्य एवं अत्यधिक न्यूनता को ही नियन्त्रित करना है, बल्कि यह भी देखना कि सम्पत्ति उचित साधनों से अर्जित की गई है अथवा नहीं। ऊंचे ब्याज पर अथवा अधिक मुनाफा रखकर किया गया सम्पत्ति का संचय उसने अनुचित माना है। कृषि के विषय में प्लेटो का यह विचार था कि उत्पादन व्यक्तिगत आधार पर किया जाये और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व हो। भूमि प्रकृति की देन है, अतः सभी कृषकों में इसका समान रूप से वितरण किया जाना चाहिए। सभी प्रकार की सम्पत्ति के उपयोग के बारे में प्लेटो ने यह विचार व्यक्त किया है कि यह उपयोग किसी भी तरह से समाज के लिए अनिष्टकारी सिद्ध नहीं होना चाहिए। समाज के सभी वर्गों के उचित हितों को ध्यान में रखकर सम्पत्ति के उपयोग की व्यवस्था की जानी चाहिए क्योंकि अन्ततोगत्वा सम्पत्ति समाज के द्वारा ही पैदा की जाती है।

प्लेटो के सम्पत्ति विषयक साम्यवाद की विशेषताएँ

प्लेटो के सम्पत्ति विषयक साम्यवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

(i) यह साम्यवाद सभी नागरिकों के लिए नहीं, वरन् केवल शासक और सैनिक वर्ग के लिए है। इसका उद्देश्य यद्यपि सम्पूर्ण समाज का कल्याण है, किन्तु इसे सम्पूर्ण समाज के द्वारा व्यवहार में नहीं लाया जाता है।

(ii) इसका उद्देश्य राजनीतिक है, आर्थिक नहीं है। आधुनिक साम्यवाद की तरह इसका उद्देश्य आर्थिक विषमता दूर करना नहीं वरन् राजनीति और शासन व्यवस्था को दोषमुक्त करना है।

(iii) प्लेटो का साम्यवाद भोग का नहीं वरन् त्याग का मार्ग है। यह समाज के शासक वर्ग को कंचन और कामिनी का मोह छोड़कर जनकल्याण में रत रहने के लिए प्रेरित करता है। फोस्टर के शब्दों में "प्लेटो के संरक्षक वर्ग को सामूहिक रूप से सम्पत्ति का स्वामित्व ग्रहण करना नहीं वरन् इसका त्याग करना है।"

सम्पत्ति विषयक साम्यवाद के पक्ष में तर्क

सम्पत्ति के साम्यवाद के औचित्य को सिद्ध करने के लिए प्लेटो ने नैतिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, व्यावहारिक और राजनीतिक तर्कों के रूप में अनेक आधार प्रस्तुत किये हैं, परन्तु सम्पत्ति के साम्यवाद का मूल आधार व्यावहारिक तथा राजनीतिक है। प्रमुख आधार इस प्रकार हैं:

1. मनोवैज्ञानिक आधार–प्लेटो आत्मा के तीन तत्व या विशेष गुण मानता है–विवेक, शौर्य और इन्द्रिय तृष्णा।इन तीनों गुणों के आधार पर प्लेटो ने समाज को तीन वर्गों में बांटा है–शासक, सैनिक और उत्पादक वर्ग। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए और शासक तथा सैनिक वर्ग के लिए अपने कर्तव्य पालन के लिए आर्थिक वृत्तियों का त्याग किया जाना आवश्यक है क्योंकि यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो उनमें विवेक एवं शौर्य के स्थान पर इन्द्रिय तृष्णा का तत्व प्रबल हो जाएगा। इस प्रकार शासक वर्ग में विशुद्ध विवेक तथा सैनिक वर्ग में शौर्य बनाए रखने के लिए इन वर्गों के संबंध में सम्पत्ति विषयक साम्यवाद को अपनाना आवश्यक है।

2. दार्शनिक आधार–प्लेटो के साम्यवाद का दार्शनिक आधार कार्य विशिष्टीकरण एवं विभाजन का सिद्धांत है। इस सिद्धांत का आशय यह है कि जिन्हें शासन जैसा महत्वपूर्ण कार्य सौंपा गया है, उन्हें ऐसे सभी सांसारिक तत्वों से बचकर रहना चाहिए जो शासन कार्य में बाधा डालते हैं। धन एक ऐसा तत्व है, अतः संरक्षक वर्ग को इससे अलग रखा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, जब शासकों का प्रशिक्षण विशिष्ट कार्य के लिए हुआ है तो उन्हें श्रेष्ठ नियमों के अधीन होना चाहिए।

3. नैतिक आधार–बार्कर के अनुसार, 'सम्पत्ति के उन्मूलन के लिए जो तर्क उसने प्रस्तुत किये हैं, वे पूर्णतया नैतिक हैं।' प्लेटो के राजनीतिक चिन्तन का एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति एवं समष्टि (राज्य–समाज) के पारस्परिक संबंधों को समुचित स्वरूप निर्धारित करने का था। वह इस गलत धारणा को समूल नष्ट करना चाहता था कि व्यक्ति का इकाई के रूप में, केवल मात्र अपने सन्तोष के लिए ही अस्तित्व है। उसकी मान्यता थी कि जिस सम्पूर्ण जीवन की कामना एवं

लालसा किसी व्यक्ति की होनी चाहिए, उस सम्पूर्ण जीवन की प्राप्ति केवल तभी हो सकती है, जबकि व्यक्ति समष्टि (राज्य) के एक अंग के रूप में अपने अस्तित्व को स्वीकार करे और अपने योग्य स्थान तथा कार्यक्षेत्र का निर्धारण करके, अपने कर्तव्यों का अत्यन्त निष्ठा के साथ पालन करे। इस प्रकार जीवन को अनुशासित करने को ही प्लेटो ने न्याय की संज्ञा दी है। 'साम्यवाद' प्लेटो की दृष्टि में 'न्याय' के सिद्धांत का एक अनिवार्य परिणाम है, अतः राज्य के दो वर्गों दार्शनिक शासक एवं सैनिक वर्ग के लिए उपयुक्त है कि वे साम्यवाद के अनुशासन में रहें जिससे वे विवेक तथा निस्वार्थता के साथ अपने कर्तव्यों का समुचित ढंग से पालन कर सकें।

4. व्यावहारिक आधार—प्लेटो की साम्यवादी योजना का व्यावहारिक आधार भी है। सम्पत्ति विषयक साम्यवाद को वह इसलिए आवश्यक मानता था कि राज्य की राजनीतिक शक्ति तथा आर्थिक शक्ति का एक ही हाथों में आ जाना किसी भी प्रकार से वांछनीय नहीं है। साथ ही उसमें अनेक गम्भीर खतरे छिपे हुए हैं। आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति का एकीकरण 'आदर्श राज्य' के अस्तित्व को बड़े भारी संकट में डाल सकता है क्योंकि यह एकीकरण शासक के विवेक को कण्ठित कर देता है। वह निःस्वार्थता, सेवा तथा कर्तव्यपरायणता को तिलांजलि देकर एक अन्धे एवं विवेकहीन की भांति अपनी समस्त राजनीतिक शक्ति का प्रयोग अधिकतम व्यक्तिगत आर्थिक लाभ के लिए करने लगता है। उसके इस प्रकार के अनुचित आचरण की प्रतिक्रिया शासित वर्ग में होती है। वे उसके अज्ञान, लोलुपता तथा स्वार्थपूर्ण व्यवहार से घृणा करने लगते हैं। समय के साथ उनमें (शासक एवं शासित) वैमनस्य की खाई बढ़ने लगती है, जिसके विकराल रूप धारण करने पर राज्य के विभाजन एवं समाज के अन्त होने तक का खतरा पैदा हो जाता है। अतः व्यावहारिकता का यह तकाजा है कि इस प्रकार के सम्भावित खतरे से त्राण पाने के लिए शासक वर्ग को सम्पत्ति के स्वामित्व से सदैव वंचित रखा जाये।

5. राजनीतिक आधार—सेबाइन के शब्दों में 'प्लेटो का साम्यवाद मुख्यतः राजनीतिक उद्देश्य लिए हुए था।' साम्यवाद की स्थापना में प्लेटो ने अनेक राजनीतिक समस्याओं का समुचित समाधान देखा है। इस सिद्धांत से एक राजनीतिक समस्या यह हल होगी कि राज्य की एकता तथा खुशहाली निरन्तर बनी रहेगी, क्योंकि राज्य के विभिन्न वर्गों के लोगों में पद—लोलुपता से उत्पन्न प्रतिस्पर्धा का अभाव होगा वे अपने दायित्वों को पूरा करने में श्रेष्ठ ढंग से निरन्तर लगे रहेंगे। बार्कर ने इस सिद्धांत का राजनीतिक आधार इस कारण से माना है कि यह सिद्धांत केवल मात्र शासक वर्ग के लोगों के लिए है—अतः इसका संबंध राज्य के उन लोगों से है जिनके हाथ में राजनीतिक जीवन की बागडोर है।

सम्पत्ति के साम्यवाद का मूल्यांकन

प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की अनेक आधारों पर आलोचना की गई है। आलोचकों का कथन है कि यह 'अर्द्ध—साम्यवाद' है। यह 'एक राज्य में दो राज्यों को जन्म देता है। यह एकता के स्थान पर विघटन उत्पन्न करता है; यह अतिवादी, अस्पष्ट और मानव प्रकृति तथा स्वभाव के विपरीत है। यह आध्यात्मिक रोग के लिए भौतिक उपचार प्रस्तुत करता है जो अपर्याप्त है।' प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(1) अर्द्ध साम्यवाद—प्रो. बार्कर और प्रो. नैटिलशिप का मत है कि प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद अर्द्ध साम्यवाद है क्योंकि यह समाज के सभी वर्गों पर लागू नहीं होता। यह तो समाज के केवल दो वर्गों (शासक व सैनिक वर्ग) पर ही लागू होता है जो संख्या मे अत्यधिक अल्पमत में हैं।

(2) अव्यावहारिक एवं नकारात्मक—प्लेटो का साम्यवाद अव्यावहारिक भी है और नकारात्मक भी। यह राज्य की समस्त जनता के भौतिक कल्याण की बात नहीं करता। उत्पादकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार देकर और शासकों तथा सैनिकों को उससे वंचित रखकर यह राज्य की एकता को बनाये रखने के स्थान पर विभाजन को बढ़ावा देता है। यह एक राज्य में दो राज्यों को जन्म देता है।

(3) सम्पत्ति की समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ—सम्पत्ति का साम्यवाद सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली समस्याओं, झगड़ों और जटिलताओं को समुचित रूप से सुलझाने में भी असमर्थ है। जो वर्ग (शासक वर्ग) सम्पत्तिविहीन है, एक तो वह सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को समझ नहीं सकता और दूसरे उसके द्वारा किए गए समाधान अपर्याप्त एवं अनुचित होंगे। नैतिक जीवन बिताने वालों और सम्पत्ति के संबंध में अनुभवहीन व्यक्तियों से सम्पत्ति की समस्याओं के समुचित समाधान की आशा कोरा आदर्शवाद है।

(4) मानव प्रकृति और स्वभाव के विपरीत—युगों—युगों से व्यक्तिगत सम्पत्ति मानव व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और उसके सामाजिक स्तर का चिन्ह रही है। अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति से समाज के एक बहुत बड़े भाग को वंचित करना मानव प्रकृति की उपेक्षा करना ही नहीं बल्कि व्यक्ति के व्यक्तित्व की प्रगति को अवरुद्ध करना भी है।

अरस्तू द्वारा प्लेटो के सम्पत्ति विषयक साम्यवाद की आलोचना

प्लेटो के प्रमुख शिष्य अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति विषयक साम्यवाद की निम्न प्रकार से आलोचना की है—

(1) अरस्तू के अनुसार प्लेटो का साम्यवाद 'आध्यात्मिक बुराइयों का भौतिक निदान' है जिसके परिणाम आशनुकूल नहीं हो सकते।

(2) प्लेटो का साम्यवाद समाज की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान कर देता है।

(3) साम्यवाद जीवन के सामान्य अनुभव के विरुद्ध है।

(4) यह व्यवस्था समाज में झगड़ों और फूट को बढ़ाने वाली है। वैयक्तिक सम्पत्ति में व्यक्तिगत स्वार्थ का क्षेत्र अलग होने से पारस्परिक कलह का एक मुख्य कारण दूर हो जाता है, साम्यवाद में वैयक्तिक क्षेत्र सुनिश्चित न होने के कारण विवाद अधिक होगा। समाज की उन्नति अवरुद्ध हो जायेगी।

(5) प्लेटो का साम्यवाद उत्पादक वर्ग पर लागू नहीं किया गया है जिसकी संख्या समस्त जनसंख्या की आधे से भी अधिक होती है। इस प्रकार यह राज्य की समस्त जनसंख्या के भौतिक कल्याण का ध्यान नहीं रखता और राज्य को दो विषम समुदायों में बांट देता है जिससे देश की एकता बनाए रखना असम्भव हो जाता है।

(6) मनुष्य में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी निजी सम्पत्ति रखना चाहता है, उसमें गर्व और गौरव का अनुभव करता है, उसे बढ़ाने में दिन–रात लगा रहता है। किसी वस्तु को अपना समझने में मनुष्य को अवर्णनीय आनन्द होता है। साम्यवाद में यह लाभ नहीं मिल सकता है।

(7) इससे परोपकार और उदारता की श्रेष्ठ मानवीय सम्भावनाएँ नष्ट हो जायेंगी क्योंकि परोपकार संबंधी कार्य वैयक्तिक सम्पत्ति के आधार पर ही कर सकता है।

(8) प्लेटो राज्य की एकता बनाए रखने के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त करना चाहता है, किन्तु यह एकता उपयुक्त शिक्षा द्वारा ही स्थापित हो सकती है, न कि साम्यवाद द्वारा।

सम्पत्ति संबंधी साम्यवाद का महत्व–उपर्युक्त कमजोरियों के बावजूद भी कतिपय लेखक ऐसे हैं जो इन आलोचनाओं को विवेकहीन और इतिहास की अपेक्षा मानते हैं। इन लेखकों की मान्यता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का इतिहास तो केवल 4 से 5 हजार वर्ष पुराना है। प्राचीन समाजों में भूमि तथा अन्य वस्तुएँ सामूहिक होती थीं। इन लेखकों की मान्यता है कि वर्ग भेद कार्य विशिष्टीकरण के कारण किया गया है, कटुता या संघर्ष उत्पन्न करने के लिए नहीं। गार्नर के अनुसार 'प्लेटो का साम्यवाद सारे समाज के कल्याण के लिए है यद्यपि यह सारे समाज के लिए नहीं है।' यह एक ही हाथों में राजनीतिक और आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण होने से बचाता है।

2.6.4 परिवार विषयक साम्यवाद

संरक्षक वर्ग के लिए निजी सम्पत्ति का निषेध करने के साथ–साथ प्लेटो उन्हें निजी परिवार से भी वंचित कर देता है। प्लेटो का विचार है कि संरक्षक वर्ग कुशलतापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन कर सके, इसके लिए उन्हें सम्पत्ति के मोह के साथ–साथ परिवार और स्त्रियों के मोह से भी मुक्त किया जाना चाहिये।

प्लेटो विश्व के उन कतिपय दार्शनिकों में से है जिन्होंने राजनीतिक जीवन में स्त्रियों को समुचित स्थान देने के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया है। उसने निर्भीकता से यह घोषित किया है कि महिलाओं में शासन संचालन करने की लगभग उतनी ही क्षमता होती है जितनी कि पुरुष वर्ग में। उसने साम्यवाद के रूप में एक ऐसी योजना प्रस्तुत की जो स्त्रियों को घर की चहारदीवारियों के घुटनमय जीवन से बाहर निकालकर राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन की स्वच्छ हवा में श्वास लेने दे। यद्यपि वह यूनानी जगत की समस्त स्त्रियों के उद्धार तथा राजनीतिक जीवन में भाग लेने का पैगम्बर नहीं है–उसका समस्त उद्धार कार्यक्रम राज्य के संरक्षक वर्ग की स्त्रियों तक ही सीमित है–तथापि इस दिशा में उसके चिन्तन का महत्व किसी भी प्रकार से कम नहीं होता, क्योंकि स्त्रियों के राजनीतिक जीवन में भाग लेने के अधिकार के विषय में जिसे विश्व आज तक भी पूर्णरूप से स्वीकार नहीं कर पाया है–उसने आज से लगभग 2250 वर्ष पूर्व जो विचार व्यक्त किये हैं, वे अनेक दृष्टियों से मूलभूत हैं।

यह प्लेटो जैसे दार्शनिक का ही साहस हो सकता है कि परिवार जैसी व्यक्ति की मूलभूत संस्था पर वज्राघात कर सके एवं उसे नष्ट करने का सुझाव देकर उसके स्थान पर एक राज्य परिवार की स्थापना करने की योजना प्रस्तुत कर सके। प्लेटो की मान्यता थी कि परिवार एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। परिवार वह संस्था है जो व्यक्ति को सम्पत्ति उपार्जन के लिए बाध्य करती है। अपनी पत्नी, बच्चों तथा अन्य प्रियजनों के लिए सम्पत्ति जुटाने हेतु व्यक्ति को बाध्य ही नहीं पड़ता, बल्कि ऐसा करना उसे एक पवित्र तथा नैतिक कार्य प्रतीत होने लगता है। अपने परिवार के लिए 'येन केन प्रकारेण' अधिकाधिक सम्पत्ति जुटाने की कामना तथा प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति करता है। राज्य के विवेक तथा उत्साह का प्रतिनिधित्व करने वाले संरक्षक वर्ग के लोग भी परिवार के हित के लिए संग्रह वृत्ति को अपना लेते हैं। बार्कर के शब्दों में, "संरक्षक वर्ग के पारिवारिक जीवन का उन्मूलन करना प्लेटो को व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन का एक अवश्यम्भावी उपसाध्य प्रतीत हुआ है।" अतः संरक्षक वर्ग का ध्यान सम्पत्ति संचय वृत्ति से हटाना है तो यह आवश्यक है कि इस संचय वृत्ति को प्रोत्साहन देने वाली परिवार संस्था का उन्मूलन कर दिया जाये। ऐसा होने पर 'न

बांस रहेगा न बांसुरी बजेगी।' बोसांके के शब्दों में, "संरक्षक वर्ग में व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन परिवार के उन्मूलन का उपसाध्य मात्र है जो कि विचारों में एकता की आवश्यक शर्त है।"

प्लेटो ने अपने परिवार संबंधी साम्यवाद की योजना के पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं–

(1) संरक्षक वर्ग को पारिवारिक मोह से मुक्त करना–प्लेटो परिवार को ऐसी घातक संस्था मानता है जो व्यक्तियों में संकीर्ण मनोवृत्ति तथा प्रबल स्वार्थपूर्ण भावनाएँ उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक मोह तथा चिन्ताओं में फंसकर व्यक्ति सार्वजनिक कर्तव्यों के सम्पादन में वैसी सजगता का परिचय नहीं दे सकता, जैसी सजगत संरक्षक वर्ग के व्यक्तियों में होनी चाहिए। अतः प्लेटो संरक्षक वर्ग के लिए परिवार की व्यवस्था का अन्त करना चाहता है।

(2) राज्य में एकता स्थापित करने हेतु–परिवार व्यक्तियों में मेरे–तेरे की भावना उत्पन्न करता है और इस भावना के परिणामस्वरूप संरक्षक वर्ग के व्यक्ति सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष करते रहते हैं। प्लेटो राज्य के हित में पारस्परिक संघर्ष की इस प्रवृत्ति का अन्त आवश्यक मानता है। अतः प्लेटो संरक्षक वर्ग के समस्त स्त्री पुरुष को एक ही परिवार के रूप में परिणत करके राजनीतिक एकता की प्राप्ति करना चाहता है। प्लेटो के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए बार्कर ने लिखा है: "इसके (परिवार के) उन्मूलन का दिन, राज्य की एकता के उद्घाटन का दिन होगा। व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता और दोनों के लिए न्याय का दिन होगा।"

(3) महिलाओं की मुक्ति तथा समानाधिकार–प्लेटो के समय में एथेन्स का सार्वजनिक जीवन पुरुषों तक ही सीमित था और इसमें स्त्रियों का प्रवेश वर्जित था। उनका कार्य केवल घर की चहारदीवारी में रहकर बच्चों का पोषण करना था। राज्य की सेवा के लिए बच्चों को उत्पन्न करने में विवाह एक साधन और पत्नी एक उपकरण मानी जाती थी। प्लेटो के शब्दों में, "परिवार एक ऐसा स्थान है जहां मनुष्य की प्रतिभा का हनन होता है तथा पत्नी की मानसिक शक्ति चौके चूल्हे में बर्बाद हो जाती है।" प्लेटो स्त्रियों के इस हीन जीवन का अन्त करना चाहता था। उसका विचार था कि स्त्रियां भी पुरुषों के समान ही सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने के लिए उपयुक्त हैं और उन्हें इस बात का अवसर दिया जाना चाहिए। वह स्त्रियों के साम्यवाद का प्रावधान कर एक ओर तो स्त्रियों के लिए स्वतन्त्रता एवं स्वतन्त्र जीवन का अधिकार प्राप्त करना चाहता था और दूसरी ओर वह राज्य के आधे भाग (महिलाओं) की उपयोगी सेवाएँ राज्य के लिए उपलब्ध करना चाहता था। प्रो. क्रासमैन के शब्दों में "उसके शासक वर्ग को ऐसी स्त्रियों की आवश्यकता थी जो अपने पुरुषों के समान हों।"

संरक्षक वर्ग की तुलना निगरानी करने वाले श्वान से करते हुए प्लेटो ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि जैसे लिंगभेद कुत्तों के निगरानी रखने के काम में किसी प्रकार बाधा नहीं पहुंचाता, वैसे ही यह संरक्षक वर्ग के शासन कार्य में भी किसी प्रकार की रुकावट नहीं डाल सकता। कतिपय स्त्रियों और पुरुषों में शासन करने की स्वाभाविक क्षमता पायी जाती है। अतः ऐसे स्त्री–पुरुषों को समान रूप से शासन संचालन के अवसर प्राप्त होने चाहिए।

(4) श्रेष्ठ सन्तति की प्राप्ति–प्लेटो का विचार है कि स्त्री पुरुषों का संसर्ग भी व्यक्तिगत इच्छाओं की तुष्टि के लिए नहीं वरन् राज्य के व्यापक हितों को दृष्टि में रखकर होना चाहिए। राज्य के हित मे यह जरूरी है कि आने वाली सन्तति श्रेष्ठ नस्ल की हो और इस लक्ष्य की प्राप्ति का उपाय यह है कि उचित आयु के केवल सर्वोत्तम स्त्रियों और पुरुषों को ही विवाह सूत्र में बांधा जाये। प्लेटो चाहता है कि इस संबंध में राज्य को उसी सिद्धांत पर अमल करना चाहिए जिस पर कि एक पशुपालक करता है, अर्थात् एक श्रेष्ठ नर को उतनी मादाओं और एक श्रेष्ठ मादा को उतने नरों के साथ जोड़ देना चाहिए, जितने कि वह सुगमतापूर्वक सम्भाल सकें। इस प्रकार के क्षणिक संसर्ग से उत्पन्न होने वाले बच्चों का पालन–पोषण राज्य अपने शिशु–गृहों में करेगा। बार्कर के अनुसार प्लेटो के लिए यही पर्याप्त नहीं है कि बच्चे की शिक्षा–दीक्षा भली प्रकार हो, वरन् उसका जन्म भी उचित रूप से चुने हुए और स्वस्थ पूर्वजों से होना चाहिए।

(5) विवाह संस्था में सुधार–एक अन्य उद्देश्य महिलाओं के साम्यवाद का यह प्रतीत होता है कि प्लेटो विवाह संस्था में भी समुचित सुधार चाहता था। वह यह मानता प्रतीत नहीं होता कि विवाह कोई नैतिक अथवा पवित्र बन्धन है। उसे विवाह का सीधा सादा प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि इसके माध्यम से औरस सन्तान प्राप्त की जा सकती है। अतः इस संस्था का भी, राज्य के हित को दृष्टि में रखकर संशोधन करना उसे उचित प्रतीत हुआ है। क्रासमैन ने विवाह संस्था की समाप्ति को स्त्रियों के लिए अधिकारों की प्राप्ति की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम माना है।

पत्नियों का साम्यवाद या राज्य

परिवार की रूपरेखा महिलाओं को पारिवारिक बन्धनों से मुक्त कर उन्हें शासक वर्ग में स्थान देने मात्र को ही प्लेटो पर्याप्त नहीं समझता था। उसने इस बात की भी व्यवस्था की है कि 'संरक्षक वर्ग' के स्त्री पुरुषों में श्रेष्ठ आधार पर यौन संबंधों का विकास हो, जिससे कि उनकी सन्तति का राज्य के हित में उपयोग हो सके।

प्लेटो चाहता था कि संरक्षक वर्ग श्रेष्ठ सन्तति पैदा करे तथा संरक्षक वर्ग की जनसंख्या भी स्थायी बनी रहे। इसलिए वह शासक वर्ग के लिए वैयक्तिक यौन संबंधों पर आधारित व्यक्तिगत परिवार की स्थापना का खतरा मोल नहीं लेना

चाहता था। वस्तुतः उसने राज्य परिवार की स्थापना की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उसकी योजना यह है कि शासक वर्ग के स्त्री पुरुषों के वैवाहिक संबंध सामूहिक आधार पर हों तथा शासक वर्ग के अच्छे से अच्छे स्त्री–पुरुषों को उचित समय में परस्पर मिलने दिया जाए, जिससे कि वे सर्वश्रेष्ठ सन्तान राज्य को दे सकें। उसकी यह योजना थी कि विवाह संबंधों को नियन्त्रित रखा जाए। स्त्री एवं पुरुषों की प्रजनन की श्रेष्ठ आयु का निश्चय किया जाए एवं शुभ मुहूर्तों में उन्हें संभोग करने का अवसर दिया जाए। "हमको कुछ उत्सवों और यज्ञों का विधान करना होगा, जिनमें वर–वधुओं का सम्मिलित होना तथा हमारे कवियों को उस समय सम्पन्न होने वाले विवाह के अनुरूप स्तोत्रों की रचना करनी होगी।" उसने स्त्रियों के लिए प्रजनन का श्रेष्ठ समय 20 से 40 वर्ष तक की आयु को माना है और पुरुषों के लिए 25 से 55 वर्ष तक का काल निश्चित किया है। "स्त्रियों बीस वर्ष की अवस्था से लेकर चालीस वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिए सन्तान उत्पन्न करेंगी और पुरुष पूर्ण यौवन को प्राप्त कर लेने के उपरान्त पच्चीस वर्ष की अवस्था से लेकर पचपन वर्ष की अवस्था तक राष्ट्र के लिए सन्तान पैदा करेंगे।" उपर्युक्त निर्धारित प्रजनन अवस्था को पार कर लेने पर "पुरुषों को पुत्री एवं माता तथा उनके प्रत्यक्ष पूर्वज अथवा सन्तान को छोड़कर तथा स्त्रियों को पुत्र और पिता इत्यादि को छोड़कर अन्य किसी से सहवास की स्वतन्त्रता होगी।" इन्हीं अवधियों में हुई सन्तान को जीवित रहने देना चाहिए अन्यथा उसे नष्ट कर देना चाहिए।

राज्य नियन्त्रित यौन संबंध के अलावा प्लेटो की यह योजना भी थी कि राज्य परिवार में माता–पिता को अपनी सन्तान का तथा सन्तान को अपने माता–पिता का कोई आभास न रहे।

प्लेटो के अनुसार नवजात शिशु का पालन–पोषण राज्य द्वारा किया जाए जिससे मां–बाप तथा बच्चों में उन प्रवृत्तियों का अभाव होगा जो तुच्छ पारिवारिक प्रेम तथा स्नेह को जन्म देते हैं। प्लेटो के अनुसार, "पुरुष वर बनने के बाद सातवें मास से लेकर दसवें मास तक के मध्य में उत्पन्न हुए बच्चों को पुरुष होने पर पुत्र और स्त्री होने पर पुत्री कहेगा और वे सन्तानें उसको पिता कहेंगी और इसी प्रकार वह इनकी सन्तानों को पौत्र कहेगा और वे उनके समुदाय के पुरुषों और स्त्रियों को दादा–दादी कहेंगी तथा वे सब बच्चे जो कि एक माता–पिताओं के समुदाय के प्रजनन काल में उत्पन्न हुए हैं एक–दूसरे को भाई–बहन मानेंगे।"

प्लेटो यह समझता है कि इस व्यवस्था से न केवल उत्तम सन्तान उत्पन्न होगी, अपितु सारा राज्य एक विशाल परिवार का रूप धारण कर लेगा। इस योजना के द्वारा प्लेटो एक ऐसी नैतिकता पैदा करना चाहता था जो व्यक्ति तथा समष्टि के हित–भेद को मिटाकर पारस्परिक प्रेम तथा सार्वजनिक कल्याण की भावना से ओत–प्रोत एक नूतन समाज की रचना कर सके। इस योजना के द्वारा वह संरक्षक वर्ग में ऐसी एकता स्थापित करना चाहता था जो समस्त राज्य में सुख–शान्ति की स्थापना का आधार है।

परिवार विषयक साम्यवाद की आलोचना

पत्नियों के साम्यवाद का मूल्यांकन पत्नियों के साम्यवाद की योजना के दो पहलू हैं। जहां तक स्त्रियों के उत्थान, कल्याण और राज्य कार्यों में हिस्सा लेने का प्रश्न है यह योजना उदार, क्रान्तिकारी, व्यावहारिक और आधुनिक है क्योंकि कोई भी राज्य अपनी जनसंख्या के आधे भाग की उपेक्षा पर विकासोन्मुख तथा सभ्य नहीं हो सकता, परन्तु जहां तक विवाह, यौन संबंधों, सन्तोनोत्पत्ति और उसके पालन–पोषण का प्रश्न है, प्लेटो की साम्यवादी योजना अनैतिक, अप्राकृतिक, अस्वाभाविक, हास्यास्पद और असभ्य समाज की द्योतक है।

1. अनावश्यक–सम्पत्ति और पत्नियों के साम्यवाद को अरस्तू आदर्श राज्य की प्राप्ति हेतु अनावश्यक मानता है। उसकी धारणा है कि जिस उद्देश्य की प्राप्ति प्लेटो साम्यवाद द्वारा करना चाहता है उसकी प्राप्ति समुचित शिक्षा व्यवस्था द्वारा हो सकती है। नैतिक रोगों के लिए नैतिक उपचारों की आवश्यकता है, भौतिक उपचारों की नहीं जैसा कि प्लेटो साम्यवाद द्वारा व्यवस्था करता है।

2. लिंग भेद की अपूर्ण व्यवस्था–स्त्री–पुरुषों के संबंधों को जानवरों के संबंधों के साथ मिलाना अनैतिक और अव्यावहारिक है। स्त्री–पुरुषों के संबंध अस्थायी नहीं होते और उनका मिलन केवल काम–वासना की सन्तुष्टि या प्रजनन के लिए नहीं होता। विवाह एक स्थायी बन्धन होता है जो जीवन–पर्यन्त चलता है, यह नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक बन्धन होता है जो पारस्परिक कल्याण और उत्तम जीवन की प्राप्ति के लिए होता है।

3. स्त्री–पुरुषों के स्वभाव में भिन्नता–स्त्री–पुरुष के लिंग भेद की तुलना पशुओं के लिंग भेद से नहीं की जा सकती और न ही पशुओं का उदाहरण देकर स्त्री–पुरुष के कार्य की योग्यताओं व क्षमताओं को समान माना जा सकता है। स्वभाव से स्त्रियां कोमल, संवेदनशील और दयालु होती हैं, जबकि पुरुष उद्यमी, उत्साही और बुद्धिमान होता है। गृह–संचालन और बच्चों का पालन–पोषण स्त्रियों का स्वाभाविक कार्य है जबकि पुरुष का स्वाभाविक कार्य आय के स्त्रोतों को जुटाना तथा परिवार को संरक्षण प्रदान करना है। यह कहना हास्यास्पद है कि स्त्रियां सैनिक या अन्य इसी प्रकार के कठोर कार्यों को उसी कुशलता और निपुणता के साथ करा सकती हैं जिस प्रकार कि पुरुष।

4. न्याय सिद्धांत के विपरीत–स्त्रियों का साम्यवाद प्लेटो के न्याय सिद्धांत के भी विपरीत है। यदि न्याय, अपने स्वाभाविक कार्य को कुशलता से करना है तथा उसमें ही श्रेष्ठता और निपुणता प्राप्त करना है तो स्त्रियों को गृह–संचालन और बच्चों के लालन–पालन में निपुणता प्राप्त करनी चाहिए और उसी के माध्यम से राज्य को अपनी सेवाएँ अर्पित करनी चाहिए। सार्वजनिक पदों के प्राप्त करके ही स्त्रियां राज्य की सेवा नहीं कर सकती क्योंकि उनके स्वाभाविक कार्य की उपेक्षा होगी।

5. मनोवैज्ञानिक तत्वों की उपेक्षा–प्लेटो की साम्यवादी योजना मनोवैज्ञानिक तत्वों की उपेक्षा करती है। यह उस सामाजिक संस्था परिवार को नष्ट करना चाहती है जो युगों से चली आ रही है। "महिलाओं को राज्य की सेवा करने का अवसर प्रदान करने के लिए एक ओर तो उसने परिवार जैसी व्यक्ति की मूलभूत संस्था पर घातक एवं क्रूर प्रहार किया है और दूसरी ओर उसने विवाह संस्था की धज्जियां उड़ा कर रख दी हैं। साथ ही स्त्री तथा पुरुष के यौन संबंधों को लेकर उसने अपनी एक ऐसी योजना प्रस्तुत की है जिसे सभ्य कहलाने वाला एवं व्यवस्थित एवं शान्तिपूर्ण जीवन का निर्वाह चाहने वाला कोई भी मानव समाज स्वीकार नहीं कर सकता।"

6. अत्यधिक एकीकरण अनुचित–प्लेटो साम्यवादी व्यवस्था द्वारा ऐसे राज्य की स्थापना करना चाहता है जो 'राज्य–परिवार' अर्थात् 'एक व्यक्ति राज्य' का रूप धारणा कर लेगा, परन्तु ऐसा राज्य व्यक्ति व राज्य दोनों के लिए हानिकारक होगा। जैसा कि अरस्तू ने लिखा है कि "राज्य अन्त में उस सीमा तक एकता प्राप्त कर लेगा कि वह राज्य ही नहीं रहेगा।"

अरस्तू द्वारा प्लेटो के परिवार विषयक साम्यवाद की आलोचना

अरस्तू ने प्लेटों के परिवार विषयक साम्यवाद की निम्न आधारों पर आलोचना की है–

(1) अरस्तू के अनुसार प्लेटो ने नैतिक जीवन की रुग्णता को दूर करने के लिए नैतिक उपचारों पर सम्पूर्ण रूप से आस्था न रख, भौतिक जीवन की वस्तुओं का अवलम्बन लेकर, नैतिक जीवन की क्रूर शल्यचिकित्सा करने का निर्मम एवं अनावश्यक प्रयत्न किया है। अरस्तू की मान्यता है कि "नैतिक रुग्णता के लिए नैतिक औषधियां ही पर्याप्त हैं।" उसकी मान्यता है कि समुचित शिक्षा के माध्यम से प्लेटो अपने आदर्श राज्य को 'न्याय' के सिद्धांत पर आरूढ़ रख सकता था।

(2) जिस पारिवारिक जीवन ने प्लेटो को निकृष्ट एवं राज्य के सन्दर्भ में अत्यन्त अनावश्यक माना है, उसी परिवार में अरस्तू को मनुष्य की राजनीतिक यात्रा का प्रथम सोपान दृष्टिगोचर हुआ है। अरस्तू के विचार में परिवार राज्य की आधारशिला है।

(3) स्त्री–पुरुष, माता–पिता तथा सन्तान के जिन सम्बनधों का चित्र प्लेटो ने खींचा है, वह भी अरस्तू के अनुसार सही चित्र नहीं है। उसका मानना है कि व्यक्तिगत रूप में परिवार को नष्ट कर जिस परिवर्तित विशाल रूप में प्लेटो ने परिवार का निर्माण करना चाहा है, उससे प्लेटो का कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। जिस बड़े पैमाने पर पारिवारिक जीवन का विस्तार उसने करना चाहा है, उस बड़े पैमाने पर पारिवारिक स्नेह, पारिवारिक भावना तथा स्त्री–पुरुषों का पारिवारिक संबंध सम्भव हो ही नहीं सकता। उसके राज्य–परिवार के बच्चों को न माता–पिता का स्नेह उपलब्ध होगा और न ही माता–पिता को सन्तान का सुख। साथ ही उन बच्चों के लालन–पालन तथा पूर्ण विकास के अवसर भी समाप्त हो जायेंगे। यह आमतौर से देखा जाता है कि जहां सामूहिक उत्तरदायित्व होता है वहां किसी का उत्तरदायित्व नहीं होता। अतः प्लेटो की योजना एक ओर विचित्र प्रकार के अनाथ बच्चे पैदा करेगी, जो माता–पिता के स्नेह से वंचित रहेंगे और दूसरी ओर ऐसे अभागे माता–पिता होंगे, जिन्हें अपनी सन्तान का ज्ञान तक भी नहीं होगा।

(4) अरस्तू के अनुसार पत्नियों के साम्यवाद के समर्थन में पशुओं की सादृश्यता का प्रयोग हास्यास्पद एवं असंगतिपूर्ण है।

(5) प्लेटो की राज्य द्वारा नियन्त्रित सम्भोग योजना के व्यावहारिक होने में अरस्तू का विश्वास नहीं है। यदि इस योजना के व्यावहारिक होने को स्वीकार भी कर लिया जाये तो भी यह आवश्यक नहीं कि संरक्षक वर्ग की सन्तति, इस योजना के आधार पर सर्वश्रेष्ठ ही हो। सार्वजनिक आधार पर पालन–पोषण किए जाने वाले बच्चों के विकास की सम्भावनाएँ एवं अवसर उस मात्रा में नहीं होते, जितने कि व्यक्तिगत आधार पर परिपोषित बच्चों के विकास के अवसर होते हैं।

(6) अरस्तू के अनुसार पत्नियों के साम्यवाद की अन्तिम परिणति एक ऐसे राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करती है जिसे एक–व्यक्ति–राज्य की संज्ञा दी जा सकती है। प्लेटो राज्य का अत्यधिक एकीकरण करना चाहता है। इस अत्यधिक एकीकरण का अरस्तू विरोधी है, क्योंकि जिस सीमा तक राज्य व व्यक्ति का एकीकरण प्लेटो करना चाहता है, उस सीमा तक किया गया एकीकरण राज्य और व्यक्ति दोनों को ही नष्ट करने वाला सिद्ध होगा। अरस्तू प्रश्न करता है "क्या यह स्पष्ट नहीं कि राज्य अन्त में उस सीमा तक एकता प्राप्त करले कि वह राज्य ही न रहे।"

(7) स्त्री तथा पुरुष में पाए जाने वाले लिंग भेद को प्लेटो उस सीमा तक महत्व नहीं दे सका है जिस सीमा तक कि उसे महत्व दिया जाना चाहिए था। अरस्तू के अनुसार अपनी प्रकृति से ही नारी परिवार के लिए बनी है–वह पारिवारिक जीवन का केन्द्र–बिन्दु है। प्रकृति से ही उसके कतिपय कार्य निर्धारित किए जा चुके हैं, जिन्हें वह सरलता से दूसरों को नहीं सौंप सकती। अतः उचित यह है कि स्त्री और पुरुष एक से कार्य न करें, बल्कि वे एक–दूसरे के पूरक के रूप में विभिन्न प्रकृति के कार्यों का सम्पादन करें।

(8) यदि साम्यवाद अच्छी व्यवस्था है तो यह सभी वर्गों पर लागू होनी चाहिए, केवल संरक्षक वर्ग पर नहीं।

प्लेटो के साम्यवादी विचारों की एक गम्भीर आलोचना यह की जाती है कि प्लेटो को अपने दार्शनिक शासकों तथा सैनिकों के विवेक तथा उत्साह में अधिक विश्वास नहीं था। जिन संरक्षकों के हाथों में राज्य का शासन संचालन सौंपने का उसने समर्थन किया है, उन पर भी वह स्वयं ही पूर्णरूपेण विश्वास नहीं कर सका। उसे इस बात का अत्यंत भय था कि बाह्य वस्तुएँ–परिवार, सम्पत्ति आदि शासक वर्ग के विवेक तथा उत्साह को भी कुंठित कर सकती हैं। शासक वर्ग में इस प्रकार अविश्वास प्रकट करने के साथ ही उसने अपनी शिक्षा योजना की प्रभावशीलता में भी अविश्वास प्रकट किया है। यदि उसकी शिक्षा योजनाओं में आस्था होती, तो वह साम्यवाद के बाह्य एवं अत्यधिक कठोर अनुशासन की योजना ही उपस्थित न करता। अपने जीवन काल में ही प्लेटो को साम्यवाद के सभी पहलुओं के अव्यावहारिक होने का आभास हो गया था। अतः 'लाज' में उसने परिवार, सम्पत्ति तथा विवाह संस्था पर 'रिपब्लिक' से बिल्कुल भिन्न विचार प्रकट किये हैं। 'लाज' में उसने शासक वर्ग को सीमित मात्रा में सम्पत्ति रखने तथा पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का सौभाग्य प्रदान किया है।

2.7 प्लेटो की शिक्षा सिद्धान्त

अपने आदर्श राज्य के लिए प्लेटो ने जिस शिक्षा योजना को अपनाया है, उसकी प्रमुख विशेषता राज्य नियन्त्रण है। राज्य के अतिरिक्त वह अन्य किसी के भी द्वारा इस महत्वपूर्ण कार्य का सम्पादन किया जाना उचित नहीं मानता। शिक्षा के राजकीय नियन्त्रण के साथ–साथ उसने यह भी व्यवस्था की है कि संरक्षक वर्ग के स्त्री तथा पुरुष इस शिक्षा योजना से लाभ उठा सकें।

अपनी शिक्षा योजना को प्लेटो ने दो स्तरों–(1) प्रारम्भिक शिक्षा, तथा (2) उच्च शिक्षा में विभक्त किया है। शिक्षा का इन दो स्तरों में वर्गीकरण विद्यार्थियों की उम्र तथा उनके वर्गों का ध्यान में रखकर किया गया है।

2.7.1 प्रारम्भिक शिक्षा– प्रारम्भिक शिक्षा 6 से 20 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए है। इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य नागारिकों में सामाजिकता का विकास करना है। यह मुख्य रूप से भावनाओं द्वारा चरित्र निर्माण की शिक्षा है। इस शिक्षा के माध्यम से नागरिकों में शौर्य के गुण का विकास करना है जो देश की आवश्यकताओं के तथा सैनिकों के कार्य के अनुरूप हों। इसका उद्देश्य ऐसे नागरिकों का वर्ग तैयार करना है जो सैनिक कार्यों के दायित्व को भली–भांति पूर्ण कर सके।

प्रो. नेटिलशिप के विचार से "इस प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य आत्मा को 'अच्छाई' के अनेक काल्पनिक प्रकारों से, जिन्हें कि वह आगे चलकर तार्किक रूपों में जान लेगी, परिचित करना होना चाहिये।" प्रो. बार्कर के अनुसार "यह प्रमुख रूप से सामाजिक प्रशिक्षण है। इसका उद्देश्य नागारिकों के एक वर्ग को सैनिक कार्यों के समुचित सम्पादन के लिए तैयार करना है।"

अपनी प्राथमिक शिक्षा के द्वारा प्लेटो शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से सबल सैनिक वर्ग के नागरिकों का निर्माण करना चाहता था। अतः प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में उसने व्यायाम तथा संगीत को सम्मिलित किया है। प्लेटो के शब्दों में, "शरीर के लिए व्यायाम तथा आत्मा के लिए संगीत है।"

यहां यह जान लेना उचित होगा कि प्लेटो ने विशेष अर्थों में ही व्यायाम और संगीत का प्रयोग किया है। उसके व्यायाम शब्द में शरीर संबंधी समस्त शिक्षा का समावेश हो जाता है। बार्कर के शब्दों में, "व्यायाम से तात्पर्य शरीर की सामान्य देखरेख से है।" व्यायाम का अर्थ केवल शारीरिक कसरत ही नहीं, अपितु शरीर को स्वस्थ बनाये रखने वाले आहारशास्त्र और चिकित्साशास्त्र का भी ज्ञान है। व्यक्ति के शारीरिक विकास के लिए उसने सादे भोजन को महत्वपूर्ण माना है। नैटिलशिप के शब्दों में, "शारीरिक प्रशिक्षण में खुराक का सादापन अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु। प्लेटो अत्यधिक स्वादिष्ट तथा गरिष्ठ खाद्य पदार्थों का उपयोग अनुचित समझता था। खुराक तथा कसरत के अतिरिक्त वह यह भी आवश्यक समझता था कि शरीर निरोगी रहे, ताकि नागरिकों को डाक्टरों की शरण में न जाना पड़े। वह अपने आदर्श राज्य में डाक्टरों को कोई विशेष महत्व नहीं देता है क्योंकि वे बीमारी का इलाज करने के स्थान पर उसे बढ़ाते हैं। एक अत्यन्त रुग्ण व्यक्ति को वह मर जाने देने के अधिक पक्ष में था, उसकी चिकित्सा किये जाने के नहीं। चिकित्सा का होना उसे मनुष्य के निरोग रहने की क्षमता के अभाव का प्रतीत होता था। उसके शब्दों में "हमारी वर्तमान चिकित्सा प्रणाली बीमारियों का शिक्षण देती है।"

शारीरिक शिक्षण के साथ मानसिक विकास के लिए 'संगीत' को रखा गया है। प्लेटो की दृष्टि में 'संगीत' शब्द का भी विस्तृत क्षेत्र था। संगीत का अर्थ कोरी गान विद्या नहीं, अपितु यह काव्य, साहित्य, गीत, नृत्य, मूर्ति, चित्र आदि सभी ललित कलाओं का प्रतीक है। बार्कर के शब्दों में, "यह मन के सामान्य प्रशिक्षण का मार्ग है।" और फोस्टर के अनुसार, "यूनानी भाषा से संगीत शब्द का अंग्रेजी के शब्द से विस्तृत अर्थ था। काव्य, गायन तथा नृत्य इसमें शामिल थे।" संगीत के एक अंग के रूप में प्लेटो ने साहित्य को अपनी प्राथमिक शिक्षा के पाठयक्रम में स्थान दिया है। वह साहित्य के मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव से पूर्णरूपेण परिचित था। अतः किस प्रकार के साहित्य की शिक्षा दी जानी चाहिये, इस प्रश्न पर उसने गम्भीर रूप से विचार किया है। उसके विचार से सत् साहित्य को ही पाठयक्रम में स्थान दिया जाना चाहिये। ऐसा काव्य जो देवताओं तथा ईश्वर के श्रेष्ठ चरित्र तथा महानता का चित्रण करता हो, पाठयक्रम में सम्मिलित किया जाना चाहिये। धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का भी प्लेटो ने साहित्य के अन्तर्गत ही समावेश किया है।

संगीत का शिक्षण वह नागरिकों के लिए अत्यंत उपयोगी मानता था। संगीत एवं अन्य ललित कलाएँ मनुष्य के मन को सुशिक्षित बनाती हैं, उसमें उत्साह तथा विवेक की प्रसुप्त शक्ति का विकास करती हैं। "संगीत की शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति सुन्दर वस्तुओं की प्रशंसा करेगा, उनसे आनन्दित होगा तथा अपनी आत्मा के विकास के पोषण के लिए उनको अपनी आत्मा से ग्रहण करेगा तथा इस प्रकार स्वयं भला और सुन्दर बन जायेगा।" पाठयक्रम में संगीत को सम्मिलित करते समय भी प्लेटो ने इस बात पर विचार किया है कि संगीत की कौन–कौनसी रागिनियां एवं पद्धतियां अपनायी जायें। वह मानता था कि संगीत में इतनी महान शक्ति है कि उसकी रागिनियों का परिवर्तन राज्य के विधान में परिवर्तन उपस्थित कर सकता है।

प्लेटो जिस प्रकार शारीरिक शिक्षण द्वारा अपने राज्य से डॉक्टरों को निर्वासित करना चाहता है, उसी प्रकार संगीत की शिक्षा द्वारा वकीलों और न्यायालयों के बहिष्कार का पक्षपाती है। यदि संगीत और गानों की शिक्षा द्वारा सभी नागारिकों के मन में राज्य की व्यवस्थाएँ अंकित कर दी जाये तो वे स्वयमेव इनका पालन करेंगे, कानून बनाने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। डेनियल ओ' कोनेल प्लेटो का इसी प्रकार यह मत था कि "मुझे एक देश के लिए उचित प्रकार के गीत लिखने दो, किसी व्यक्ति को इस देश के कानून बनाने की आवश्यकता नहीं होगी।"

प्राथमिक शिक्षा संबंधी प्लेटो के विचारों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उसने प्राथमिक शिक्षा के दोनों अंग–व्यायाम तथा संगीत पर अपने विचार व्यक्त करते समय सादगी को मुख्य रूप से ध्यान में रखा है। एथेन्स के नगर–राज्य में नागरिकों के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जिन जटिलताओं तथा कृत्रिमताओं का समावेश तेजी के साथ होता चला जा रहा था, उनसे प्लेटो आशंकित था। वह चाहता था कि एथेन्सवासी अपनी कृत्रिमता से छुटकारा पाकर वास्तविकता को अपनावें। इस प्राथमिक शिक्षा संबंधी एक स्मरणीय बात यह भी है कि इस शिक्षा के दोनों अंगों के उद्देश्य, अन्तिम रूप से प्लेटो न मानव मन के विकास को ही माना है। व्यायाम तथा संगीत का ध्येय चरित्र–निर्माण ही था। संगीत प्रत्यक्ष रूप से मन का प्रशिक्षण का सकता है और व्यायाम अप्रत्यक्ष रूप से। प्रो. बार्कर के मतानुसार, व्यायाम मन के लिए शरीर का प्रशिक्षण है।" व्यायाम तथा संगीत के समुचित सन्तुलन को ही प्लेटो श्रेष्ठ मानता था–वह मानता था कि केवल व्यायामिक होने से व्यक्ति असभ्य तथा जंगली हो जाता है और केवल सगीतज्ञ होने से व्यक्ति में अनुचित मात्रा में मधुरता तथा कोमलता बढ़ जाती हैं। ये दोनों स्थितियां त्याज्य हैं।

प्रारंभिक शिक्षा के बाद दो वर्ष का सैनिक–प्लेटो द्वारा प्रतिपादित प्रारम्भिक शिक्षा के अन्तर्गत व्यायाम और संगीत का प्रशिक्षण 18 वर्ष की आयु तक दिया जायेगा। उसके उपरान्त 18 वर्ष से 20 वर्ष की आयु तक दो वर्षों की अवधि में सैनिक शिक्षा का पाठयक्रम लागू किया जायेगा। उसके समाप्त होने पर जो व्यक्ति सबसे अधिक योग्यता का परिचय देगा उन्हें उच्चस्तरीय शिक्षा के लिए चुन लिया जायेगा और शेष को सैनिक वर्ग में सम्मिलित करके उनके अनुरूप काम–काज में लगा दिया जायेगा।

2.7.2 उच्च शिक्षा– प्रो. सेबाइन के अनुसार, "उच्चस्तरीय शिक्षा योजना निःसन्देह रिपब्लिक का अत्यन्त मौलिक तथा अत्यन्त विशिष्ट प्रस्ताव है।" प्लेटो की इस उच्चस्तरीय शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। यह शिक्षा राज्य का शासक या संरक्षक बनने वालों के लिए है। वस्तुतः संरक्षक वर्ग में से केवल उन्हीं लोगों के लिए यह शिक्षा थी जो दार्शनिक शासक के स्थान को ग्रहण करने के योग्य हों। इसका प्रमुख उद्देश्य दार्शनिक राजा (शासक) का प्रशिक्षण करना था।

प्लेटो की उच्च शिक्षा में दो स्तर हैं–20 से 30 वर्ष तक का शिक्षण और 30 से 35 वर्ष तक का शिक्षण।

उच्च शिक्षा के प्रथम स्तर पर प्लेटो विज्ञान और तर्क के अध्ययन पर बल देता है। विज्ञान तथा तर्क के आधार पर सत्यान्वेषण करना ही उच्चस्तरीय शिक्षा का लक्ष्य है। जिन सत्यों का व्यक्ति ने प्राथमिक शिक्षाकाल में भावात्मक तथा कलात्मक रूप में कला के माध्यम से वर्णन किया है, उन्हीं का सान्निध्य अब उसे तर्क तथा विज्ञान के द्वारा प्राप्त करना था। विज्ञान के पाठय विषयों में गणित को विशेष महत्व दिया गया है। प्लेटो अंकगणित का दार्शनिक महत्व मानता था क्योंकि इसमें "शुद्ध सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए शुद्ध प्रज्ञा के व्यवहार की आवश्यकता होती है।" साथ ही उसने अंकगणित का व्यावहारिक महत्व भी स्वीकार किया है। उसके शब्दों में, "सेनापति के लिए संख्या ज्ञान आवश्यक है,

अन्यथा उसे अपनी सैनिक टुकड़ियों को व्यवस्थित करना नहीं आयेगा।" अंकगणित के साथ–साथ रेखागणित का अध्ययन भी उसने इस विषय के व्यावहारिक तथा दार्शनिक महत्व के कारण आवश्यक माना है। इसी प्रकार विज्ञान के अन्य विषय ज्योतिष तथा संगीत का शास्त्रीय ज्ञान हैं जिन्हें उसने अपने पाठयक्रम में स्थान दिया है। ज्योतिष में केवल ग्रह नक्षत्रों की गतियों के स्थूल ज्ञान पर नहीं, अपितु इन गतियों को उत्पन्न करने वाले कारणों के अध्ययन पर बल दिया जाता था।

30 वर्ष की आयु में उच्च शिक्षा पाने वाले संरक्षकों में पुनः एक अन्य चुनाव एवं परीक्षा होती है। इसमें योग्य समझे जाने वाले व्यक्ति ही राज्य के पूर्ण संरक्षक (दार्शनिक शासक) बनेंगे। इनके लिए पांच वर्ष तक अर्थात् 30 वर्ष से 35 वर्ष की आयु तक प्लेटो ने उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था की है। यह शिक्षा मुख्यतः द्वन्द्वात्मकता की शिक्षा होगी जिसमें दर्शनशास्त्र के अध्ययन पर विशेष जोर दिया गया है। "यदि गणितशास्त्र भौतिक पदार्थों से अमूर्त चिन्तन की ओर बढ़ने का प्रथम सोपान था तो विशुद्ध विचारों और अन्तिम सत् के विचार तक पहुंचने के लिए द्वितीय सोपान दर्शनशास्त्र है।"

35 वर्ष की आयु तक शिक्षा देने के बाद भी प्लेटो संरक्षकों के शिक्षण को अपूर्ण मानता है। अभी तक उन्हें कोरी बौद्धिक शिक्षा मिली है, उन्हें संसार का क्रियात्मक अनुभव नहीं है। अतः प्लेटो के अनुसार जो हर प्रकार से श्रेष्ठ सिद्ध हों वे आगे के पन्द्रह वर्ष तक (अर्थात् 50 वर्ष की उम्र तक) संसार की पाठशाला में तूफानी थपेड़े और धक्के खाकर व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करें। इस प्रकार जो व्यक्ति 50 वर्ष की उम्र तक हर अग्नि परीक्षा में खरे उतरेंगे वे ही दार्शनिक राजा बनेंगे और राज्य का शासनभार संभालेंगे।

2.7.3 प्लेटो के शिक्षा सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएँ

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन निम्न प्रकार किया जा सकता है–

1. **राज्य द्वारा नियन्त्रित तथा अनिवार्य शिक्षा**–प्लेटो राज्य द्वारा नियन्त्रित अनिवार्य शिक्षा पर बल देता है। वह शिक्षा को व्यक्तिगत क्षेत्र में नहीं छोड़ना चाहता। वह उसे व्यवसाय नहीं बनाना चाहता। उसके अनुसार राजकीय नियन्त्रण के अभाव में शिक्षा सामाजिक हितों की नहीं, बल्कि वैयक्तिक हितों की सिद्धि होगी। सेबाइन के अनुसार "प्लेटो ने रिपब्लिक में राज्य नियन्त्रित अनिवार्य शिक्षा की योजना प्रस्तुत की है। उसकी यह योजना एथेन्स की शिक्षा प्रणाली से बहुत आगे बढ़कर थी।"

   प्लेटो ने शिक्षा को अनिवार्य बताया है। उसके अनुसार शिक्षा कोई ऐसी चीज नहीं जिसे परिवार अथवा मां–बाप की स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाये। राज्य की ओर से शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था की जायेगी।

2. **व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास**–प्लेटोवादी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अर्थात् सर्वांगीण विकास करना है। इस दृष्टि से यह वास्तविक और पूर्ण शिक्षा है।

3. **स्त्री पुरुष के लिए समान शिक्षा**–प्लेटो की शिक्षा स्त्री–पुरुष दोनों के लिए समान रूप से उपलब्ध है। प्लेटो दोनों की योग्यता और क्षमता में कोई भेद नहीं करता। वह दोनों के समान प्रशिक्षक पर बल देता है और दोनों को ही राज्य के कार्यों के लिए तैयार करना चाहता है। प्लेटो के राज्य में स्त्रियों के लिए भी राजपद के द्वारा उसी प्रकार खुले हैं जिस प्रकार ये पुरुषों के लिए खुले हैं। प्लेटो की शिक्षा प्रणाली का यह तत्व ग्रीक पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं सुधार था।

   सेबाइन के अनुसार प्लेटो का विश्वास था कि लड़कों और लड़कियों की स्वाभाविक प्रतिभा में कोई अन्तर नहीं होता। इसलिए दोनों को एक–सी शिक्षा मिलनी चाहिए। स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही पद मिलने चाहिए। यह स्त्रियों के अधिकारों का तर्क नहीं है बल्कि सम्पूर्ण स्वाभाविक प्रतिभा को राज्य के लिए उपलब्ध करने की एक योजना मात्र है।

4. **शिक्षा योजना के दो भाग**–प्लेटो की शिक्षा प्रणाली के दो भाग हैं–प्राथमिक एवं उच्चतर। प्राथमिक शिक्षा 20 वर्ष तक के युवकों को मिलती है जो संरक्षक वर्ग के सदस्य होते हैं। इस शिक्षा का काल 20 से 35 वर्ष तक का है।

5. **शरीर और मन का विकास**–प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना के द्वारा शरीर और मन दोनों के विकास पर उचित ध्यान दिया है। शरीर के विकास के लिए व्यायाम और मन के विकास के लिए संगीत की शिक्षा को पाठयक्रम में सम्मिलित किया है। सेबाइन के शब्दों में "प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था में पाठयक्रम दो भागों में बंटा हुआ था, शरीर को पुष्ट करने के लिए व्यायाम और दिमाग को पुष्ट करने के लिए संगीत।"

6. **दार्शनिक राजाओं की तैयारी**–प्लेटो के शिक्षा सिद्धांत का उद्देश्य दार्शनिक राजाओं को तैयार करना है। राज्य का सबसे प्रमुख और सर्वोत्तम तत्व विवेक है जिसका प्रतिनिधित्व दार्शनिक शासक ही करेंगे। अतः प्लेटो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ऐसे वर्ग का निर्माण करना होना चाहिए जो दर्शन की ओर सबसे अधिक उन्मुख हो और राज्य के कर्णधार के रूप में शासन व सेवा कार्य सम्पन्न करें।

7. **पाठ्यक्रम का आधार निश्चित आयु व वर्ग**–प्लेटो की शिक्षा का पाठयक्रम आयु–वर्ग और बुद्धि के आधार पर निर्धारित होता है।

8. **पाठ्यक्रम में नैतिक मानदण्डों को उचित स्थान**–प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना के अन्तर्गत धर्म और नैतिकता को उचित स्थान प्रदान किया है। यह नैतिकता की दृष्टि से कुरुचिपूर्ण साहित्य और कलाकृतियों को सहन करने के लिए तैयार नहीं है।

   सेबाइन के शब्दों में प्लेटो ने प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत काव्य तथा साहित्य के उच्च रूपों को सम्मिलित किया था। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि प्लेटो इन कृतियों का सौन्दर्यपरक समालोचन चाहता था। वह इन्हें नैतिक और धार्मिक शिक्षा का साधन मानता था, कुछ–कुछ उसी तरह जैसे कि ईसाई बाइबिल को समझते हैं। इस कारण वह न केवल भूतकाल के कवियों की रचनाओं के आपत्तिजनक अंशों को हटा देना चाहता था, बल्कि यह भी चाहता था कि भविष्य के कवियों पर राज्य के शासक प्रतिबन्ध लगा दें जिससे कि युवकों के हाथों में खराब नैतिक असर डालने वाली कोई चीज न पड़ने पाए।

9. **शिक्षा एक दीर्घकालीन अनवरत प्रक्रिया**–प्लेटो ने शिक्षण को जीवन का अल्पकालीन कार्य न मानकर उसे आजीवन चलने वाली प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है। संक्षेप में, प्लेटो की शिक्षा योजना का उसकी सम्पूर्णता में अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि इस शिक्षा योजना के माध्यम से प्लेटो एक ओर तो सप्पूर्णता सामाजिक नागरिकों का विकास करना चाहता था और दूसरी ओर वह ऐसे मानव का निर्माण करना चाहता था जो सर्वज्ञाता होने के नाते आदर्श राज्य के संचालन का सर्वोच्च अधिकारी हो सके। प्राथमिक शिक्षा को उसने सामाजिक भावनाओं से परिपूर्ण सैनिक वर्ग के लिए उचित माना है और उच्चतर शिक्षा की आवश्यकता दार्शनिक शासक के लिए मानी है। यह कहा जा सकता है कि उसकी शिक्षा योजना के दो पहलू हैं–(1) सामाजिक पहलू, तथा (2) व्यक्तिगत पहलू।

   मैक्सी ने लिखा है कि "प्लेटो की शिक्षा योजना अनेक दृष्टियों से स्पष्टतः आधुनिक लगती है।" शिक्षा के संबंध में प्लेटो की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने न केवल शिक्षा योजना का निरूपण किया, वरन् अपनी 'अकादमी' में सभी विषयों की आदर्श शिक्षा का प्रबन्ध भी किया।

2.7.4 प्लेटो की शिक्षा योजना की आलोचना

प्लेटो की शिक्षा योजना का अवलोकन करने के पश्चात् इसमें निम्न कमियां मानी जा सकती है–

(1) **अप्रजातान्त्रिक सिद्धान्त**–प्लेटो की शिक्षा योजना की अप्रजातान्त्रिक तथा एकांगी शिक्षा योजना की संज्ञा दी गई है। इसका राज्य के समस्त नागरिकों से कोई संबंध नहीं है। राज्य के अत्यन्त ही छोटे जनसमुदाय को प्लेटो ने इस बात का सौभाग्य दिया है कि वे ज्ञान के प्रकाश से अपनी आत्मा को आलोकित कर सकें तथा नागारिकता एवं सामाजिक का समुचित रूप से प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें। राज्य का अत्यन्त विशाल जन संकुल का प्लेटो की दृष्टि में कोई महत्व नहीं था। अतः इस वर्ग के लिए उसने शिक्षा की व्यवस्था ही नहीं बल्कि इस बात की भी कोई व्यवस्था नहीं की कि इन्हें अपने–अपने उद्योग धन्धों का ही समुचित प्रशिक्षण प्राप्त हो सके। चूंकि प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था सिर्फ अभिजात वर्ग के लिए ही है इसलिए वैलूर ने लिखा है कि 'प्लेटो अभिजात वर्ग की व्यक्ति होने के कारण उत्पादकों से घृणा करता था।'

(2) **साहित्य की अवहेलना**–इस शिक्षा योजना में साहित्य को बहुत कम और गणित को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया है जिसे उचित नहीं कहा जा सकता। साहित्य जीवन का दर्पण है और मानव की कोमल भावनाओं को विकसित कर उसके दृष्टिकोण को व्यापक करता है। इस दृष्टि से गणित तथा दर्शन के साथ कला तथा साहित्य की शिक्षा पर भी समान रूप से बल दिया जाना चाहिए था।

(3) **कला और साहित्य पर अनुचित नियन्त्रण**–कला और साहित्य के विकास की दृष्टि से यह शिक्षा पद्धति इस रूप में भी अन्यायपूर्ण है कि इसके अर्न्तत कवि और कलाकार को राज्य के नियन्त्रण में जकड़ने का प्रयास किया गया है। स्वाधीनता कला और साहित्य के विकास की प्रथम स्थिति है। बार्कर के शब्दों में "नैतिक उपदेश के पाश में जकड़ी हुई कला मानव ह्रदय को स्पर्श नहीं कर सकती और जो कला मर्मस्पर्शी नहीं होती वह मानव के आचार–विचार में भी परिवर्तन नहीं ला सकती।"

(4) **खर्चीली पद्धति**–प्लेटो की शिक्षा एक निश्चित आयु तक सीमित नहीं रहती, वह तो जीवन पर्यन्त चलती रहती है। दार्शनिक शासक को 35 वर्ष तक केवल शिक्षा प्राप्त करते रहना चाहिए। प्लेटो यह भूल जाता है कि एक विशेष अवस्था के पश्चात् कोरा किताबी ज्ञान मानव मस्तिष्क को संतुष्ट रखने में असमर्थ हो जाता है। व्यवहार में इस प्रकार की शिक्षा प्रतिभा सम्पन्न ही नही वरन् धनी व्यक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं।

(5) **वैयक्तिक विकास का बलिदान**–प्लेटो की शिक्षा योजना राज्य की प्रकृति तथा आवश्यकताओं पर इतनी अधिक केन्द्रित है कि वैयक्तिक विकास का राज्य के हितों के सम्मुख बलिदान हो गया है। पापॅर के अनुसार, "प्लेटो की

शिक्षा का उद्देश्य आत्म समीक्षा करना एवं समीक्षात्मक विचारों को जगाना नहीं, अपितु मत शिक्षण है मस्तिष्क एवं आत्मा को एक ऐसे सांचे में ढालना है कि वे स्वतन्त्र रूप से कुछ करने के योग्य न हो सकें।"

(6) **विरोधाभासी सिद्धान्त**—प्लेटो की शिक्षा प्रणाली एक ओर तो आदर्श राज्य का आधार है और दूसरी ओर शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण है। यदि उचित शिक्षा के द्वारा आदर्श राज्य का भवन टिक नहीं सकता तो राज्य का शिक्षा पर नियन्त्रण उचित नहीं हो सकता। एक ओर तो आदर्श राज्य की स्थापना के लिए पहली शर्त है उचित शिक्षा और दूसरी ओर उचित शिक्षा की व्यवस्था आदर्श राज्य की स्थापना के पश्चात् ही प्रारम्भ होती है।

(7) **शिक्षा योजना में अधिनायकतन्त्र को बढ़ावा**—अलफ्रेड हार्नले के अनुसार प्लेटो के शिक्षा सिद्धांत में अधिनायकतन्त्र के बीज निहित हैं। फासीवादी, नाजीवादी और साम्यवादी शासन की भांति प्लेटो भी राज्य का शिक्षा पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है, कला और साहित्य पर कठोर प्रतिबन्ध लगाता है, शासन के अनुरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व का ढालता है एवं व्यक्ति को अपनी प्रतिभा को स्वतन्त्र रूप से मुखरित करने से वंचित करता है।

(8) **शिल्पियों की शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान न देना अनुचित**—सेबाइन के अनुसार राज्य में शिक्षा के इतने महत्व को ध्यान में रखते हुए यह आश्चर्यजनक मालूम पड़ता है कि प्लेटो शिल्पियों की शिक्षा के संबंध में कहीं विचार नहीं करता। वह यह भी नहीं बताता कि क्या उन्हें प्राथमिक शिक्षा देनी ही है। इससे पुनः यह ज्ञात होता है कि प्लेटो के निष्कर्ष कितने असम्बद्ध और साधारण किस्म के हैं। प्लेटो यह चाहता है कि शिल्पियों के होनहार बच्चों की भी उचित शिक्षा का प्रबन्ध हो। लेकिन, यह उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि प्रतियोगी शिक्षा प्रणाली के द्वारा चुनाव न हो जाये।

प्लेटो ने इस बारे में विस्तार से नहीं लिखा; इस विषय में जेलर का कहना है कि प्लेटो अभिजात वर्ग का व्यक्ति होने के कारण शिल्पियों से घृणा करता था। फिर भी यह निश्चित है कि प्लेटो का सामान्य (सार्वभौमिक) शिक्षा में कम विश्वास था। वह अधिक प्रतिभा सम्पन्न तरुणों के लिए चुनी हुई शिक्षा में यकीन रखता था।

2.7.5 प्लेटो के शिक्षा सिद्धांत की उपादेयता

आलोचनाओं के बावजूद भी प्लेटो की शिक्षा योजना का अपना महत्व है–

(1) इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि यह उचित आयु शिक्षा की व्यवस्था करती है। प्लेटो ने शिक्षा पाठयक्रम, बालकों, किशोरों, युवकों तथा प्रौढ़ों के लिए पृथक्–पृथक् बनाया है।

(2) प्लेटो की शिक्षा का पाठयक्रम कुछ विषयों तक ही सीमित न होकर मानव जीवन के सम्पूर्ण अनुभव तक विस्तृत है और शिक्षा का काल भी इस तरह जीवन पर्यन्त व्यापक है।

(3) इस शिक्षा योजना में एक वर्ग को वही शिक्षा दी जाती है जो उसके लिए आवश्यक है, उदाहरणार्थ, वह सैनिक वर्ग के लिए दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं समझता।

(4) प्लेटो की शिक्षा योजना में व्यायाम और संगीत का सन्तुलन है।

(5) प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में स्त्री एवं पुरुष में किसी प्रकार का भेद नहीं रखा है। उस युग में एथेन्स में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र केवल घर तक ही सीमित था; ऐसी स्थिति में प्लेटो द्वारा स्त्रियों को शिक्षा देने की योजना बनाना और पुरुषों के समकक्ष मानना निश्चय ही एक क्रान्तिकारी कदम था।

(6) प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनों का विकास करना है।

(7) वह दर्शनशास्त्र तथा विशेष शिक्षा द्वारा शासकों का निर्माण करना चाहता है क्योंकि उसकी धारणा है कि "जब तक दर्शनिक राजा नहीं होंगे तब तक विश्व की बुराइयां समाप्त नहीं होंगी।" वास्तव में प्लेटो की इस बात से कोई असहमति नहीं हो सकती कि शासकों के लिए ऐसी विशेष योग्यता और शिक्षा की आवश्यकता है जिससे वे सद्गुणी एवं योग्य शासक बन सकें।

प्लेटो ने हमें शिक्षा का एक उत्कर्ष सिद्धांत प्रदान किया है। उसकी शिक्षा सीमित नहीं, निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है; सिर्फ मानसिक नहीं, शारीरिक भी है; संकीर्ण नहीं, सर्वांगीण है। एबन्स्टीन ने प्लेटो की शिक्षा प्रणाली का मूल्यांकन करते हुए ठीक ही लिखा है कि "यद्यपि प्रजातांत्रिक प्रणाली प्लेटो की कुलीनवर्गीय राजनीति शासकों के प्रशिक्षण की योजना को अस्वीकार करती रहेगी फिर भी यह सार्वजनिक सेवकों के प्रशिक्षण की सम्भावना और वांछनीयता को अधिक सहानुभूतिपूर्ण ढंग से देखती रहेगी।"

2.8 निष्कर्ष

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में प्लेटों को महान आदर्शी, कल्पनावादी एवं आशावादी विचारक के रूप में जाना जाता है। उसके अपने विचारों का प्रतिपादन तत्कालीन युनानी परिस्थितियों के अनुरूप किया। कुछ विचारकों द्वारा उनके विभिन्न सिद्धान्तों को अव्यवहारिक बतलाया गया तथा उन्हें अमनोवैज्ञानिक कहा। उसके विचार चाहे आज की परिस्थितियों के

अनुरूप न हो लेकिन फिर भी एक नैतिक एवं आदर्श समाज की स्थापना में उन्हें सहायक माना जा सकता है। अतः प्लेटों के दर्शन को पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में बिल्कुल निरर्थक नहीं हो सकता, उनका चिंतन एक आदर्श राज्य की स्थापना में काफी सहायक माना जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्लेटो द्वारा प्रतिपादित आदर्श राज्य के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
2. प्लेटो के साम्यवाद के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
4. प्लेटो द्वारा प्रतिपादित न्याय सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए।
5. पश्चिमी राजनीतिक चिंतन में प्लेटो के योगदान की विवेचना कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. प्लेटो के आदर्श राज्य की कोई चार विशेषता लिखिए।
2. प्लेटो के शिक्षा योजना के कोई चार लक्षण लिखिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. प्लेटो के महत्वपूर्ण ग्रंथ का नाम लिखिए।
2. प्लेटो ने शिक्षा योजना के कौन से दो भाग माने है? नाम लिखिए।
3. प्लेटो ने आदर्श राज्य के कितने निर्माणकारी वर्ग माने है?

इकाई–03
अरस्तू

संरचना

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 जीवन परिचय

3.3 प्रमुख रचनाएं

3.4 अरस्तू के चिन्तन पर प्रभाव

- 3.4.1 प्लेटो का प्रभाव
- 3.4. 2 समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव
- 3.4.3 पैतृक पृष्ठभूमि का प्रभाव
- 3.4.4 समकालीन व्यक्तियों का प्रभाव

3.5 अरस्तू: राजनीति विज्ञान का जनक

- 3.5.1 आगमनात्मक विधि का अनुसरण
- 3.5.2 राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक करना
- 3.5.3 यथार्थवादी विचारक
- 3.5.4 राज्य के पूर्ण सिद्धांत का क्रमबद्ध निरूपण
- 3.5.5 संविधानों का वैज्ञानिक वर्गीकरण
- 3.5.6 नागरिकता की व्याख्या
- 3.5.7 कानून की सर्वोच्चता का प्रतिपादन
- 3.5.8 सरकार के अंगों का निर्धारण
- 3.5.9 राजनीति पर भौगोलिक एवं आर्थिक प्रभावों का अध्ययन

3.6 अरस्तू की राज्य सम्बन्धी धारणा

- 3.6.1 राज्य के विकास का स्वरूप
- 3.6.2 राज्य के लक्षण
- 3.6.3 राज्य के लक्ष्य

3.7 अरस्तू का क्रांति संबंधी सिद्धांत

- 3.7.1 क्रान्ति से आशय, रूप एवं कारण
- 3.7.2 क्रान्तियों के रूप
- 3.7.3 क्रान्तियों के कारण
- 3.7.4 क्रान्तियों को रोकने के उपाय
- 3.7.5 अरस्तू के क्रान्ति संबंधी विचारों का अवलोकन

3.8 निष्कर्ष

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय में अरस्तू के राजनीतिक दृष्टिकोण करने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् अध्ययनकर्ता–

- अरस्तू के जीवन के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- अरस्तू के वैज्ञानिक विचारक होने के प्रमाणों को जान सकेंगे।

- अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचारों को जान सकेंगे।
- अरस्तू की क्रांति सम्बन्धी अवधारणा को समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

यूनान के दार्शनिक मनीषियों में सुकरात और प्लेटो के बाद अरस्तू का नाम उल्लेखनीय है। वह यूनान की अमर गुरु–शिष्य परम्परा का तीसरा सोपान था। यूनान का दर्शन बीज की तरह सुकरात में आया, लता की भांति प्लेटो में फैला और पुष्प की भाँति अरस्तू में खिल गया। गुरु–शिष्यों की इतनी महान तीन पीढ़ियाँ विश्व इतिहास में बहुत ही कम दृष्टिगोचर होती हैं। सुकरात महान के आदर्शवादी तथा कवित्वमय शिष्य प्लेटो का यथार्थवादी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला शिष्य अरस्तू बहुमुखी प्रतिभा का धनी था। मानव जीवन तथा प्रकृति विज्ञान का शायद ही कोई ऐसा पहलू हो, जो उनके चिन्तन से अछूता बचा हो। उसकी इसी प्रतिभा के कारण कोई उसे 'बुद्धिमानों का गुरु' कहता है तो कोई 'सामाजिक विज्ञान में नवीन विषयों का जन्मदाता' कहता है। मैक्सी ने उसे प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक की संज्ञा दी है। उसे तर्कशास्त्र का जनक भी कहा जाता है। उसकी प्रतिभा पर विचार करते हुए फॉस्टर ने लिखा है–"मानव इतिहास में बौद्धिक उपलब्धियों की विशालता तथा उसके प्रभाव की गहनता की सीमा में सम्भवतः उसका कोई दूसरा समकक्ष नहीं।" प्लेटो अपने शिष्य की प्रतिभा से इतना प्रसन्न था कि वह उसे अकादमी की शरीरधारिणी बुद्धिमत्ता कहा करता था। उसके अनुसार अकादमी के दो भाग थे–उसका धड़ विद्यार्थी थे और मस्तिष्क अरस्तू। अरस्तू को ग्रन्थ संग्रह करने का शौक था, अतः प्लेटो उसके घर को 'पाठक का घर' कहता था। केटलिन के शब्दों में 'अरस्तू सामान्य बुद्धि तथा स्वर्णिम मध्यक का सर्वोच्च देवदूत है।'

3.2 जीवन परिचय

अरस्तू का जन्म 384 ईसा पूर्व में मेसीडोनिया के स्टेजिरा नामक नगर में हुआ था, जो एथेन्स के लगभग दो सौ मील दूर उत्तर में है। अरस्तू के पिता मेसीडोनिया के राजा तथा सिकन्दर के पितामह एमण्टस के मित्र और चिकित्सक थे। ऐसा लगता है कि स्वयं अरस्तू भी बाद में एस्किलपेड्स के प्रसिद्ध चिकित्सक समाज का सदस्य बन गया था। अस्पताली वातावरण में उसका पालन–पोषण हुआ और इस तरह उसके मस्तिष्क को वैज्ञानिक ढंग से सोचने–समझने का अभ्यास हो गया, जिसके लिए उसे हर तरह का अवसर और प्रोत्साहन मिला था। उसकी युवावस्था के संबंध में कई कहानियाँ प्रचलित हैं। एक कहानी के अनुसार उसने विद्रोही जीवन व्यतीत करने के लिए अपनी पैतृक सम्पत्ति पानी की तरह बहा दी और फिर पैसा न रहने पर सेना में भर्ती हो गया। इसके बाद वह स्टेजिरा लौट आया और चिकित्सक का काम करने लगा। तत्पश्चात् वह तीस वर्ष की आयु में प्लेटो से दर्शनशास्त्र की शिक्षा लेने के लिए एथेन्स चला गया। इससे भी अच्छी कहानी यह है कि वह अठारह वर्ष की आयु में ही एथेन्स चला गया था और वहां पहुंचते ही उसे महान् गुरु का संरक्षण प्राप्त हो गया था, किन्तु इस कथा में भी इस बात का पर्याप्त संकेत है कि उसकी जवानी लापरवाही और अस्त–व्यस्त जीवन में ही तेजी से बीती थी। हम दोनों कथाओं में देखते हैं कि हमारा यह दार्शनिक अपने जीवन में इधर–उधर अनेक थपेड़े खाता हुआ अन्त में प्लेटो के विद्या मन्दिर के शान्त कुंजों में ही आकर आश्रय ग्रहण करता है। प्लेटो की देख–रेख में उसने आठ या बीस वर्ष तक विद्याध्ययन किया और वास्तव में अरस्तू की विचारधाराओं मेंयहाँ तक कि अधिकांश प्लेटो–विरोधी विचारधाराओं में भी–प्लेटो के सिद्धांतों की व्यापकता यह बतलाती है कि विद्या अध्ययन की यह अवधि इससे अधिक ही होगी। कोई व्यक्ति यह अनुमान लगा सकता है कि ये वर्ष कितने सुख के होंगे जबकि एक मेधावी छात्र अपने अद्वितीय गुरु के पथ–प्रदर्शन में दर्शनशास्त्र की वाटिकाओं में ग्रीक प्रेमियों की भांति टहलता होगा, किन्तु दोनों प्रतिभाशाली पुरुष थे और यह कहावत प्रसिद्ध है कि प्रतिभासम्पन्न पुरुषों का आपस में वैसा ही मधुर–मिलन होता है जैसा कि बारूद का आग के साथ। दोनों की आयु के बीच लगभग पचास वर्ष का अन्तर था और यह समझना कठिन है कि वर्षों का यह अन्तर कैसे पाटा गया होगा तथा आत्माओं की भिन्नता किस तरह दूर की गयी होगी। प्लेटो ने इस विचित्र नये शिष्य की महानता पहचान ली थी, जो उत्तरी प्रदेश के ऐसे भाग से आया था जिसे उस समय असभ्य समझा जाता था। प्लेटो ने उसे एक–बार अपने विद्या मंदिर का 'नौस' या बुद्धि का साक्षात् अवतार कहा था। अरस्तू ने पुस्तकों के संग्रह पर पानी की तरह पैसा बहाया था। यूरीपिड्स के बाद वह प्रथम व्यक्ति था जिसने पुस्तकों का संग्रह कर पुस्तकालय बनया था। ज्ञान–भंडार को उसकी अनेक देनों में पुस्तकालय–विभाजन का सिद्धांत भी एक देन है। इसीलिए प्लेटो ने अरस्तू के निवास स्थान को 'विद्यार्थी का घर' कहा था और हृदय से उसकी प्रशंसा की थी, किन्तु कतिपय प्राचीन कथाओं ने उक्त कथन का दूसरा ही अर्थ लगाया है और कहा है कि प्लेटो अरस्तू को किताबी समझते थे। ऐसा लगता है कि वास्तविक झगड़ा तो प्लेटो की मृत्यु के बाद ही आरम्भ हुआ था। हमारे इस महत्वाकांक्षी युवक के हृदय में अपने गुरु के विरुद्ध, उनके दर्शन के प्रति पक्षपात और अनुराग के कारण स्पष्ट रूप से एक विद्रोही भाव उत्पन्न हो गया था और वह कहने लगा था कि प्लेटो की मृत्यु के साथ ही पांडित्य का अंत हो जाएगा। दूसरी ओर प्लेटो का अपने इस शिष्य के संबंध में कथन था कि वह घोड़े या गदहे के उस बच्चे की तरह है, जो अपनी मां का दूध चूस लेने के बाद उसे लात मार देता है। विद्वान जीलर ने, जिसकी पुस्तकों में अरस्तू को प्रतिष्ठा

का सर्वोच्च पद या निर्वाण मिला है, इन कथाओं को न मानने की सलाह दी थी, किन्तु आज हम सोच सकते हैं कि जब इन कथाओं का जिक्र अब तक होता है तो उनमें सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य होगा।

एथेन्स के इस काल की घटनाएँ और भी अधिक शंकास्पद हैं। कुछ जीवनी–लेखकों ने कहा है कि अरस्तू ने आइसोक्रेट्स विचारकों की प्रतिद्वन्द्विता में एक विद्यालय की स्थापना की थी जहां व्याख्यान देने की कला की शिक्षा दी जाती थी। यह भी कहा जाता है कि इस विद्यालय में हर्मियास नामक उसका एक धनी शिष्य भी था, जो बाद में एटारनॉस के नगर राज्य का स्वेच्छाचारी शासक बन गया था। हर्मियास ने उस उच्च पद पर पहुंचने के बाद अरस्तू को अपने दरबार में आमंत्रित किया और उसकी पिछली सेवाओं या कृपाओं के बदले अपने गुरु के साथ अपनी बहन (या भतीजी) की 344 ई.पू. में शादी कर दी। कोई भी इसे यूनानी भेंट के रूप में स्वीकार कर सकता है, किन्तु इतिहासकारों ने हमें विश्वास दिलाया है कि प्रतिभासम्पन्न होते हुए भी अरस्तू का जीवन अपनी पत्नी के साथ बड़ा सुखमय रहा और वसीयतनामे में अपनी पत्नी के संबंध में बड़े प्रेमपूर्ण उद्‌गार प्रकट किये हैं। लगभग एक वर्ष पश्चात् ही मेसीडोनिया के राजा फिलिप ने अरस्तू को सिकन्दर की शिक्षा का कार्य सौंपने के लिए उसे पेल्ला के अपने दरवार में बुला लिया था। इससे स्पष्ट लगता है कि हमारे इस दार्शनिक अरस्तू की प्रसिद्धि कितनी फैल चुकी थी कि तत्कालीन सबसे महान् राजा ने सर्वश्रेष्ठ गुरु की खोज में अरस्तू को चुना, जिसे विश्व के भावी शासक का शिक्षक बनना था।

फिलिप का दृढ़ निश्चय था कि उसके पुत्र को हर तरह की शिक्षा दी जानी चाहिए, क्योंकि उसने उसके सम्बन्ध में अनन्त योजनाएँबनायी थीं। ईसा पूर्व 356 में उसकी थ्रेस पर विजय हो जाने से उसका वहां की सोने की खानों पर अधिकार हो गया था, जिससे उसकी आय लगभग दस गुनी बढ़ गयी थी। उसकी प्रजा में परिश्रमी किसान और योद्धा थे, जो शहर के विलासमय जीवन और दुर्गुणों से बहुत दूर थे। उसकी प्रजा उन तत्वों की सम्मिश्रण थी जिनकी सहायता से सौ छोटे–छोटे नगर–राज्यों को अधीन करना और यूनान का राजनीतिक एकीकरण करना बड़ा सरल था। फिलिप के हृदय में व्यक्तिवाद ने ही यूनान की कला और बुद्धि का तो पोषण किया था, किन्तु साथ ही उसने देश की सामाजिक व्यवस्था भी छिन्न–भिन्न कर डाली थी। इन सब छोटी–छोटी राजधानियों में उसे मनोहर संस्कृति तथा अजेय कला के दर्शन नहीं हुए, बल्कि उसने वहां व्यापारिक भ्रष्टाचार तथा राजनीतिक अराजकता भी देखी। उसने देखा कि अर्थलोलुप व्यापारी और धनाढ्य लोग राष्ट्र के महत्वपूर्ण साधनों को लूट रहे हैं। अयोग्य राजनीतिज्ञ तथा चतुर वक्ता जीवन में फंसी जनता को गुमराह कर भयंकर षड्यन्त्र रच रहे हैं, उन्हें युद्ध की ओर घसीट रहे हैं तथा आपसी मतभेद पैदा करके वे उन्हें वर्गों और जातियों में बांट रहे हैं। फिलिप का कहना था कि यह किसी राष्ट्र का रूप नहीं है बल्कि केवल ऐसे व्यक्तियों का जमघट है, जिनमें बुद्धिमान और गुलाम सभी सम्मिलित हैं। वह ऐसी व्यवस्था कायम करेगा जिसमें यह विषम स्थिति समाप्त हो जायेगी और यूनान के सभी लोगों को एकताबद्ध कर यूनान इतना शक्तिशाली बना दिया जायेगा कि वह विश्व का राजनीतिक केन्द्र और आधार बन सके। उसने अपनी युवावस्था में सामन्त एपॉमिनाण्डस के अधीन थेब्स में सैनिक शिक्षा तथा प्रशासन कला सीखी थी और अब अपने अपार साहस और अपनी असीम महत्वाकांक्षा के कारण उसने इस ज्ञान में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। ईसा पूर्व 338 में उसने एथेन्सवासियों को कोरोनिया के युद्ध में परास्त कर दिया और अन्त में अपनी आँखों में एक संयुक्त यूनान देख ही लिया, यद्यपि वह गुलामी की जंजीरों से एक किया गया था। इसके बाद उसका एक विजय से ज्योंही साहस बढ़ा वह सोचने लगा कि किस तरह वह और उसका पुत्र समस्त संसार पर विजय प्राप्त करें तथा उसे एक सूत्र में बांधे कि एक दिन उसकी किसी ने हत्या कर दी।

जब अरस्तू शिक्षा देने आया था तब सिकन्दर तेरह वर्ष का उद्दण्ड युवक था, जो बहुत ही क्रोधी, हठीला और मदमस्त भी था। उसे ऐसे घोड़े पालने का शौक था जिन्हें वश में करना मनुष्यों के लिए कठिन हो। इस बाल–ज्वालामुखी की लपटों को शीतल करने में इस दार्शनिक को विशेष सफलता नहीं मिली। अरस्तू को सिकन्दर के संबंध में जितनी सफलता मिली थी उससे कहीं अधिक सिकन्दर को बूसीफालस के संबंध में मिली थी। प्लूटार्क का कहना है–"सिकन्दर का अरस्तू के प्रति उतना ही प्रेम और उतनी ही श्रद्धा थी जितनी कि अपने पिता के प्रति थी। उसका कहना था कि यदि उसने अपने पिता से जीवन पाया है तो गुरु ने उसे जीवन की कला दी है।" (एक बहुत ही सुन्दर यूनानी कहावत है कि जीवन प्रकृति की देन है, किन्तु सुन्दर जीवन बुद्धि की देन है)। सिकन्दर ने अपने एक पत्र में अरस्तू को लिखा था, "मैंने अपने को शक्ति और साम्राज्य बढ़ाने की कला की अपेक्षा इस ज्ञान में अधिक श्रेष्ठ बना लिया है कि अच्छाई क्या है।" किन्तु यह सम्भवतः शाही युवक की प्रशंसात्मक उक्ति से अधिक कुछ नहीं है। दर्शनशास्त्र के उत्साही नौसिखिये के अन्दर बर्बर राजकुमार और अनियन्त्रित राजा के जोशीले बेटे का रूप छिपा हुआ था। इन पैतृक उद्दीप्त भावनाओं को बांधने के लिए विवेक के बन्धन बहुत ही कोमल थे और इसीलिए सिकन्दर ने राज–सिंहासन पर आसीन होने तथा विश्व को वश में करने की इच्छा से दो वर्ष बाद दर्शनशास्त्र को त्याग दिया। इतिहास हमें यह विश्वास करने की स्वतंत्रता देता है (यद्यपि इन सुखद विचारों के प्रति हमें शंका हो सकती है) कि सिकन्दर को विश्व विजय की भावना की थोड़ी बहुत शक्ति और प्रेरणा अपने गुरु से भी मिली थी, जो दर्शनशास्त्र के इतिहास में सर्वाधिक सामंजस्यपूर्ण विचारक था। इस तरह शिष्य द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में तथा गुरु द्वारा दार्शनिक क्षेत्र में विजय व्यवस्था एक

ही शुद्ध एवं महाकाव्यमय विचार के विभिन्न अंग हैं। वे मेसीडोनिया के दो शानदार पुत्र थे, जिन्होंने दो विप्लवयुक्त विश्वों (दर्शन एवं राजनीति) को एक सूत्र में बांध दिया था।

एशिया–विजय के लिए रवाना होने पर सिकन्दर अपने पीछे यूनान के नगरों में अपनी सार्थक सरकारें तो छोड़ गया था, किन्तु जनता एकदम विरोधी थी। एथेन्स की लम्बी परम्परा में जो कभी साम्राज्य भी रह चुका था, गुलामी असह्य थी चाहे वह विश्व–विजयी शानदार स्वेच्छाचारी शासक की ही गुलामी क्यों न हो। साथ ही डिमास्थीनियों के तीखे एवं प्रभावशाली व्याख्यानों से महासभा 'मेसीडोनियन दल' के विरुद्ध विद्रोह के लिए हमेशा कटिबद्ध रहती थी, जिसके हाथों में नगर का शासन सूत्र था। अतः जब अरस्तू दूसरी बार विदेश भ्रमण के बाद 334 ईसा पूर्व में एथेन्स लौटा तो उसका स्वाभाविक रूप से मेसीडोनियन दल से संबंध हो गया और उसने सिकन्दर के एकतामूलक शासन को अच्छा मानने के अपने विचारों को छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। जैसे–जैसे अरस्तू के कार्यों का, जो उसने अपने जीवन के अन्तिम बारह वर्षों में किये थे, हम मनन तथा अनुसंधान के साथ अध्ययन करते हैं तथा जैसे–जैसे हम उसे अपने विद्या मंदिर के संगठन संबंधी अनेक कार्यों में लगे और ऐसे ज्ञान भण्डार का समन्वय करते देखते हैं जो इससे पूर्व किसी भी व्यक्ति के मस्तिष्क में कभी नहीं गुजरा था, वैसे–वैसे हमारे सामने बार–बार यह विचार आ जाते हैं कि खोज का यह कोई शान्त और सुरक्षित मार्ग नहीं था। किसी भी क्षण वहां का राजनीतिक वातावरण बदल सकता था और इस शान्तिपूर्ण दार्शनिक जीवन में तूफान आ सकता था। हम अपने मन में केवल इसी स्थिति को सम्मुख रखकर अरस्तू का राजदर्शन समझ सकते हैं और उसके दुःखद अन्त की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

राजाओं के राजा को शिक्षा देने वाले इस गुरु को एथेन्स के समान विरोधी लोगों के नगर में भी शिष्यों का मिलना कठिन नहीं था। जब अरस्तू ने 53वें वर्ष की आयु में अपने विद्यालय लिसीयम की स्थापना की तो इतने अधिक छात्र इकट्ठे हो गये कि व्यवस्था बनाये रखने के लिए जटिल नियम बनाना आवश्यक हो गया। छात्रों ने स्वयं उन नियमों की रचना की थी और वे हर दसवें दिन अपने में से एक छात्र को विद्यालय की देखरेख के लिए निर्वाचित करते थे, किन्तु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि उस जगह कठोर अनुशासन था, बल्कि हमें जो विवरण प्राप्त है उसके अनुसार ज्ञात होता है कि सभी छात्र अपने गुरु के साथ समान रूप से भोजन करते तथा खेलकूद के मैदान में गुरु के साथ घूमते–फिरते, उनसे ज्ञान प्राप्त करते थे। इसी खेलकूद के मैदान के ही नाम पर उस विद्यालय का भी नाम 'लिसीयम' पड़ा था।

यह नया विद्यालय प्लेटो के विद्या मन्दिर का केवल प्रतिरूप नहीं था, जो वह अपने पीछे छोड़ गया था। यदि हम प्लिनी के कथन पर विश्वास करें तो यह मानना पड़ेगा कि सिकन्दर ने अपने शिकारियों, आखेट करने वालों, मालियों तथा मछुओं को आदेश दे रखा था कि वे अरस्तू को उसकी इच्छानुसार प्राणीशास्त्र संबंधी तथा वनस्पतिशास्त्र सम्बन्धी सामग्री देते रहें। अन्य प्राचीन लेखकों ने बताया है कि किसी समय उसकी सेवा में एक हजार व्यक्ति थे जो समस्त यूनान और एशिया में फैले हुए थे तथा उसके लिए हर प्रदेश के पशु और वनस्पतियाँ एकत्रित करते रहते थे। इन सामग्रियों की निधि से उसने एक ऐसा प्राणीशास्त्र संबंधी बाग तैयार कर लिया था, जो विश्व में अपने प्रकार का पहला था। इस संग्रह का उसके विज्ञान और उसके दर्शन पर समान प्रभाव बतलाना अत्युक्ति न होगी।

इन कार्यों के लिए अरस्तु को धन कहां से मिला होगा? अब तो वह स्वयं एक लम्बी आमदनी वाला व्यक्ति बन चुका था और साथ ही उसने यूनान के सबसे बड़े शक्तिशाली एवं सम्पन्न परिवार में विवाह किया था। एथीनास का कथन है (जिसमें कुछ अत्युक्ति अवश्य होगी) कि सिकन्दर ने अरस्तू को भौतिक तथा प्राणी विद्या संबंधी सामान खरीदने और अनुसन्धान करने के लिए 800 यूनानी गिन्नियाँ दी थीं (आधुनिक समय में उनका क्रय मूल्य चालीस लाख डालर होगा)। कुछ लोगों का कहना है कि अरस्तू के सुझाव पर ही सिकन्दर ने नील नदी का उद्‌गम जानने और समय–समय पर उसमें बाढ़ आ जाने का कारण खोजने के लिए एक दल भेजा था, जिस पर काफी धन व्यय किया गया था। अरस्तू के लिए 158 राजनीतिक विधानों की रूपरेखा वाले विधि संग्रह की रचना तथा ऐसी ही अन्य पुस्तकों को तैयार किया जाना बतलाया है कि उसकी सहायता के लिए अनेक सचिव तथा सहायक अधिकारी अवश्य रहे होंगे। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि हमारे समक्ष यूरोपीय इतिहास का यह प्रथम उदाहरण है जबकि राजकीय कोष से विज्ञान पर बड़े ऊँचे पैमाने पर धन खर्च किया गया था। यदि आज की सरकारें अनुसन्धान और खोज पर इसी अनुपात से दिल खोलकर खर्च करें तो संसार का ऐसा कौन–सा ज्ञान है जो हम प्राप्त नहीं कर सकते।

अरस्तू के जीवन की अवसान वेला अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण एवं कष्टमय बीती। एक ओर उसने सिकन्दर से दुश्मनी मोल ले ली थी जबकि उसने केलिस्थनिज (अरस्तू का भतीजा) की फांसी का विरोध किया था, जिसने सिकन्दर को ईश्वर मानने से इन्कार कर दिया था और जब अरस्तू के प्रतिरोध के उत्तर में सिकन्दर ने यह संकेत किया था कि दार्शनिकों तक को मृत्यु की सजा देना उसके अधिकार की बात है क्योंकि वह सर्वशक्तिमान है। इसके साथ ही अरस्तू एथेन्सवासियों के बीच सिकन्दर का पक्ष प्रतिपादित करने में व्यस्त हो गया। उसने नगर की देशभक्ति की अपेक्षा यूनान की एकता को अधिक अच्छा समझा था और सोचा था कि जब प्रभुतासम्पन्न छोटे–छोटे राज्य और उनके झगड़े समाप्त हो जायेंगे तब

संस्कृति और विज्ञान की उन्नति होगी। उसने सिकन्दर में वे ही गुण देखे थे जो गेटे ने नेपोलियन में देखे थे। सिकन्दर में अनेक भागों में बंटे अशान्त और असभ्य विश्व में एकता स्थापित करने की क्षमता का गुण था। स्वतन्त्रता के भूखे यूनानवासी अरस्तू को भला–बुरा कहने लगे और जब सिकन्दर ने विरोधी नगर के बीचोंबीच इस दार्शनिक की प्रतिमा स्थापित कर दी तो उनकी कटुता और बढ़ गयी। प्लेटो की अकादमी के उत्तराधिकारी तथा कुछ जनसमूह जो डेमोस्थनीज की तीखी वाकपटुता से प्रभावित थे, षड्यन्त्र रचने लगे और अरस्तू को देश निकाला देने या मृत्युदण्ड देने की मांग का शोर मचाने लगे।

इसी दौरान एक दिन अचानक (323 ई. पू.) सिकन्दर की मृत्यु हो गयी। एथेन्सवासी देश प्रेम के आनंद से पागल हो गये। मेसेडोनियन दल का तख्ता उलट दिया गया और एथेन्स की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी गयी। सिकन्दर का उत्तराधिकारी और घनिष्ठ मित्र एण्टिपीटर विद्रोही नगर पर चढ़ आया। मेसेडोनियम दल के अधिकांश लोग भाग गये। यूरोमेडन नामक एक प्रमुख पुरोहित ने अरस्तू के विरुद्ध अभियोग पत्र रखा जिसमें उस पर आरोप थे कि वह प्रार्थना और बलि को व्यर्थ मानने की शिक्षा देता है। अरस्तू ने देखा कि उसका भाग्य अब उन न्यायाधीशों और जनसमूह के हाथों में है जो उनसे भी अधिक विरोधी हैं जिन्होंने सुकरात की हत्या की थी। अतः उसने बुद्धिमानी की और यह कहकर नगर छोड़कर चला गया कि मैं एथेन्सवासियों को दर्शन के विरुद्ध दूसरी बार पाप करने का अवसर देना नहीं चाहता। कैलसिस आकर अरस्तू बीमार पड़ गया। डायगनिस लार्टियस का कहना है कि इस वृद्ध दार्शनिक ने एकदम निराश होकर विषपान द्वारा आत्महत्या कर ली थी। अपने को चाहे जितना संभालने के बाद भी अरस्तू की बीमारी घातक सिद्ध हुई और एथेन्स छोड़ने के कुछ माह बाद (322 ई.पू.) एकान्तवासी अरस्तू ने संसार त्याग दिया। इस प्रकार यूनान का सूर्य अस्त हो गया, इसके बाद उसका वैभव भी नष्ट हो गया। एक हजार वर्ष तक यूरोप के मुख पर अन्धकार की छाया फैलती रही। समस्त संसार दर्शन के पुनर्जीवन की प्रतीक्षा करने लगा।

3.3 प्रमुख रचनाएँ

(1) राजनीति पर–The Politics, The Constitution.

(2) साहित्य पर–Eademus or Soul, Protepicus, Poetics तथा Rhetoric आदि।

तर्कशास्त्र व दर्शन पर–Physics, DeAnima, The Prior Metaphysics, Categories, Interpretation, The PosteriorAnalytics तथा The Topics आदि।

(4) भौतिक विज्ञान पर–Meteorology (चार भाग) तथा अन्य ग्रन्थ।

(5) शरीर विज्ञान पर–Histories ofAnimals तथा दस अन्य ग्रन्थ।

अरस्तू की महानतम रचना : दि पॉलिटिक्स

'पॉलिटिक्स' अरस्तू की महानतम रचना है जिसे राजनीतिशास्त्र पर लिखी गई बहुमूल्य निधि माना जाता है। इसमें पहली बार राजनीति को एक वैज्ञानिक रूप दिया गया है।

'पॉलिटिक्स' के विषय में अनेक विरोधी भावनाएँ और विचार विद्यमान हैं। एक ओर जैलर और फॉस्टर जैसे विद्वान हैं तो दूसरी ओर विरोधी विचार प्रकट करने वाले टेलर तथा मैक्इल्वेन जैसे लेखक हैं। जैलर के अनुसार, "अरस्तू की पॉलिटिक्स प्राचीनकाल में हमें प्राप्त होने वाली सर्वाधिक मूल्यवान निधि है तथा राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में हमें प्राप्त होने वाला महानतम् योगदान है।" फॉस्टर का कहना है "यदि यूनानी राजनीतिक दर्शन का सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधित्व करने वाला कोई ग्रन्थ हो सकता है तो वह यही है।" इस मत के सर्वथा विपरीत विचार, ए. ई. टेलर का है। इनके अनुसार, "पॉलिटिक्स के अतिरिक्त अरस्तू का कोई दूसरा ग्रन्थ एक बहुमुखी विषय की विवेचना में इतना साधारण कोटि का नहीं रहा है तथा सत्य यह है कि सामाजिक विषयों में उसकी अभिरुचि तीक्ष्ण नहीं थी।" मैकइल्वेन के अनुसार, "यह (पॉलिटिक्स) यदि अत्यन्त महत्वपूर्ण भी नहीं है तो भी राजनीति दर्शन के शास्त्रीय ग्रन्थों में अत्यन्त हैरानी पैदा करने वाला ग्रन्थ तो है ही।"

'पॉलिटिक्स' के बारे में विद्वानों के इसी प्रकार परस्पर विरोधी विचार हैं, पर इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि 'पॉलिटिक्स राजनीति के क्षेत्र में अरस्तू की एक अनुपम देन है। प्रो. बार्कर ने इसे राजनीति के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ रचना' कहा है और ब्राउले के शब्दों में "अपने विषय पर 'पॉलिटिक्स' सबसे अधिक प्रभावक और सबसे अधिक गम्भीर ग्रन्थ है जिसका अध्ययन सबसे पहले किया जाना चाहिए।"

'पॉलिटिक्स' की रचना के विषय में विद्वानों में विरोधी विचार पाये जाते हैं। इसके रचना काल और क्रम के सम्बन्ध में जायगार और आर्नीम आदि विद्वानों के दृष्टिकोणों में प्रतिकूल विचार पाये जाते हैं। जायगार के अनुसार पॉलिटिक्स की सातवीं तथा आठवीं पुस्तकों की रचना सबसे पहले हुई और इन पुस्तकों में अरस्तू पर प्लेटो के प्रभाव की स्पष्ट छाप नजर आती है। ऐसा लगता है कि इन दोनों पुस्तकों की रचना अरस्तू ने 347 ईसा पूर्व की होगी जब वह अकादमी त्यागकर अस्सुस में रहले लगा था। इसके विपरीत आर्नीस के अभिमत में इन दो पुस्तकों की रचना अरस्तू ने अन्य सब

पुस्तकों की रचना के बाद उस युग में की थी जब वह प्लेटो के प्रभाव से मुक्त हो चुका था, किन्तु इस विषय में प्रो. बार्कर का मत उपयुक्त जान पड़ता है। उनका यह कहना है कि इसकी रचना अरस्तू के एथेन्स में दूसरे निवासकाल में, आयु के अन्तिम 12 वर्षों में (335 ई.पू.) हुई है। यद्यपि यह अरस्तू की प्रौढ़तम आयु की रचना है, किन्तु उसकी अन्य रचनाओं के समान यह सम्भवतः उसके व्याख्यानों के नोट्स मात्र हैं जिन्हें भली–भाँति संशोधित एवं पूर्ण नहीं किया गया।

पॉलिटिक्स के बारे में इस प्रकार उलझनपूर्ण धारणाओं का कारण यही है कि उसमें कहीं–कहीं तो किसी विषय का उल्लेख इस ढंग से किया गया है जैसे उसका प्रसंग पूर्व में ही हो चुका हो और कहीं–कहीं उन बातों का उल्लेख कर दिया गया है जिनका विवेचन आगे चलकर हुआ है। अर्थात् सारा ग्रन्थ अव्यवस्थित विषय परिवर्तन से भरा पड़ा है। जो 'पॉलिटिक्स' आज हमें उपलब्ध है वह एक अपूर्ण कृति लगती है। अरस्तू की पॉलिटिक्स' के अनुशीलन से यह एक एकीकृत अथवा सुगठित रचना नहीं मालूम पड़ती। इसे एक सम्पूर्ण ग्रन्थ की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती। अधिक से अधिक यह एक प्रकार से विभिन्न निबन्धों का संकलन है। डेविस के शब्दों में, "पॉलिटिक्स को युक्तियों की तथा सिद्धांतों की खान समझा जाना चाहिये न कि एक कलात्मक ढंग से रचा हुआ साहित्यिक ग्रन्थ।"

संक्षेप में, "पॉलिटिक्स' अरस्तू की ऐसी रचना है जिसमें अपूर्णता एवं अस्पष्टता इसलिए दिखाई देती है क्योंकि इसे अरस्तू ने एक साथ क्रमबद्ध रूप से नहीं लिखा था।

'पॉलिटिक्स' निम्नलिखित आठ भागों में विभक्त है पहला भाग इसमें राज्य की प्रकृति और दास प्रथा का वर्णन है। दूसरा भाग–इसमें प्लेटो के आदर्श राज्य की आलोचना की गई है।

तीसरा भाग–इसमें संविधानों के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन है।

चौथा भाग–इसमें राजतन्त्र के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के संविधानों का विवेचन किया गया है। राजतंत्र का वर्णन तीसरे भाग में है।

पांचवां भाग–इसमें क्रांतियाँ, उनके कारण और उनको दूर करने का वर्णन किया गया है।

छठा भाग–इसमें उपरोक्त विषय को पूर्ण किया गया है।

सातवाँ भाग–इसमें आदर्श राज्य का वर्णन है।

आठवाँ भाग–इसमें आदर्श राज्य और आदर्श संविधान का विवेचन किया गया है।

'पॉलिटिक्स' में आदर्श की स्थापना तथा यथार्थ का विश्लेषण एक ही साथ कर अरस्तू ने एक नवीन राजनीति विज्ञान को जन्म दिया। उसने यह मत प्रतिपादित किया कि यथार्थ आदर्श से कितना ही दूर क्यों न हो उसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। संक्षेप में, इसमें हमें अरस्तू के सामाजिक और राजनीतिक तत्वों, वास्तविक संविधानों, उनके सम्मिश्रण और तज्जनित परिणामों का एक अनुभवात्मक अध्ययन मिलता है।

3.4 अरस्तू के चिन्तन पर प्रभाव

अरस्तू एक मौलिक विचारक है फिर भी उसका विचार दर्शन अपने युग की परिस्थितियों, अपने समकालीन व्यक्तियों और पैतृक पृष्ठभूमि से प्रभावित है। अरस्तू पर सबसे अधिक प्रभाव प्लेटो और उसकी दूसरी महानतम् कृति 'लॉज' का दिखलाई देता है। यहाँ हम अरस्तू पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा करेंगे।

3.4.1 प्लेटो का प्रभाव–अरस्तू पर सर्वाधिक प्रभाव अपने गुरु प्लेटो का दिखलाई देता है। यद्यपि वह अपने गुरु के प्रति अन्धभक्त नहीं था तथापि वह प्लेटो की महान् दार्शनिक योग्यता के प्रभाव से ओतप्रोत अवश्य था। अरस्तू ने यद्यपि अपनी कृतियों में प्रत्येक मोड़ पर प्लेटो का खण्डन किया तथापि वह प्रत्येक पृष्ठ पर उसका ऋणी था। उसने अपने जीवन के लगभग 20 वर्ष प्लेटो के चरणों में अध्ययन करते हुए बिताए। जिन दिनों अरस्तू प्लेटो के सम्पर्क में आया उन दिनों प्लेटो 'लॉज' की रचना में लगा हुआ था। वस्तुतः अरस्तू के राजनीतिक विचारों के निर्माण में 'लॉज' में अभिव्यक्त प्लेटो के विचारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ऐसा कहा जाता है कि जहाँ प्लेटो की 'लॉज' की चिन्तनधारा का अवसान होता है, वहां से अरस्तू के 'पॉलिटिक्स' की विचारगंगा का प्रवाह आरम्भ होता है। अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' तथा 'लॉज' में निम्नलिखित सादृश्य प्लेटो के प्रभाव को सूचित करते हैं–

(i) अरस्तू लॉज की भांति कानून की सर्वोच्च प्रभुसत्ता का सिद्धांत तथा शासकों को कानून का संरक्षक और सेवक मानता है।

(ii) अरस्तू राज्यहित में मनुष्य को देवता या पशु मानता है। यह 'लॉज' के एक सन्दर्भ का रूपान्तर है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसे लिखते समय उसके सामने लॉज का उपर्युक्त उद्धरण था।

(iii) परिवार से राज्य के विकास का वर्णन करते हुए अरस्तू ने लॉज की तीसरी पुस्तक का अनुसरण किया है और होमर के ग्रन्थ से उद्धरण भी वही दिया है, जो प्लेटो ने दिया था।

(iv) वह प्लेटो की इस युक्ति को दोहराता है कि स्पार्टा की भाँति युद्ध अपने–आप में एक लक्ष्य नहीं है, किन्तु इसका प्रयोजन शान्ति की स्थापना होना चाहिए।

(v) मिश्रित संविधान की कल्पना दोनों ग्रंथों में समान रूप से पायी जाती है और दोनों स्पार्टा को इसका उदाहरण बताते हैं।

(vi) अरस्तू ने कृषि की महत्ता, व्यापार और सूदखोरी के बारे में पॉलिटिक्स की पहली पुस्तक में जो बातें लिखी हैं वे 'लॉज' की आठवीं तथा ग्यारहवीं पुस्तक की व्यवस्थाओं से मिलती हैं।

(vii) पॉलिटिक्स' की पहली पुस्तक में वर्णित आदर्श राज्य की लॉज' के आदर्श राज्य से गहरी समानता है। इसके कुछ सादृश इस प्रकार है–आदर्श राज्य का समुद्र के पास होना; नगर राज्य की इमारतों का वर्णन दोनों में एक जैसा है। अरस्तू की शिक्षा योजना 'लॉज' में प्रतिपादित योजना से मिलती है आदि।

इन समानताओं के आधार पर बार्कर ने यह परिणाम निकाला है कि यद्यपि अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' के आरम्भ में 'रिपब्लिक' तथा 'लॉज' के सिद्धांतों की आलोचना की है, किन्तु वह 'पॉलिटिक्स' के सामान्य सिद्धांतों के लिए लॉज का ऋणी है। यद्यपि 'पॉलिटिक्स' उसने अपने दार्शनिक सिद्धांतों के आधार पर लिखी है, किन्तु इसके अधिकांश विचार प्लेटो के हैं। "पालिटिक्स में पूर्णरूप से नई बात इतनी ही कम है, जिनकी मैग्नाकार्टा में है। इनमें कोई भी नया नहीं है, दोनों का उद्देश्य पूर्ववर्ती विकास को संहिताबद्ध करना है।" मैक्सी के शब्दों में, "अरस्तू के अभाव में प्लेटो और उसका विद्यालय अपूर्ण रहता है और प्लेटो के अभाव में अरस्तू और उसका विद्यालय असम्भव ही था।"

3.4.2 समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव–अन्य दार्शनिकों की भांति अरस्तू भी अपने युग का शिशु था। अतः उसकी रचनाओं पर उसके युग का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव पड़ा है। अरस्तू के जीवन के 62 वर्ष (384 ई.पू. 322 ई.पू.) यूनानी इतिहास के अत्यन्त महत्वपूर्ण और हलचल वाले वर्ष थे। यूनानी नगर राज्यों के जीवन में वह ह्रास का काल था, स्वतंत्रता के अवसान तथा पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े जाने का काल था, यह वह काल था जिसमें स्पार्टा का पतन हुआ तथा यूनानी नगर राज्यों को मेसेडोनिया का संरक्षण स्वीकार करना पड़ा। यह वह युग था जिसमें नगर राज्यों का पतन प्रारम्भ हो चुका था। इन परिस्थितियों ने अरस्तू को यह सोचने के लिए प्रेरित किया कि यूनानी नगर राज्यों के पतन के क्या कारण थे। अरस्तू ने अपने अनुशीलन से यह मत प्रतिपादित किया कि एकता के अभाव के कारण ही यूनानियों को इस प्रकार के बुरे दिन देखने पड़े हैं। समकालीन परिस्थितियों में राजनीतिक चिन्तन का आदर्श नगर राज्य ही थे। यद्यपि अरस्तू ने मेसेडोनिया के साम्राज्यवाद के दर्शन कर लिये थे, फिर भी वह यूनानियों के हृदयों में नगर राज्यों के प्रति पाये जाने वाले सहज झुकाव से अपने को नहीं बचा सका। अतः नगर राज्य को ही उसने अपने अनुशीलन का केन्द्र बिन्दु बनाया। तात्कालिक परिस्थितियों तथा दासों की मेहनत पर आधारित सभ्यता में पला अरस्तू दास प्रथा को प्राकृतिक घोषित करे तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

3.4.3 पैतृक पृष्ठभूमि का प्रभाव–अरस्तू के राजनीतिक दर्शन के निर्माण में उसकी पैतृक पृष्ठभूमि का भी गहरा प्रभाव रहा है। अरस्तू में जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है, वह एक बड़ी सीमा तक उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि की ही देन थी। इसी पृष्ठभूमि के कारण उसे अपने विभिन्न क्षेत्रों के वैज्ञानिक अध्ययन को आगे बढ़ाने के समुचित अवसर प्राप्त होते चले गये। बार्कर के अनुसार, "चूंकि चिकित्सक का पैसा अरस्तू के परिवार में अनेक पीढ़ियों (उसके पिता मैसीडोन के राजा एवं सिकन्दर के दादा अमितास द्वितीय के दरबार में राज–वैद्य थे) से चला आ रहा था, अतएव अपने चिन्तन में अरस्तू ने जीव विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति में जो दिलचस्पी दिखलाई उसका सम्भवतः उस पर अपने पारिवारिक वातावरण का ही प्रभाव था।"

3.4.4 समकालीन व्यक्तियों का प्रभाव–'अरस्तु अपने समय के कतिपय मित्रों और प्रभावशाली व्यक्तियों से भी प्रभावित हुआ है। वह अपने समय के दो शासकों हेरमियास तथा सिकन्दर महान् एवं शासनाधिकारी एण्टीपीटर के निकट सम्पर्क में आया था। हेरमियास उसका अभिन्न मित्र था। उसकी जीवन लीला का जिस निर्मम ढंग से अन्त हुआ, उस दुःखद घटना का अरस्तू के विचारों तथा शिक्षाओं पर अमिट प्रभाव पड़ा है। सिकन्दर के एक अधिकारी एण्टीपीटर का अरस्तू पर इतना अधिक प्रभाव था कि बार्कर ने लिखा है, "एण्टीपीटर के विचारों तथा सिद्धांतों ने अरस्तू के विचारों को भी प्रभावित किया है।" जहां तक सिकन्दर के प्रभाव का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतान्तर है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि गुरु ने शिष्य को पूर्ण प्रभावित किया है। इसके विपरीत बट्रैण्ड रसेल की मान्यता है कि गुरु का शिष्य पर सम्भवतः कोई प्रभाव न पड़ा। इसका कारण यह है कि जहाँ अरस्तू एक नगर राज्य का समर्थक था वहां सिकन्दर को एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने की धुन थी। इस सम्बन्ध में बार्कर ने लिखा है, जहाँ तक सिकन्दर का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि न तो वह (अरस्तू) सिकन्दर को कुछ अधिक दे सका और न ही उसे सिकन्दर से कुछ महत्वपूर्ण प्राप्त हो सका। दोनों में अल्पकाल तक कुछ मधुर सम्बन्ध अवश्य ही रहे थे, किन्तु जीवन के अन्तिम काल में उनमें कटुता भी बड़ी मात्रा में पैदा हो गयी थी।

3.5 अरस्तू: राजनीति विज्ञान का जनक

मैक्सी ने अरस्तू को प्रथम वैज्ञानिक विचारक कहा है। डनिंग के अनुसार, पश्चिमी जगत में राजनीति विज्ञान अरस्तू से ही प्रारम्भ हुआ। उसकी महानतम कृति 'पॉलिटिक्स' को राजनीति विज्ञान की अनुपम निधि माना जाता है। यद्यपि अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने राजनीति पर विचार किया था, किन्तु उसका सम्पूर्ण ज्ञान कल्पनावादी था। प्लेटो हवाई योजनाएँ बनाने वाला और स्वप्निल उड़ान भरने वाला दार्शनिक था। जिसको वास्तविक तथ्यों से कोई मतलब नहीं था। प्लेटो की पद्धति निगमनात्मक है और वह केवल इस बात पर विचार करता है कि आदर्श राज्य कैसा होना चाहिए, यथार्थ राजनीतिक स्थिति से उसे कोई मतलब नहीं। उसकी दृष्टि में स्थूल रूप से दिखाई देने वाला वास्तविक जगत मिथ्या है और विचारों का काल्पनिक जगत वास्तविक है। ऐसी स्थिति में प्लेटो को हम अधिक से अधिक कवि, कलाकार या दार्शनिक कह सकते हैं, विषय पर क्रमबद्ध रूप से विचार करने वाला वैज्ञानिक नहीं। इसके अतिरिक्त प्लेटो के द्वारा राजनीति विज्ञान को स्वतंत्र विज्ञान का दर्जा भी प्रदान नहीं किया गया। वह राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का ही पुच्छल्ला (अंग) मानता है। राजनीति विज्ञान को एक स्वतंत्र विज्ञान की गरिमा प्रदान करने का कार्य अरस्तु के द्वारा ही किया गया। उसने नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में अन्तर किया। उसने राजनीतिशास्त्र को उच्चकोटि का शास्त्र माना क्योंकि यह राज्य जैसी सर्वोच्च संस्था का अध्ययन करता है। अरस्तू को निम्नलिखित कारणों के आधार पर राजनीति विज्ञान का जनक अथवा प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक कहा जा सकता है।

3.5.1 आगमनात्मक विधि का अनुसरण—अधिकतर विद्वानों ने अरस्तू को राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में आगमनात्मक विधि के प्रणेता के रूप में स्वीकार किया है। इस विधि की विशेषता यह है कि इसमें विचारक जो कुछ देखता है या जिन ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करता है उनका निष्पक्ष रूप से बिना अपनी किसी पूर्व धारणा के अध्ययन करता है और इस अध्ययन के फलस्वरूप जो कुछ भी निष्कर्ष निकलता है उसमें वैज्ञानिकता का पुट होता है। इस दृष्टि से अरस्तू ने अपने समय में प्रचलित 158 संविधानों का अध्ययन किया और उस अध्ययन के सन्दर्भ में निकले निष्कर्षों के आधार पर ही राज्य के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया।

3.5.2 राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक करना—प्लेटो ने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का एक अंग माना है। उसने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र में ही समाहित कर दिया जिससे राजनीतिशास्त्र का अपना स्वतंत्र और पृथक स्थान नहीं रहा। इसके विपरीत, अरस्तू वह प्रथम विचारक है, जिसने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक कर उसे स्वतंत्र स्थान प्रदान किया। उसने नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में अन्तर किया है। उसके अनसार नीतिशास्त्र का सम्बन्ध उद्देश्यों से है, जबकि राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध उन साधनों से है जिनके द्वारा उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

3.5.3 यथार्थवादी विचारक—अरस्तू प्रथम विचारक है जिसने राजनीति पर यथार्थवादी और व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार किया। उसने सदैव ही अतिवादिता से बचते हुए मध्यममार्ग का अनुसरण किया। केटलिन के शब्दों में, "क्फ्यूशियस के बाद अरस्तू सामान्य ज्ञान और मध्यम माग्र का सबसे बड़ा प्रतिपादक है। व्यावहारिक विचारक होने के कारण अरस्तू ने मध्य मार्ग के अनुसरण पर सबसे अधिक जोर दिया। वह यह मानता था कि विकास के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध असन्तुलन है, चाहे वह राजनीति असन्तुलन हो अथवा सामाजिक और आर्थिक असन्तुलन। यह असन्तुलन 'अतियों' के कारण पैदा होता है। साम्यवाद, निरंकुशता, आंगिक समानता आदि सभी को वह अति समझता था। इसलिए वह इनके बीच का मार्ग अपनाने का समर्थन करता था। पालिटी का सिद्धांत एक मध्यम मार्ग है जिसके अनुसरण द्वारा अरस्तु ने राजनीतिक और आर्थिक असन्तुलन को सदैव के लिए दूर करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न को एक वैज्ञानिक उपचार कहा जा सकता है।

3.5.4 राज्य के पूर्ण सिद्धांत का क्रमबद्ध निरूपण—अरस्तू ही वह पहला विचारक है जिसने राज्य का पूर्ण सैद्धान्तिक वर्णन किया है। राज्य के जन्म और उसके विकास से लेकर उसके स्वरूप, संविधान की रचना, सरकार के निर्माण, नागरिकता की व्याख्या, कानून की सर्वोच्चता और क्रान्ति आदि अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर उसने विस्तार से प्रकाश डाला है। ये सभी आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों के चिन्तन के विषय हैं और इन विषयों पर इतना क्रमबद्ध विवेचन प्लेटो के दर्शन में भी नहीं मिलता है। बार्कर के शब्दों में, "अरस्तू के विचार प्रायः आधुनिकतम हैं, भले ही अरस्तू का राज्य केवल एक नगर राज्य ही रहा है।" अरस्तू ही वह पहला विचारक था जिसने यह प्रतिपादित किया कि "मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है।" अरस्तू का यह कथन आज भी राजनीतिशास्त्र की अमूल्य धरोहर है।

3.5.5 संविधानों का वैज्ञानिक वर्गीकरण—बार्कर ने अरस्तू की महान कृति 'पॉलिटिक्स' के अनुवाद में लिखा है, "अगर कोई यह पूछे कि अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' ने सामान्य यूरोपीय विचारधारा को उत्तराधिकार के रूप में क्या दिया तो इसका उत्तर एक ही शब्द में दिया जा सकता है—'संविधानशास्त्र'।" वास्तव में संविधान के बारे में जितना विस्तृत अध्ययन हमें अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं और उस समय जबकि दुनिया में राजनीतिक विचारधाराओं का उदय हो रहा था, संविधान पर व्यक्त अरस्तू के विचार कल के विचारों जैसे मालूम होते हैं। अरस्तू को

संविधान और संविधानवाद का जनक कहा जाता है। संविधानों का वर्गीकरण उसे प्लेटो से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ पर उसने इस विषय पर अपने 'लिसियम' में विस्तृत अध्ययन किया और इस प्रकार से प्लेटो के सैद्धान्तिक विवेचन पर अपनी अनुसंधानिक पुष्टि कर दी। संविधानों और राज्यों का वर्गीकरण इसीलिए मूल रूप में अरस्तू के नाम के साथ जोड़ा जाता है। संविधानों का अध्ययन आधुनिक राजनीति विज्ञान का प्रमुख विषय है और समूचा राजनीतिशास्त्र इसके लिए अरस्तू का ऋणी है।

3.5.6 नागरिकता की व्याख्या–अरस्तू द्वारा नागरिकता की जो व्याख्या की गई है वह राजनीतिशास्त्र के लिए बहुत सहायक और आधुनिक नागरिकता की परिभाषा को निर्धारित करने में मार्गदर्शक सिद्ध हुई है। नागरिकता संबंधी विषय के अध्ययन के लिए आगे चलकर विद्वानों ने अरस्तू के मूल विचारों को ही आधार बनाया। नागरिकता का विचार अरस्तू की एक मौलिक देन है जिसके लिए राजनीतिशास्त्र उसका सदा ऋणी रहेगा।

3.5.7 कानून की सर्वोच्चता का प्रतिपादन–अरस्तू ने कानून की सर्वोच्चता के बारे में एक सम्यक् विचार प्रस्तुत किया है। अरस्तू सर्वाधिक बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियों के विवेक के स्थान पर परम्परागत नियमों और कानूनों की श्रेष्ठता में विश्वास करता है जबकि प्लेटो अतिमानव के शासन में विश्वास करता है। प्लेटो एक ऐसे अतिमानव की खोज करना चाहता है जो आदर्श राज्य का निर्माण कर सके, अरस्तू एक ऐसे अतिविज्ञान का अन्वेषण करना चाहता है, जो राज्य का अच्छे से अच्छा बना सके। प्लेटो अपने दार्शनिक राजा के द्वारा आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता है, परन्तु अरस्तू एक ऐसे शास्त्र की रचना करना चाहता है, जिसके निर्धारित नियमों का अनुसरण कर आदर्श राज्य की सृष्टि सम्भव हो सके। संक्षेप में, अरस्तू का विश्वास कानून के शासन में है। कानून की सर्वोच्चता तथा संवैधानिक शासन की वांछनीयता में विश्वास उसकी ऐसी धारणाएँ हैं जिनके आधार पर उसे 'संविधानवाद का पिता' कहा जाता है। अरस्तू ने कानून की सर्वोच्चता के जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है उसमें वैधानिक सम्प्रभुता के बीज निहित हैं। आगे चलकर ग्रोशियस, बेन्थम, हॉब्स, ऑस्टिन और लास्की ने अरस्तू की व्याख्या के आधार पर ही वैधानिक सम्प्रभुता की अवधारणा का प्रतिपादन किया। सम्प्रभुता के बारे में आधुनिक राजनीतिशास्त्र बहुत कुछ सीमा तक अरस्तू का ऋणी है।

3.5.8 सरकार के अंगों का निर्धारण–अरस्तू ने सरकार के तीन अंगों–नीति निर्धारक, प्रशासकीय और न्यायिक का निरूपण किया है। ये शासकीय अंग वर्तमान समय के व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के समान ही हैं। अरस्तू ने इन विभिन्न शासकीय अंगों के संगठन, कार्यक्षेत्र और शक्तियों के बारे में विस्तार से विचार किया है। अरस्तू की यह खोज आगे चलकर शक्ति पृथक्करण सिद्धांत तथा नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धांत की रूपरेखा बनी।

3.5.9 राजनीति पर भौगोलिक एवं आर्थिक प्रभावों का अध्ययन–अरस्तू ने राजनीति पर पड़ने वाले भौगोलिक और आर्थिक प्रभावों को बहुत महत्व दिया है। उसने इन मूलभूत तथ्यों का प्रतिपादन किया कि सम्पत्ति का लक्ष्य और वितरण शासन व्यवस्था के रूप को निश्चित करने में निर्णयकारी तत्व होता है, राज्य की समस्याओं का एक बहुत बड़ा कारण अत्यधिक धनी एवं निर्धनों के बीच चलने वाला संघर्ष है; व्यक्तियों का व्यवसाय उनकी राजनीतिक योग्यता और प्रवृत्ति को प्रभावित करता है, यदि सम्पत्ति पर स्वामित्व व्यक्तिगत रहे, लेकिन उसका उपयोग सार्वजनिक हो तो राज्य की समस्याएँ सरलता से हल हो सकती हैं। राज्य की भौगोलिक स्थिति की चर्चा करते हुए अरस्तू कहता है कि राज्य सागर तट के पास होना चाहिए ताकि विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध रखे जा सकें। संक्षेप में, अरस्तू पहला राजनीतिक वैज्ञानिक है। उसने राजनीति को एक पूर्ण विज्ञान का सम्मान प्रदान किया। वह प्लेटो की भांति कल्पनावादी और आदर्शवादी नहीं था वरन् एक पूर्णतः व्यावहारिक एवं यथार्थवादी दार्शनिक था जिसने राजनीति को नीतिशास्त्र से अलग करके उसे एक स्वतंत्र विज्ञान का रूप प्रदान किया।

3.6 अरस्तू की राज्य सम्बन्धी धारणा

अरस्तू अपने गुरु प्लेटो की भांति सोफिस्ट वर्ग के इस विचार का खण्डन करता है कि राज्य की उत्पत्ति समझौते से हुई है और उसका अपने नागरिकों की शक्ति पर कोई वास्तविक अधिकार नहीं है। अरस्तू के अनुसार व्यक्ति अपनी प्रकृति से ही एक राजनीतिक प्राणी है और राज्य व्यक्ति की इस प्रवृत्ति का ही परिणाम है। उसका मत था कि राज्य का जन्म विकास के कारण हुआ है, वह एक स्वाभाविक संस्था है, उसके उद्देश्य और कार्य नैतिक हैं, वह सब संस्थाओं में श्रेष्ठ और उच्च है।

अरस्तू के अनुसार राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकताओं से होती है, परन्तु उसका अस्तित्व सद्जीवन की सिद्धि के लिए बना रहता है। अतः यदि समाज के आरम्भिक रूप प्राकृतिक हैं, तो राज्य की भी वही स्थिति है, क्योंकि वह उनका चरम लक्ष्य है और किसी वस्तु की प्रकृति उसका चरम लक्ष्य होती है। अरस्तू के शब्दों में, "इसलिए यह जाहिर है कि राज्य प्रकृति की रचना है और मनुष्य प्रकृति से राजनीतिक प्राणी है, और जो मनुष्य प्रकृति से या मात्र संयोगवश किसी भी राज्य से सम्बद्ध न हो, वह या तो नराधम होगा, या अतिमानव। उसकी स्थिति तो उस समुदायहीन, नियमहीन, गृहहीन व्यक्ति जैसी होगी, जिसकी होमर ने निन्दा की है।

व्यक्ति के लिए राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक है, अपने इस विचार की पुष्टि के लिए अरस्तू ने दो तर्क प्रस्तुत किये हैंसर्वप्रथम, वह मानता है कि प्रत्येक राज्य प्रकृतिजन्य है क्योंकि राज्य उन समस्त समुदायों का पूर्णरूप है, जो प्रकृतिजन्य हैं। राज्य में भी वही गुण विद्यमान है जो इसका विकास करने वाले पूर्ववर्ती समुदायों में पाया जाता है। राज्य की प्रारम्भिक एवं मूलभूत इकाई अरस्तू व्यक्ति को मानता है जो अकेले में अपूर्ण है। अपनी दैनिक आवश्यकताओं को जुटाने एवं अपने जीवन को सुन्दर व सुखमय बनाने के लिए व्यक्ति को अनेक समुदायों की आवश्यकता होती है। परिवार, ग्राम, राज्य आदि व्यक्ति के कुछ ऐसे ही मूलभूत समुदाय हैं। जिस अर्थ में परिवार या ग्राम व्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक होने के कारण स्वाभाविक समुदाय हैं, उसी अर्थ में राज्य भी व्यक्ति का एक नितान्त आवश्यक समुदाय है। इस समुदाय की उपस्थिति से ही व्यक्ति आत्मनिर्भरता एवं पूर्णत्व की स्थिति को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। अरस्तू का मत है "केवल जीवन मात्र की आवश्यकता के लिए राज्य उत्पन्न होता है और अच्छे जीवन की उपलब्धि के लिए कायम रहता है।" अरस्तू के विचार में राज्य इस कारण प्राकृतिक है कि यह वह उद्देश्य अथवा सम्पूर्णत्व है जिसकी ओर अन्य दूसरे समुदाय बढ़ते हैं। परिवार तथा ग्राम आदि व्यक्ति के जो अन्य प्राकृतिक समुदाय हैं, वे अपनी पूर्ण प्रकृति का विकास तभी कर सकते हैं, जबकि राज्य के रूप में वे अपनी प्रकृति की परिसमाप्ति को प्राप्त कर चुके हों। व्यक्ति के सम्पूर्ण प्राकृतिक समुदायों का विकसित स्वरूप राज्य है। यदि परिवार आत्मनिर्भरता संबंधी व्यक्ति की सभी आवश्यकताएँ पूर्ण कर पाते हैं तो ग्राम व्यक्ति के लिए आवश्यक हो जाते और इसी प्रकार यदि परिवार एवं ग्राम ही व्यक्ति को आत्मनिर्भरता प्रदान कर पाते तो राज्य उसके लिए महत्वहीन हो जाते, किन्तु राज्य के अतिरिक्त अन्य समुदायों में इतनी क्षमता नहीं है कि वे व्यक्ति को आत्मनिर्भर बना सकें, अतः राज्य व्यक्ति के लिए एक प्राकृतिक एवं मूलभूत समुदाय है। दूसरा, राज्य को प्राकृतिक कहने का एक अन्य कारण भी है। अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य एवं लक्ष्य आत्मनिर्भरता की प्राप्ति है। इसे व्यक्ति के जीवन का महानतम लक्ष्य कहा जा सकता है। सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य की उपलब्धि का साधन राज्य है। अतः सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति का साधन होने के कारण भी राज्य व्यक्ति के लिए प्राकृतिक संस्था है।

अरस्तू के अनुसार राज्य मनुष्य की सामाजिकता का परिणाम है। सामाजिक जीवन अन्य जीवधारियों में भी पाया जाता है, परन्तु व्यक्ति विचारशील प्राणी है, इसलिए उसकी सामाजिकता अन्य श्रेणी के जीवधारियों से भिन्न है। यह सामाजिक मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों तथा कुछ विशेष उद्देश्यों पर आधारित है और इसने अनेक स्थितियों से गुजरकर अपना पूर्ण विकास प्राप्त किया है।

सर्वप्रथम विवाह पद्धति के आधार पर अरस्तू ने सबसे पहले सामाजिक संस्था परिवार की स्थापना की जिसमें पति–पत्नी, सन्तान और दास एक साथ रहते हैं। परिवार में हमें राज्य के बीज दिखाई देते हैं क्योंकि परिवार का स्वामी शासक के रूप में कार्य करता है। परिवार स्वाभाविक समुदाय है क्योंकि यह सन्तानोत्पत्ति और सुरक्षा की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

परन्तु व्यक्ति केवल सुरक्षा ही नहीं चाहता, उसकी अन्य भी अनेक भौतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताएँ हैं। इसलिए कुछ परिवार मिलकर ग्राम का निर्माण करते हैं। ग्राम के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक झगड़े निपटाने और उनके सामूहिक जीवन व्यतीत करने का प्रबन्ध किया जाता है, लेकिन ग्राम भी व्यक्तियों की सभी भौतिक, बौद्धिक और नैतिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पाते, अतः ग्रामों के सम्मिलन से नगर राज्य का जन्म होता है। नगर राज्य सुरक्षा और न्याय प्रदान करने की आवश्यकता ग्राम की तुलना में अधिक अच्छे प्रकार से पूरी कर सकता है और यह व्यक्ति की बौद्धिक एवं नैतिक शक्तियों को भी अधिक अच्छे प्रकार से विकसित कर सकता है। अतः नगर राज्य व्यक्तियों का अन्तिम और पूर्ण एवं श्रेष्ठतम समुदाय है। इस प्रकार अरस्तू के अनुसार परिवार से ग्राम से राज्य अस्तित्व में आये। अरस्तू के शब्दों में–" जब बहुत से ग्राम एक दूसरे से पूर्ण रूप से इस प्रकार मिल जाते हैं कि वे केवल एक ही समाज का निर्माण करते हैं, तब वह समाज राज्य बन जाता है।" दूसरे शब्दों में, राज्य कुलों (परिवार) और ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।"

3.6.1 राज्य के विकास का स्वरूप

अरस्तू के अनुसार राज्य एक जीवधारी के समान है, अतः जिस प्रकार एक सावयवी जीवधारी का विकास होता है उसी प्रकार राज्य का भी विकास होता है।

अरस्तू के विचार को मानव शरीर के उदाहरण से समझाया जा सकता है। मानव शरीर में हाथ, पैर, नाक, कान आदि अनेक अंग होते हैं, इन अंगों को अलग–अलग कार्य करने पड़ते हैं और इन्हें करने के लिए वे शरीर पर निर्भर रहते हैं। यदि शरीर का कोई अंग अपना कार्य करना बन्द कर देता है या उसे ठीक प्रकार से नहीं करता है तो शरीर निर्बल हो जाता है। जो बात शरीर के बारे में कही गयी है, वही राज्य के बारे में भी कही जा सकती है। जिस प्रकार शरीर का विकास स्वाभाविक ढंग से होता है, उसी प्रकार राज्य का भी हुआ है। शरीर के समान राज्य भी अनेक अंगों से मिलकर बना है। ये अंग हैं–व्यक्ति और उनकी संस्थाएँ, परिवार, ग्राम आदि। जिस प्रकार शरीर के सब अंगों को अपने–अपने निर्धारित कार्य करने पड़ते हैं, उसी प्रकार राज्य के सब अंगों को भी अपने निर्धारित कार्य करने आवश्यक हैं।

इस प्रकार राज्य के विकास का स्वरूप सावयवी या जैविक है। व्यक्ति, परिवार और ग्राम इसके विभिन्न अंग हैं। ये अंग एक–दूसरे से संबंधित होते हैं और इनका क्रमिक विकास होता रहता है। इनके विकास की अन्तिम परिणति राज्य में होती है।

राज्य के विकास के संबंध में अरस्तू के दृष्टिकोण को समझाते हुए बार्कर ने लिखा है "राजनीतिक विकास, जैविक विकास है। राज्य तो मानो पहले से ही ग्राम, परिवार और व्यक्ति के रूप में भ्रूणावस्था में होता है। राजनीतिक विकास की प्रक्रिया ऐसी है मानो राज्य आरम्भ से लेकर अन्त तक विभिन्न रूपों को धारण करता है और प्रत्येक रूप इसको पूर्णता के अधिक से अधिक निकट ले जाता है।

इस प्रकार अरस्तू के राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार, 'विकासवादी सिद्धांत' के अनुरूप है। परिवार के विकास से व्यक्ति पूर्णत्व की दिशा में कुछ कदम बढ़ाता नजर आता है। कुछ और अधिक पूर्णता की प्राप्ति उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति ग्राम को जन्म देती है और सम्पूर्णता एवं आत्मनिर्भरता की दिशा में बढ़े हुए मानव के चरण अपनी मंजिल तक उस समय पहुँच जाते हैं जबकि सर्वोच्च एवं सर्वव्यापी समुदाय राज्य की स्थापना सम्भव हो जाती है।

3.6.2 राज्य के लक्षण

1. राज्य एक स्वाभाविक संस्था है–अरस्तू द्वारा राज्य के प्रादुर्भाव के बारे में प्रकट किये गये विचारों से प्रकट होता है कि वह राज्य को स्वाभाविक संस्था मानता है। उसके अनुसार राज्य मानव के भावनात्मक जीवन की अभिव्यंजना है और इससे अलग रहकर व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। राज्य परिवार का ही वृहत रूप होने के कारण यह भी वैसे ही स्वाभाविक है जैसा कि परिवार। व्यक्ति के विकास का जो कार्य परिवार में प्रारम्भ होता है उसकी पूर्ण सिद्धि राज्य में ही की जा सकती है।

'राज्य एक स्वाभाविक संस्था है' इस कथन की पुष्टि में अरस्तु का एक तर्क यह भी है कि जिन संस्थाओं पर राज्य आधारित है वे संस्थाएँस्वाभाविक हैं, तो निश्चय ही उन संस्थाओं का विकसित रूप भी स्वाभाविक होगा।

अरस्तू का मत है कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था इसलिए भी है कि राज्य का जन्म मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एवं उसके सर्वांगीण विकास के लिए स्वाभाविक रूप से हुआ है। उसके शब्दों में, "मानवीय आवश्यकताओं पर आधारित मानव समुदाय के बढ़ते हुए घेरे की पराकाष्ठा राज्य है।" वह कहता है राज्य स्वाभाविक है और इसके बिना मनुष्य का जीवन सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति राज्य में नहीं रहता वह या तो देवता है या पशु।

2. राज्य व्यक्ति कर पूर्वगामी है–अरस्तू का कहना है राज्य मनुष्य से प्राथमिक है। ऐसा कहने में अरस्तू का तात्पर्य यह नहीं था कि ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य का जन्म पहले हुआ, वरन उसके कहने का अभिप्राय यह था कि मानसिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राज्य का जन्म पहले ही हो चुका था। यह कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि राज्य एक पूर्ण समुदाय है, व्यक्ति केवल एक तत्व। पूर्णता पहले आती है, उसके बाद में अंग, इसलिए राज्य व्यक्ति से पूर्ववर्ती है। मनुष्य के बौद्धिक विकास की पूर्ण कल्पना के रूप में राज्य का जन्म व्यक्ति, परिवार और ग्राम के अस्तित्व में आने से पूर्व ही हो चुका था। अरस्तु का कथन है कि, "समय की दृष्टि से परिवार पहले है, परन्तु प्रकृति की दृष्टि से राज्य पहले है।"

अरस्तु के इस दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए फॉस्टर ने लिखा है–"राज्य का स्थान प्रकृतिवश परिवार और व्यक्ति से पहले है, क्योंकि अवयवी अनिवार्यतः अवयव से पहले आता है। राज्य प्रकृति की रचना है और वह व्यक्ति से पहले आता है–इसका प्रमाण यह है कि जब व्यक्ति को राज्य से पृथक कर दिया जाये तो वह आत्मनिर्भर नहीं रह जाता, अतः उसकी स्थिति अवयवी की तुलना में अवयव जैसी होती है।"

3. राज्य सर्वोच्च समुदाय है– अरस्तू के अनुसार राज्य एक सर्वोच्च समुदाय है। उसके शब्दों में, "राज्य केवल समुदायों का समुदाय ही नहीं है, वरन् सर्वोच्च समुदाय है।" इस दृष्टिकोण के पक्ष में अरस्तू कहता है–प्रथम, राज्य में अनेक प्रकार की सामाजिक धार्मिक, आर्थिक संस्थाएँहोती हैं। इन सब संस्थाओं का अस्तित्व राज्य के कारण ही होता है; ये केवल राज्य के अन्दर ही कार्य कर सकती हैं; ये राज्य के अधीन होती हैं और राज्य का इन पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। द्वितीय, राज्य के अन्तर्गत कार्यरत विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक संस्थाएँ एकपक्षीय होती हैं। जैसे, धार्मिक संस्थाएँ धार्मिक आवश्यकताओं और सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। इनमें से कोई भी व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती। राज्य ही एकमात्र ऐसी संस्था है जो व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करके उसका अधिकतम विकास करती है, अतः राज्य सर्वोच्च समुदाय है। तृतीय, राज्य के अन्तर्गत कार्यरत सभी संस्थाओं का कोई न कोई लक्ष्य अवश्य होता है, पर राज्य के लक्ष्य की तुलना में ये सभी लक्ष्य निम्नतर होते हैं। इसका कारण यह है कि राज्य अपने नागरिकों को अपने जीवन को शुभ और सुखी बनाने का अवसर प्रदान करता है। वे इस प्रकार के जीवन की प्राप्ति राज्य के सदस्यों के रूप में ही कर सकते हैं, समुदायों या संस्थाओं के सदस्यों के रूप में नहीं। अतः राज्य सर्वोच्च समुदाय है।

4. राज्य जैविक संस्था है—अरस्तू के राज्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसका स्वरूप जैविक अथवा आंगिक है। जैविक सिद्धांत के अनुसार सम्पूर्ण के बहुत से विभिन्न अंग होते हैं, प्रत्येक अंग का अपना पृथक कार्य होता है और प्रत्येक अंग अपने अस्तित्व एवं जीवन के हेतु सम्पूर्ण पर पूर्ण रूप से निर्भर करता है। जब अरस्तू राज्य को समुदायों का समुदाय कहता है, तब उसके सिद्धांत में राज्य का यही जैविक तत्व परिलक्षित होता है। उसने राज्य की तुलना शरीर से और व्यक्ति की तुलना हाथ जैसे अंग से की है। उसके अनुसार राज्य और व्यक्ति में वही सम्बन्ध होता है जो शरीर और हाथ में है। उसने यह भी कहा है कि जिस शरीर के किसी एक अंग में अत्यधिक वृद्धि होने से समस्त शरीर का सन्तुलन बिगड़ जाता है, उसी प्रकार राज्य के किसी एक तत्व में अत्यधिक वृद्धि होने से राज्य का स्थायित्व खतरे में पड़ जाता है।

5. राज्य एक आत्मनिर्भर संगठन है—अरस्तू के अनुसार राज्य की एक प्रमुख विशेषता उसका आत्मनिर्भर होना है। आत्मनिर्भरता से अभिप्राय है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करता है। अरस्तू ने 'आत्मनिर्भरता' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया है। उसने इसके लिए यूनानी शब्द 'आतरकिया' का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है 'पूर्ण निर्भरता'। अरस्तू के शब्दों में, "आत्मनिर्भरता वह गुण है जिसके कारण और जिसके द्वारा जीवन स्वयं वांछनीय बन जाता है और उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं रह जाता है।" वस्तुतः अरस्तू ने आत्मनिर्भर शब्द का प्रयोग अतिव्यापक अर्थ में किया है। इससे उसका अभिप्राय यह है कि राज्य न केवल व्यक्ति की भौतिक समस्याओं का समाधान करता है अपितु उसे अच्छा और सुखी सम्पन्न जीवन व्यतीत करने भी सहायता देता है। राज्य व्यक्ति के लिए उन समस्त परिस्थितियों का निर्माण करता है जो उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास के लिए आवश्यक हैं। अरस्तू के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए बार्कर ने लिखा है, "आत्मनिर्भरता का अर्थ है—राज्य में ऐसे भौतिक साधनों और ऐसी नैतिक प्रेरणाओं और भावनाओं की उपस्थिति जो किसी प्रकार की बाह्य भौतिक या नैतिक सहायता पर निर्भर हुए बिना पूर्ण मानव विकास को सम्भव बनाइए।"

6. नगर राज्य सर्वाधिक राजनीतिक संगठन है—अरस्तु के लिए प्लेटो की ही भांति नगर राज्य सर्वाधिक श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन था। यद्यपि उसके जीवनकाल में ही फिलिप ने यूनान के नगर राज्यों का अन्त कर अपने साम्राज्य की स्थापना की थी, लेकिन अरस्तू ने इन साम्राज्यों के संबंध में बिलकुल भी विचार नहीं किया है। उसने तो आदर्श राज्य का चित्रण एक नगर राज्य के रूप में ही किया है। अरस्तू का यह नगर राज्य समस्त विज्ञान, कला, गुणों और पूर्णता में एक साझेदारी है।

7. राज्य विविधता में एकता है—अरस्तु के अनुसार राज्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता 'विविधता में एकता' है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में एकता पर विशेष बल दिया है और वह सम्पूर्ण राज्य को एक परिवार का रूप देना चाहता था, किन्तु अरस्तू प्लेटो के एकता संबंधी विचारों से सहमत नहीं है। प्लेटो के समान अरस्तू राज्य की चरम एकता पर बल न देकर, राज्य की विविधता में एकता का समर्थन करता है। अरस्तू के अनुसार राज्य का आदर्श स्वरूप, उसकी विविधता में एकता है। उसका निर्माण विभिन्न तत्वों के मिलने से होता है। जिस प्रकार सुन्दर चित्र विभिन्न रंगों के अनुपम मिश्रण से बनता है और जिस प्रकार मधुर संगीत की सृष्टि विभिन्न रागों और तालों के समन्वय से होती है, उसी प्रकार आदर्श राज्य का निर्माण उसके विभिन्न अंगों के उचित सामंजस्य और संगठन के आधार पर होता है। स्वयं अरस्तू ने कहा है, "राज्य तो स्वभाव से ही बहु—आयामी होता है। एकता की ओर अधिकाधिक बढ़ना तो राज्य का विनाश करना होता है।"

8. राज्य एक क्रमिक विकास है—अरस्तू राज्य के विकासवादी सिद्धांत का समर्थक है। उसके अनुसार राज्य का क्रमिक विकास हुआ है। राज्य का विकास उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार सावयवी जीवधारी का होता है। राज्य के विकास का रूप आंगिक है। व्यक्ति, परिवार और ग्राम इसके विभिन्न अंग हैं। ये अंग एक—दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और इनका क्रमिक विकास होता रहता है। अन्त में इनके पूर्ण रूप से विकसित हो जाने पर राज्य के दर्शन होते हैं।

9. राज्य एक आध्यात्मिक संगठन है—अरस्तू के अनुसार राज्य एक मानवीय समुदाय है, अतः इसका उद्देश्य मानव में सद्गुणों या अच्छी शक्तियों का विकास करना है। यह मानव को बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक श्रेष्ठता की प्राप्ति के साधन प्रदान करता है। तभी तो अरस्तू कहता है "राज्य नैतिक जीवन में आध्यात्मिक समुदाय है।" जिस प्रकार व्यक्ति नैतिक जीवन का अनुसरण कर आनन्द की प्राप्ति करता है उसी प्रकार राज्य का आनन्द भी सकारात्मक अच्छाई का विकास करता है।

10. संविधान राज्य की पहचान है—अरस्तू की धारणा है कि संविधान राज्य की पहचान है और संविधान में परिवर्तन राज्य में परिवर्तन करने के समान है।

11. राज्य और शासन में भेद—अरस्तू ने राज्य और शासन में स्पष्ट भेद किया है। जहाँ राज्य समस्त नागरिकों और गैर नागरिकों का समूह है वहाँ शासन उन नागरिकों का समूह है जिनके हाथ में सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता है। अरस्तू लिखता है शासन में परिवर्तन तो उसी समय आ जाता है जब शासकों को अपदस्थ कर दिया जाता है। राज्य में परिवर्तन तभी होता है जब उसके संविधान में परिवर्तन होता है।

3.6.3 राज्य के लक्ष्य

अरस्तू के अनुसार–"राज्य का अस्तित्व सद्जीवन के लिए है, मात्र जीवन के लिए नहीं। यदि इसका उद्देश्य मात्र जीवन को बनाये रखना होता तो गुलाम और जंगली जानवर भी राज्य बना लेते, परन्तु वे राज्य नहीं बना सकते क्योंकि न तो जीवन के आनंद में उसका कोई हिस्सा होता है न वे अपनी पसन्द का जीवन जी सकते हैं... राज्य का अस्तित्व मैत्री के लिए या अन्याय से सुरक्षा के लिए भी नहीं होता, न परस्पर संसर्ग तथा विनिमय के लिए ही होता है क्योंकि तब तो टाइरेनियम और कार्थेजिनियन तथा वे सब लोग जिन्होंने एक–दूसरे के साथ वाणिज्य सन्धियाँ कर रखी हैं, एक ही राज्य के नागरिक होते... अतः हमारा निष्कर्ष यह है कि राजनीतिक समाज का अस्तित्व उदात्त कार्यों के लिए है, मात्र साहचर्य के लिए नहीं।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि राज्य के कार्यों और उद्देश्यों के प्रति अरस्तू का दृष्टिकोण रचनात्मक और सकारात्मक है। उसका यह दृष्टिकोण लॉक और स्पेन्सर जैसे व्यक्तियों के नकारात्मक और विध्वंसात्मक दृष्टिकोण से पूर्णतया भिन्न है। अरस्तू के अनुसार राज्य एक सकारात्मक अच्छाई है, अतः इसका कार्य केवल बुरे कामों अथवा अपराधों को रोकना नहीं वरन् मानव को नैतिकता और सद्गुणों के मार्ग पर आगे बढ़ाना है। इस प्रकार राज्य का उद्देश्य है व्यक्ति के जीवन को श्रेष्ठ बनाना और व्यवहार में उसके द्वारा वे सभी कार्य किये जाने चाहिए जो इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हों। संक्षेप में, अरस्तू राज्य को निम्न कार्य सौंपता है–

1. अपने सदस्यों के लिए पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की व्यवस्था करना। आत्मनिर्भरता का व्यापक अर्थ है–व्यक्ति न केवल भौतिक उपकरणों की दृष्टि से ही आत्मनिर्भर हों, अपितु नैतिक प्रोत्साहनों एवं प्रेरणाओं की दृष्टि से ही आत्मनिर्भर बनें। इस विस्तृत अर्थ में आत्मनिर्भरता की प्राप्ति का एकमात्र साधन राज्य है।
2. उत्तम और आनन्दपूर्ण जीवन का निर्माण उत्तम जीवन की व्याख्या करते हुए बार्कर ने लिखा है कि यह एक ऐसा जीवन है जो उत्तम कार्य और उत्तम आचरणों से ओत–प्रोत है। नैतिक और बौद्धिक सद्गुण ही उत्तम जीवन के मुख्य तत्व हैं और इन दोनों की प्राप्ति के लिए बाह्य साधन अपरिहार्य हो जाते हैं। बाह्य साधनों में आर्थिक व्यवस्था और शारीरिक स्वास्थ को मुख्य माना गया है। अरस्तु आनन्द को 'सत' से पृथक् नहीं करता। अरस्तू के शब्दों में "हमें यह मानना होगा कि हर व्यक्ति में आनन्द की मात्रा उसके द्वारा किये गये उत्तम और बुद्धिमत्तापूर्ण कार्यों तथा उत्तमता और बुद्धिमत्ता के गुणों के अनुसार प्राप्त होती है। सार यह है कि मनुष्य का उद्देश्य एक नैतिक और आनन्दपूर्ण जीवन बिताना है और राज्य ऐसे जीवन को सम्भव बनाने के लिए स्थित है और इस प्रकार स्वयं एक नैतिक संस्था है। एक नैतिक और सद्गुणी जीवन का निर्माण करना इसका उद्देश्य है।"
3. राज्य का एक प्रमुख कार्य अरस्तू ने नागरिकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना माना है। शिक्षा को कुछ अर्थों में अरस्तू ने प्लेटो से भी अधिक महत्व दिया है। फॉस्टर के शब्दों में, "लॉक (व्यक्तिवादी) के विचार से शिक्षा राज्य का कार्य नहीं; अरस्तू के विचार से यह उसका प्रमुख कार्य है। इसकी संस्थाओं का उद्देश्य मनुश्यों को उत्कृष्ट बनाना है–न केवल बौद्धिक स्तर पर बल्कि नैतिक और भौतिक स्तर पर भी; न केवल बाल्यकाल बल्कि उनके सम्पूर्ण जीवन के दौरान। राज्य नागरिक के लिए पाठशाला होना चाहिए।"
4. शिक्षा संबंधी कार्य के साथ ही अरस्तू ने राज्य का यह कार्य भी माना है कि वह नागरिकों के लिए अवकाश जुटाने का प्रयत्न करे। ए. के. रोगर्स के अनुसार, "चूंकि अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य श्रेष्ठ जीवन का निर्माण है और यह अवकाश से ही सम्भव है।

संक्षेप में, राज्य के कार्य–क्षेत्र के बारे में अरस्तू के विचारों से स्पष्ट है कि वह राज्य के अत्यन्त व्यापक कार्यक्षेत्र का समर्थक था। जहां ग्रीन और लॉक जैसे आधुनिक विचारक राज्य के लिए सीमित कार्य–क्षेत्र की चर्चा करते हैं वहां अरस्तू ने यह घोषणा की है कि राज्य 'अच्छे जीवन' की स्थापना के लिए यथासम्भव प्रयत्नशील रहे। व्यक्तिवादियों के इस मत से अरस्तू बिल्कुल भी सहमत नहीं हो सकता था कि राज्य का कार्य–क्षेत्र अधिक से अधिक सीमित हो। साथ ही उसके विचार उन आदर्शवादियों से भी मेल नहीं खाते जो राज्य के नकारात्मक कार्य–क्षेत्र को उचित ठहराते हैं। अरस्तू की स्पष्ट धारणा थी कि राज्य का कार्य–क्षेत्र सकारात्मक होना चाहिए। राज्य को वे सब कार्य करने चाहिए जो अच्छे जीवन की स्थापना को सम्भव बनाएं। राज्य का व्यापक कार्य–क्षेत्र अरस्तू निःसंकोच रूप से इसलिए निर्धारित कर पाया क्योंकि वह यूनानी दार्शनिक था। यूनानियों के लिए उस काल में राज्य अत्यन्त व्यापक समुदाय था। यह उनका राजनीतिक संगठन ही नहीं था, अपितु उनका समाज, उनका धार्मिक समुदाय एवं उनका आर्थिक संगठन भी था।

3.7 अरस्तू का क्रांति संबंधी सिद्धांत

अरस्तू ने अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स के भाग पांच में एक अत्यन्त अनुभवी एवं योग्य चिकित्सक की तरह अपने प्रौढ़ राजनीतिक विवेक की सहायता से यूनानियों के राजनीतिक जीवन की इस रुग्णता का विश्लेषण किया है तथा इनका प्रतिकार करने के महत्वपूर्ण उपाय सुझाए हैं। इसमे उसने अपनी परिपक्व राजनीतिक बुद्धिमत्ता तथा यूनानी इतिहास के

गम्भीर तथा विशद् ज्ञान का सुन्दर परिचय दिया है, इतिहास के बीसियों शिक्षाप्रद तथा मनोरंजक उदाहरणों का उल्लेख किया है। डनिंग के अनुसार अपने इस चिन्तन के लिए उसने बड़ी मात्रा में ऐतिहासिक तथ्यों तथा वैज्ञानिक विश्लेषण को आधार बनाया है एवं समुचित चिन्तन के उपरान्त अनेक उपयोगी सुझाव दिए हैं। क्रान्ति संबंधी अपने समग्र चिन्तन में अरस्तू एक वैज्ञानिक, विश्लेषणकर्ता अधिक रहा है और राजनीतिक अथवा सामाजिक सुधारक कम....एक तटस्थ राजनीतिक चिकित्सक के रूप में उसने राजनीतिक रुग्णता के कारणों को खोजने एवं उनके हर सम्भव उपचार ढूंढ निकालने का प्रयत्न किया है। रोगी के अच्छे अथवा बुरे होने से उसका कोई मतलब नहीं है। उसे तो हर रोगी के हर सम्भव ढंग से उपचार करना है।

अरस्तू को प्रथम राजनीतिक यथार्थवादी कहा जाता है। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि उसने तत्कालीन समस्याओं का गहन अध्ययन कर उनके समाधान के व्यावहारिक उपाय बताए हैं। मैक्सी के अनुसार, "यूनानी राजीतिक जीवन में क्रान्ति से बढ़कर कोई भयंकर समस्या नहीं थी और पॉलिटिक्स के कई पृष्ठों में वह इसी की विवेचना करता है।" गैटेल के शब्दों में, "पॉलिटिक्स राजनीतिक दर्शन का क्रमबद्ध अध्ययन ही नहीं अपितु शासन की कला पर एक ग्रन्थ है। इसमें अरस्तू यूनानी नगर राज्यों में प्रचलित बुराइयों और उनके राजनीतिक संगठनों के दोषों का विश्लेषण करता है, और ऐसे व्यावहारिक सुझाव देता है जिनसे आपत्तिसूचक भयों को दूर किया जा सकता है।" क्रान्तियों के प्रति इसी यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण पोलक जैसे विचारक यह मानते हैं कि अरस्तू पहला दार्शनिक है जिसने राजनीति को नीतिशास्त्र से पृथक् किया है। अरस्तू के क्रान्ति को रोकने के उपायों का अध्ययन करते हुए हमें सहसा कौटिल्य और मैकियावली का स्मरण हो आता है।

3.7.1 क्रान्ति से आशय, रूप एवं कारण

अरस्तू की क्रान्ति संबंधी धारणा तथा हमारी आज की क्रान्ति संबंधी धारणा में महान् अन्तर है। किसी राज्य में जनता अथवा जनता के किसी भाग द्वारा सशस्त्र विद्रोह का नाम ही क्रान्ति नहीं है। अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का अर्थ है संविधान में परिवर्तन।

संविधान में होने वाला छोटा–बड़ा परिवर्तन, संविधान में किसी प्रकार का संशोधन होना, जनतन्त्र का उग्र या उदार रूप धारण करना, जनतन्त्र द्वारा धनिकनन्त्र का या धनिकतन्त्र द्वारा जनतन्त्र का विनाश किया जाना, सरकार में किसी प्रकार का परिवर्तन हुए बिना एक अत्याचारी शासक का दूसरे को हटाकर अपनी सत्ता स्थापित करना इन सब बातों को अरस्तू क्रान्ति मानता है। संविधान में पूर्ण परिवर्तन के फलस्वरूप राज्य का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक स्वरूप पूर्णतया बदल जाता है इसे हम पूर्ण क्रान्ति कह सकते हैं। यह आवश्यक नही कि इस प्रकार के परिवर्तन के लिए रक्तपात किया जाए। अरस्तू संविधान में परिवर्तन को ही क्रान्ति कहता है और संविधान में परिवर्तन चुनाव, धोखे अथवा रक्तहीन उपायों द्वारा भी हो सकते हैं।

3.7.2 क्रान्तियों के रूप

अरस्तू के अनुसार क्रान्तियाँ अग्र पांच प्रकार की होती हैं–

(1) **आंशिक अथवा पूर्ण क्रान्ति**–जब सम्पूर्ण संविधान बदल दिया जाए तो उसे पूर्ण क्रान्ति और जब उसका कोई महत्वपूर्ण भाग बदल दिया जाता है तो उसे आंशिक क्रान्ति कहा जाता है। पूर्ण क्रान्ति में राज्य का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक स्वरूप पूर्णतः बदल जाता है। यथा, मौजूदा प्रजातन्त्र धनिकतंत्र में अथवा निरंकुशतन्त्र में अथवा कुलीनतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है।

(2) **रक्तपूर्ण अथवा रक्तहीन क्रान्ति**–जब संविधान में परिवर्तन सशस्त्र विद्रोह के कारण व खून–खराबे के कारण हो तो उसे रक्तपूर्ण क्रान्ति कहेंगे। जब संविधान या शासन का परिवर्तन बिना किसी रक्तपूर्ण उपद्रव के सम्भव होता है तो उसे अरस्तू ने तो रक्तहीन क्रान्ति कहा है।

(3) **व्यक्तिगत अथवा गैर व्यक्तिगत क्रांति**–व्यक्तिगत क्रान्ति–अरस्तू के अनूसार जब संविधान परिवर्तन किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति को पदच्यूत करने से होता है तो उसे वैयक्तिक क्रान्ति कहेंगे। जब संविधान परिवर्तन का उद्देश्य गैर–व्यक्तिगत होता है तो उसे अरस्तू ने अवैयक्तिक क्रान्ति की संज्ञा दी है।

(4) **वर्ग विशेष के विरुद्ध क्रान्ति**–इसमें राज्य के निर्धन व्यक्ति राजतन्त्र या धनिकतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह करते हैं अथवा धनिक व्यक्ति राजतन्त्र या जनतन्त्र के विरुद्ध क्रान्ति करते हैं। यदि निर्धन व्यक्ति राजा या धनी व्यक्तियों के विरुद्ध विद्रोह करके राज्य में जनतन्त्र की स्थापना कर देते हैं तो उसे जनतन्त्रीय क्रान्ति कहते हैं। यदि राज्य के धनी व्यक्ति जनतन्त्रीय या राजतन्त्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके अपना शासन स्थापित कर लेते हैं तो उसे धनतन्त्रीय क्रान्ति कहते हैं।

(5) वाग्वीरों की क्रान्ति—जब किसी राज्य में कुछ करिश्मायी नेतागण अथवा वाग्वीर लोग लुभावनकारी नारों अथवा शब्द—चमत्कार द्वारा अपनी महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए राज्य में क्रान्ति कर दें तो उसे वाग्वीरों की क्रान्ति कहा जाता है।

3.7.3 क्रान्तियों के कारण

अरस्तू ने क्रान्तियों के कारणों को तीन भागों में विभक्त किया है—

(1) सामान्य कारण;

(2) विशिष्ट कारण;

(3) विशिष्ट शासन प्रणालियों में क्रान्ति के विशिष्ट कारण।

1. क्रान्ति के सामान्य कारण

अरस्तू क्रान्तियों का सामान्य कारण (मूल कारण) विषमता को मानता है। "क्रान्ति का मूल कारण समानता की भावना है।" समानता दो प्रकार की होती है संख्यात्मक समानता और योग्यता संबंधी समानता। अरस्तू योग्यता संबंधी समानता का तात्पर्य आनुपातिक समानता समझता है। संख्या की दृष्टि से तीन दो से उतना ही बड़ा है, जितना दो एक से, किन्तु आनुपातिक दृष्टि से चार दो से उतना ही बड़ा है, जितना दो एक से, क्योंकि दो चार का वही अंश है जो एक दो का। सब मनुष्य इस बात पर तो सहमत हो जाते हैं कि निरपेक्ष न्याय योग्यता के अनुपात में होना चाहिए, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में योग्यता के प्रश्न पर मतभेद रखते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि यदि मनुष्य किसी एक बात में समान हों तो सभी बातों में समान होने चाहिए। जब ये मनुष्यतत्व की दृष्टि से समान हैं तो उनके अधिकारों, धन—सम्पत्ति आदि में भी समानता होनी चाहिए, किसी प्रकार विषमता नहीं होनी चाहिए। दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि यदि कोई व्यक्ति एक बात में कुल या धन की दृष्टि से दूसरों से बढ़—चढ़कर है तो अन्य सभी बातों में बढ़कर होना चाहिए। दोनों विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष के कारण विद्रोह होते हैं। उदाहरणार्थ, जनतन्त्र में सब व्यक्तियों के अधिकार समान माने जाते हैं, किन्तु कुलीनतन्त्र और धनिकतन्त्र में उच्च कुलों में उत्पन्न तथा धनवान व्यक्तियों के विशेषाधिकार समझे जाते हैं। अधिकारों की यह विषमता, समानता के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाली जनता को सह्य नहीं होती है। अतः धनिकतन्त्रों और जनतन्त्रों में अधिक क्रान्तियाँ होती हैं। धनिकतन्त्र में विद्रोह दोहरे ढंग से होते हैं—प्रथम, धनिक वर्ग में ही दो गुट हो जाते हैं और एक गुट दूसरे के विरुद्ध क्रान्ति करता है; द्वितीय, धनिक वर्ग के विरुद्ध निर्धन वर्ग विद्रोह करता है, किन्तु, जनतन्त्र में जनता का समूह केवल उस राज्य के धनी वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति करता है। अतः यह स्पष्ट है कि समानता का अर्थ जनतन्त्र और धनिकतन्त्र में एक जैसा नहीं होता और विषमता को दूर कर समानता लाने की भावना से इन दोनों पद्धतियों में अनेक क्रान्तियाँ होती हैं। वस्तुतः क्रान्तियों का मूल कारण न्याय का एकाकी दूषित दृष्टिकोण है। जनतन्त्रवादी यह समझते हैं कि सब मनुष्य समान रूप से स्वतन्त्र हैं, अतः उनमें समानता होनी चाहिए। इसके विपरीत, धनिकतन्त्रवादियों का यह विश्वास है कि मनुष्यों में धन की विषमता है, अतः अन्य बातों में भी विषमता होनी चाहिए।

अरस्तू इस स्थिति से उत्पन्न होने वाली मनोदशा को क्रान्ति का सामान्य (मूल कारण) कारण मानते हुए कहता है—"कुछ मनुष्य ऐसे हैं जिनके हृदय समानता की भावना से ओतप्रोत हैं, वे यह जानते हुए विद्रोह खड़ा किया करते हैं कि यद्यपि वे उन लोगों के समान हैं, जो उनसे कहीं अधिक (धन सम्पत्ति) पाए हुए हैं तथापि उनको स्वयं अन्य लोगों से कम (सुविधाएँ) प्राप्त हैं। दूसरे, कुछ विद्रोह करने वाले वे लोग होते हैं जिनका हृदय असमानता (अर्थात् अपनी उच्चता) की भावना से भरा होता है क्योंकि वे यह समझते हैं कि यद्यपि वे अन्य मनुष्यों से बढ़कर हैं तथापि उनको अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं मिलता प्रत्युत् या तो दूसरों के बराबर या उनसे कम मिलता है।...इस प्रकार छोटे व्यक्ति बराबर होने के लिए विद्रोही बना करते हैं और बराबर स्थिति वाले बड़े बनने के लिए। यही वह मनोदशा है, जिससे क्रान्तियों की उत्पत्ति होती है।"

2. क्रान्तियों के विशिष्ट कारण

क्रान्तियों के सामान्य कारण की चर्चा करने के बाद अरस्तू क्रान्ति के विशिष्ट कारणों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत करता है। क्रान्ति के विभिन्न विशिष्ट कारणों का उल्लेख कर अरस्तू ने सामाजिक और आर्थिक वास्तविकता के प्रति अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। क्रान्ति के विशिष्ट कारण निम्नलिखित हैं—

1. **शासकों की धृष्टता या लालच**—जब राज्य के शासक या शासन सत्ता से सम्पन्न व्यक्तियों के व्यवहार में धृष्टता या उद्दण्डता आ जाती है और वे लालच के वश में होकर व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक सम्पत्ति को हड़पना आरम्भ कर देते हैं तो जनता उनके विरुद्ध विद्रोह कर देती है।
2. **शासन सत्ता का दुरुपयोग**—जब शासक वर्ग भ्रष्ट हो जाए, इसमें रिश्वत का बोलबाला हो तथा भाई—भतीजावाद उग्र रूप धारण कर ले तब भी क्रान्ति हो सकती है।

3. **अयोग्य व्यक्ति का शासन–जब** शासक अयोग्य हो और शासन की भागीदारी में योग्य लोगों को स्थान न हो तो क्रान्ति की भूमिका बनती है।

4. **मध्यम वर्ग का अभाव**–समाज को दो वर्गों धनवान और निर्धन में बंटना भी क्रान्ति का एक कारण हो सकता है। मध्यमवर्ग, जो समाज में सन्तुलित अवस्था में रहता है, के अभाव में निर्धन वर्ग द्वारा क्रान्ति की सम्भावना हो सकती है।

5. **आर्थिक असन्तुलन**–अरस्तू इस तथ्य पर बहुत जोर देता है। जिस समाज में अमीरी व गरीबी के बीच भारी खाई हो वहां क्रान्ति का होना स्वाभाविक है।

6. **विदेशियों का बाहुल्य**–यदि किसी राज्य में विदेशी बहुत बड़ी संख्या में आ जाएँ तो उससे वहां के नागरिकों को चुनौती मिलती है और इस प्रकार दो संस्कृतियों की टकराहट क्रान्ति को जन्म देती है।

7. **सम्मान की लालसा–य**ह सबमें स्वाभाविक है, किन्तु जब शासक किसी को अनुचित रूप से बिना योग्यता या कारण के सम्मानित या अपमानित करते हैं तो जनता रुष्ट होकर विद्रोह कर देती है।

8. **भय**–भय दो प्रकार के व्यक्तियों को क्रान्ति के लिए बाधित करता है–प्रथम, अपराध करने वाले व्यक्तियों को दण्ड का भय होता है, इससे बचने के लिए वे विद्रोह कर देते हैं। द्वितीय, कुछ व्यक्तियों को यह डर होता है कि उनके साथ अन्याय होने वाला है। इसके प्रतिकार के लिए वे विद्रोह कर बैठते हैं। इसका उदाहरण रोड्स टापू के कुलीन व्यक्ति थे, साधारण जनता इस पर अभियोग चलाने की धमकियाँ दे रही थी, अतः इन्होंने जनता के विरुद्ध षड्यन्त्र किया। ,

9. **घृणा**–जब राज्य में एक वर्ग या दल बहुत समय तक सत्तारूढ़ रहता है तब उसका विरोधी वर्ग या दल उससे घृणा करने लगता है। इस घृणा का कुछ समय के बाद क्रान्ति के रूप में विस्फोट होता है। उदाहरणार्थ, धनिकतन्त्र में उस समय क्रान्ति होती है, जब बहुसंख्यक लोगों को नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं होते और वे अपने को शक्तिशाली समझने गलते हैं। जनतन्त्र में विद्रोह तब होता ह, जब सम्पत्तिशाली मनुष्यों को राज्य में फैली हुई अव्यवस्था और अराजकता के कारण जनसाधारण से घृणा हो जाती है।

10. **पारिवारिक विवाद**–पारिवारिक झगडे, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य के कारण भी राज्य में क्रान्ति हो जाती है। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में तो प्रायः क्रान्तियाँ पारिवारिक घृणा या व्यक्तिगत ईर्ष्या के कारण होती हैं।

11. **शासक वर्ग की असावधानी**–क्रान्ति का एक कारण शासक वर्ग की असावधानी होता है। शासक वर्ग कभी–कभी अज्ञान तथा असावधानी के कारण राजद्रोहियों को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर देता है। इससे किसी भी समय अवसर प्राप्त होने पर वे व्यक्ति राज्य का तख्ता उलट देते हैं।

12. **भौगोलिक स्थिति**–अरस्तू ने क्रान्ति के विशिष्ट कारणों में राज्य की भौगोलिक स्थिति की भी चर्चा की है। उसने कहा है कि जो राज्य नदियों, घाटियों और पर्वतों से विभिन्न हिस्सों में बंटा है उसके लोग एक–दूसरे के निकट सम्पर्क में नहीं रहते और इसलिए राज्य का कोई हिस्सा किसी तथ्य को लेकर कभी भी क्रान्ति करने की सुविधा में रहता है। अतः राज्य की भौगोलिक स्थिति, अरस्तू के अनुसार, क्रान्ति के सहायक तत्वों में से एक है।

13. **अल्प परिवर्तनों की उपेक्षा**–अल्प परिवर्तनों की उपेक्षा भी कई बार क्रान्ति का कारण होता है। ये छोटे–छोटे परिवर्तन शनैः शनैः महान् परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं, जैसे अम्ब्राकिया में मताधिकार की शर्तों में सामान्य परिवर्तन से शासन में क्रान्ति हो गई।

14. **प्रमाद**–प्रमाद भी क्रान्ति का कारण होता है। जनता अपने आलस्य और उपेक्षा के कारण ऐसे व्यक्तियों को सत्तारूढ़ होने दे सकती है जो वर्तमान शासन के प्रति निष्ठावान नहीं होते और शासन को बदल लेते हैं।

15. **निर्वाचन संबंधी षड्यन्त्र**–निर्वाचन संबंधी षड्यन्त्र भी क्रान्ति उत्पन्न करते हैं। हेराइया में चुनावों में बड़े षड्यन्त्र होते थे और इनके कारण परिणाम पहले से ही निश्चित हो जाता था। इस दोष को दूर करने के लिए यहां परची या गोट पद्धति को अपना करके निर्वाचन पद्धति में क्रान्ति की गई।

16. **परस्पर विरोधी वर्गों का शक्ति में सन्तुलित होना**–क्रान्तियों का एक बड़ा कारण राज्य में परस्पर विरोधी वर्गों (निर्धन एवं धनी आदि) का शक्ति में सन्तुलित होना भी है। जहां एक से दूसरे पक्ष से अधिक प्रबल होता है तो निर्बल पक्ष प्रबल पक्ष के साथ लड़ाई मोल नहीं लेता है, किन्तु, जब दोनों पक्षों में शक्ति सन्तुलन हो तो दोनों को सफलता की सम्भावना होती है और विद्रोह करके सत्ता हस्तगत करने का प्रयत्न करते हैं।

3. विभिन्न शासन प्रणालियों में क्रान्ति के विशिष्ट कारण

क्रान्ति के विशिष्ट कारणों की विवेचना करने के बाद अरस्तू ने विभिन्न शासन प्रणालियों में होने वाली क्रान्तियों का उल्लेख किया है।

लोकतंत्र में क्रान्ति–अरस्तू के अनुसार सम्पूर्ण अर्थ में समानता की भूख प्रजातन्त्र में क्रान्ति पैदा करने वाला एक प्रमुख कारण है। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्र में होने वाली क्रान्तियों के लिए वाग्वीरों के उच्छृखल व्यवहार को अरस्तू ने प्रमुख रूप से जिम्मेदार माना है। प्रजातन्त्र में ये वाग्वीर नेता कभी तो धनिक वर्ग पर प्रहार करते हैं और कभी जनसाधारण को धनिक वर्ग के विरुद्ध उत्तेजित करते हैं। रोड्स, हेरीक्लीआ, मोगरा आदि नगर राज्यों में इन वाग्वीरों के उच्छृखल व्यवहार ने ही प्रजातन्त्र विधान को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया था; ये वाग्वीर अपने न्यस्त स्वार्थों और अपनी लोकप्रियता बनाये रखने के लिए प्रजातन्त्र में सेनापति पद पर आरूढ़ हैं तो उसकी कार्यवाहियाँ प्रजातन्त्र को नष्ट कर निरंकुशतन्त्र को जन्म देने वाली सिद्ध होती हैं।

धनिकतन्त्र में क्रान्ति–धनिकतन्त्र का आधार यह सिद्धान्त है कि जो लोग किसी एक बात में असमान हैं, वे सभी बातों में बिल्कुल भिन्न हैं। धनिक वर्ग का यह असमानता का सिद्धान्त अपने अन्तिम रूप में धनिकतन्त्र के जीवन के लिए समय–समय पर विभिन्न रूपों में संकट पैदा करता रहता है। इसी असमानता के आभास के कारण सरकार द्वारा जन साधारण की उपेक्षा की जाती है एवं अनुचित व्यवहार किया जाता है। जब जनसाधारण की दयनीय स्थिति पराकाष्ठा तक पहुंच जाती है तो शासक वर्ग के ही किसी महत्वाकांक्षी व्यक्ति को जनसाधारण का नेता बनने का अवसर बड़ी सुगमता से प्राप्त हो जाता है और क्रान्ति का सूत्रपात होता है। अरस्तू के अनुसार अपने न्यस्त स्वार्थों के कारण धनिक वर्ग में से ही लोग धनिकतन्त्र की कब्र खोदने वाले बन जाते हैं। प्रायः ऐसा देखा गया है कि धनिक वर्ग के वे व्यक्ति जिन्हें शासन–संचालन में हाथ बंटाने का अवसर प्राप्त नहीं होता, वर्गद्रोही बन जाते हैं।

धनिकतन्त्र में क्रान्ति का सूत्रपात उस स्थिति में भी हो जाता है जबकि शासक वर्ग के कुछ लोग फिजूलखर्ची द्वारा अपनी समस्त सम्पत्ति को स्वाह कर देते हैं। ऐसे लोग क्रान्ति के माध्य से शासन सत्ता हथिया कर निरंकुश बनने की मनोकामना रखते हैं ताकि अपने दरिद्रता से छुटकारा पाने की आशा कर सकते हैं। सिराक्यूज, एम्फीपोलिस तथा एजिना आदि राज्यों में इसी प्रकार के लोगों ने उपद्रव पैदा किये। शादी विवाह, पारस्परिक झगड़े–फसाद तथा कुछ आकस्मिक घटनाओं के द्वारा भी क्रान्ति का सूत्रपात हो सकता है। अरस्तू का यह भी कहना है कि धनिकतन्त्रों में सम्पत्ति के आधार पर मतदान का निर्णय किया जाता है, वहां आर्थिक समृद्धि के कारण मतदाताओं की संख्या में भारी वृद्धि हो सकती है जिसके परिणामस्वरूप विधान में परिवर्तन हो जाता है।

कुलीनतन्त्र में क्रान्ति–अरस्तू के अनुसार कुलीनतन्त्र के जनसाधारण में जब यह धारणा पैदा हो जाती है कि वे श्रेष्ठता में शासक वर्ग के अनुरूप है तो कुलीनतन्त्र में विग्रह का शुभारम्भ हो सकता है। इसी कुलीनतन्त्र में विग्रह होने का एक अवसर उस स्थिति में भी उपस्थित होता है जब सर्वश्रेष्ठ प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों के साथ अपमानजनक व्यवहार किया जाता है अथवा जब तेजस्वी पुरुषों को शासन संचालन का गौरव प्राप्त नहीं होता। विद्रोह का एक अवसर इस कारण भी उपस्थित हो सकता है कि शासक वर्ग का एक अंग युद्ध, अथवा किसी अन्य कारण से अत्यन्त दरिद्र हो जाये एवं अपने राज्य सहयोगियों से सम्पत्ति के पुनः विभाजन की मांग कर बैठे। कुलीनतन्त्र का सबसे घातक शत्रु, अरस्तू इस विधान में उपस्थित धनिकतन्त्र के तत्वों को मानता है।

राजतन्त्र में क्रान्ति–राजतन्त्र को अरस्तू उन विधानों में मानता है जिनको बाह्य कारण सहसा नष्ट नहीं कर सकते एवं जिनकी कमजोरियाँ ही उनके उन्मूलन का कारण बनती हैं। राजतन्त्र में राज परिवार में आन्तरिक कलह होने पर अथवा राजा के निरंकुश बनने के प्रयास करने पर ही विद्रोह की उपस्थिति पैदा होती है। राजा द्वारा किये जाने वाले अन्यायपूर्ण अपमान एवं अन्य लोगों को पहुंचायी जाने वाली क्षति भी राजतन्त्र को नुकसान पहुंचा देती है।

निरंकुशतन्त्र में क्रान्ति–निरंकुशतन्त्र व्यक्तिगत स्वार्थों की असीमित रूप में पूर्ति के उद्देश्य को लेकर स्थापित होता है। इसमें विद्रोह का मुख्य कारण अन्यायपूर्ण उत्पीड़न, आतंक, अत्यधिक तिरस्कार आदि होते हैं। असह्य अपमान, सम्पत्ति का अपहरण आदि कुछ प्रमुख प्रकार के अन्यायपूर्ण उत्पीड़न कहे जा सकते हैं। अपने प्रियजनों, सम्बन्धियों आदि के साथ किया जाने वाला यौन संबंधी अपमानजनक व्यवहार निरंकुशतन्त्र विधानों के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार अत्यधिक भय अथवा तिरस्कार की भावना भी निरंकुशतन्त्र विधानों के हित में नहीं होती। आन्तरिक कलह तथा विग्रह भी निरंकुशतन्त्र को नष्ट कर देता है।

3.7.4 क्रान्तियों को रोकने के उपाय

अरस्तू ने क्रान्तियों के कारणों का ही विश्लेषण नहीं किया है अपितु एक चिकित्सक की भांति उनके निदान के उपाय भी बताये हैं। डनिंग के अनुसार, "अरस्तू क्रान्तियों को उत्पन्न करने वाले कारणों की विस्तृत सूची देने के पश्चात उसके समान ही प्रभावोत्पादक उनको रोकने वाले उपायों की सूची भी देता है।" मैक्सी का कथन है कि आधुनिक राजनीतिक विचारक शायद ही क्रान्ति को रोकने का अरस्तू के उपायों के अतिरिक्त कोई अन्य ठोस उपाय बता सकें। अरस्तू द्वारा, क्रान्तियों से बचने के उपाय निम्नलिखित हैं–

1. **संविधान के प्रति आस्था**–अरस्तू के अनुसार संविधान के प्रति आस्था रखना क्रान्ति से बचने का महत्वपूर्ण उपाय है। शासक वर्ग इस बात का हर सम्भव उपाय करे कि जनता द्वारा कानून की आज्ञाओं का पालन हो। कानून उल्लंघन करने की छोटी–छोटी घटनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं, अतः उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।
2. **शासक एवं शासितों में समन्वय**–अरस्तू यह आवश्यक मानता है कि शासक व शासितों के बीच निरन्तर सम्वाद बना रहे, शासक शासितों को शासन के समक्ष आने वाली समस्याओं से अवगत करवाये एवं शासित अपनी समस्याएँ शासकों के समक्ष रख सकें। इस प्रकार का सम्वाद व सम्वाद की विभिन्न प्रक्रियाओं का बना रहना क्रान्ति को दूर करने का सबल उपाय है।
3. **विधि का शासन**–अरस्तू जिस बात पर बल देता है, वह है विधि का शासन। व्यक्ति के शासन की अपेक्षा विधि का शासन सदा अच्छा होता है क्योंकि इसमें विधि द्वारा शासक की महत्वाकांक्षाओं पर नियन्त्रण हो सकता
4. **समानता का व्यवहार**–विषमता क्रान्ति की जननी है अतः शासन का लक्ष्य सदैव समानता का व्यवहार होना चाहिए। अरस्तू का यह मत है कि शासन के पदों की अवधि छः मास होनी चाहिए ताकि अधिक से अधिक व्यक्ति शासक बन सकें, थोड़े समय के लिए शासनरूढ़ व्यक्ति अन्याय नहीं कर सकते।
5. **मध्यम वर्ग की प्रधानता**–अरस्तू की मान्यता है कि मध्यम वर्ग सदा मर्यादा तथा स्वामित्व का हामी रहा है, इसलिए इसकी प्रधानता का होना क्रान्ति को रोकने का सबल उपाय है।
6. **आर्थिक समानता**–समाज में अत्यधिक आर्थिक असमानता क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण कारण है। इस कारण के निवारण के लिए अरस्तू का मत है कि राज्य की ओर से यह प्रयत्न होना चाहिए कि समाज में आर्थिक असमानता कम से कम हो। धन का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि न तो कोई वर्ग अत्यन्त धनवान बन जाए और न दूसरा वर्ग अत्यन्त निर्धन।
7. **समुचित शिक्षा पद्धति**–किसी शासन प्रणाली की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा पद्धति उस शासन पद्धति के अनुरूप हो। बच्चों को शुरू से उस प्रणाली के ढांचे में ऐसा प्रशिक्षित करना चाहिए कि वे उस व्यवस्था को आदर्श मानते हुए अपना जीवन उसी के अनुसार ढालने का प्रयत्न करें।
8. **विदेशी समस्याओं की तरफ जनता का ध्यान केन्द्रित करना**–शासकों को चाहिए कि वे राज्य की जनता का ध्यान देश की आन्तरिक समस्याओं की ओर से हटाकर विदेशी मामलों की ओर केन्द्रित करें। राज्य में विदेशी आक्रमण का भय आदि दिखाकर वह जनता में देश प्रेम की भावना को सदा जागृत रखें। अरस्तू के शब्दों में, "शासक जो राज्य की चिन्ता करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे नये खतरों का अन्वेषण करें, दूर के भय को समीप लाएँ ताकि जनता पहरेदार की भांति अपनी रक्षा के लिए सदा सचेत और तत्पर रहे।"
9. **राजकीय पदों एवं सम्मानों का न्यायोचित वितरण**–अरस्तू के अनुसार राज्य में पदों और सम्मान का वितरण समान होना चाहिए। योग्य व्यक्तियों का उनका उचित मान और पद प्राप्त होना चाहिए। एक ही वर्ग के व्यक्तियों को अथवा राज्य के एक ही भाग के व्यक्तियों को सारे पद नहीं दे देने चाहिए अन्यथा शेष वर्ग अथवा वर्गों में असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। साथ ही इस संबंध में सचेत भी रहना चाहिए कि कहीं अवांछनीय व्यक्तियों को राज्य के पद प्राप्त न हो जाएँ।
10. **परिवर्तनों पर निगरानी**–क्रान्ति शासन व्यवस्था और संविधान में परिवर्तन करती है। अतः अरस्तू ने कहा है कि राज्य को क्रान्ति से बचाने के लिए परिवर्तनों पर निगरानी रखनी चाहिए। जो परिवर्तन क्रान्ति की और अग्रसर होने वाले हों, उन पर तुरन्त रोक लगानी चाहिए। इस प्रकार क्रान्ति से राज्य की रक्षा हो सकेगी।
11. **धनार्जन पर नियन्त्रण**–क्रान्ति को रोकने के लिए अरस्तू ने शासकों के धनार्जन पर नियन्त्रण रखने की बात कही है।
12. **शासकों में परस्पर सद्भाव**–अरस्तू शासक वर्ग के बीच सद्भाव व तालमेल बनाये रखने पर भी जोर देता है। संक्षेप में, क्रान्ति को रोकने के लिए अरस्तू मध्य वर्ग पर आधारित मिश्रित संविधान और शिक्षा पर सबसे अधिक जोर देता है।

निरंकुशतन्त्र–निरंकुशतन्त्र में क्रान्ति को रोकने के लिए अरस्तू ने निम्न सुझाव दिये हैं–

(1) शासन की समस्त बागडोर अपने हाथ में रखते हुए भी निरंकुश इस प्रकार का सफल अभिनय करे कि वह राजा है निरंकुश नहीं।

(2) उसे सार्वजनिक आय के प्रति सजग रहना चाहिए तथा सार्वजनिक धन का उपहार आदि देने में अपव्यय नहीं करना चाहिए।

(3) कर आदि लगाने एवं उगाहने में भी उसे इस प्रकार दर्शाना चाहिए कि यह कर जन साधारण के हित में खर्च करने के लिए वसूल किया जा रहा है।

(4) निरंकुश का व्यक्तिगत व्यवहार गम्भीर होना चाहिए जिससे उसके सम्पर्क में आने वाले लोगों में उसके प्रति श्रद्ध मिश्रित डर रहे, किन्तु आतंक पैदा न हो।

प्रजातन्त्र–प्रजातन्त्र विधान में क्रान्ति को रोकने के लिए अरस्तू ने सुझाया है कि सम्पन्न लोगों के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया जाये एवं उनकी सम्पत्ति को किसी प्रकार नुकसान न पहुंचाया जाये। इसी प्रकार लोगों को खर्चीले, किन्तु अनुपयोगी लोक सेवा कार्य भी नहीं करने देना चाहिए।

धनिकतन्त्र–धनिकतन्त्र में क्रान्ति को रोकने के लिए गरीबों की और पूरा ध्यान रखना उचित होगा। उनको उचित मात्रा में शासन में सहयोग करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। धनिक द्वारा किसी गरीबी के साथ दुर्व्यवहार किये जाने पर उस धनिक को कठोर दण्ड दिया जाना उपयुक्त होगा। धनिकतन्त्र के हित में एक बात यह भी है कि यथासम्भव सम्पत्ति एवं जागीरों की समानता हो और उनका अधिक लोगों में बंटबारा हो सके, इसके लिए अरस्तू ने यह सुझाव दिया है कि सम्पत्ति का उत्तराधिकार दान के आधार पर न होकर सन्तति क्रम के आधार पर हो तथा किसी भी व्यक्ति को एक से अधिक सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त न हो सके।

3.7.5 अरस्तू के क्रान्ति संबंधी विचारों का अवलोकन

अरस्तू के क्रान्ति संबंधी विचारों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–प्रथम, अरस्तू के क्रान्ति 'शब्द' का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। न केवल राज्य में एवं विधान में होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनों को ही उसने क्रान्ति माना है, अपितु विधान के स्वरूप में किंचित मात्रा होने वाले परिवर्तन को भी वह क्रान्ति की संज्ञा देता है। द्वितीय, अरस्तू ने जहां क्रान्तियों की विशद विवेचना की है वहां सैद्धांतिक रूप से इस विषय पर विचार व्यक्त नहीं किया कि प्रजा को क्रान्ति करने का अधिकार है अथवा नहीं। उसने हर प्रमुख प्रकार के विधान में क्रान्तियों के होने के कारणों का उल्लेख किया है एवं उनके निदान का मार्ग सुझाया है, किन्तु क्रान्तियों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर कोई मत व्यक्त नहीं किया। तृतीय, अरस्तू के क्रान्ति विषयक विचारों से एक तथ्य हमें यह स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि क्रान्तियाँ शासक वर्ग एवं शासित वर्ग में पाये जाने वाले विरोध का अवश्यम्भावी परिणाम है। चतुर्थ, अरस्तू के विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि आर्थिक विषमताएँ भी क्रान्तियों का सृजन करती हैं। पंचम, अरस्तू क्रान्तियों को कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं मानता था। कुल मिलाकर वह यही वांछनीय समझता था कि हर प्रकार के विधान में स्थायित्व कायम रहे।

आलोचकों के अनुसार मार्क्स और लेनिन की भांति अरस्तू अपने विचारों द्वारा सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन का हिमायती नहीं था। वह एक रूढ़िवादी और यथापूर्व स्थिति का पोषक था क्योंकि उसने क्रान्तियों को रोकने के संबंध में सविस्तार प्रस्तुत किया है तथापि यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उसने क्रान्ति के कारणों तथा उनके निराकरण के साधनों का एक ऐसा विवेचन प्रस्तुत किया है जो पूर्णतः यथार्थवादी है। इसीलिए मैक्सी ने लिखा है कि, "समकालीन राजनीति विज्ञान क्रान्ति के विष के प्रतिकार के लिए इससे अधिक विश्वसनीय उपायों का निर्देश नहीं कर सकता।" "पॉलिटिक्स के वे पृष्ठ जो इस समस्या (क्रान्ति) का निरूपण करते हैं, राजनेताओं के लिए आने वाले समस्त युगों में मार्ग निर्देशिका का कार्य करेंगे।"

3.8 निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अरस्तू का भी पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में काफी योगदान माना जा सकता है। एक वैज्ञानिक एवं यथार्थवादी विचारक का दर्जा पाश्चात्य दर्शन में अरस्तू को प्राप्त है। अरस्तू ने प्लेटो के विचारों में रही कमियों को दूर करने प्रयास किया तथा राज्य की अवधारणा को व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। अरस्तू ने क्रांति के कारण एवं उन्हें रोकने के उपायों पर भी अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इसके अलावा विभिन्न शासन प्रणालियों का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया। राज्य को एक स्वभाविक संस्था मानकर अपने विचार यथार्थवादी होने का प्रमाण प्रस्तुत किया अतः पाश्चात्य दर्शन के प्लेटों के साथ अरस्तू का भी काफी महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. "अरस्तू प्रथम वैज्ञानिक विचारक है।" स्पष्ट कीजिए।
2. अरस्तू की राज्य की धारणा को स्पष्ट कीजिए।
3. अरस्तू के क्रांति विषयक विचारों का विवेचन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अरस्तू के राज्य के लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
2. अरस्तू के अनुसार क्रांतियों के क्या कारण है।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राज्य व्यक्ति का पूर्वगामी है। कैसे?
2. क्रांति से अरस्तू का क्या आशय है?
3. अरस्तू की अध्ययन पद्धति का नाम लिखिए।

इकाई–4
सन्त ऑगस्टाइन

संरचना

4.0 उद्देश्य
4.1 जीवन परिचय
4.2 सन्त ऑगस्टाइन का दर्शन
4.3 दो नगरों का सिद्धान्त (सांसारिक नगर तथा ईश्वरीय नगर)
4.4 राज्य तथा सरकार के विषय में ऑगस्टाइन के विचार
4.5 संत ऑगस्टाइन का प्रभाव

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय में विद्यार्थी–

- संत आगस्टाइन का जीवन परिचय जान सकेंगे।
- संत आगस्टाइन के विचारों को जान सकेंगे।

4.1 जीवन परिचय

सन्त अम्बोज के महान शिष्य सन्त ऑगस्टाइन का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। उसका जन्म 354 ई. में अफ्रीका में टेगस्टे नापक नगर में हुआ था। उसके पिता का नाम पैट्रीसियस तथा माता का नाम था। जीवन के प्रारम्भिक बारह वर्षों तक उसने घर पर ही शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद सर्वप्रथम उसे मदौरा नामक एक ग्रामर स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया। लगभग पाँच वर्ष अध्ययन करने के उपरान्त अलंकार शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने हेतु वह कार्थेज गया जहाँ पर वह मैनिकियन सम्प्रदाय का सदस्य बन गया और लगभग नौ वर्ष तक इसी चक्कर में फंसा रहा। जब उसे कोई तथ्य नहीं दिखाई दिया तो वह इसकी सदस्यता त्याग कर रोम चला गया जहाँ काफी कठिनाइयों के बाद मिलान में वह अलंकारशास्त्र का अध्यापक नियक्त हुआ। यहीं उसकी भेंट सन्त अम्बोज से हुई जिसकी शिक्षाओं के फलस्वरूप उसने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् सन्त ऑगस्टाइन ने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें उसने अपने धार्मिक और आध्यात्मिक विचार प्रकट किए। 400 ई. में उसने सुप्रसिद्ध 'आत्मकथा' का प्रणयन किया और 412–427 ई. तक 'ईश्वर का नगर' नामक अमर ग्रन्थ की रचना की। मध्यकाल के इस महान् राजनीतिक विचारक की सन् 430 ई. में मृत्यु हो गई।

4.2 सन्त ऑगस्टाइन का दर्शन

सन्त ऑगस्टाइन का दर्शन मुख्यतः उसके ग्रन्थ 'De Civitate Dei' में निहित है जिसका अंग्रेजी अनुदित नाम 'द सिटी ऑफ गॉड' है। ऑगस्टाइन के विचारों के प्रतिष्ठापन के मुख्यतः तीन ध्येय थे..–प्रथम, यह स्पष्ट करना कि रोमन साम्राज्य का पतन ईसाई धर्म को अपनाने के कारण नहीं हुआ था, द्वितीय, ईमाई संघ को शक्तिशाली बनाना और उसका राज्य स्थापित करना तथा तृतीय, ईसाई धर्म के विरुद्ध लगाए जाने वाले आरोपों का खण्डन करना और उसकी विपक्षियों से रक्षा करना। उसने अपने ग्रन्थ 'दी सिटी ऑफ गॉड' की रचना मुख्यतः इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की और प्रसंगवश अपने सभी दार्शनिक विचारों का विकास किया। यह ग्रन्थ 22 खण्डों में विभाजित है जिनमें सन्त के धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सभी प्रकार के विचार निहित है। ग्रन्थ की प्रथम पुस्तक में ईसाई धर्म की पैगनों की आलोचना के विरुद्ध रक्षा की गई है और शेष 12 पुस्तकों में ईश्वर की नगरी के स्वरूप की व्याख्या मिलती है। इस पुस्तक में ऑगस्टाइन ने यह बताने का प्रयल किया है कि ईसाईयत रोम को नष्ट किए जाने से नहीं बचा सको तो कम से कम लोगों के कष्टों को कम करने में उसने अवश्य ही सहायता दी और युद्ध के भयानक कृत्यों को कम करने का प्रयत्न किया है। ऑगस्टाइन ने यह भी कहा कि रोम पर आक्रमण ईश्वर की मर्जी से हुआ था, ताकि ईश्वर की नगरी की बुनियाद रखी जा सके। अग्रिम पंक्तियों में सर्वप्रथम ऑगस्टाइन के इस ईश्वरीय नगर की ही चर्चा की गई है।

4.3 दो नगरों का सिद्धान्त (सांसारिक नगर तथा ईश्वरीय नगर)

ऑगस्टाइन ने अपने ग्रन्थ में दो प्रकार के नगरों का विवरण दिया है–1. सांसारिक नगर, एवं 2. आध्यात्मिक या ईश्वरीय नगर। उसके अनुसार, ''मानव प्रकृति के दो रूप हैं–आत्मा और शरीर इसलिए मनुष्य इस संसार का नागरिक है और ईश्वरीय नगर का भी। मानव–जीवन का आधारभूत तत्त्व मानव हितों का विभाजन है। मनुष्य के लौकिक हित उसके

शरी से सम्बन्ध रखते हैं। मनुष्य के पारलौकिक हित उसकी आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं। इस तरह ऑगस्टाइन ने यह बताया कि मानव प्रवृत्ति द्विमुखी अर्थात् सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों है। मानव के हित और स्वार्थ सांसारिक तथा आध्यात्मिक दोनों तरह के होते हैं अर्थात् उसमें भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का समावेश होता है। इसी कारण मनुष्य सांसारिक तथा ईश्वरीय दोनों नगरों का नागरिक होता है। सांसारिक नगर का नागरिक व्यक्ति जन्म के कारण होता है। सांसारिक नगर का सम्बन्ध शरीर से होता है और ईश्वरीय नगर का आत्मा से। सांसारिक नगर मनुष्य की वासनाओं पर आधारित है और उसमें शैतान का शासन होता है। इसके विपरीत ईश्वरीय नगर में क्राइस्ट का शासन होता है। यह नगर उस समाज की अभिव्यक्ति करता है जिसका वर्णन बाइबिल में मिलता है। यह नगर और इसकी सत्ता सर्वोत्कृष्ट है। सन्त ऑगस्टाइन के इन विचारों की समीक्षा प्रसिद्ध विद्वान् सेबाइन ने निम्नानुसार की है–

"सन्त ऑगस्टाइन ने इस (उपरोक्त) भेट् को मानव इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने की कुंजी मान लिया है। मानव समाज सदैव से ही दो समारो के संघई द्वारा नियन्त्रित होता है। एक ओर संसार का नगर है। वह मनुष्य की अधोमुखी प्रकृति काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि के ऊपर आधारित है ! दूसरी ओर ईश्वर का नगर है। वह स्वर्गीय शान्ति और आध्यात्मिक मुक्ति की आशा के ऊपर आधारित है। पहला शैतान का राज्य है। इसका इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है जब से शैतान ने देवदूतों की अवज्ञा प्रारम्भ कर दी। इसके मूल तत्त्व असीरिया और रोम के पैगन साम्राज्यों में विशेष रूप से पाए जाते हैं। दूसरा सामाज्य ईसा का है। वह पहले राष्ट्र में और फिर बाद में चर्च में तथा ईसाई धर्म को अंगीकृत करने वाले सामाज्य में निहित रहा है। इतिहास इन दो समाजों के संघर्ष की नाटकीय कथा है। अन्त में विजय ईश्वरीय नगर की ही होगी। शान्ति केवल ईश्वरीय नगर में ही सम्भव है। केवल आध्यात्मिक राज्य ही स्थाई है।" रोम के पतन के सम्बन्ध में ओंगस्टाइन की यह व्याख्या है कि सभी सांसारिक राज्यों का नाश होना जरूरी है। सांसारिक शक्ति नश्वर और क्षणभंगुर है। यह मानव प्रकृति के उन पक्षों पर आधारित है जिसके कारण निश्चित रूप से लड़ाई तथा साम्राज्य–विस्तार की लिप्सा उत्पन्न होती है।

तथापि इस सिद्धान्त की व्याख्या करते समय और विशेष रूप से इसे ऐतिहासिक तथ्यों के ऊपर लागू करते समय एक सावधानी की आवश्यकता है। ऑगस्टाइन का यह मन्तव्य नहीं था कि सांसारिक नगर को अथवा ईश्वरीय नगर को वर्तमान मानव संस्थाओं के साथ ठीक ढंग से समीकृत किया जा सकता था। धार्मिक राजनीतिज्ञ जो नास्तिकता के दमन के लिए सामाज्य की शक्ति का सहारा लेता था, शासन को शैतान के राज्य का प्रतिनिधि नहीं बता सकता था। समस्त ईसाइयों की भाँति ऑगस्टाइन का भी यह विश्वास था कि समस्त शक्तियाँ ईश्वर की दी हुई हैं।' उसका यह भी विश्वास था कि शासन में बल का प्रयोग पाप के कारण आवश्यक हो जाता है और यह पाप का ईश्वर की ओर से निर्धारित उपचार है। इसी कारण ऑगस्टाइन ने दोनों नगरों को देखने में अलग–अलग नहीं माना। सांसारिक नगर शैतान का और सभी दुष्ट मनुष्यों का राज्य है। स्वर्गीय नगर इस लोक में और परलोक में मुक्त आत्माओं का संगम है। सांसारिक जीवन में ये दोनों समाज एक–दूसरे से मिले हुए हैं। वे केवल अन्तिम निर्णय के अवसर पर ही अलग होंगे।

उपरोक्त संदर्भ में सन्त ऑगस्टाइन के ईश्वरीय राज्य अथवा नगर और चर्च का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ अधिक स्पष्ट रूप से उल्लेखनीय है। ऑगस्टाइन चर्च को ईश्वरीय राज्य का प्रतिनिधि समझता था, 'ईश्वरीय राज्य' नहीं। 'ईश्वरीय राज्य या नगर' में देवगण और वे स्वर्गीय आत्माएँ भी सम्मिलित है जो इस पृथ्वी को छोड़ चुकी है। अतः इस दृष्टि से चर्च की अपेक्षा ईश्वरीय नगर' की सदस्यता अधिक व्यापक है। यद्यपि ये दोनों एक रूप नहीं हैं, फिर भी इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध हैं क्योंकि 'ईश्वरीय राज्य या नगर' का सदस्य सामान्यतः चर्च की शिक्षाओं का पालन करके ही बना जा सकता है। पुनः 'ईश्वरीय राज्य' एक अमूर्त कल्पना है, वह कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है, ईसाई चर्च को उसका साकार रूप समझा जा सकता है। फोस्टर के अनुसार "चर्च ईश्वरीय नगर' का वह भाग है जिसमें वे सब सदस्य सम्मिलित हैं, जो अभी अपनी विश्व–यात्रा ही कर रहे हैं और जिसमें वे सब (या लगभग सब), जो ईश्वरीय राज्य के सदस्य हैं, गुजर चुके हैं।"

ऑगस्टाइन का 'ईश्वरीय राज्य' शाश्वत है। यह कभी भी नष्ट नहीं होता। इसके विपरीत सांसारिक राज्य अवश्य ही नश्वर है।

ईश्वरीय नगर की विशेषताएँ (न्याय एवं शान्ति)–सन्त ऑगस्टाइन के 'ईश्वरीय नगर' की उपरोक्त व्याख्या से प्रकट है कि इसकी दो प्रमुख विशेषताएँ हैं–(क) धर्म या न्याय, एवं (ख) शान्ति।

ऑगस्टाइन के मत में धर्म एक ऐसा प्रतिफल है जो व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य–पालन के उपरान्त मिलता है। जो व्यक्ति अपेन कर्तव्यों का पालन भली प्रकार करता है वही धर्मवान कहलाता है। ऑगस्टाइन धर्म अथवा न्याय को व्यवस्था का पर्यायवाची मानता है। उसके अनुसार धर्म या न्याय एक व्यवस्थित एवं अनुशासित जीवन का निर्वाह करने में निहित है। ऑगस्टाइन का यह धर्म सिद्धान्त किसी काल या स्थान विशेष की सीमाओं से बँधा हुआ नहीं है। वह धर्म का क्षेत्र परिवार, समाज एवं राज्य तक व्यापक बनता है।

ऑगस्टाइन ने अपने सार्वभौमिक समाज को शान्ति के साम्राज्य का प्रतीक माना है। नगर में शान्ति का सामाज्य होता है। उसने शान्ति के दो रूप माने हैं–सांसारिक शान्ति और आध्यात्मिक शान्ति। सांसारिक शान्ति से तात्पर्य नियमित ढंग

से जीवन का व्यवस्थापन करना है, अर्थात् सांसारिक व्यवहार में सामंजस्य का होना है, परन्त आध्यात्मिक शान्ति का लक्ष्य ईश्वर एवं ईश्वर में समाये हुए मनुष्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करना होता है। ऑगस्टाइन की मान्यता है कि आध्यात्मिक शान्ति सांसारिक शान्ति से अवश्य ही उच्च है। सांसारिक शान्ति का क्षेत्र संकुचित है जबकि आध्यात्मिक शान्ति का क्षेत्र विश्व–व्यापक है। सांसारिक शान्ति की प्राप्ति हेतु व्यक्ति को अपने विचार–स्वातन्त्र्य पर ताला लगाना पड़ता है जबकि आध्यात्मिक शान्ति से वह स्वतः ही क्रियाशील रहता है। सांसारिक वस्तुओं द्वारा शान्ति–प्राप्ति का अनवरत प्रयत्न चलता रहता है। इससे केवल सांसारिक शान्ति ही प्राप्त नहीं होती बल्कि आध्यात्मिक शान्ति का सुख भी प्राप्त होता है और शरीर की शुद्धि के बाद ही आत्मिक शुद्धि की प्राप्ति हो सकती है। यह आत्मिक शुद्धि मानव को दिव्यता की ओर अग्रसर करती है। ऑगस्टाइन की शान्ति सम्पूर्ण विश्व की एक ईश्वरीय व्यवस्था है क्योंकि सभी मनुष्य ईश्वर के अधीन हैं।

4.4 राज्य तथा सरकार के विषय में ऑगस्टाइन के विचार

सन्त ऑगस्टाइन इस परम्परागत ईसाई विचार को स्वीकार करता है कि राज्य को ईश्वर ने मनुष्य के पाप के उपचार के रूप में स्थापित किया है अतः उसकी आज्ञा का पालन होना चाहिए। मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियों के विरोध के लिए ही भगवान् द्वारा इसका निर्माण किया गया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु दैवीय उत्पत्ति वाला न होने पर भी यह शैतान का राज्य है और इसकी सृष्टि का रहस्य यही है कि इसमें रहते हुए नागरिक कर्तव्य–पालन द्वारा अपने–आप की पाप कालिमा से रक्षा कर सकें। इस तरह ऑगस्टाइन के अनुसार राज्य मनुष्य को पाप से मुक्ति दिलाने का एक प्रमुख साधन है। ऑगस्टाइन दैवीय उत्पत्ति के कारण राज्य की आज्ञाओं को मानने का समर्थन करते हुए यह मत भी प्रकट करता है कि यदि वे आज्ञाएँ धर्म–विरुद्ध हों तो उनका पालन नहीं होना चाहिए।

यूनानी दार्शनिकों और सिसरो आदि के इस विचार से ऑगटाइन ने असहमति प्रकट की है कि राज्य का आधार न्याय है।' सांसारिक राज्य पर शैतान का स्वामित्व होने से उसमें न्याय नहीं रह सकता। सांसारिक राज्य अन्याय पर प्रतिष्ठित है, अन्य राज्यों के अधिकारों का अपहरण करने वाला है और ईश्वरीय अधिकारों का उल्लंघन करता है। ऑगस्टाइन के अनुसार राज्य गैर–ईसाई भी हो सकता है, जबकि न्याय केवल ईसाई राज्य से ही मिलता है। अतः न्याय वास्तव में राज्य का गुण नहीं अपितु वर्च का गुण है। चर्च की सत्ता राज्य की सत्ता से श्रेष्ठ है।

प्रारम्भिक चर्च पिताओं के समान सन्त ऑगस्टाइन राज्य को अनावश्यक बुराई नहीं मानता। राज्य चर्च के लिए आवश्यक है क्योंकि चर्च की भूमि और भवन की पूर्ति तो राज्य द्वारा ही की जाती है।

ऑगस्टाइन के सम्पत्ति एवं दासता सम्बन्धी विचार–अन्य चर्च पिताओं की भाँति सन्त ऑगस्टाइन द्वारा भी सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों का समर्थन किया गया है। वह सम्पत्ति को एक स्वाभाविक संस्था न मानकर परम्परागत संस्था मानता है। उसकी मान्यता है कि सम्पत्ति के अधिकारों की प्राप्ति केवल राज्य द्वारा ही हो सकती है और सम्पत्ति के अभाव में व्यक्ति सांसारिक एवं आध्यात्मिक कर्तव्यों का ठीक ढंग से पालन नहीं कर सकता। शान्ति और व्यवस्था की रक्षा के लिए निजी सम्पत्ति आवश्यक है, किन्तु साथ ही उसकी यह भी धारणा है कि मनुष्य को केवल उतनी ही सम्पत्ति रखने का अधिकार है जितनी उसके लिए आवश्यक है। आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का प्रयोग जन–कल्याण के लिए होना चाहिए।

सन्त ऑगस्टाइन दासों को निजी सम्पत्ति का ही एक रूप समझता है और इसलिए यूनानी विचारकों की भाँति ही उसने भी दास–प्रथा का अनुमोदन किया है, लेकिन दास–प्रथा के ऑगस्टाइन और अरस्तू द्वारा समर्थन के कारण एकदम भिन्न हैं। ऑगस्टाइन अरस्तू के समान दास–प्रथा को स्वाभाविक नहीं मानता है। उसका यह विश्वास नहीं है कि स्वाभावतः कुछ मनुष्य स्वामी और कुछ दास होते हैं। उसके मत में दासता मनुष्य के पाप कर्मों का वह फल होता है जो मनुष्य को ईश्वर द्वारा प्रदान किया जाता है। दासता को वह पाप का दैविक प्रतिकार समझता है। मनुष्य जो पाप करता है उसी के प्रतिकार स्वरूप उसे दासवृत्ति करनी पड़ती है। यदि मनुष्य पाप न करता तो ईश्वर दासता की व्यवस्था न करता। वास्तव में मनुष्य के पतन ने उसे उस समानता से वंचित कर दिया जो भगवान् आरम्भ में स्थापित करना चाहता था। ऑगस्टाइन के अनुसार जहाँ दासता मनुष्य के पापों का ईश्वरीय उपचार है, वहाँ वह उनके लिए दण्ड भी है। मनुष्य जो कुछ अपराध करता है उसके लिए दासवृत्ति दण्ड के साधन के रूप में उसे झेलनी पड़ती है। स्वामी की शुद्ध हृदय से सेवा करके व्यक्ति दासता से मुक्त हो सकता है।

ऑगस्टाइन के दासता सम्बन्धी उपरोक्त विचार तर्क–संगत प्रतीत नहीं होते। एक स्थान पर तो वह सम्पूर्ण जाति को पापी घोषित करता है और दूसरे स्थान पर इस बात को ध्यान में न रखकर दास–प्रथा को पाप का दण्ड घोषित करता है। ऑगस्टाइन कहता है कि मनुष्य को पाप का शोध करने के लिए दासता करनी चाहिए।

4.5 संत ऑगस्टाइन का प्रभाव

संत ऑगस्टाइन की पुस्तक 'दि सिटी ऑफ गॉड' तथा उसकी विचारधारा अनेक शताब्दियों तक यूरोप के विचारकों को प्रभावित करती रही। सेबाइन के शब्दों में, "समीक्ष्य युग का सबसे महत्त्वपूर्ण ईसाई विचारक अम्बोज का महान् शिष्य संत

ऑगस्टाइन था। उसका दर्शन केवल थोड़ा–सा ही व्यवस्थित था लेकिन उसने प्राचीन काल के ज्ञान–विज्ञान को आत्मसात् कर लिया था। यह ज्ञान–विज्ञान उसके द्वारा ही मध्य–युग में पहुँचा। उसकी रचनाएँ विचारों की खान थी जिसे बाद के कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट विचारों ने खोदा है। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण विचार एक ईसाई राज्य का सिद्धान्त है। उसने इतिहास के एक विशिष्ट दर्शन का भी प्रतिपादन किया है। इस दर्शन के अनुसार यह राज्य मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का चरमोत्कर्ष है। ऑगस्टाइन की प्रामाणिकता के कारण यह सिद्धान्त ईसाई विचारधारा का एक अविच्छिन्न अंग बन गया है। यह सिद्धान्त मध्ययुग में तो चला ही चला, आधुनिक काल तक चलता आया है। इस विषय में रोमन कैथोलिक ही नहीं, प्रत्युत् प्रोस्टेंट भी सन्त ऑगस्टाइन के विचारों से प्रभावित रहे है।"

संत ऑगस्टाइन ने शार्लीमेन तथा आटो महान् के विचारों को आधार प्रदान किया जिसके ऊपर पवित्र रोमन सामाज्य का भवन बना। उसने सार्वभौमिक सत्ता को मानकर संकीर्ण राज्य सत्ता सम्बन्धी सीमा को लांघा। आज का सार्वभौमिक समाज उसके विचारों से विशेष रूप से प्रेरित है। ऑगस्टाइन ने अध्यक्ष रूप से चर्च की श्रेष्ठताओं का स्पर्श किया है और साथ ही राज्य एवं चर्च के पारस्परिक सहयोग पर बल दिया है। वास्तव में रचनात्मक धर्म के इस महान् प्रणेता ने नवीन युग का प्रवर्तन किया। मध्य युग की अनेक परिभाषाएँ दी गई। किन्तु दरअसल उनकी सर्वोत्तम परिभाषा यही है कि "वह ऑगस्टाइन के विचारों के साथ आरम्भ होता है और इनकी समाप्ति के साथ ही इसका अन्त हो जाता है।" ऑगस्टाइन की रचनाएँ और उसके विभिन्न विचार विद्वानों के लिए प्रेरणा के स्रोत बने रहे। विख्यात पोप ग्रेगरी सप्तम् (1073–1085 ई.), इन्नोसेंट तृतीय (1161–1216) तथा बेनीसेफ अष्टम् (1294–1303) ने उसके विचारों का अनुसरण किया। थॉमस एक्वीनास (1225–1274 ई.), दान्ते (1265–1321), विल्किा (1327–1384 ई.) एवं ग्रेशियस आदि प्रसिद्ध विचारक बड़ी सीमा तक ऑगस्टाइन के ऋणी हैं। इगीडियस कोलोना, मार्टिन लूथर एवं अन्य विद्वान भी किसी न किसी रूप में ऑगस्टाइन के विचारों से प्रभावित हुए थे। ऑगस्टाइन के प्रभाव को दशाते हुए गेटल ने लिखा है–"ऑगस्टाइन के कार्य का महत्त्व यह था कि उसने चर्च को उसके इतिहास के एक घोर संकट में एक सुनिश्चित और व्यवस्थित विचारधारा प्रदान की उसके अस्तित्व को स्पष्टता और अपनापन दिया और उसके उद्देश्य को आत्म–चेतना मूलक बनाया। जब चर्च ने अपने प्रशासकीय ढाँचे को विकसित करके सांसारिक कार्यों की ओर अधिक ध्यान दिया तो उसका शक्ति के उस शिखर पर पहुँचना निश्चित हो गया जिसका प्रतिनिधित्व आगे चलकर पोप ने किया।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संत आगस्टाइन के राजनीतिक विचारों की विवेचना कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. संत आगस्टाइन के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की विवेचना कीजिए।
2. आगस्टाइन की दासता की धारणा क्या है?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. दो राज्यों का सिद्धांत किस विचारक से सम्बन्धित है।
2. The City of God के लेखक कौन है?

इकाई–5
सन्त थॉमस एक्वीनास

संरचना

5.1 उद्देश्य

5.2 जीवन परिचय

5.3 प्रमुख रचनाएँ

5.4 दार्शनिक पृष्ठभूमि

5.5 एक्वीनास के राजनीतिक विचार

- 5.5.1 प्रकृति सम्बन्धी विचार तथा राज्य एक प्राकृतिक संस्था
- 5.5.2 राज्य के दायित्व
- 5.5.3 सरकार के रूप
- 5.5.4 अत्याचारी शासन
- 5.5.5 राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच समन्वय
- 5.5.6 सम्पत्ति सम्बन्धी विचार

5.6 कानून पर एक्वीनास के विचार

- 5.6.1 शाश्वत कानून
- 5.6.2 प्राकृतिक कानून
- 5.6.3 देवी कानून
- 5.6.4 मानवीय कानून

5.7 एक्वीनास के दासता सम्बन्धी विचार

5.8 एक्वीनास का योगदान

- 5.8.1 मध्य युग का महानतम दार्शनिक
- 5.8.2 मध्य–युग का अरस्तू
- 5.8.3 एक्वीनास की प्रमुख देन

5.1 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन करने के पश्चात् छात्र थॉमस एक्वीनास के बारे में–

- जीवन परिचय के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- एक्वीनास के राजनीतिक दर्शन को समझ सकेंगे।
- एक्वीनास के कानून सम्बन्धी विचार जान सकेंगे।

5.2 जीवन परिचय

सेन्ट थॉमस एक्वीनास का जन्म इटली के नेपल्स राज्य के एक्वीनो नगर में 1225 ई को हुआ था। एक्वीनास बचपन से ही तीक्ष्ण बुद्धिमता वाला था। उसके पिता एक्वीनो नगर के काउन्ट पद का कार्य करते थे। उसके माता–पिता की लालसा था कि उनका पुत्र भी उच्च राज्याधिकारी बने। लेकिन थॉमस ने डोमनिकन सम्प्रदाय का सदस्य बनकर उन्हें बड़ा निराश किया। जितना ही उसे इस सम्प्रदाय से हटाने का प्रयत्न किया गया, उतना ही वह उसका कट्टर अनुयायी बन गया। उसे न तो माता–पिता का घोर विरोध और न ही सांसारिक प्रलोभन देने के लिए उसके पास भेजी गई सुन्दरी का मोह डोमनिकन सम्प्रदाय की सदस्यता से निरस्त कर सका। एक्वीनास पेरिस पहुँचकर योग्य गुरु और आध्यात्मिक नेता अलबर्ट महान् के चरणों में चार वर्ष तक अध्ययन करता रहा। कालान्तर में उसने अपने गुरु से भी अधिक ख्याति प्राप्त की। उसने अरस्तू की राजनीति और उसके तर्कशास्त्र का गहरा अध्ययन किया। अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता एवं मौलिकता के कारण वह विख्यात हो गया। थॉमस को पेरिस विश्वविद्यालय ने कोई उपाधि नहीं दी। उन दिनों यह विश्वविद्यालय भिक्षु की उपाधि प्रदान नहीं करता था किन्तु पोप की सिफारिश पर 1256 ई. में पेरिस विश्वविद्यालय ने उसे 'LicenciateAnd Master of Theology' की उपाधि से विभूषित किया। उपाधि के बाद उसने

ईसाई मत की खूब सेवा की। सन् 1256 से 1268 तक उसने विभिन्न धार्मिक विषयों पर ग्रन्थ लिखे तथा भाषण दिए। वह अपने समय में राजनीति–शास्त्र, धर्मशास्त्र और तर्कशास्त्र का प्रकाण्ड विद्वान् समझा जाता था। बड़े–बड़े राजा उससे राजाओं के कर्तव्यों पर प्रकाश डालने की प्रार्थना करते थे। स्वयं पोप ने धर्म–विधि सम्बन्धी कठिनाइयों के निवारण हेतु अनेक बार उससे सलाह ली थी।

थॉमस एक्वीनास को अनेक बार उच्च धार्मिक पदों को ग्रहण करने के अवसर दिए गए, किन्तु उसने स्पष्टतः कह दिया कि उसने विद्याध्ययन किसी पद पर आसीन होने की लालसा से नहीं किया है। दुर्भाग्यवश ऐसा महान् विद्वान और सन्त केवल 49 वर्ष की आयु में 1274 ई. में परलोक सिधार गया। उसके शव को प्राप्त करने के लिए विभिन्न सम्प्रदायों में झगड़ा चला। अन्त में पोप के हस्तक्षेप के कारण डोमनिकन सम्प्रदाय को शव प्राप्त हो गया।

5.3 प्रमुख रचनाएँ

सन्त थॉमस एक्वीनास की पद्धति समन्वयात्मक और सकारात्मक थी। वह रचनात्मक कार्य करना चाहता था। उसने अरस्तू के ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' का सूक्ष्म अध्ययन करके अपने विख्यात ग्रन्थ 'Commentaries on Politics of Aristotle' का प्रणयन किया। एक्वीनास ने और भी लगभग 30 ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से प्रमुख निम्न हैं–

1. सुम्मा थियोलोजिका,
2. दि रूल ऑफ प्रिंसेज
3. सुम्मा कोन्ट्रा जेंटाइल्स

इन रचनाओं में राज्य की प्रकृति, उसकी कार्य विधि, आदि विषयों का उल्लेख है।

5.4 दार्शनिक पृष्ठभूमि

थॉमस एक्वीनास के सिद्धान्तों पर तत्कालीन परिस्थितियों ने और बड़ी सीमा तक अरस्तू के विचारों ने प्रभाव डाला। प्रारम्भ में अरस्तू के दर्शन को ईसाई–धर्म विरोधी माना गया। किन्तु एक शताब्दी से कम समय में ही उसका ईसाई–धर्म की दृष्टि से पुनराख्यान किया गया। यह कार्य अलबर्ट महान् और उसके महान् शिष्य थॉमस एक्वीनास ने किया। उसने स्कोलैस्टिसिज्म एवं हेलोनिज्म का तथा ऑगस्टाइन एवं अरस्तू का सुन्दर समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास किया। उसने राजनीति–शास्त्र को सामाजिक विज्ञान में वही स्थान दिया जो अरस्तू ने दिया था पर उसके चिन्तन में धर्म की प्रधानता थी, जबकि अरस्तू के चिन्तन में विवेक पर आधारित ज्ञान की। एक्वीनास अरस्तू के इस विचार से सहमत था कि मानव का अन्तिम लक्ष्य आनन्द–प्राप्ति है, लेकिन वह इसके लिए चर्च को महत्त्वपूर्ण साधन समझता था। उसकी दृष्टि में राज्य–प्रदत्त आनन्द नहीं बल्कि मोक्ष सर्वोत्तम आनन्द था और चर्च राज्य का प्रतिद्वन्द्वी न होकर सामाजिक जीवन में उसका सहयोगी था।

एक्वीनास के दर्शन का मूल मन्त्र समरसता और समैक्यता पर आधारित सार्वभौमिक संश्लेषण तथा सर्वांगीण व्यवस्था के निर्माण का प्रयत्न था। उसने कहा कि सर्वव्यापक ईश्वर और प्रकृति के विशाल प्रांगण में हर प्रकार की विविधता सम्भव है। सम्पूर्ण मानव–ज्ञान एक ऐसे पिरामिड के समान है जिसका आधार अनेक विशिष्ट विज्ञानों से मिलकर बना है और जिसमें प्रत्येक का अपना एक विशेष विषय है। इन सबके ऊपर दर्शन है जो बद्धिसंगत शास्त्र है और समस्त विज्ञानों के सार्वभौमिक सिद्धान्तो की रचना का प्रयास करता है। एक्वीनास बुद्धि के ऊपर धर्मशास्त्र को मानता है, जिसका साधन श्रद्धा और अन्तर्ज्ञान है, विवेक नहीं।

5.5 एक्वीनास के राजनीतिक विचार

5.5.1 प्रकृति सम्बन्धी विचार तथा राज्य एक प्राकृतिक संस्था–थॉमस एक्वीनास प्रकृति को सोद्देश्य मानता है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का अपना महत्त्व है। प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार पूर्णता प्राप्त करना चाहता है और अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करता है। जो प्राणी कुछ अधिक पूर्ण होता है, वह अपने से निम्नतर पाणी पर ठीक उसी प्रकार शासन करता है जैसे ईश्वर विश्व पर और आत्मा शरीर पर। हर प्राणी का अपना स्थान, कर्तव्य और अधिकार होता है। इनके द्वारा यह सम्पूर्ण योजना में योग देता है। इस सम्पूर्ण योजना की व्यवस्था में मनुष्य का एक विशिष्ट स्थान होता है। इसीलिए शारीरिक प्रकृति के अस्तित्व के साथ ही उसमें एक बौद्धिक और आध्यात्मिक आत्मा भी देखने को मिलती है। एकमात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसके शरीर और आत्मा दोनों हैं और इसी तथ्य पर मानव–जीवन को संचालित करने वाली समस्त संस्थाएँ और विधियाँ टिकी हुई है। स्पष्ट है कि एक्वीनास ने मानव प्रकृति के दो स्वरूप माने है–सांसारिक और आध्यात्मिक। सांसारिक प्रकृति सदैव ही संसार के कार्यकलापों में रत रहती है और विभिन्न दोषों से मुक्त होती है। इसके विपरीत आध्यात्मिक प्रकृति का सम्बन्ध आत्मा या ईश्वरीय जगत् से होता है। वह सांसारिक प्रकृति के दोषों से मुक्त होती है। दोष–रहित होने के कारण ही आध्यात्मिक प्रकृति मानव–स्वभाव में ईश्वरीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है।

थॉमस एक्वीनास का सामाजिक और राजनीतिक जीवन सम्बन्धी सिद्धान्त उसकी प्रकृति सम्बन्धी योजना का ही एक अंग है। प्रकृति की भाँति ही समाज भी विभिन्न उद्देश्यों और साधनों की एक व्यवस्था है जिसमें विभिन्न स्तर के प्राणी रहते हैं। इस सामाजिक व्यवस्था में छोटा या निम्न प्राणी अपने से बड़े या उच्च प्राणी का सेवा करता है। वह उच्च प्राणी उस निम्न प्राणी को आवश्यक निर्देशन देता है और उसका पथ–प्रदर्शन करता है। अरस्त की भौति ही एतवीनास भी मानता है कि समाज श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति हतु का जान बाला, सेवाओं के पारस्परिक विनिमय की व्यवस्था है। समाज में विभिन्न व्यक्ति और व्यवसायी अपना सहयोग प्रदान करते हैं। हर वर्ग अपना–अपना कार्य करता है।

एक्वीनास सामाजिक व्यवस्था के शासक के अंश को पूर्ण महत्त्व देता है। उसका होना समाज के हित के लिए बड़ा आवश्यक है। जिस तरह आत्मा शरीर पर अथवा उच्च प्रकृति निम्न प्रकृति पर शासन करती है, उसी तरह शासकवर्ग समाज के अन्य वर्गों पर शासन करता है।

एक्वीनास इस मध्ययुगीन धारणा से असहमत है कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के अधःपतन और पाप के कारण हुई है तथा राज्य एक प्राकृतिक संस्था न होकर आवश्यक बुराई है। उसके अनुसार राज्य तो एक प्राकृतिक संस्था है, एक समाजोपयोगी संस्था है। राज्य इसलिए आवश्यक नहीं है कि वह मनुष्यों की बुराइयों को देखता है, बल्कि इसलिए आवश्यक है कि राज्य के भीतर रहकर ही मनुष्य अपना पूर्ण विकास कर सकता है। राज्य के बाहर रहकर वह पूर्ण आत्म–साक्षात्कार नहीं कर सकता। राज्य एक सर्वथा स्वाभाविक संस्था है। यदि मनुष्य का पतन न हुआ होता तो भी यह मानव–समाज में पाई जाती।

5.5.2 राज्य के दायित्व–एक्वीनास, यूनानी, रोमन और ईसाई धर्म के विचारों का समन्वय करते हुए राज्यों के कार्यों का निर्धारण करता है। उसके अनुसार राजपद एक ऐसा पद है जो सम्पूर्ण समाज के लिए है। सामाजिक हित में योग देने में ही शासक की सार्थकता है। इसी के लिए वह अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है। शासन का नैतिक उद्देश्य बड़ा उच्च है। उसका कार्य राज्य के प्रत्येक वर्ग को ऐसी स्थिति में ला देना है कि वह सुखी और सद्गुणी जीवन–यापन कर सके। राज्यों को चाहिए कि वह प्रजाजन के लिए उत्तम जीवन बिताने की परिस्थितियों उत्पन्न करे और राज्य में एकता तथा शान्ति बनाए रखे। राज्य को अथवा शासकों को बाह्य शत्रुओं से समाज की रक्षा के लिए सदैव सन्नद्ध रहना चाहिए और काननों के पालन के लिए पुरस्कार तथा दण्ड–व्यवस्था द्वारा प्रजा को नियन्त्रण में रखना चाहिए। राज्य में जीवन को नियमित करो के लिए जनसंख्या पर आवश्यक नियन्त्रण रखना, सड़कों को सुरक्षित और चोर–डाकुओं के उपद्रव से मन रखना, राज्य के लिए विशेष मुद्रा–पद्धति चलाना, भार और तोल की समुचित प्रणाली निश्चित करने के भरण–पोषण की व्यवस्था करना आदि भी शासक के कर्तव्य हैं। वस्तुतः एक्वीनास ने सव्यवस्थित जीवन को मानव–जीवन के सुख और कल्याण की दृष्टि से बड़ा सहायक माना है।

5.5.3 सरकार के रूप–एक्वीनास ने शासन के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण भी किया है। रात वह सर्वहितकारी शासन–प्रणाली को अच्छी एवं न्यायपूर्ण तथा केवल मात्र शासक का हित साधने वाली शासन–प्रणालियों को निकृष्ट बताया है। उसने राज्यों को राजतन्त्र, अभिजात्यतन्त्र, निरंकुश तन्त्र, सामन्ततन्त्र, मध्यवर्गीय जनतन्त्र, लोकतन्त्र आदि में विभक्त किया है। राजतन्त्र और जनतन्त्र में कौनसा शासन अच्छा है ? इस पर अरस्तू की तरह उसका एकमत नहीं है। फिर भी उसने राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन–प्रणाली माना है और इस विषय में अरस्तू के ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' की तर्कशैली का अनुसरण किया है। उसके अनुसार एकता समाज का मुख्य ध्येय है, अतः सरकार के संगठन में एकता लाने के लिए शासन की बागडोर एक ही व्यक्ति के हाथ में रहनी चाहिए। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों पर हृदय शासन करता है, इस विस्तृत संसार पर केवल एक ही शक्ति ईश्वर का शासन है। मधमक्खियों पर रानी मक्खी का साम्राज्य है, उसी प्रकार राज्य में एक व्यक्ति का शासन होना उचित है। राजतन्त्र में शान्ति, सुव्यवस्था एवं समन्वय भलाभाति स्थापित किया जा सकता है। वास्तव में मध्यकाल की अराजक और अशान्त राजनीतिक परिस्थितियों में शान्ति स्थापित करने में सक्षम राजतन्त्र को एक्वीनास द्वारा श्रेष्ठ माना जाना स्वाभाविक ही था। यद्यपि एक्वीनास ने राजा की शक्ति सीमित होने की बात कही है पर उसने अपने आशय को स्पष्ट नहीं किया है।

5.5.4 अत्याचारी शासन–एक्वीनास ने राजतन्त्र में एक खतरनाक दोष भी देखा है जिसके कारण राजतन्त्र निरंकुशतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। यह निरंकुशतन्त्र अथवा अत्याचारतन्त्र (ज्लतंददल) विकृत राजतन्त्र है जिसमें शासक प्रजा के हित का ध्यान न रखकर अपने हितार्थ शासन करता है। उसका यह भी विश्वास है कि राजतन्त्र से अधिक निरंकुशतन्त्र प्रजातान्त्रिक प्रणाली में होता है। जो भी हो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वह जॉन ऑफ सेलिसबरी की भाँति ही अत्याचारी शासन को नापसन्द करता है तथापि वह उसके वध का समर्थक नहीं है। यदि सम्पूर्ण जनता चाहे तो प्रतिरोध कर सकती है। प्रतिरोध के इस आधार पर नैतिक प्रतिबन्ध यही है कि "प्रतिरोधियों की कार्यवाही से सामान्य हित को उस बुराई की अपेक्षा जिसके निवारण का वे प्रयास कर रहे हैं, कम हानि पहुँचनी चाहिए।" अत्याचारी शासक के वध का विरोध करते हुए उसने लिखा है कि "प्रायः ऐसा कार्य सज्जन नहीं बल्कि दुर्जन किया करते हैं और दुर्जनों को अत्याचारी शासकों के शासन की अपेक्षा उत्तम राजाओं का शासन बुरा लगता है। अतः अत्याचारी शासकों के वध के

अधिकार को स्वीकार कर लेना इस सम्भावना को स्वीकार कर लेना होगा कि अत्याचारी शासकों की जगह उत्तम शासकों का ही अधिक वध होने लगेगा।" एक्वीनास राजद्रोह (मकपजपवद) को भयंकर पाप मानता है, लेकिन अत्याचारी शासन के प्रतिरोध को वह राजद्रोह नहीं समझता।

एक्वीनास ने अत्याचारी शासन के विरुद्ध उपलब्ध दो साधनों का उल्लेख किया है। पहला साधन यह है कि कुछ शासनों में जनता शक्ति की स्रोत होती. है, अतः वह उन शर्तों को लागू कर सकती है जिनके अनुसार सत्ता दी गई हो। दूसरा उपलब्ध साधन यह है कि यदि किसी शासन का राजनीतिक प्रधान हो तो शिकायत को दूर करने के लिए उच्चतर शासक से अपील की जा सकती है। एक्वीनास ने इन दोनों ही शासन–प्रणालियों को दो विशिष्ट प्रकार की शासन–प्रणालियाँ स्वीकार किया है, अतः ऐसा लगता है कि राजनीतिक सत्ता के स्रोत के विषय में वह कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं रखता था।

5.5.5 राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच समन्वय–एक्वीनास ने संघर्षरत राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसने इस प्रश्न का समाधान करने की चेष्टा की कि दोनों के बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिए? एक्वीनास ने बताया कि मनुष्य के दो उद्देश्य हैंकृसांसारिक सख की प्राप्ति तथा आत्मिक सुख की प्राप्ति। दोनों के लिए दो सत्ताएँ हैं–एक राज्य की, दूसरी चर्च की किन्तु ये दोनों सत्ताएँ एक–दूसरे के समानान्तर अथवा अलग–अलग क्षेत्रों में नहीं हैं। व्यक्ति का जीवन तो एक ही है, केवल उद्देश्य दो हैं। एक ही व्यक्ति नागरिक भी है और धर्म की दृष्टि में ईसाई भी अतः एक ही जीवन के दो ऐसे शासक नहीं होने चाहिए जो परस्पर संघर्ष करके व्यक्ति के जीवन को ही समाप्त कर दें। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य और चर्च परस्पर संघर्षरत न होकर एक–दूसरे के साथ निश्चित सम्बन्ध स्थापित करके, व्यक्ति को नियन्त्रित करें।

मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है। राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसी स्थितियाँ और कर जिनमें रहकर मनुष्य सदगणों का उपार्जन करे और मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़े। मोक्ष के लिए आत्म–शानि का हाना आवश्यक है, यह कार्य चर्च सम्पन्न करे। एक्वीनास ने कहा कि भौतिक उद्देश्य आत्मिक उद्देश्य का एक साधन है, अतः राज्य धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति करने वाले चर्च का साधन है इसलिए राज्य को चाहिए कि वह चर्च के अधीन रहते हुए अपना कार्य सम्पादन करे।

एक्वीनास ने यधपि चर्च आवा धर्म की प्रभुसत्ता का समर्थन किया, किन्तु इस रूप में नहीं कि राज्य और चर्च टकरा जाएँ। उसने कहा कि आत्मिक शुद्धि प्रदान करने वाली शक्ति अवश्य ही उस शक्ति से श्रेष्ठ है और केवल बाह्य साधनों को जुटाती है किन्तु फिर भी दोनों सत्ताओं का अपने–अपने स्थानों पर महत्त्व है, इसलिए उन्हें परस्पर सहयोग करना चाहिए। राजसत्ता के अधिकारियों को धर्मसत्ता के अधिकारियों से आन्तरिक शक्ति ग्रहण करनी चाहिए। यदि सम्पूर्ण संसार ईसाई धर्म स्वीकर करके पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि मान ले तो मनुष्य के सभी कष्टों का अन्त हो सकता है।

एक्वीनास ने पोप के इस अधिकार का समर्थन किया कि वह धार्मिक सत्ता की उपेक्षा करने पर राजाओं को पदच्युत कर दें। उसका विश्वास था कि यदि पोप की एकताकारी शक्ति का ह्रास हो जाएगा तो सामन्तवादी यूरोप आपस में लड–भिड़ कर नष्ट हो जाएगा। पर इतना होने पर भी उसका यह विचार नहीं था कि राजा अथवा शासक को अपने अधिकार पोप से मिले हों। उसका यह विचार उसके इस सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम था कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है और राजा अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त करता है ताकि वह समाज–कल्याण के नैतिक उद्देश्यों को पूरा कर सके।

स्पष्ट है कि एक्वीनास एक सामन्तवादी विचारक था जिसने पोप को राज्य के ऊपर कोई प्रत्यक्ष अधिकार नहीं सौंपा। उसने यह कहने में भी कोई हिचक नहीं की कि निरे लौकिक विषयों में आध्यात्मिक शक्ति की अपेक्षा लौकिक शक्ति का आज्ञानुवर्ती ही रहना चाहिए।

5.5.6 सम्पत्ति सम्बन्धी विचार–अरस्तु के अनुसार एक्वीनास ने भी व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन किया और उसे मानव जीवन के लिए आवश्यक माना लेकिन अपने युग के धार्मिक प्रभावों के फलस्वरूप सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसके विचार दुविधाग्रस्त रहे। इसीलिए मध्ययुगीन ईसाई पादरियों के विचारों से सहमत होते हुए, एक्वीनास ने कहा कि सम्पत्ति पर चर्च और पोप का अधिकार अधिक उपयुक्त है, क्योंकि पोप के अधिकार में रहने से सम्पत्ति का स्वरूप वह नहीं रहता जो किसी सामन्त अथवा धनिक व्यक्ति के अधिकार में रहने से होता है। पोप के अधिकार में रहने वाली सम्पत्ति का उपयोग निर्धनों की सहायता के लिए होता है, धार्मिक नियमों के अनुसार होता है। एक्वीनास ने कहा कि यद्यपि सम्पत्ति की अधिकता पाप का एक मुख्य कारण है पर जिस सम्पत्ति पर धर्म की छाप लग जाती है उसके सभी दोष नष्ट हो जाते हैं।

5.6 कानून पर एक्वीनास के विचार

एक्वीनास के कानून सम्बन्धी विचारों पर स्टोइकवाद और अरस्तू का प्रभाव है। कानून की मीमांसा में उसने सिसरो, ऑगस्टाइन तथा रोमन विधि–शास्त्रियों के विचारों का भी समन्वय किया। "कानून विवेक का वह अध्यादेश है जिसे लोक–हित के लिए किसी ऐसे व्यक्ति ने प्रख्यापित किया हो जो समाज कल्याण के लिए उत्तरदायी हो।" एक्वीनास के

मत में विधेयात्मक कानून का केवल शासक द्वारा लागू किया जाना ही आवश्यक नहीं है बल्कि उसका विवेक–सम्मत होना भी जरूरी है। ऐसा कानून कभी सच्चा नहीं हो सकता जिसका उद्देश्य सामान्य हित न हो। यदि राजा द्वारा जारी किया गया आदेश विवेकपूर्ण और सामान्य हित के उद्देश्य से प्रेरित नहीं है तो वह सच्चा कानून नहीं है और इसी तरह विवेक का वह आदेश भी कानून नहीं है जब तक राजा द्वारा जारी किया जाकर वह समुचित रूप न ग्रहण कर ले।

एक्वीनास कानून को स्वयं–सिद्ध मानते हुए मानवीय कानून को दैविक कानून के साथ संयुक्त करने का प्रयास करता है। मानवीय–विधि उस दैवी शासन–व्यवस्था का एक अभिन्न भाग है जिसके अनुसार स्वर्ग तथा पृथ्वी पर प्रत्येक वस्तु का शासन होता है। यह व्यवस्था सीधे ईश्वर के विवेक से उत्पन्न हुई है और सभी प्राणियों का नियमन करती है।

एक्वीनास ने कानूनों को निम्नलिखित चार रूपों में बाँटा है–

5.6.1 शाश्वत कानून–शाश्वत कानून का सम्बन्ध दैविक अथवा ईश्वरीय विवेक से है जो सभी सृजी हुई वस्तुओं में व्याप्त रहता है। सेबाइन के शब्दों में, "यह दैवी बुद्धि की शाश्वत योजना है जिसके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि व्यवस्थित होती है। यह विधि स्वयं अपने में मनुष्य की भौतिक प्रकृति से ऊपर है और मनुष्य की समझ से बाहर है, लेकिन इसी कारण वह मनुष्य के विवेक के प्रतिकूल नहीं है। जहाँ तक मनुष्य की शान्त प्रकृति अनुमति देती है, ईश्वर की बुद्धिमत्ता और अच्छाई में भी मनुष्य का भी भाग रहता है। ईश्वर की ये विभूतियाँ मनुष्य के अन्दर प्रकट होती है, तथापि मनुष्य की प्रकृति दैवी–पूर्णता का केवल विकृत चित्र ही प्रस्तुत कर पाती है।" एक्वीनास के अनुसार समस्त सृष्टि–दैव, मानव, पशु और जड़ पदार्थ शाश्वत कानून के अधीन हैं। शाश्वत विधियाँ सर्वोच्च विवेक की प्रतीक हैं, उन्हें पूर्ण रूप से न समझ पाने के कारण ही मनुष्य भाग्य के भरोसे बैठा रहता है। चूँकि अपनी सीमित बुद्धि के कारण शाश्वत कानूनों का आभास मनुष्य को स्पष्ट रूप से नहीं हो पाता अतः प्राकृतिक कानून के रूप में ईश्वर मनुष्य को शाश्वत कानून का आभास करा देता है।

5.6.2 प्राकृतिक कानून–एक्वीनास के मतानुसार प्राकृतिक कानून सृष्टि के प्राणियों में दैवी बुद्धि का प्रतिबिम्ब है। इसकी प्रेरणा से सभी प्राणी अच्छाई को प्राप्त और बुराई को दूर करना चाहते हैं। इन कानूनों की उत्पत्ति शाश्वत कानूनों से होती है किन्तु ये उनसे अधिक स्पष्ट और बोधगम्य होते हैं। ये कानून मौलिक रूप से सबके लिए समान होते हैं, परन्तु कुछ विशेष काल और स्थान के लिए भिन्न–भिन्न भी हो सकते हैं। प्राकृतिक कानून विश्व की सभी वस्तुओं में समान रूप से व्याप्त हो सकते हैं, चाहे मनुष्य हों, पशु हों या वनस्पतियाँ हो। अन्तर यही है कि मनुष्य में इनका बड़ा सुन्दर ढंग से अभिव्यक्तिकरण हुआ है क्योंकि वह विवेक से कार्य करता है जबकि पशु–पौधे अचेतन रूप से कार्य करते हैं। प्राकृतिक कानून ईश्वरीय विवेक से उत्पन्न होते हैं अतः ये अपरिवर्तनीय होने के साथ ही आवश्यक भी हैं,। प्राकतिक विधि में वे सभी बातें शामिल हैं जो मनुष्य की प्रवृत्ति को व्यापकतम आधार प्रदान करती हैं। आत्मरक्षा की प्रवृत्ति, यौन–सम्भोग, सन्तान की इच्छा, समाज में रहकर जीवन बिताने की इच्छा, सत्य का बोध, बद्धि का विकास आदि बातें कानून से सम्बन्धित हैं। विवेक से उत्पन्न होने के कारण ये कानुन सभी ईसाइयों और पैगमों में समान रूप से पाए जाते हैं।

5.6.3 देवी कानून–दैवी कानूनों को एक्वीनास ने प्राकृतिक कानूनों से निम्न स्थान है। इनकी प्राप्ति उपबोध द्वारा होती है। बाद में इन्हें धर्म–ग्रन्थों में लिपिबद्ध कर दिया जाता है। जब कोई मनुष्य विवेकशून्य होता है अथवा अपनी बुद्धि को त्याग देता है तो ये दैवी कारन म उत्पन्न कमियों और बुराइयों को दूर करते हैं। ये विधियों ईश्वर की देन हैं। इनके अध्ययन और अनुसरण समय मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। दैवी कानून ईश्वर प्रदत्त एक उपहार है, मानव–बुद्धि की खोज नहीं। पर जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को जितना निर्धारित करता है उतना लौकिक पक्ष को नहीं। विभिन्न जातियो और कालों में देवी कानून का रूप और तत्त्व भिन्न–भिन्न होता है जबकि प्राकृतिक कानून मानव–मात्र के लिए एक हैं। प्राकृतिक कानून और देवी कानून में विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि वे विवेक–सम्मत होते हैं। सेबाइन खपालों में "थॉमस की प्रणाली विवेक और श्रद्धा पर आधारित है और उसमें कोई सन्देह नहीं हुआ कि दोनों मिलकर ही भवन का निर्माण करते हैं।"

5.6.4 मानवीय कानून–मानवीय कानूनों को एक्वीनास ने सबसे निम्न श्रेणी का शाश्वत, प्राकृतिक और दैवी विधियाँ मनुष्यों पर लागू अवश्य होती हैं किन्तु न तो मनुष्य तक ही सीमित हैं और न केवल मानवीय प्रकृति के ऊपर ही आधारित हैं। जो विधि विशेष रूप से मनुष्य के लिए है उसे एक्वीनास मानवीय विधि का नाम देता है। उसके उसने दो भेद माने हैं–राष्ट्रों के कानून और नागरिकों के कानून।

मानवीय कानूनों का स्रोत प्राकृतिक विधि है। जब धीरे–धीरे प्राकृतिक विधियाँ परम्परा में प्रचलित हो जाती हैं तो राज्य इन कानूनों का समर्थन करता है। राज्य द्वारा समर्थन अथवा इन कानूनों का सम्पष्टिकरण होने पर मनुष्य इन्हें मानने के लिए बाध्य हो जाता है। इनके पालन से सामाजिक व्यवस्था को बल मिलता है। इनका पालन न करने पर व्यक्ति राज्य द्वारा दण्डनीय होता है। मानवीय कानून समाज के संरक्षक अर्थात् राजा द्वारा लागू होता है। लेकिन इसे बनाने में राजा मनमानी नहीं कर सकता। उसे यह ध्यान रखना पड़ता हैं ये कानून विवेक सम्मत हों और प्राकृतिक कानून से असंगत् न हों। एक्वीनास मानवीय कानून को प्राकृतिक कानून के अधीन रखता है। उसके अनुसार विवेक विरोधी किसी भी मानवीय कानून को मानने के लिए कोई नागरिक बाध्य नहीं है। इस तरह वह राजकीय कानून को मानने के कर्तव्य को

असीम एवं अशर्त नहीं मानता। व्यक्ति न्यायोचित और विवेक–सम्मत राजकीय आज्ञाओं का ही पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। संयोगवश किसी दुष्परिणाम से बचने के लिए यदि किसी कानून को उसके न्यायोचित न होने पर भी मानना पड़े तो अलग बात है। मानवीय कानून के निर्माण में शासक पर एक्वीनास का एक अन्य प्रतिबन्ध यह है कि कानून किसी व्यक्ति या वर्ग–विशेष के हितार्थ नहीं बल्कि सामान्य हित के लिए बनाया जाना चाहिए। पुनश्चः, राजा की विधि–निर्मात्री शक्ति केवल लौकिक विषयों तक ही सीमित है। आध्यात्मिक विषय इसकी सीमा में नहीं आते, वे दैवी कानून की सीमा में हैं।

एक्वीनास द्वारा बतलाए गए कानूनों के पारस्परिक सम्बन्ध को डनिंग ने इस प्रकार व्यक्त किया है, "शाश्वत कानून विश्व को नियन्त्रित करने वाली योजना है जो ईश्वर के मस्तिष्क में विद्यमान है। प्राकृतिक कानून मनुष्य का, एक बुद्धिपरक प्रणाली के रूप में, शाश्वत कानून में भाग लेना है, जिसके द्वारा वह भले–बुरे की पहचान करता है और अपना सही एवं सच्चा लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करता है। मानवीय कानून, मानवीय बुद्धि द्वारा, प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त का विशिष्ट लौकिक स्थितियों में प्रयोग करना है। विशेष दृष्टिकोण से दैविक कानून वह है जिसके द्वारा मानव–विवेक की सीमाओं और अपूर्णताओं की पूर्ति की जाती है और मनुष्य को पारलौकिक लक्ष्य अर्थात् नित्यानन्द की ओर निर्दिष्ट किया जाता है, यह दैविक ज्ञान का कानून है।"

5.7 एक्वीनास के दासता सम्बन्धी विचार

एक्वीनास संत ऑगस्टाइन एवं प्रारम्भिक चर्च–पिताओं के समान ही दासता को न्याय का दैवी दण्ड समझता है और उसका समर्थन करता है। वह दास–प्रथा को अरस्तू की भाँति कुछ कामों के लिए लाभदायक मानता है। यह एक स्वाभाविक प्रथा है और सैनिकों में वीरता का संचार करती है। सैनिक युद्ध–क्षेत्र में दास बनाए जाने के भय से वीरता और साहसपूर्वक लड़कर विजेता बनने का प्रयत्न करते हैं। इस मत के समर्थन में एक्वीनास ने इतिहास और ओल्ड टेस्टामेण्ट की 'डिट्रानमी' नामक पुस्तक से प्रमाण भी दिए हैं।

5.8 एक्वीनास का योगदान

सन्त एक्वीनास का मूल्याँकन तीन प्रमुख बिन्दुओं के आधार पर किया जा सकता हैप्रथम, वह महानतम मध्य–युगीन दार्शनिक था। द्वितीय, वह मध्ययुग का अरस्तू था। तृतीय, राजदर्शन को उसके अनेक प्रमुख अनुदाय हैं।

5.8.1 मध्य युग का महानतम दार्शनिक–एक्वीनास मध्ययुग का एक सर्वाधिक प्रतिभा सम्पन्न दार्शनिक था जो "मध्य–युग के समग्र विचार का प्रतिनिधित्व करता है।" उसका विशेष महत्त्व इस बात में है कि उसने से अलग–अलग बहती विचारधाराओं को एक पद्धति में संश्लिष्ट करने का प्रयत्न किया। एक्वीनास ने विभिन्न विधि–वेत्ताओं, धर्मशास्त्रियों, टीकाकारों, ईसाई प्रचारकों, चर्च एवं राज्य के समर्थको के विभिन्न और परस्पर विरोधी विचारों तथा दृष्टिकोणों में एकता और क्रमबद्धता लाने का प्रयत्न किया। सेबाइन के शब्दों में "एक्वीनास के दर्शन का मूल मन्त्र यह था कि उसने समरसता और समैक्यता पर आधारित एक सार्वभौमिक लेषण और एक सर्वांगीण पद्धति के निर्माण की चेष्टा की।"

एक्वीनास ने सम्पूर्ण मानव–ज्ञान को एक पिरामिड के समान माना जिसका आधार विभिन्न ज्ञान–विज्ञानों से मिलकर बना है और जिसमें दर्शन का स्थान सर्वोपरि है। उसने कहा कि "धर्म और दर्शन, बुद्धि और विवेक, श्रद्धा तथा विश्वास में कोई विरोध नहीं है। विज्ञान एवं दर्शन जिस पद्धति को आरम्भ करते हैं उसे धर्मशास्त्र पूर्ण करता है। धर्म विवेक की पूर्णता है। धर्म एवं विवेक मिलकर ज्ञान के मन्दिर का निर्माण करते है और इनका परस्पर एक–दूसरे से कभी संघर्ष नहीं होता।" सन्त एक्वीनास के विचार धार्मिक थे, फिर भी मध्ययुगीन विचारकों से वे कहीं अधिक विवेक और बुद्धि पर आधारित थे। एक्वीनास ने सार्वभौमिक राजतन्त्र का प्रतिपादन करते हुए ईसाई धर्म के प्रचार के लिए अथक् प्रयास किये। उसने अपनी रचनाओं में यूनानी, रोमन तथा मध्ययुगीन पादरियों के विचारों का समन्वय किया। मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके वह विश्व के समक्ष एक व्यक्तिवादी विचारक के रूप में प्रकट हुआ। उसकी मानवीय कानून की विचारधारा में हमें आधुनिकता की झलक देखने को मिलती है।

5.8.2 मध्य–युग का अरस्तू–एक्वीनास मध्य–युग का अरस्तू था। उसने अरस्तू के दर्शन रूपी नींव पर चर्च, धर्म–शास्त्रीय विचार और पोप के श्रेष्ठता रूपी भवन का निर्माण किया। अरस्तू के आधारभूत विचारों का बाइबिल की शिक्षाओं से समन्वय अथवा सम्मिश्रण करके उसने एक नई विचारधारा को जन्म दिया। एक्वीनास ने अरस्तु से कितना ग्रहण किया अथवा वह अरस्तू का कितना ऋणी थाकृइस पर एक्वीनास के दर्शन के वर्णन के प्रसंग में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। एक्वीनास ने अरस्तू के समान यह स्वीकार किया कि कुछ ऐसे सत्य भी हैं जो बुद्धि से परे हैं और जिनका ज्ञान केवल श्रद्धा तथा ईश्वरीय कृपा से ही सम्भव है। उसने अरस्तू के समान ही यह भी माना है कि मानव समाज की रचना सब व्यक्तियों के हित के लिए हुई है तथापि यह अवश्य है कि उसने मानव–समाज से श्रेष्ठतर स्थान दैवी समाज को दिया है। अरस्तू की ही भाँति एक्वीनास राज्य को व्यक्ति के सांसारिक जीवन के लिए अनिवार्य मानते हुए राज्य के कार्य–क्षेत्र को व्यापक बनाने के पक्ष में है और इसलिए उसे आर्थिक, शैक्षिक तथा सामाजिक कार्य सौंपता है। पर राज्य की श्रेष्ठता और उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसका आग्रह इस बात पर है कि सर्वोच्च मानव–संस्था चर्च है, न

कि राज्य। अरस्त की भाँति एक्वीनास भी मानता है कि समाज श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति हेतु की जानेवाली सेवाओं के पारस्परिक विनिमय की व्यवस्था है। ईसाई धर्म के परम्परागत विचार को एक्वीनास ठुकरा देता है कि राज्य की उत्पत्ति पाप से और पनुष के पतन के कारण हुई है। यह अरस्तू के दर्शन के इस आधारभूत विचार से सहमत है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है, मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का परिणाम है तथा उसका उद्देश्य नागरिकों को शुभ जीवन की प्राप्ति में सहायता देना है। पर एक्वीनास चाहता है कि शुभ जीवन इस प्रकार का होगा जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सके और इसके लिए वह चर्च को आवश्यक मानता है।

शासन के विभिन्न रूपों के वर्गीकरण में भी एक्वीनास ने अरस्तू का अनुसरण किया है। अरस्त की भाँति वह सर्वहितकारी शासन प्रणाली को अच्छा और न्यायपूर्ण तथा केवल मात्र शासक का हित साधने वाली शासन–प्रणाली को निकष्ट बताता है। अरस्तू की भांति वह भी मिश्रित शासन–व्यवस्था का करता है। एक्वीनास के कानून सम्बन्धी विचारों पर भी अरस्तू का प्रभाव है। वह कानून को विवेक बुद्धि का परिणाम मानता है। पर साथ ही वह कानून में ईश्वर प्रदत्त शाश्वत और दैवी कानून को भी शामिल कर देता है। अरस्त की नैतिकता सम्बन्धी अथवा आचारशास्त्र की विचारधारा को भी एक्वीनास ने स्वीकार किया है, तथापि उसके मत में अरस्तू का बड़ा दोष यह है कि उसने इस सत्य की उपेक्षा कर दी है कि मनुष्य का प्रकृति से परे भी एक लक्ष्य है और वह है मोक्ष एवं भावी आनन्द की प्राप्ति।

स्पष्ट है कि एक्वीनास पर अरस्त का गहरा प्रभाव था, पर जहाँ अरस्त के विचारों का खण्डन नहीं किया गया है वहाँ उन्हें पूर्ण सत्य भी नहीं माना है। एक्वीनास ने अरस्तु के विचारों को उसी सीमा तक सत्य माना है जहाँ तक श्रद्धा–रहित मानव–बुद्धि की पहुँच है। एक्वीनास ने अरस्तू की धारणाओं को स्वीकार करते हुए भी ईसाई धर्म के आदर्शों और सिद्धान्तों को उससे ऊँचा स्थान दिया है। वस्तुतः यह कहना उपयुक्त होगा कि अरस्तू के दर्शन रूपी नींव पर एक्वीनास ने ईसाई भवन का निर्माण किया है, और इसलिए एक्वीनास को 'ईसाईकृत अरस्तू' तथा उसके दर्शन को 'ईसाई अरस्तूवाद' तक कह दिया जाता है।

5.8.3 एक्वीनास की प्रमुख देन–राजदर्शन के इतिहास में एक्वीनास की मुख्य देन निम्नांकित हैं–

(i) एक्वीनास ने कानून की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करके वैधानिक राजतन्त्र की नींव डाली।

(ii) उसके विचारों ने यूरोप में विधानवाद फैलाया। उसने अपने विधानवाद में अरस्तू का अनुसरण किया किन्तु उस पर अपने व्यक्तित्व की प्रभावशाली छाप लगाई।

(iii) उसने मध्ययुगीन अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध करके नागरिकता को उच्च–स्थान प्रदान किया, जिसे बाद में मैकियावली जैसे दार्शनिकों ने अपनाया।

(iv) उसने राज्य के कार्यों की विशद् विवेचना करते हुए बतलाया कि राज्य का उद्देश्य लोक कल्याण होना चाहिए। आधुनिक प्रजातन्त्र में भी इसी भावना को संजोया जाता है।

(v) एक्वीनास ने विधि शासन की नींव डाली।

(vi) उसने अपने राज–दर्शन में विवेक एवं दैवी सन्देशों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

अन्त में, सेबाइन के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "वस्तुतः एक्वीनास ने एक ऐसी व्यावहारिक प्रणाली खोजने की चेष्टा की जिसके अनुसार ईश्वर, प्रकृति एवं मानव के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध हो और जिसमें समाज एवं शासन–सत्ता एक–दूसरे का साथ देने को तैयार हो।"

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. एक्वीनास के प्रमुख राजनीतिक विचारों का विवेचन कीजिए।
2. एक्वीनास के कानून सम्बन्धी विचारों का परीक्षण कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. एक्वीनास के सम्पत्ति विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
2. एक्वीनास के दासता सम्बन्धी विचार लिखिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. एक्वीनास ने राज्य एवं चर्च में से किसे सर्वोपरि माना?
2. एक्वीनास ने किस कानून को सर्वश्रेष्ठ माना?

इकाई–6
मैकियावली

संरचना

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 जीवन परिचय

6.3 प्रमुख रचनाएँ

6.4 मैकियावली अपने युग के शिशु के रूप में

6.4.1 पुनर्जागरण आन्दोलन

6.4.2 शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्रों की स्थापना

6.4.3 इटली का राजनीतिक विभाजन और उसकी दुर्दशा

6.4.4 इटालियन समाज की दुर्दशा

6.4.5 धर्म और नैतिकता

6.4.6 मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा

6.5 मैकियावली का राजनीतिक चिंतन

6.6 मानव स्वभाव सम्बन्धी विचार

6.6.1 मैकियावली की राज्य और शासन सम्बन्धी विचारधारा मानव स्वभाव पर आधारित

6.7 मैकियावली के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों की आलोचना

6.8 मैकियावली : राजनीति का धर्म और नैतिकता से पृथक्करण

6.8.1 राजनीति का धर्म और नैतिकता से पृथक्करण के कारण अभ्यास प्रश्न अभ्यास प्रश्न

6.8.2 आलोचनात्मक मूल्यांकन

6.9 मैकियावली के राज्य सम्बन्धी विचार

6.9.1 राज्य का उद्‌भव व प्रकृति

6.9.2 राज्य के विस्तार पर बल

6.9.3 राज्यों का वर्गीकरण और विभिन्न शासन प्रणालियां

6.9.4 सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार

6.9.5 विधि सम्बन्धी विचार

6.9.6 राजा (प्रिंस) के आचरण के सिद्धान्त या शासक के कर्तव्य

6.10 मैकियावलीः प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक के रूप में

6.10.1 मध्ययुगीन विचारधारा पर प्रहार

6.10.2 प्रथम राजनीति वैज्ञानिक

6.10.3 ऐतिहासिक पद्धति

6.10.4 राज्य की आधुनिक स्थिति का निरूपण

6.10.5 राज्य की प्रभुसत्ता का पोषक

6.10.6 राष्ट्र राज्य की धारणा का सन्देशवाहक

6.10.7 राजनीति का धर्म और नैतिकता से पृथक्करण

6.10.8 शक्ति और सत्ता के राजनीति में प्रयोग का पक्षधर

6.10.9 संघ राज्य का प्रथम उद्‌घोषक

6.11 मैकियावली के विचारों की आलोचना मैकियावली मैकियावली

6.11.1. अध्ययन पद्धति त्रुटिपूर्ण

6.11.2 मानव स्वभाव सम्बन्धी एकाकी दृष्टिकोण

6.11.3 राजनीति में नैतिकता की उपेक्षा अनुचित

6.11.4 राजनीति विज्ञान के मौलिक प्रश्नों की उपेक्षा

6.11.5 अवसरवादी राजनीति का प्रणेता

6.12 निष्कर्ष

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी

- मैकियावली के जीवन चरित्र एवं राजनीतिक विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के जनक के रूप में मैकियावली का मूल्यांकन कर सकेंगे।
- मैकियावली के राज्य सम्बन्धी विचारों को जान सकेंगे।
- मैकियावली प्रथम आधुनिक विचारक है, यह जान सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

मैकियावली को सबसे पहला आधुनिक राजनीतिक चिन्तक कहकर मैक्सी ने पुकारा है और डनिंग के अनुसार, 'प्रिन्स' सबसे पहली महान् रचना है जिसमें मध्ययुगीन चिन्तन प्रणाली का परित्याग किया गया है। गैटैल के शब्दों में, 'मैकियावली आधुनिक राजदर्शन का जनक था।" और सेबाइन के अनुसार "सम्पूर्ण पुनरुत्थान मैकियावली में आ गया है।" जोन्स लिखते हैं "मैकियावली अपने समय का एक उत्कृष्टतम निचोड़ है।" वस्तुतः मैकियावली के राजनीतिक चिन्तन को आधुनिक युग के प्रथम राजनीतिक होने का गौरव प्राप्त है, क्योंकि उसके विचार मध्ययुगीन परम्पराओं से सर्वथा भिन्न हैं। मध्ययुग के समस्त राजनीतिक विचारकों का चिन्तन चर्च तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण की समस्या पर ही केन्द्रित था। इसके विपरीत, मध्ययुगीन की लीक से हटकर मैकियावली राजनीति में धर्मवाद और नैतिकतावाद का अनुसरण करने के बजाय शुद्ध व्यवहारवाद का अनुसरण करता है। उसने राजनीति दर्शन को मध्ययुग के पांडित्यपूर्ण अस्पष्टवाद से बचाते हुए ऐतिहासिक और अनुभवसिद्ध तथ्यों के आधार पर राजनीति दर्शन में एक नूतनधारा का सूत्रपात किया। वस्तुतः वह प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक था जिसने एक प्रभुतासम्पन्न धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय राज्य की कल्पना की थी। "उसने अन्य राजीतिक विचारकों से अधिक राज्य शब्द के अर्थ को जो कि आधुनिक राज्य की परिभाषा से सम्बन्धित है, प्रतिपादित किया। "1 गैटेल के शब्दों में "वह प्रथम आधुनिक यथार्थवादी था जिसने बताया कि राज्य को स्वयं के लिए जीवित रहना चाहिए तथा उसको अपने संरक्षण तथा हित संवर्द्धन का उद्देश्य रखना चाहिए।"

6.2 जीवन परिचय

मैकियावली का जन्म इटली के पुनर्जागरण आन्दोलन के अग्रणी नगर फ्लोरेन्स के एक सामान्य कुल में सन् 1469 में हुआ। उसको कोई बहुत उच्च शिक्षा तो प्रदान नहीं की गई पर लेटिन का अच्छा ज्ञान कराया गया। उसमें योग्यता, चतुराई और बुद्धिमत्ता इतनी अधिक थी कि प्लोरेन्स के गणराज्य में उसे गृह एवं विदेश कार्यालय में क्लर्की प्राप्त हो गई। चार वर्ष में ही वह उन्नति करते हुए चांसरी के द्वितीय सचिव के उच्च पद तक पहुंचा कर 1512 ई. तक इस पद पर बना रहा। इस कालावधि (1498–1512) में उसकी योग्यता से प्रभावित होकर उसे फ्लोरेन्स का दूत बनाकर विशेष कार्य के लिए विदेश राज्यों में भेजा गया। वह विभिन्न यूरोपियन देशों में 23 बार दूत नियुक्त हुआ जिससे उसे फ्रांस के लुई बारहवें, पवित्र रोमन सम्राट मेक्सिमिलियन प्रथम, पोप जुलियस द्वितीय के दरबारों में जाने तथा वहां के कूटीतिक दाव–पेचों और राजीतिक षड्यन्त्रों के अध्ययन का अच्छा अवसर मिला। अपने इसी कार्य में 1502 ई. में उसे पोप एलेक्जेंडर षष्ठ के अवैध किन्तु सैनिक दृष्टि से योग्य बेटे, नैतिकता के नियमों की परवाह न करते हुए अत्याचारों के माध्यम से इटली का शासन करने वाले ड्यूक सीजर बोर्जिया के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। 1512 ई. में फ्लोरेन्स के गणराज्य में राजनीतिक परिवर्तन के साथ मैकियावली के भाग्य ने पलटा खाया। रेवेना की जंग में स्पेन के मुकाबले फ्रांस की पराजय हुई। इसकी भीषण प्रतिक्रिया फ्लारेन्स में हुई स्पेन के समर्थकों ने जो फ्लोरेन्स में सत्तारूढ़ हुए, मैकियावली को अन्य व्यक्तियों के साथ देश से निकाल दिया। तब से उसके जो दिन बिगड़े तो वे फिर कभी न फिरे। मैकियावली को मेदिची परिवार के शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र के सन्देह में जेल में डाल दिया। मित्रों के प्रयत्नों से उसे जेल से छुटकारा तो मिल गया, किन्तु इस शर्त पर कि वह सार्वजनिक जीवन में कोई भाग नहीं लेगा। जीवन के शेष

15 वर्ष उसने अपने सैन कैशियानो नामक गांव में समाज सेवा और लेखन कार्य करते हुए व्यतीत किए। उसने फ्लोरेन्स का इतिहास लिखने का कार्य भी नाममात्र के वेतन पर प्रारम्भ किया। उसकी समस्त कृतियां इसी अवधि में लिखी गई हैं। इस समय इटली की दशा बड़ी अस्थिर और असंगठित थी। सन् 1527 में 58 वर्ष की आयु में संगठित इटली का स्वप्न देखने वाले इस महान् इटालियन की एक साधारण व्यक्ति की तरह मृत्यु हो गई।

6.3 प्रमुख रचनाएँ

मैकियावली न केवल एक अनुभवी कूटनीतिज्ञ एवं प्रशासक था, अपितु इतिहास और राजनीति का महान् लेखक भी था। यद्यपि नगर राज्यों की अस्थिर राजनीति ने उसके कूटनीतिक भविष्य को अस्त–व्यस्त कर दिया था तथापि उसकी लेखनी ने उसे महानतम् राजनयिक लेखकों की श्रेणी में प्रस्थापित कर दिया। उसकी अधिकांश रचनाएँ (प्रिन्स तथा डिस्कोर्सेज समेत) उसके जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हुई थी।

'दी प्रिन्स' उसकी महानतम् कृति है। 'प्रिन्स' लोरेंजो को सम्बोधित किया गया है जो कि अर्विनो का ड्यूक था। वैसे तो यह ग्रन्थ 1513 ई. में लिखा गया था, किन्तु इसका प्रकाशन उसके निधन के पांच वर्ष बाद अर्थात् सन् 1532 ई. में हुआ था। ग्रन्थ में उल्लिखित विचारों की प्रेरणा सीजर बोर्जिया के सम्पर्क से प्राप्त हुई थी। बोर्जिया ने अपने कौशल, निरंकुशता और कूटनीतिक चालबाजियों के द्वारा बहुत सफलता प्राप्त की थी। इससे वह मैकियावली के लिए आदर्श शासक बन गया। जिसकी प्रशंसा करने में मैकियावली कभी न थकते थे और 'प्रिन्स' में बोर्जिया को उन्होंने अपना चरित्र नायक बना लिया था। इस ग्रन्थ में मध्यकालीन विचार प्रक्रिया के ढंग को त्यागकर विचार और चिन्तन की नई शैली को अपनाया गया। यह ग्रन्थ कुल 26 अध्यायों में विभक्त है जिन्हें तीन भागों में बांटा गया है। मैकियावली ने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में राजतन्त्र की, दूसरे भाग में भाड़े की सेनाओं और राष्ट्रीय सेनाओं की तथा अन्तिम भाग में अपने राजनीतिक विचारों का व्याख्याएँ की हैं। मैकियावली ने फ्लोरेन्स के लिए एक नया विचार दिया कि राज्य को अपनी सेना का स्वयं निर्माण करना चाहिए। ऐसा भी कहा जाता है कि प्रिन्स लिखने का उद्देश्य मेदिची नरेश को अपने पक्ष में करना था, परन्तु उसके इस उद्देश्य की पूर्ति न हो सकी। फिर भी यह ग्रन्थ मैकियावली की सम्पूर्ण प्रतिभा का सार है। पीटर सैविगेयर के शब्दों में, "वह प्लेटो और हॉब्स तो नहीं था तथापि उसकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार उसकी लघु कृति दी प्रिन्स है।"

अपने निष्कासन काल में मैकियावली ने प्राचीन रोमन ग्रन्थों का अनुशीलन करते हुए सुप्रसिद्ध इतिहासविद लिवी द्वारा लिखी गयी रोमन इतिहास की पुस्तक पर इतिहास की दस पुस्तकों पर व्याख्याएँ नामक ग्रन्थ लिखना शुरू किया। इसमें उसका उद्देश्य यह था कि जिस प्रकार उन दिनों प्राचीन साहित्य, कानून और चिकित्साशास्त्र का पुनरुद्धार हो रहा था, वैसे ही प्राचीन काल के शासन और राजनीति के सिद्धान्तों का अध्ययन और वर्तमान राजनीति में उसका उपयोग होना चाहिए। उसने अपने अनुभव और विचारों को पुष्ट करने वाले प्रमाणों को प्राचीन साहित्य से ढूंढकर अपना लेखन कार्य आरम्भ किया। पीटर सैविगेयर के अनुसार 'डिस्कोर्सेज ऑन लिवी' रोमन गणराज्य की संस्थाओं के उद्भव और विकास पर एक टीका है।

पीटर सैविगेयर ने मैकियावली की दोनों प्रधान रचनाओं की तुलना करते हुए लिखा है–"प्रिन्स तथा डिस्कोर्सेज की विषय–वस्तु शासक और शासित के आपसी सम्बन्धों से जुड़ी हुई है। पहली रचना मुख्यतया शासक के आवश्यक गुणों पर प्रकाश डालती है जबकि दूसरी रचना में मैकियावली गणतन्त्रीय शासन विधानों के विकास तथा सार्वजनिक स्वतन्त्रता के रक्षण हेतु आवश्यक उपायों पर प्रकाश डालता है।" कुक के शब्दों में, "प्रिन्स कठिन समय के लिए एक कार्यक्रम था और डिस्कोर्सेज शान्तिकालीन सरकार का चित्रण करता है।"

मैकियावली की अन्य रचनाओं में 'History of Florence', 'Novelle BafagorArcidiavolo', 'Act of War' प्रमुख हैं।

6.4 मैकियावली अपने युग के शिशु के रूप में

साधारणतया प्रत्येक दार्शनिक एवं विद्वान अपने युग का शिशु होता है क्योंकि उसके चिन्तन पर समकालीन परिस्थितियों, घटनाओं एवं प्रचलित विचारधाराओं का प्रभाव पड़ता ही है और वह अपने देश और काल के रंग में रंगा होता है, परन्तु फिर भी राजनीतिक विचारों के इतिहास में मैकियावली को ही अपने युग का शिशु' की संज्ञा दी जाती है। इसका कारण यह है कि मैकियावली पर अपने समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक विचारों की छाप सबसे अधिक सुस्पष्ट रूप से अंकित है। वह अपने युग का एक ऐसा व्यक्ति, पर्यवेक्षक, दार्शनिक या विचारक है जिसने समकालीन परिस्थितियों का सही और यथार्थ पर्यवेक्षण किया, राजनीतिक व सामाजिक दोषों को आंका तथा अपनी रचनाओं में उनके समाधान भी प्रस्तुत किए। मैकियावली पर अपने युग का रंग कुछ विशेष गहरा चढ़ा हुआ और इसलिए उसे यह श्रेय दिया जाता है।

मैकियावली का युग पुनर्जागरण का था और इस कारण उसे पुनर्जागरण का प्रतिनिधि भी कहा जाता है। मैकियावली अपने युग से जितना प्रभावित हुआ उतना बहुत ही कम लेखक अपने युग से प्रभावित होते हैं। उसे छोड़कर शायद ही

कोई ऐसा दूसरा राजनीतिक विचारक हुआ हो जिससे अपना सम्पूर्ण लेखन कार्य समकालीन परिस्थितियों के आधार पर किया हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि वह भिन्न परिस्थितियों में रहता तो उसके विचार भी भिन्न होते और यह भी सच है कि यदि मैकियावली इटली में 15वीं शताब्दी में पैदा न होता तो उसे राजदर्शन के इतिहास में वह स्थान प्राप्त न होता, जो उसे प्राप्त है।

प्लेटो, अरस्तु आदि भी अपने काल के शिशु थे। उनका ध्यान भी अपने युग की समस्याओं की ओर आकृष्ट हुआ था। वे भी किसी न किसी रूप में अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित हुए थे। लेकिन, मैकियावली इन सब बातों में उनसे कहीं अधिक बढ़ा हुआ था। वह न केवल अपनी समकालीन परिस्थितियों से विशेषतः प्रभावित हुआ बल्कि उसने परिस्थितियों के दोषों को स्पष्ट किया और उसके समाधान भी सुझाए। उसके प्रत्येक विचार अथवा सिद्धान्त में हमें इटली की तत्कालीन परिस्थितियों की झलक मिलती है।

मैकियावली की सभी प्रमुख रचनाएँ–दी प्रिन्स, डिस्कोर्सेज ऑन लिवी आदि समकालीन परिस्थितियों के विश्लेषण से परिपूर्ण हैं। इसी कारण प्रो. डनिंग का यह कथन अक्षरशः लागू होता है कि, "यह प्रतिभासम्पन्न प्लोरेंसवासी वास्तविक अर्थों में अपने युग का शिशु था।" सेबाइन ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि, "इटली को जितना अधिक मैकियावली जानता था उतना अधिक और कोई नहीं जानता था।" वह अपने समय की घटनाओं का कुशाग्रबुद्धि विश्लेषक था। जोन्स का मत है कि, "मैकियावली फ्लोरेंस और पुनर्जागरण का शिशु था।" वे तत्व जिन्होंने मैकियावली पर सबसे गहरा प्रभाव डाला, उसके राजनीतिक दर्शन का मार्गदर्शन किया और जिनके प्रभाव से वह अपने युग का शिशु कहलाया, निम्नलिखित हैं

6.4.1 पुनर्जागरण आन्दोलन–मैकियावली का जन्म ज्ञान और बुद्धि के पुनरोदय के काल में हुआ था और उसकी रचनाओं में पुनर्जागरण की आत्मा स्पष्ट रूप झलकती है। मैकियावली का नगर फ्लोरेंस पुनर्जागरण आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र था। इस आन्दोलन के द्वारा दी गई प्रेरणा के फलस्वरूप साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति एवं विज्ञान के क्षेत्र में मध्ययुग के आदर्शों का अन्त हो रहा था एवं युनान तथा रोम के प्राचीन आदर्शों में लोगों की आस्था बढ़ रही थी। राजनीतिक क्षेत्र में सामन्तवाद का अन्त होकर राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हो रही थी तथा राजनीतिक क्षेत्र में धर्म और नैतिकता, चर्च और बाइबिलवाद के प्रभाव को समाप्त किया जा रहा था। पोप की मध्यकालीन निरंकुश धार्मिक सत्ता तथा नैतिकता से लोगों का विश्वास उठ गया था और उसका स्थान बुद्धि, विवेक तथा तार्किकता ने ग्रहण कर लिया था। जनता का दृष्टिकोण धार्मिक दृष्टि से उदार और वैज्ञानिक होता जा रहा था। परलोक चिन्तन के स्थान पर इहलोक चिन्तन प्रमुख होता जा रहा था। इस काल में व्यापार और छापाखाने की कला तथा यातायात के साधनों के विकास ने नए जीवन, नई चेतना, नए दृष्टिकोण, स्वतन्त्रता की नई भावना और जीवन के नवीन मूल्यों को जन्म दिया था।

इस तरह पुनर्जागरण आन्दोलन की मुख्य विशेषता यह थी कि वह मध्ययुग के प्रभाव से पूर्णतः मुक्ति के उद्देश्य से प्रेरित था। फ्लोरेंसवासी होने के कारण मैकियावली पर भी इसका गलत प्रभाव पड़ा और उसने उसमें प्रेरित होकर मध्ययुगीन धार्मिक और नैतिक मान्यताओं से मुक्त होकर प्राचीन इतिहास के अपने अध्ययन के आधार पर राजनीति के क्षेत्र में सर्वथा नवीन विचारों का प्रतिपादन किया। ऐसे विचार जो सिर्फ नए ही नहीं वरन् चौंकाने वाले और नई दिशा दिखाने वाले भी थे। इस ओर संकेत करते हुए जोन्स का कथन है कि, "उसकी कृतियों में उसके युग की वास्तविक स्थिति के दर्शन होते हैं। व्यक्ति का महत्व और उसका सौन्दर्य, बौद्धिक तर्कवाद और सांसारिक मर्यादा का निरूपण, उद्गमनात्मक पद्धति का अनुसरण, राष्ट्रीयता की भावना का नेतृत्व तथा पारलौकिक के स्थान पर लौकिक उद्देश्यों की उपलब्धि का औचित्य आदि इतने सारे तथ्य हैं जिनका समर्थन मैकियावली ने अपने विचारों और कृतियों में किया है।" ये सारे सिद्धान्त पुनर्जागरण युग की देन हैं। अतः उसे अपने युग का तो माना ही जाएगा। उसने राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए जो सुझाव दिए, उनमें पुनर्जागरण की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।

6.4.2 शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्रों की स्थापना–पुनर्जागरण काल भारी राजनीतिक परिवर्तनों का काल था। जब मैकियावली का आविर्भाव हुआ तो परिषदीय आन्दोलन समाप्त हो चुका था शक्तिशाली शासकों ने सामन्तों व उनकी प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं का दमन करके निरंकुश राजतन्त्र स्थापित कर लिए थे। पश्चिमी यूरोप के लगभग सभी राज्यों में सामन्तों के हाथ से शक्तियां छीनकर राजाओं के हाथों में केन्द्रित हो गई थीं। यह युग राज्य और चर्च दोनों में वीर पुरुषों की निरंकुश सत्ता का युग था।

इंग्लैण्ड में हेनरी सप्तम, फ्रांस में लुई एकादश, चार्ल्स अष्टम् व लुई द्वादश ने और स्पेन में फर्डिनेण्ड ने निरंकुश राजतन्त्रों की स्थापना कर ली थी। ये राज्य सबल शासकों के नेतृत्व में दिन–प्रतिदिन शक्तिशाली व समृद्धिशाली हो रहे थे। वास्तव में यह युग सबल राजतन्त्र का युग था। मैकियावली की रचनाओं में इस आदर्श का पर्याप्त प्रमाण मिलता है। उसने इटली के लिए एक ऐसे शासन की कल्पना की थी जिसमें इटली की समस्त राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण हो तथा जो इटली में एकता स्थापित कर सबल राजतन्त्र की स्थापना कर सके। उसकी आकांक्षा थी कि इटली में भी ऐसे राजा (प्रिन्स) का उदय हो जो सम्पूर्ण जनता को राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बांध सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि

राजतन्त्रों के पुनर्स्थापन की घटनाओं का भी मैकियावली पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उसने अपने 'प्रिन्स' और 'डिस्कोर्सेज' में इसी विचार को निरन्तर अभिव्यक्ति प्रदान की है।

6.4.3 इटली का राजनीतिक विभाजन और उसकी दुर्दशा–इस समय तक जहां पश्चिमी यूरोप के राज्य जैसे इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा स्पेन में राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी थी और इन राष्ट्रों के निवासियों ने स्वयं में एकता की भावना अपना ली थी, वहीं इन शक्तिशाली राज्यों की तुलना में इटली पांच राज्यों में बंटा हुआ था–नेपल्स राज्य, मिलान का राज्य, रोमन चर्च का क्षेत्र, वेनिस गणराज्य और फ्लोरेंस, का गणराज्य। ये राज्य परस्पर संघर्षरत थे। पोप उनके संघर्ष से लाभ उठाने का प्रयत्न करते थे और वे कभी फ्रांस व कभी स्पेन को, इटालियन राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। इस प्रकार इटली में फूट, गृहयुद्ध और विदेशी व्यक्तियों का शासन चल रहा था। इटली के इस राजनीतिक विभाजन और राज्यों के पारस्परिक संघर्ष ने देश को बड़ा दुर्बल बना दिया था और वह आसानी से शक्तिशाली पड़ोसियों की महत्वाकांक्षाओं का शिकार बनने लगा। फ्रांस और स्पेन की आंखें तो सदैव ही इन राज्यों पर लगी रहती थीं कि कब मौका मिले और कब इन्हें डस लिया जाए।

मैकियावली एक सच्चा देशभक्त था और इस सम्बंध में उसे फ्रांस का प्रत्यक्ष अनुभव था। अतः वह फ्रांस की भांति एक शक्तिशाली राष्ट्रीय राजा की अध्यक्षता में इन राज्यों का एकीकरण करना चाहता था ताकि एक तरफ तो देश की अराजक व अशांत स्थिति पर काबू पाया जा सके और दूसरी ओर विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा हो सके। इसी उद्देश्य से उसने 'प्रिन्स' की रचना की।

'प्रिन्स' के अन्तिम अध्याय में उसने इटली की दुर्दशा पर दुख प्रकट करते हुए मैदिची घराने के गुई लिआनो से यह आशा प्रकट की है कि वह इटली का एकीकरण करे और मूसा की भांति उसे विदेशी बर्बरों की दासता से मुक्त करे, किन्तु उसकी यह इच्छा 350 वर्ष बाद 19वीं सदी के अन्तिम वर्षों में काबूर और गेरीबाल्डी ने ही पूरी की। मैकियावली की सभी रचनाएँ इटली की फूट, गृहयुद्ध और विदेशी शासकों के हस्तक्षेप की परिस्थितियों तथा इटली के एकीकरण की इच्छा से ओतप्रोत हैं।

6.4.4 इटालियन समाज की दुर्दशा–मैकियावली के समय इटालियन समाज की दशा बड़ी शोचनीय थी। तात्कालीन इटलीवासियों में नीति परायणता, ईमानदारी और देशभक्ति का अभाव था। भ्रष्टाचार, दलबन्दी और स्वार्थपरता ने डस रखा था। यद्यपि बौद्धिक प्रतिभा से परिपूर्ण व्यक्तियों की कमी नहीं थी, किन्तु नैतिक दृष्टि से उनका पतन हो चुका था। स्वयं पोप तक का चरित्र अपवित्रता की सीमा लांघने लग गया था। साधारण नागरिक पैसा लेकर अनुचित काम भी करने को तैयार हो जाते थे।

इस तरह मैकियावली के सामने मानव स्वभाव की दानवता और दुष्टता साकार रूप ग्रहण किए हुए थी। इस सामाजिक दुर्दशा का उसके मानस पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। देश के एकीकरण के लिए वह शक्ति का पुजारी बना और उसने राष्ट्रीय सेना की स्थापना को आवश्यक बताया। उसने गणतन्त्रीय शासन प्रणाली की सिफारिश न करते हुए इटलीवासियों के लिए एक निरंकुश राजा की आवश्यकता महसूस की। उसने व्यावहारिक राजनीति को स्थान देते हुए यह मत व्यक्त किया कि राजा का एकमात्र उद्देश्य देश को सबल बनाना और उसे संगठित करना है। अपने इस महान् और पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राजा उचित–अनुचित सभी प्रकार के साधन अपना सकता है।

उसने अपने युग की सामाजिक दुर्दशा पर काबू पाने के लिए ही राज्य की महत्ता का आधार भौतिक शक्ति एवं छल–कपट दोनों को समझा और इस बात पर बल दिया कि शासक जनता पर प्रेम की अपेक्षा शक्ति से शासन करे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इटली की शोचनीय अवस्था को देखकर और ज्ञान के पुनरुत्थान की शक्ति से प्रभावित होकर ही मैकियावली ने इटली के एकीकरण एवं स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना का स्वप्न देखा और इस स्वप्न को प्रत्यक्ष रूप में परिवर्तन करने के लिए बुद्धि और बल के उचित समन्वय पर जोर दिया।

6.4.5 धर्म और नैतिकता–14वीं सदी में पोप के विश्व साम्राज्य का स्वप्न नष्ट हो चुका था। पोप के विलासमय जीवन एवं कुकर्मों ने लोगों के हृदय में धर्म के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा समाप्त कर दी। पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ का उदाहरण देते हुए मैकियावली ने लिखा है कि उसने जीवन भर धोखा देने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं किया। उसी स्थिति में सेवानोराला जैसे सन्त ने चर्च के सुधार की मांग की तथा नैतिक बल से आध्यात्मिक पथ प्रदर्शन का प्रयत्न किया। उसकी शिक्षाओं का लोगों पर प्रभाव भी पड़ा, किन्तु जब फ्रांस ने फ्लोरेन्स पर अधिकार कर लिया तो पोप को प्रसन्न करने के लिए सेवानोराला को बन्दी बना लिया तथा उसे जीवित जला दिया गया। राजाओं ने नैतिक आदर्शों को तिलांजलि दे दी थी और साधारण नागरिक भी नैतिकता के नियमों के अनुसार आचरण नहीं करते थे।

मैकियावली पर अपने युग की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा और तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार ही उसने नरेश को सलाह दी कि राज्य के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आचार तथा धर्म के सिद्धान्तों की चिन्ता नहीं की जानी चाहिए और लोक कल्याण के लिए इन सिद्धान्तों की अवहेलना करने को तत्पर रहना चाहिए। धर्म और नैतिकता विरोधी

मैकियावली की यह विचारधारा अपने युग के नितान्त अनुरूप थी क्योंकि यूरोप के राष्ट्रीय राज्य धर्म और नैतिकता से उदासीन होकर अपने स्वार्थों की सिद्धि कर रहे थे।

6.4.6 मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा—मैकियावली ने अपने समय में, विशेषतः इटली में शासक, धर्माधिकारी, सरकारी कर्मचारी और साधारण नागरिक सभी को भ्रष्ट आचरण में लिप्त देखा था। शासक और पोप के संघर्षों, पोप के षड्यन्त्रों और साधारण नागरिकों के पतित तथा स्वार्थी आचरण ने उस पर मानव स्वभाव की बहुत बुरी छाप छोड़ी और उसने यह विचार व्यक्त किया कि न तो मनुष्य में ईश्वरीय गुण है और न वह नैतिक प्राणी है। वह एक जानवर है और जानवरों की चालाकी तथा खूखार प्रवृत्ति ही उसे दिखायी देती है।

6.5 मैकियावली का राजनीतिक चिंतन

यद्यपि मैकियावली एक राजनीतिक सिद्धान्तशास्त्री नहीं है तथापि उसने अपनी व्यावहारिक राजनीति को पुष्ट करने के लिए सिद्धान्तों का सहारा लिया है। अतः उनके माध्यम से ही हम उसके राजनीतिक विचारों का परिचय पाते हैं। उसके प्रमुख राजनीतिक विचार अग्रलिखित हैं।

6.6 मानव स्वभाव सम्बन्धी विचार

मैकियावली की नैतिकता, धर्म तथा राजनीति की पारस्परिक सम्बन्ध विषयक धारणाएँ और शासन के स्वरूप का उसका समस्त ढांचा मानव स्वभाव सम्बन्धी उसकी समझ पर ही आधारित है। वस्तुतः मानव स्वभाव सम्बन्धी उसका विश्लेषण उसके समस्त राजनीतिक दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। यद्यपि उसने हॉब्स की भांति मानव स्वभाव के बारे में वैज्ञानिक और क्रमबद्ध सिद्धान्त का निर्माण तो नहीं किया था तथापि मानव स्वभाव सम्बन्धी अपने विचार कतिपय तत्वों एवं परिस्थितियों के अवलोकन के पश्चात् स्थिर किए। ये तत्व और परिस्थितियां थीं—तत्कालीन इटालियन समाज की दुर्दशा, सन्त समान पवित्र सेवानोराला की हत्या, अनैतिक साधनों का प्रयोग करने वाले सीजर बोर्जिया की सफलता, पोप जैसे उच्च पदस्थ धर्माचार्यों का चारित्रिक पतन आदि। ये सभी तत्व ऐसे थे जिन्होंने मैकियावली के समक्ष मानव स्वभाव का घृणित एवं बुरा पक्ष ही प्रस्तुत किया।

मैकियावली इस धारणा को लेकर चला है कि मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी, घोर दानवी प्रवृत्तियों वाला और दुष्ट होता है। उसकी धारणा थी कि मनुष्य जन्म से ही बुरा होता है और उसमें अच्छाई नहीं होती। वह अपनी स्वाभावगत दुष्टता के कारण ही अधोगति को प्राप्त होता है। उसके मतानुसार मनुष्य की सभी सामाजिक और राजनीतिक क्रियाओं का मूल स्रोत उसका घोर स्वार्थवाद ही होता है। मनुष्य विभिन्न कमजोरियों से ग्रस्त है और सद्गुण तथा परोपकार जैसी बातों से अपरिचित है।

'प्रिन्स' के 17वें अध्याय में उसने लिखा, "सामान्य रूप से मनुष्यों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे कृतघ्न, चंचल, झूठे, कायर और लोभी होते हैं। वे तभी तक आपके बने रहते हैं जब तक सफलता आपके पास है। वे तभी तक आपके लिए जीवन, रक्त, सम्पत्ति और बच्चों का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत रहेंगे जब तक वास्तव में ऐसे बलिदानों की आवश्यकता दूर रहती है, लेकिन जैसे ही यह आवश्यकता निकट आती है, वे आपके विरुद्ध हो जाते हैं...मनुष्य किसी से तभी प्रेम करते हैं जब तक कि उनका स्वाथ सिद्ध होता है।"

मैकियावली का कहना था कि कार्य करने की प्रेरणा और उत्तेजना मनुष्य को स्वार्थपरता के बल पर ही मिलती है। मनुष्य एक पशु के समान है जिसमें अन्तर्निहित अच्छाई नाम मात्र को भी नहीं है। भय, शक्ति और अभिमान उसकी प्रेरक शक्तियां है। 'प्रिन्स' में वह लिखता भी है—"लोग न केवल डरपोक और अज्ञानी होते हैं, वरन् स्वभाव से ही दुराचारी होते हैं, वे आवश्यकता पड़ने पर ही सच्चरित्र दिखाई पड़ते हैं। लोग अपनी वासनाओं के दास और प्रथम श्रेणी के स्वार्थी होते हैं।"

डिस्कोर्सेज में मानवीय स्वभाव की भर्त्सना करते हुए वह लिखता है कि, "व्यक्ति स्वभाव से ईष्यालु और महत्वाकांक्षी होता है। व्यक्ति अपने व्यवहार में दो तत्वों से परिचालित होता है।—प्रेम और भय। इन दोनों के अतिरिक्त धनोपार्जन की प्रवृत्ति तीसरी प्रमुख शक्ति है।"

मैकियावली मनुष्य की लोभी व स्वार्थी प्रवृत्ति को इंगित करते हुए लिखता है—"अपनी सम्पत्ति छीनने वाले की अपेक्षा एक व्यक्ति अपने पिता के हत्यारे को अधिक सुगमता से क्षमा कर देता है।"

हॉब्स के समान मैकियावली यह मानता है कि मनुष्य में इच्छा तत्व की प्रधानता होती है। ये इच्छाएँ असीम और अनन्त होती हैं और मनुष्य अपने सभी कार्य इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही करता है। उसकी एक बड़ी इच्छा सम्पत्ति की होती है। सम्पत्ति की आकांक्षा मनुष्य के कार्यों की शक्तिशाली प्रेरक है। उसके शब्दों में, "मनुष्य अपनी परिमितता के कारण ही अपराध कर बैठते हैं।" 'कुछ प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा' की सदैव ही पूर्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि संसार की सर्वोत्तम वस्तु उसी के जीवन के लिए हो। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वह निरन्तर प्रतिस्पर्धा और संघर्ष में लगा रहता है।

मैकियावली लिखता है कि प्रेम और भय ही ऐसी दो शक्तियां हैं जिनके द्वारा मानव से कुछ काम लिया जा सकता है तथा उन्हें वश में किया जा सकता है। लेकिन शासकों को 'प्रेम' के स्थान पर 'भय' का सहारा लेना चाहिए क्योंकि उससे (भय से) वह जनसाधारण से आज्ञाकारिता की अपेक्षा कर सकता है।

मनुष्य में वह सद्भावना, सामाजिकता और अच्छे गुण भी देखता है, क्योंकि वह लिखता है कि जर्मनी और लैण्ड के नागरिकों में समाज के प्रति निष्ठा है इसलिए वहां गणतन्त्र स्थापित हो सके, किन्तु मनुष्य की सामाजिकता और सद्भावना की चर्चा उसने केवल प्रसंगवश ही की है। अधिकतर उसने मनुष्य के बुरे स्वभाव पर ही बल दिया है।

6.6.1 मैकियावली की राज्य और शासन सम्बन्धी विचारधारा मानव स्वभाव पर आधारित—मैकियावली की राज्य और शासन सम्बन्धी विचारधारा उसकी मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा पर ही आधारित है। मानव स्वभाव से दुष्ट और धोखेबाज होता है इसलिए उसका साथ निभाने के लिए सरकार भी उतनी ही निरंकुश और शक्तिशाली होनी चाहिए। मानव जीवन में भय के तत्व की प्रधानता को दृष्टि में रखते हुए वह नरेश को सुझाव देता है कि उसे प्रजा–वत्सल ही नहीं वरन् ऐसा होना चाहिए कि लोग उससे डरते रहें। एक कुशल शासक मानवीय प्रकृति की दुर्बलताओं को दृष्टि में रखकर छल–बल का प्रयोग करके एक अच्छे शासक की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति के स्वभाव में सम्पत्ति के अर्जन की प्रबल इच्छा को दृष्टि में रखते हुए वह कहता है कि, "बुद्धिमान शासक व्यक्ति की हत्या भले ही कर दें, पर उसकी सम्पत्ति को न लूटे।"

मानवीय स्वभाव की दुर्बलताओं को दृष्टि में रखते हुए ही वह इस बात का प्रतिपादन करता है कि "राजा में शेर का साहस और लोमड़ी की चालाकी दोनों ही होने चाहिए।"

शासन के प्रकार के सम्बन्ध में मैकियावली की विचारधारा भी मानवीय जीवन के तत्वों पर आधारित है। मैकियावली का विचार है कि जिस राज्य के नागरिकों में मानवीय सद्गुण हों, वहां पर गणतन्त्रीय व्यवस्था ठीक प्रकार से कार्य कर सकती है। लेकिन, जिन देशों के नागरिकों में मानवीय गुणों का अभाव है, उन देशों के लिए निरंकुश राजतन्त्र ही उपयुक्त हो सकता है। इटली के तत्कालीन नागरिकों में मानवीय सद्गुणों का नितान्त अभाव होने के कारण ही उसके द्वारा इटली के लिए निरंकुश राजतन्त्र को अपनाने का सुझाव दिया है। मानव प्रकृति सम्बन्धी मैकियावली के विचारों से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं–

1. **राज्य एक स्वाभाविक संस्था नहीं**—यहां प्लेटो व अरस्तू के लिए राज्य एक स्वाभाविक संस्था है और वे राज्य का जन्म मनुष्य के स्वभाव में देखते हैं वहां मैकियावली के लिए राज्य का उद्भव आकस्मिक है और इसकी आवश्यकता मनुष्यों की सुरक्षा की मांग है।
2. **शासन की सफलता उसकी शक्ति सुदृढ़ता है, नैतिकता व परोपकार नहीं**—मैकियावली के अनुसार एक बुद्धिमान शासक को यदि जनता पर सफलतापूर्वक शासन करना है तो उसे यह मानकर चलना चाहिए कि मनुष्य की प्रेरक शक्तियां अहं व स्वार्थपूर्ण हैं, वे नैतिक और परमार्थपूर्ण नहीं हैं। अतः शासक को सदैव इतना अधिक शक्तिशाली बनना चाहिए कि वह प्रजा को सुरक्षा प्रदान कर सके। शासक को अपनी नीतियों पर नैतिकता व आदर्शवादिता का मुलम्मा चढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं।
3. **राजनीति और नैतिकता का पृथक्करण**—राजनीति और नैतिकता का गठबन्धन मैकियावली की दृष्टि में अव्यावहारिक था। उसका कहना था कि मनुष्य जन्म से ही स्वार्थी, बुरे व भ्रष्ट होते हैं और हित या बाध्यता के आधार पर ही अच्छाई करने के लिए तैयार होते हैं। अतः शासक को मनुष्य के नैतिक, धार्मिक या सामाजिक सद्गुण रूपी बहुरूपियेपन पर विश्वास नहीं करना चाहिए। उसने स्पष्ट लिखा है–राजनीति के खेल को, कूटनीतिक सम्बन्धों को, राज्य की सुरक्षा और व्यवस्था को नैतिकता के सिद्धान्तों पर खेला नहीं जा सकता। अतः यही श्रेयस्कर है कि शासक मनुष्यों को शक्ति द्वारा नियन्त्रित करता रहे। (सम्भवतः किसी भी लेखक ने राज्य के सिद्धान्तों में धर्म और नैतिकता को इतना नगण्य स्थान नहीं दिया जितना कि मैकियावली ने)।
4. **मानव का स्वभाव अपरिवर्तनीय होता है**—जहां प्लेटो, अरस्तू व अन्य लेखकों की धारणा है कि शिक्षा द्वारा मानव की निकृष्ट एवं स्वार्थी प्रवृत्तियों को प्रशिक्षित किया जा सकता है वहां मैकियावली की धारणा है कि मानव आचरण का स्वार्थ, लोभ और कपट युगों–युगों से अपरिवर्तनीय रहा है। ये ऐसी अन्तर्निहित बुराइयां हैं जिन्हें शिक्षा द्वारा सुधारा नहीं जा सकता। इन कुप्रवृत्तियों पर नियन्त्रण का केवल एक ही प्रमुख साधन है और वह है–शक्ति या दमन।

6.7 मैकियावली के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों की आलोचना—आलोचकों के अनुसार मैकियावली की मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारधारा में निम्नलिखित त्रुटियां हैं–

(i) मैकियावली की मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा एकांगी है। वह केवल मानवीय कमजोरियों को ही देखता है, उसकी अच्छाइयां को नहीं, किन्तु वस्तुतः मानवीय स्वभाव में ये दोनों ही पहलू पाए जाते हैं। उसमें प्रबल स्वार्थ भी होता और परोपकार की भावना की।

(ii) मानव स्वभाव सम्बन्धी मैकियावली की धारणा इटली निवासियों तथा राजनीतिज्ञों के व्यवहारों के पर्यवेक्षण पर आधारित है, जो कि सार्वभौम सत्य नहीं हो सकती। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि चूंकि इटली निवासी स्वभाव से बुरे हैं, इसलिए विश्व के समस्त नागरिक बुरे हैं। मैकियावली की मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा पूर्ण रूप से देश और काल पर आधारित तथा अत्यन्त ही सीमित और संकुचित है। वह इटली को भ्रष्ट समाज का सजीव उदाहरण मानता है, किन्तु इटली के दायरे से बाहर निकल कर मानव स्वभाव का अध्ययन नहीं करता।

(iii) मैकियावली की मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा अतार्किक और अवैज्ञानिक भी है। उसने मानव स्वभाव सम्बन्धी दोषों को हॉब्स की भांति मनोवैज्ञानिक व तार्किक आधार पर सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया। वस्तुतः वह मानव स्वभाव का कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं करता है और इसी कारण वह यही नहीं बताता कि मनुष्य कैसे अच्छा बन सकता है।

(iv) मैकियावली की यह धारणा भी अतिशयोक्तिपूर्ण है कि प्रशिक्षण द्वारा मानव स्वभाव में परिवर्तन या सुधार नहीं लाया जा सकता। यदि प्रशिक्षण द्वारा मानव की स्वार्थी प्रवृत्तियों को पूर्णतया परिवर्तित नहीं किया जा सकता तो कम से कम उन्हें थोड़ा–बहुत सुधारा तो अवश्य जा सकता है।

यद्यपि मैकियावली का मानव स्वभाव सम्बन्धी विवेचन ऐसा लगता है जैसे किसी निराशावादी सनकी ने अपने विचार संकलित करके रख दिए हों। लेकिन, फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि खुले रूप में जिन सिद्धान्तों या नीतियों के कारण मैकियावली की आलोचना की जाती है उन्हीं नीतियों और सिद्धान्तों का गुप्त रूप से राजनीतिज्ञ और शासक अनुसरण करते हैं।

6.8 मैकियावली : राजनीति का धर्म और नैतिकता से पृथक्करण

राजनीतिशास्त्र में सबसे पहले और स्पष्ट रूप से राजनीति से धर्म और नैतिकता को पृथक् करने वाले सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का श्रेय मैकियावली को प्राप्त है। मैकियावली से पहले यूनानी तथा मध्ययुग के राजनीतिक विचारकों की विचाराधाराएँ नैतिकता तथा धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित थीं। प्लेटो राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का ही एक अंग मानता था और अरस्तू भी राज्य को नीतिशास्त्र के लक्ष्यों को प्राप्त करने का एक साधन मानता था। यद्यपि राज सिद्धान्त के धर्म निरपेक्ष विचारों में मार्सीलियो, मैकियावली के विचारों के निकट है क्योंकि उसने राजनीति के क्षेत्र में सर्वप्रथम धर्मनिरपेक्ष विचारधारा का प्रतिपादन किया था, किन्तु, वह धर्म को राज्य से अलग न करने के कारण मैकियावली की सीमा तक नहीं पहुंच सका। अन्य मध्ययुगीन विचारकों ने भी किसी न किसी रूप में धर्म व राजनीति को संयुक्त माना है। अतः उन्हें सबसे पहले पूर्णतः सुविचारित आधार पर पृथक् करने वाला मैकियावली ही है। मैकियावली ने न तो ईसाई धर्म की मान्यताओं और न दैवी कानूनों के अस्तित्व को स्वीकार किया। मैकियावली ने इस बात से इन्कार कर दिया कि मानव का कोई पारलौकिक उद्देश्य है। वह सन्त एक्वीनास के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता कि भावी जीवन में आनन्द प्राप्त करने के लिए मनुष्य को ईश्वरीय कानून के निर्देश की आवश्यकता है। मैकियावली कहता है कि मानव का केवल एक ही लक्ष्य हो सकता है और वह है, इस जीवन में सुख और आनन्द की प्राप्ति।

राज्य सिद्धान्त में मैकियावली ईसाइयत के उन सब सिद्धान्तों को अस्वीकार करता है जो शासक को नम्रता, विनीतता आदि का पाठ पढ़ाते हैं। वह अपने 'प्रिन्स' को किसी प्रकार की नैतिक सीमाओं में नहीं बांधता। मैकियावली के अनुसार राज्य के उद्देश्यों को प्राप्त करने, उसे एकीकृत व शक्तिशाली बनाने के लिए राजा द्वारा आवश्यकतानुसार सभी प्रकार के अर्थात् नैतिक, अनैतिक, अच्छे–बुरे, वैध–अवैध साधन अपनाए जा सकते हैं। मैकियावली 'प्रिन्स' को छल, कपट, जालसाजी, धोखाधड़ी, विश्वासघात, हिंसा, दमन सभी प्रकार के अनैतिक साधनों के प्रयोग की आज्ञा देता है। मैकियावली की धारणा है कि राज्य की सुरक्षा और कल्याण के मार्ग में नैतिक विचारों को बाधित नहीं होने दिया जाना चाहिए। वह लिखता है–

"प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि राजा के लिए अपने वचन का पालन करना और नीतिपूर्वक आचरण करना कितना प्रशंसनीय है तथापि हमारी आंखों के समक्ष तो कुछ घटा है, उसमें हम देखते हैं कि केवल उन्हीं राजाओं ने महान् कार्य किए हैं जिन्होंने चालाकी में दूसरों को पीछे छोड़ दिया।"

मैकियावली किसी कार्य की अच्छाई–बुराई से चिन्तित नहीं था जितना की वह उसके प्रभाव' से चिन्तित था। वह लिखता है–"राजा का राज्य की सुरक्षा की चिन्ता रहनी चाहिए, साधन तो सदैव आदरणीय ही माने जाएंगे और सामान्यतया उनकी प्रशंसा ही की जाएगी।"

एक स्थान पर मैकियावली लिखता है, "न तो कोई प्राकृतिक कानून है और न ही सार्वभौम रूप में स्वीकृत कोई अधिकार। राजनीति को नैतिकता से पूर्णतया पृथक् करना चाहिए। साध्य ही साधनों का औचित्य है।"

उसने नैतिकता को व्यक्तिगत नैतिकता एवं जन नैतिकता इन दो वर्गों में बांटा है। व्यक्तिगत नैतिकता के अन्तर्गत राजा अथवा शासक के दृष्टिकोण और उसके मापदण्ड को रखा गया है। जन नैतिकता के बारे में उसने कहा कि जनता का

कल्याण इसी में है कि वह अपने शासक की आज्ञाओं का पालन करे। उसके अनुसार शासक स्वतन्त्र है, उस पर कोई नियन्त्रण नहीं है और न ही वह नैतिकता के किसी बन्धन में बंधा है। अपनी शक्ति और प्रभाव के विस्तार में जो उपयुक्त हो, सहायक हो, वह सब न्याय और नैतिक है। मैकियावली द्वारा चित्रित आदर्श नरेश का यही दृष्टिकोण होता है कि न कोई चीज अच्छी है और न कोई बुरी। जरूरत पर काम आए वही चीज सबसे अच्छी है। उसका कथन है कि राजसत्ता को बनाए रखने के लिए शासन साम, दाम, दण्ड, भेद, बेईमानी, हत्या, प्रवंचना, आदि किसी भी उपाय का प्रयोग कर सकता है।

इसी दृष्टि से मैकियावली लिखता है कि राजा को ऊपर से दयालु, विश्वासी, धार्मिक और सच्चा होने का ढोंग करते हुए आवश्यकता पड़ने पर निर्दय, विश्वासघाती और अधार्मिक बनने को तत्पर रहना चाहिए। वह धोखा और ढोंग राजा के लिए जरूरी समझता है और कहता है–"छल कपट को जानने के लिए राजा को लोमड़ी तथा भेड़िये को डराने के लिए शेर होना चाहिए।"

मैकियावली ने नैतिकता (आचारशास्त्र) को राजनीति (राजनीतिशास्त्र) से बिल्कुल अलग कर दिया। उसका कहना है कि राजनीति का आचार या नैतिकता से कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं हो सकता। राजनीति का विषय राज्य है और व्यक्ति का विषय नैतिकता और सदाचार है, पर व्यक्ति राज्य के अधीन है, इसलिए नैतिकता और सदाचार राज्य के अधीन हैं और उनकी परिभाषा राजनीति के लिए उसकी आवश्यकता के अनुसार बदली जा सकती है।

डनिंग के अनुसार "मैकियावली राजनीति में अनैतिक नहीं है बल्कि धर्म व नैतिकता से उदासीन है।" धर्म के बारे में भी मैकियावली का दृष्टिकोण नैतिकता की तरह ही है। वह धर्म विरुद्ध नहीं है बल्कि धर्मविहीन है। उसके अनुसार यदि राज्य की जनता धार्मिक हो तो यह राज्य के लिए बहुत अच्छा है क्योंकि धार्मिक प्रजा आत्मनियन्त्रित होती है पर वह धर्म को किसी आवश्यक गुण के रूप में मान्यता नहीं देता। धर्म तभी तक उसके लिए अच्छा है जब तक वह राज्य के संचालन के लिए साधन बन सके। धर्म राज्य की अधीनता में है, उसके ऊपर या बराबर नहीं। मैकियावली का सुझाव है कि राजा को ऐसे गुणों से विभूषित होना चाहिए जो कि अच्छे मनुष्य के लक्षण माने जाते हैं। उसके द्वारा धर्म को धारण करने का प्रपंच अवश्य ही रचा जाना चाहिए।

इस प्रकार मैकियावली की नैतिकता सम्बन्धी, धारणा दोहरे मानकों को स्वीकार करते है–एक राजा के लिए और दूसरी प्रजा के लिए। जहां मैकियावली राजा को राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नैतिक और अनैतिक दोनों प्रकार के साधनों के प्रयोग की आज्ञा देता है, वहां नागरिकों में सद्गुण उत्पन्न करने के लिए धर्म का सहारा लेता है। वह कहता है कि बुद्धिमान शासक को देखना चाहिए कि निजी नैतिकता के मानकों का पतन न हों।

6.8.1 राजनीति का धर्म और नैतिकता से पृथक्करण के कारण–मैकियावली के द्वारा राजनीति का धर्म और नैतिकता से जो पृथक्करण किया गया, उसके निम्न कारण दिए जा सकते हैं–

(i) मैकियावली यूनानी दार्शनिकों की भांति राज्य को सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च संगठन मानता है और उसका विचार है कि राज्य के हित व्यक्तिगत हितों से उच्च और महत्वपूर्ण होते हैं। इसलिए उसने लिखा है "जब राज्य की सुरक्षा संकट में हो तो उस पर नैतिकता के वे नियम लागू नहीं होने चाहिए जो नागरिकों के व्यवहार को विनियमित करते हैं।"

(ii) मैकियावली का उस समय पोप के पापमय आचरण व ईसाइयत में सिखाए जाने वाले सिद्धान्तों को देखकर यह विश्वास बन गया था कि धार्मिक सत्ता मनुष्यों को अन्धविश्वासी व अकर्मण्य बनाती है जिसके कारण वे परिस्थितियों का सामना करने में असमर्थ हो जाते हैं। अतः वह बिल्कुल नहीं चाहता था कि मनुष्य को दुर्बल बनाने वाली धार्मिक सत्ता का राजनीति में लेशमात्र भी अस्तित्व हो।

(iii) एक अन्य कारण उसका यर्थाथवादी दृष्टिकोण है। शासन कार्य में प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होने के कारण उसने स्वयं यह देखा था कि शासकगण आन्तरिक प्रशासन और वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में सदैव ही नैतिक–अनैतिक सभी साधनों को अपनाते रहे हैं। अतः उसने राजनीति में नैतिकता का उपदेश देना व्यर्थ समझा।

(iv) चौथा कारण, मैकियावली द्वारा शक्ति को असाधारण महत्व देना था। अतः शक्ति प्राप्त करने के लिए उसने किसी भी उपाय के प्रयोग को उचित बताया। उसके इस दृष्टिकोण के कारण धार्मिक व नैतिक प्रभाव से पूर्णतया मुक्त राजनीति का जन्म हुआ।

इसके अतिरिक्त सीजर बोर्जिया के सम्पर्क में रहकर मैकियावली ने यह भी सीखा कि इस निरंकुश शासक ने ऐसे साधनों से, जिन्हें पूर्णरूपेण नैतिक नहीं कहा जा सकता इटली के एक बड़े भाग में समृद्ध और शक्तिशाली शासन की स्थापना की। साथ ही मैकियावली ने कई वर्षों तक कूटनीतिक कार्य किया था, उससे प्राप्त अनुभव द्वारा उसे दृढ़ विश्वास हो गया था कि मनुष्य की स्वार्थी और आक्रमणकारी प्रवृत्तियों पर नैतिकता व धार्मिकता से विजय नहीं पाई जा सकती।

6.8.2 आलोचनात्मक मूल्यांकन–आलोचकों के अनुसार मैकियावली ने अपने राजनीतिक दर्शन में धर्म और नीति की घोर उपेक्षा की है। इटली की तत्कालीन परिस्थितियों में उसकी दृष्टि इतनी सीमित और मर्यादित हो चुकी है कि वह

मानव समाज में इनका सही महत्व आंकने में सर्वथा असमर्थ था। इस सम्बन्ध में सेबाइन ने लिखा है–" यह निश्चित है कि 16वीं सदी के प्रारम्भ में लिखी जाने के 10 वर्ष के भीतर ही प्रोटेस्टेण्ट धार्मिक सुधार आन्दोलन के कारण राजनीति और राजनीतिक चिन्तन मध्ययुग की अपेक्षा धर्म से अधिक सम्बद्ध हो गया।" डॉ. मुरे के शब्दों में, "मैकियावली स्पष्टदर्शी थे पर दूरदर्शी नहीं थे। उन्होंने चालाकी को राजनीतिज्ञ की कला मान लेने की भूल की है।"

फिर भी मैकियावली पर यह आरोप नहीं लगाया जाना चाहिए कि उसने राजनीति का धर्म और नैतिकता से सम्बन्ध विच्छेद कर उसे भ्रष्ट कर दिया। राजनीति तो उससे पूर्व ही भ्रष्ट हो चुकी थी और व्यावहारिक रूप में उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का प्रयोग अनादिकाल से ही हो रहा है, मैकियावली ने तो इसे अपनी यथार्थवादी दृष्टि के अनुरूप नग्न सत्य के रूप में घोषित करने का ही कार्य किया है। डनिंग ने ठीक ही लिखा है "वह अनैतिक नहीं, नैतिकता विरोधी था और अधार्मिक नहीं, धर्म निरपेक्ष था।" फ्रेडरिक पोलक ने उसके विचारों को 'वैज्ञानिक तटस्थता' की संज्ञा दी है। वस्तुतः उसने 'धर्म निरपेक्ष राजनीति' की नींव डाली। मैक्सी के शब्दों में, "राजनीति का नैतिकता से विच्छेद मैकियावली की राजनीति विज्ञान के प्रति एक अत्यन्त मूल्यवान सेवा थी।"

6.9 मैकियावली के राज्य सम्बन्धी विचार

मैकियावली ने राज्य का कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया है। न उसने राज्य की कोई परिभाषा दी है, न उसकी उत्पत्ति या विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है और न ही उसके तत्वों आदि का विश्लेषण अथवा उन पर विचार ही किया है। उसने जो कुछ भी कहा है वह तो क्षमतापूर्वक राज्य को तात्कालिक परिस्थितियों में चलाने की युक्तियां हैं। ये युक्तियां या 'राज्य कला' ही उसके राजनीतिक विचार बन गए हैं।

राज्य और राज्य कला से सम्बन्धित विषयों पर उसके विचार निम्नलिखित हैं–

6.9.1 राज्य का उद्भव व प्रकृति–यद्यपि मैकियावली ने राज्य की उत्पत्ति पर स्पष्ट रूप से अपने विचार व्यक्त नहीं किए हैं, परन्तु फिर भी यत्र–तत्र इस विषय में उसके कुछ विचार पढ़ने को मिलते हैं। मैकियावली राज्य की उत्पत्ति का कारण मनुष्य स्वभाव की आसुरी और स्वार्थी प्रवृत्ति को मानता है। वह अरस्तू की तरह राज्य को एक प्राकृतिक संस्था नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि मनुष्य ने अपनी असुविधाओं को दूर करने के लिए राज्य की स्थापना की है। अतः वह एक मानवकृत और कृत्रिम संस्था है। इस तरह मैकियावली हॉब्स की भांति राज्य की उत्पत्ति में संविदा सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

राज्य की प्रकृति या स्वरूप दर्शाते हुए मैकियावली राज्य को अन्य सभी संगठनों से उच्च और श्रेष्ठ मानता है। समाज के अन्य सभी संगठन उसके अधीन और उसके प्रति उत्तरदायी हैं, किन्तु राज्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है, क्योंकि राज्य ही एकमात्र ऐसा साधन है जिसके माध्यम से मानव कल्याण के सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त किए जा सकते हैं। अतः व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने आपको राज्य की सेवा में समर्पित कर दे।

6.9.2 राज्य के विस्तार पर बल–राज्य के निरन्तर विस्तृत होते रहने की आवश्यकता बताते हुए मैकियावली ने एक बार पुनः मानव स्वभाव की चर्चा की है। वह कहता है कि मनुष्य का स्वभाव पारे की भांति होता है, वह निरन्तर बढ़ते रहना चाहता है। उसी प्रकार वैभव और राज–व्यवस्था है और राज्य को भी बढ़ते रहना चाहिए। जो राज्य इस सिद्धान्त का पालन नहीं करता, वह स्थिर नहीं रह सकता है। इसी आधार पर वह राज्य को दो भागों में बांटता है–(1) स्वस्थ राज्य और (2) अस्वस्थ राज्य। उसके अनुसार स्वस्थ राज्य युद्धशील होता है और निरन्तर संघर्ष में लगा रहता है। इस सम्बन्ध में वह रोमन साम्राज्य के पतन का उदाहरण देते हुए बताता है कि उसके पतन का एक कारण उसका सदैव एक समान बने रहना था, रोमन साम्राज्य के शासकों ने उसके विस्तार की चेष्टा नहीं की।

अतः 'प्रिन्स' व 'डिस्कोर्सेज' में वह इस बात पर बल देता है कि राज्य के अधिकृत प्रदेश को निरन्तर बढ़ाते रहने की आवश्यकता है। वस्तुतः मैकियावली का इटली के एकीकरण का जो लक्ष्य था, उसे दृष्टि में रखते हुए ही उसके द्वारा इस प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं।

6.9.3 राज्यों का वर्गीकरण और विभिन्न शासन प्रणालियां–मैकियावली ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्स' में यत्र–तत्र फ्रान्स, स्पेन तथा इंग्लैण्ड के सुदृढ़ एवं शक्तिशाली राजतन्त्रों की प्रशंसा की है और यह इच्छा व्यक्त की है। कि इटली में भी सुदृढ़ राजतन्त्र स्थापित हो, जिसके द्वारा सभी नैतिक बन्धनों से ऊपर उठकर इटली की एकता स्थापित करने और उसे शक्तिशाली बनाने का कार्य किया जा सके। लेकिन, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मैकियावली राजतन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था मानता था। उसने इटली के लिए राजतन्त्र को आदर्श के कारण नहीं, वरन् तत्कालीन परिस्थितियों के कारण अपनाने का पक्ष ग्रहण किया है। गणतन्त्र की अपेक्षा राजतन्त्र को ही इटली के लिए उपयुक्त मानने के उसने तीन कारण दिए हैं। ये इस प्रकार हैं–(1) लोगों का भ्रष्ट चरित्र, (2) राज्यों में सम्पत्ति की असमानता, और (3) इटली की तत्कालीन व्यवस्था।

वास्तव में वह राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था नहीं मानता, यह बात डिस्कोर्सेज में उसके द्वारा किए गए राज्यों के वर्गीकरण तथा उसके गुण–दोषों के विवेचन से स्पष्ट हो जाती है।

एथेन्स और रोमन गणराज्य की प्रशंसा करते हुए मैकियावली ने कहा कि एथेन्स का गणराज्य सैकड़ों वर्षों तक उन्नति के चरम शिखर पर रहा और उससे भी अधिक रोमन साम्राज्य ने सम्राटों से मुक्त होकर अपना उत्थान किया। वस्तुतः राज्य को महान् व्यक्ति का स्वार्थ नहीं अपितु सार्वजनिक कल्याण की भावना बनाती है और यह सार्वजनिक सुख केवल गणतन्त्रों में ही प्राप्त हो सकता है। गणतन्त्र और राजतन्त्र की तुलना करते हुए डिस्कोर्सेज में निम्नलिखित कारणों से गणतन्त्र को अधिक उपयोगी बताया है–(i) गणतन्त्र में शासन की बागडोर सामान्य जनता में होती है और सामान्य जनता एक व्यक्तिगत राजा की अपेक्षा अधिक समझदार होती है। (ii) राज्य के पदाधिकारियों के चयन करने में जनता का निर्णय किसी एक राजा की अपेक्षा अधिक सही होता है। (iii) राजतन्त्र में राज्य की प्रकृति समयानुकुल परिवर्तित नहीं होती पर जनतन्त्र में राज्य का स्वरूप और प्रकृति आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। (iv) राजा राज्य के निर्णय के लिए उत्तम है पर राज्य को कायम रखने के लिए गणतन्त्र ही अधिक उपयुक्त होता है। (v) सामान्य जनता उतनी कृतघ्नी नहीं हो सकती जितना कि एक राजा हो सकता है।

शासनतन्त्रों अथवा सरकारों का वर्गीकरण मैकियावली ने इस उद्देश्य से किया है कि आदर्श शासन कायम किया जा सके। उसके लिए आदर्श शासन वही है जो पूर्णतया सफल हो और जिसकी सत्ता मजबूत हो। इस क्षेत्र में अरस्तू के पथ का अनुसरण करते हुए उसने सरकारों को उनके शुद्ध व विकृत रूप मानकर 6 भागों में विभक्त किया है। संख्या के आधार पर वह भी शासन का वर्गीकरण शुद्ध और विकृत रूपों में करता है

शासन के शुद्ध रूप

(1) राजतन्त्र

(2) कुलीनतन्त्र

(3) वैध प्रजातन्त्र

शासन के तीन विकृत रूप निम्न हैं–

(1) तानाशाही,

(2) धनिकतन्त्र या वर्गतन्त्र,

(3) प्रजातन्त्र।

मैकियावली ने यद्यपि पोलिबियस और सिसरो के इस विचार से सहमति प्रकट की है कि मिश्रित सरकार सर्वश्रेष्ठ होती है क्योंकि उसमें प्रत्येक शासनतन्त्र के अच्छे गुणों का समावेश होता है और समुचित किया है और वे हैं–राजतन्त्र तथा गणतन्त्र। मैकियावली मानता है कि राजतन्त्र या गणतन्त्र इसमें से कोई भी शासन व्यवस्था सभी परिस्थितियों के लिए ठीक नहीं है। वह आदर्श शासन व्यवस्था गणतन्त्र को मानता है और कहता है कि सामान्य स्थिति में राजा मूर्ख होते हैं जबकि लोगों में निर्णय लेने और न्याय करने की क्षमता अधिक होती है, किन्तु चूंकि मानव स्वभाव के कारण सभी परिस्थितियों में गणतन्त्र का अपनाना सम्भव नहीं है, इसलिए वह राजतन्त्र की ओर झुक जाता है। वह कुलीनतन्त्र की कठोर आलोचना करता है और सामन्तवाद का भी विरोधी है। उसके अनुसार सामन्त वर्ग आलसी और निठल्ला होता है और दूसरों के श्रम की चोरी द्वारा अपना जीवन बिताता है।

संक्षेप में, सामान्य परिस्थितियों में उसका झुकाव गणतन्त्र की ओर है, किन्तु तात्कालीन इटली में विद्यमान अव्यवस्था जैसी स्थिति या संकटकाल के लिए वह राजतन्त्र को ही उपयुक्त समझता है।

6.9.4 सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार–मैकियावली ने स्पष्ट रूप से 'सम्प्रभुता' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया है, किन्तु उसने राजा की शक्तियों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसमें हमें सम्प्रभुता का आभास अवश्य होता है। वह शासक की आन्तरिक इच्छा तथा विजेता की भावना को अविभाज्य मानता है। उसके अनुसार शासक किसी भी आन्तरिक अथवा बाह्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होता और न वह किसी भी प्रकार के कर्तव्य अनुबन्ध से प्रभावित होता है। उसे किसी भी प्रकार की आन्तरिक या बाह्य विधियां मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। मैकियावली स्वयं परिवर्तनवादी था और इसलिए उसने स्थायी तथा अखण्ड सम्प्रभुता की बात नहीं की है। वह सम्प्रभुता की अन्य विशेषताओं–जैसे उसकी शाश्वतता, अदेयता, संवैधानिकता आदि के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखता, उसकी सम्प्रभुता एकात्मक, लौकिक, धर्मनिरपेक्ष और स्वतन्त्र चेतना से युक्त है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में मैकियावली सीमित सम्प्रभुता की आवश्यकता को स्वीकार करता है।

6.9.5 विधि सम्बन्धी विचार–विधि के सम्बन्ध में मैकियावली के विचार अत्यन्त ही संकुचित हैं। वह मध्यकालीन विचारकों की तरह प्राकृतिक अथवा दैवी विधियों में विश्वास नहीं करता, वह केवल नागरिक विधियों की कल्पना करता है जो शासक के द्वारा बनाई जाती हैं। उसके अनुसार राज्य की स्थापना के पूर्व कोई कानून अथवा व्यवस्था का

अस्तित्व नहीं था। नागरिक विधियों द्वारा ही प्राकृतिक अराजक व्यवस्था का अन्त हुआ एवं समाज को एकता के सूत्र में बांधा गया है। मैकियावली के अनुसार विधि का स्रोत शासन ही है और इस प्रकार उसकी विधि सम्बन्धी धारणा संकुचित, किन्तु निश्चित रूप से अधिक यथार्थवादी है।

मैकियावली का दूसरा सामान्य सिद्धान्त जिस पर उसने बार–बार बल दिया है, यह है कि समाज में विधायक अथवा कानून निर्माता का सबसे अधिक महत्व रहता है। उसका विश्वास है कि एक नवीन राज्य की स्थापना में एक बुद्धिमान विधि निर्माता की अत्यन्त आवश्यकता होती है, चाहे वह एक व्यक्ति हो या संस्था। उसके द्वारा निर्मित नियम नागरिकों के जीवन को नियमित कर उसमें नैतिक गुणों का विकास और राष्ट्रीय चरित्र का उत्थान करते हैं। पतनोन्मुखी समाज का उद्धार एक बुद्धिमान विधि निर्माता द्वारा ही हो सकता है। विधियां राजनीतिक ढांचे को ही निर्धारित नहीं करतीं वरन् सम्पूर्ण सामाजिक एवं नैतिक, आर्थिक ढांचे को भी प्रभावित करती हैं। मैकियावली के शब्दों में, "विधिकार न केवल राज्य का वरन् समाज का भी निर्माता होता है, जिसमें उसके समस्त नैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक संस्थान सम्मिलित हैं।"

6.9.6 राजा (प्रिंस) के आचरण के सिद्धान्त या शासक के कर्तव्य–'प्रिंन्स' के 18वें अध्याय में मैकियावली ने उन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर राजा को अपना आचरण करना चाहिए। इस विषय में उसकी शिक्षाएँ निम्नलिखित हैं–

(1) **अधिकाधिक शक्ति का अर्जन**–मैकियावली 'शक्ति ही सत्य' में विश्वास करता है और शक्ति मैकियावली की समस्त राजनीतिक विचारधारा का केन्द्रीय तत्व है। अतः मैकियावली अपने शासको को अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने, उसे बनाए रखने और उसका विस्तार करने के लिए निर्देश देता है। इस सम्बन्ध में मैकियावली का विचार है कि शासक का मूल कर्तव्य बाहरी आक्रमण से सुरक्षा और आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखना है और यह कार्य शक्ति के आधार पर ही सम्भव है।

(2) **साम, दाम, दण्ड और भेद को अपनाना**–मैकियावली के द्वारा अपने 'प्रिन्स' को साम, दाम, दण्ड और भेद का आवश्यकतानुसार प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है। राजा को जनता के सामने मानवोचित गुणों का प्रदर्शन करना चाहिए जिससे लोग समझें कि राजा बहुत सद्गुणी है, परन्तु उसे सद्गुणों का दास नहीं हो जाना चाहिए। राजा के द्वारा अपने राज्य के नागरिकों और अन्य राज्यों के शासकों को जो वचन दिए गए हैं, उनका महत्व है, लेकिन उनका पालन तभी तक किया जाना चाहिए, जब तक ऐसा करना राज्य के हित में हो।

(3) **शेर और लोमड़ी के गुणों को धारण करना**–मैकियावली के अनुसार राजा में शेर और लोमड़ी दोनों के ही गुण होने चाहिए। शेर अपने को जाल में फंसने से नहीं बचा पाता और लोमड़ी भेड़िये से अपनी रक्षा नहीं कर पाती। अतः कहा जाता है कि इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसमें लोमड़ी की चाल भी होनी चाहिए और भेड़िये को कैसे डराया जाए यह जानने के लिए उसमें शेर की तरह शक्ति होनी चाहिए, लेकिन अपने लोमड़ी के स्वरूप को छिपाए रखने के लिए राजा को उच्चकोटि का बहुरूपिया होना चाहिए और और आवश्यकता पड़ने पर अपने वचन भंग करने के लिए लोमड़ी की चाल से काम लेना चाहिए। पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ का उदाहरण देते हुए मैकियावली कहता है कि उसने लोगों को धोखा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया। ऐसा शायद ही कोई समकालीन राजनीतिज्ञ रहा हो, जिसने उसकी तरह धोखा देने की कला सीखी हो और इतनी दृढ़ता के साथ वायदा करके भी मुकर गया हो। इतने पर भी वह हर बार सफल हुआ।

(4) **क्रूरता का एक साथ प्रदर्शन**–मैकियावली के अनुसार जब प्रिंस किसी राज्य पर अधिकार कर लेता है तो विजेता को सभी अत्याचार व क्रूरता एक साथ कर लेना चाहिए। यह क्रूरताओं का सदुपयोग है। राज्य की प्राप्ति के लिए बड़े–से–बड़ा विश्वासघात किया जाना चाहिए बशर्ते कि ऐसा विश्वासघात बार–बार न किया जाए क्योंकि बार–बार ऐसा करना क्रूरता का दुरुपयोग है।

(5) **राष्ट्रीय सेना का गठन**–नरेश को राज्य की रक्षा के लिए एक शक्तिशाली राष्ट्रीय सेना का गठन करना चाहिए। उसे किराए की सेना पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

(6) **कानूनों का कठोरतापूर्वक पालन**–कानूनों का पालन नितान्त आवश्यक है, अतः राजा के द्वारा सामाजिक मामलों में किसी प्रकार की निर्बलता नहीं दिखाई जानी चाहिए। कठोरतम दण्ड की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कानून भंग करने वालों को सदैव ही भय बना रहे।

(7) **सैनिक शक्ति का विस्तार और युद्ध की स्थिति बनाए रखना**–मैकियावली की मान्यता है कि सैनिक शक्ति का विस्तार किया जाना चाहिए और युद्ध की स्थिति को बनाए रखा जाना चाहिए। राज्य का हमेशा विस्तार किया जाना चाहिए। 'विस्तार करो या नष्ट हो जाओ' की कहावत सही है। ग्रीक नगर–राज्य स्थाई होने के कारण ही नष्ट हुए। युद्ध की स्थिति से न केवल सैनिकों में वरन् साधारण नागरिकों में भी अनुशासन, देशभक्ति, एकता और

कठोर जीवन की आदत का विकास होता है। मैकियावली के अनुसार शासक के लिए युद्ध में वीरता और शौर्य का प्रदर्शन करने से अधिक सम्मानजनक बात और कुछ भी नहीं है।

(8) **आचरण भययुक्त हो लेकिन घृणित नहीं**—राजा को ऐसा होना चाहिए कि लोग उससे प्रेम भी करें और भयभीत भी रहें, लेकिन यदि ये दोनों गुण एक साथ ही उसमें न हों और एक को छोड़ना ही पड़े तो यह अधिक अच्छा होगा कि लोग उससे प्रेम करने की बजाय उससे डरें। प्रेम तभी तक रहता है जब तक स्वार्थ होता है, लेकिन भय दण्ड के द्वारा उत्पन्न किया जाता है इसलिए उसका प्रभाव स्थायी होता है, इसलिए डरना प्रेम करने की अपेक्षा कहीं अच्छा है।

(9) **सम्मानपूर्ण आचरण**—प्रत्येक राजा को दयालु होते हुए भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई उसकी क्षमाशीलता का लाभ न उठाए। राजा को सदैव कीर्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह प्रजा की घृणा का पात्र न बने। इससे बचने के लिए उसे अपने राज्य के नागरिकों की सम्पत्ति नहीं छीननी चाहिए, स्त्रियों की सतीत्व भंग नहीं करना चाहिए। इन दोनों कार्यों के न होने पर अधिकांश जनता सुखी और सन्तुष्ट रहती है।

(10) **व्यापार और वाणिज्य का विकास**—राजा को व्यापार और वाणिज्य की उन्नति में रुचि लेना चाहिए, किन्तु स्वयं इस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। उसके लिए यही उचित है कि वह इनके और कृषि के विकास को यथासम्भव प्रोत्साहन देता रहे। यदि राजा वाणिज्य, व्यवसाय, कृषि आदि की ओर उपेक्षा का व्यवहार करेगा तो देश निर्धन और अशक्त हो जाएगा।

(11) **मितव्ययता के साथ उदारता**—एक अच्छे राजा को मितव्ययी होना चाहिए। राज्य के धन को भोग—विलास पर और अनाप—शनाप खर्च नहीं करना चाहिए। लड़ाई में प्राप्त लूट का माल चुपचाप अपने कोष में न रखकर उदारतापूर्वक प्रजा और सैनिकों में बांटना चाहिए।

(12) **कला और साहित्य में रुचि**—राजा को साहित्य और संगीत का संरक्षक, कलाकारों का सम्मान करने वाला, गुण ग्राहक होना चाहिए।

(13) **चापलूसों से दूर रहना**—राजा को अपने सलाहकार और मन्त्रियों के चयन में सावधान रहना चाहिए। शासक को सदैव चापलूसों से बचकर रहना चाहिए। चापलूस लोग राज्य और राजा के लिए कोई भी संकट उत्पन्न कर सकते हैं।

(14) **निपुणता और योग्यता को प्रोत्साहन**—निपुणता और योग्यता को प्रोत्साहित करने के लिए राजा के द्वारा पुरस्कार, उपाधियां और पद प्रदान किए जाने चाहिए। पुरस्कार, उपाधियां और पद प्रदान करने के कार्य राजा के द्वारा स्वयं किए जाने चाहिए ताकि वह जनता में अधिक लोकप्रिय हो। राजा को दण्ड आदि के अप्रिय कार्यों का पालन अपने अफसरों द्वारा कराना चाहिए क्योंकि इनके कारण होने वाली बदनामी उन अफसरों के सिर पर पड़ेगी और यदि इनमें कुछ पीछे हटना पड़ा तो वह दोष अफसरों के सिर पर मढ़कर आसानी से बच सकता है।

(15) **शक्ति सन्तुलन बनाए रखना**—मैकियावली के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राजा की नीति शक्ति सन्तुलन बनाए रखने की होनी चाहिए। उसे हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि अपने पड़ोसी राज्यों को आपस में सन्धि में न बंधने दे। उसे पड़ोसी राज्यों के आन्तरिक मामलों में निरन्तर हस्तक्षेप की नीति अपनानी चाहिए और पड़ोसी राज्यों को प्रलोभन अथवा शक्तिबल द्वारा अपना मित्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

मैकियावली द्वारा प्रतिपादित राजा के आचरण और कर्तव्य की धारणाओं को देखने से ऐसा लगता है कि वह यथार्थवादी विचारक है। उसके ये कथन कितने यथार्थवादी हैं—"राजा में शेर की शूरता और लोमड़ी की चालाकी होनी चाहिए", "यदि सम्भव हो तो राजा को एक ही समय में अपना सौम्य तथा रौद्र रूप प्रदर्शित करना चाहिए।"

संक्षेप में, मैकियावली ने राज्य के उदय, विस्तार और राजा के आचरण के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे यह नितान्त स्पष्ट है कि उसने राज्य का कोई दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया है। न तो उसने राज्य की परिभाषा की है, न उसकी उत्पत्ति या विकास का विधिवत रूप में कोई सिद्धान्त प्रतिपादित किया है और न ही उसके तत्वों आदि का विश्लेषण अथवा उस पर विचार ही किया है। वस्तुतः मैकियावली का दर्शन राज्य की सुरक्षा का दर्शन है न कि राज्य सम्बन्धी कोई सिद्धान्त। राज्य सम्बन्धी दार्शनिक तत्वों की अपेक्षा उसकी दृष्टि यथार्थवादी राजनीति के प्रश्नों पर ही अधिक रही है और उसने राज्य की अपेक्षा शासन कला पर अधिक ध्यान दिया है। उसने अपने ग्रन्थ प्रिन्स में राज्य के सिद्धान्तों की अपेक्षा शासन की कला का विस्तार से विवेचन किया है। संक्षेप में, उसके विचार शासक के लिए हैं क्योंकि प्रिंस शासन कला पर एक उच्च कोटि की कृति है।

6.10 मैकियावली: प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक के रूप में

अधिकांश विद्वान मैकियावली को 'आधुनिक युग का जनक' मानते हैं। एक ओर उसे मध्ययुग का अन्तिम विचारक कहा जा सकता है तो दूसरी ओर आधुनिक युग में प्रथम। डनिंग के शब्दों में "यह कहना कि वह आधुनिक युग का प्रारम्भ करता है, उसी प्रकार सही है जैसे यह कहना कि वह मध्ययुग को समाप्त करता है।" मैकियावली को आधुनिक युग का जनक कहने का तात्पर्य यही है कि आधुनिक युग मैकियावली से प्रारम्भ होता है और इस युग के प्रारम्भ होने के साथ–साथ मध्ययुग का अन्त हो जाता है। प्रो. जोन्स के अनुसार–"इसके उपरान्त कि मैकियावली मुश्किल से एक राजनीतिक सिद्धान्तवादी है, वह किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों का पिता है।"

मैकियावली ने मध्ययुगीन मान्यताओं और परम्पराओं की न केवल उपेक्षा की, अपितु उनका खण्डन कर राजनीति को नवीन यथार्थवादी रूप प्रदान किया। वह धार्मिक आधार पर राजनीतिक साम्राज्य का विरोधी था। उसका दर्शन व विचार मध्ययुगीन मान्यताओं जैसे सामन्तवाद, पोपतन्त्र, पवित्र रोमन साम्राज्य, दैवी कानून, परलोक की महत्ता, नैतिकता, ईश्वरीय शक्ति आदि को खण्डित कर उन पर सर्वथा नवीन विचारों को प्रतिष्ठापित करता है। उसने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए धार्मिक दृष्टान्तों का नहीं वरन् ऐतिहासिक उदाहरणों का सहारा लिया। आधुनिक युग की राजनीतिक मान्यताओं को सरलता से उसके ग्रन्थों में पाया जा सकता है। यही कारण है कि मैकियावली राजनीतिक विचारों के इतिहास में एक अमर स्थान रखता है। वह ऐसा विचारक था जो मध्ययुग और आधुनिक युग दोनों की सीमाओं पर उत्पन्न हुआ था और जिसने मध्ययुग के साथ सम्बन्ध विच्छेद करके आधुनिक युग को सम्भव बनाया।

यद्यपि कुछ विचारकों का कहना है कि आधुनिक युग के पिता का स्थान बोदां को प्राप्त होना चाहिए क्योंकि बोदां ने ही सर्वप्रथम आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों की मूल विशेषता 'संप्रभुता' को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया, परन्तु मैकियावली को आधुनिक युग का प्रवर्तक मानने का सबसे बड़ा कारण यह है कि वही प्रथम व्यक्ति था जिसने व्यावहारिक राजनीति पर जो विचार प्रकट किए, उनका पालन आज लगभग सभी राजनीतिज्ञों द्वारा किया जा रहा है, जबकि बोदां वह पहला राजनीतिक विचारक था, जिसने राज्य का आधुनिक रूप में सैद्धान्तिक विवेचन किया। इसके अतिरिक्त बोदां स्वयं को मध्ययुगीन प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं कर पाया था।

मैकियावली ही वह प्रथम लेखक है जिसने राजनीति को नैतिकता और धर्म से पूर्ण पृथक किया और धर्मनिरपेक्ष विचारों को जन्म दिया जो आधुनिक युग की विशेषता है। मैकियावली ने ही मध्ययुगीन दैवी कानूनों, प्राकृतिक कानूनों और सामन्तवाद को अस्वीकार कर राज्य के सकारात्मक कानूनों को जन्म दिया जो आधुनिक युग की विशेषता है। मैकियावली ने यही राज्य की श्रेष्ठता, शक्ति की राजनीति और वैज्ञानिक अध्ययन पर बल दिया। गार्नर का मत है कि 'राज्य' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम मैकियावली ने किया। सेबाइन ने भी कहा कि "मैकियावली ने राज्य को वह अर्थ प्रदान किया जो आधुनिक राजनीतिक व्यवहार में राज्य के साथ जुड़ा हुआ है।"

कोकर ने मैकियावली को आधुनिक राजनीतिक चिन्तक के रूप में माने जाने के मुख्यतः दो कारण बताए हैं : प्रथम, मैकियावली ने जो कुछ भी लिखा उसकी पुष्टि के लिए प्रमाण उसने धार्मिक ग्रन्थों से जुटाने के बजाय इतिहास से जुटाए: द्वितीय, उसने राजनीतिक प्रश्नों का परीक्षण धार्मिक–आध्यात्मिक और सामाजिक आचार–विचार से मुक्त होकर किया।

अब हम आधुनिक युग की कतिपय उन विशेषताओं का उल्लेख करेंगे जिनकी हमें सर्वप्रथम झलक मैकियावली के विचारों में दिखलायी देती है और जिनके आधार पर उसे 'आधुनिक युग का जनक' कहा जाता है

6.10.1 मध्ययुगीन विचारधारा पर प्रहार–मैकियावली के विचार प्राचीन व मध्यकालीन विचारों की परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं। उसने अपनी रचनाओं द्वारा निम्नलिखित मध्यकालीन विचारों पर प्रकाश किया।

(अ) दैवीय कानून–मध्ययुग में राज्य के कानून की अपेक्षा दैवीय कानून को अधिक महत्व प्राप्त था। जनता को दण्ड देकर परलोक प्राप्ति के योग्य बनाया जाता था और राज्य को एक तुच्छ संस्था समझा जाता था, जिसका जन्म मानव के पतन के कारण हुआ। मैकियावली ने इस विचार का घोर विरोध किया और राज्य को सर्वोच्च संस्था बताया।

(ब) पोप का प्रभुत्व–मध्ययुग में राज्य की समस्त शक्ति वास्तव में पोप के हाथों में निहित थी और वह ईश्वर का पुत्र तथा उत्तराधिकारी माना जाता था। उसकी निरंकुशता चरम सीमा पर पहुंच गयी। परिणामस्वरूप वह और चर्च के पदाधिकारी अनैतिक व चरित्रहीन हो गए थे। उनकी अनैतिकता और पतन से देश में भारी अव्यवस्था फैल गई थी। 'डिस्कोर्सेज' में इसका वर्णन करते हुए वह कहता है–"चर्च ने न केवल हमको अधार्मिक और भ्रष्ट बनाया है अपितु उसने हमारे देश के टुकड़े–टुकड़े कर हमें बर्बाद कर दिया है और अब भी कर रहा है।" मैकियावली एक सच्चा देशभक्त था उसकी यह हार्दिक इच्छा थी कि उसका देश एकता के सूत्र में बंध जाए। इसलिए उसने निरंकुश पोपतन्त्र की कटु आलोचना की और राज्य को प्रभुत्व सम्पन्न व चर्च को उसका अनुगामी बताया।

(स) सामन्तवाद–मध्य युग में राज्यों की एकता के लिए सामन्तवाद पर्याप्त बाधक सिद्ध हुआ। एक राज्य में सम्राट के अधीन कई बड़े–बड़े सामन्त हुआ करते थे जिनका अधिकार क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता था। ये सामन्त लोग ही

अपने क्षेत्र में सेना, न्याय आदि की व्यवस्था करते थे। उन दिनों आवागमन के पर्याप्त साधनों के अभाव में सम्राट का इन सामन्तों पर उचित नियन्त्रण नहीं रह पाता था, इसलिए राज्यों में अव्यवस्था फैली रहती थी। मैकियावली ने इटली की अव्यवस्था के लिए सामन्तवाद को भी दोषी ठहराया।

6.10.2 प्रथम राजनीति वैज्ञानिक—केटलिन के अनुसार, "मैकियावली प्रथम राजनीति वैज्ञानिक था।" अरस्तू की अपेक्षा केटलिन यदि मैकियावली को पहला राजनीति वैज्ञानिक मानता है तो इसलिए कि अरस्तू ने राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष को वैज्ञानिक रूप दिया है और मैकियावली ने व्यावहारिक पक्ष को। मैकियावली तो राज्य के लिए काल्पनिक व आध्यात्मिक साध्यों में विश्वास नहीं रखता था। वह तो व्यावहारिक राजनीति में उपयोगी साधनों का समर्थक था। वह राजनीति दार्शनिक नहीं, राजनीतिक यथार्थवादी था।

6.10.3 ऐतिहासिक पद्धति—मध्ययुग में धार्मिक और राजनीतिक सभी प्रकार की समस्याओं का चिन्तन स्कालेस्टिक पद्धति के आधार पर किया जाता था, इसमें पूर्व पक्ष के रूप में विरोधी पक्ष की सभी युक्तियों को देने के बाद अन्तर पक्ष के रूप में उनका खण्डन प्रबल तर्कों के आधार पर किया जाता था। मैकियावली ने इस पद्धति का परित्याग करते हुए अनुभूति प्रधान अथवा ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति को अपनाया है। अर्थात् मैकियावली ने अपने विचारों तक पहुंचने के लिए इतिहास और तर्क का सहारा लिया, जिसके परिणामस्वरूप उसने राजनीति विज्ञान का आधार ही परिवर्तित कर दिया। बुर्ड के शब्दों में—"दि प्रिन्स' वह सर्वप्रथम महान् कृति थी, जिसमें ईश्वरीय तत्व तथा मानवीय तत्व में स्पष्ट संघर्ष दिखाई देता था और जिसमें पूर्वजों द्वारा अपनायी प्राचीन सूक्तियों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से पथभ्रष्ट करने वाली समझ कर छोड़ दिया।" मैकियावली के पश्चात् तो प्रायः अधिकांश विचारकों ने ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। यद्यपि स्वयं मैकियावली की पद्धति दोष रहित न थी तथापि उससे एक नूतन मार्ग का निर्देशन तो हुआ।

6.10.4 राज्य की आधुनिक स्थिति का निरूपण—आधुनिक युग का एक प्रमुख लक्ष्य राज्य को प्राप्त अत्यंत महत्वपूर्ण स्थिति है और अरस्तू के बाद मैकियावली सबसे पहले राजनीतिक विचारक है जिसने राज्य की महत्पूर्ण स्थिति का निरूपण किया है। मैकियावली ने इस बात पर सबसे अधिक जोर दिया है कि मानव जीवन की पूर्णता के लिए एक सुदृढ़ और संगठित राज्य की परम आवश्यकता है। राज्य को उन्होंने एक प्रकार से साध्य बना दिया है। सेबाइन के शब्दों में किसी भी अन्य विचारक की अपेक्षा मैकियावली ने आधुनिक राजनीति के अर्थ में राज्य की सबसे सही परिभाषा दी है।

6.10.5 राज्य की प्रभुसत्ता का पोषक—सम्प्रभुता की धारणा को आधुनिक युग की प्रतीक धारणा कहा जा सकता और यद्यपि मैकियावली ने कहीं भी बोदां, ग्रोशियस, हॉब्स या अकॉस्टिन की भांति राज्य की सम्प्रभुता पर विचार नहीं किया है और न उसकी कोई परिभाषा दी है पर राज्य को उसने सर्वोपरि संस्था माना है जिसकी अधीनता में सभी व्यक्ति और संस्थाएँ रहती हैं। सेबाइन के अनुसार 'राज्य' एक सर्वोच्च राजनीतिक संस्था के रूप में मैकियावली की लेखनी से ही पहली बार अभिव्यक्ति हुआ और तब से उसे संप्रभु कहा जाने लगा और बाद में सम्प्रभुता का सिद्धान्त ही प्रतिपादित कर दिया गया जो आधुनिक राज्य का एक महत्वपूर्ण तत्व है। मैकियावली ने यह प्रतिपादित किया है कि राज्य एक ऐसी संगठित शक्ति है जो अपनी सीमा के अन्दर सर्वोच्च है तथा अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते समय वह अपनी इस स्थिति के प्रति सचेतन है।

6.10.6 राष्ट्र राज्य की धारणा का सन्देशवाहक—आधुनिक युग राष्ट्र राज्यों का युग है। मैकियावली ने अपने चिन्तन के माध्यम से राष्ट्रीयता का समर्थन किया। राष्ट्रीयता के प्रति उसकी आस्था का मुख्य कारण इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि राज्यों की तरह से छोटे—छोटे राज्यों में बंटे इटली का एक राष्ट्रीय राज्य में संगठन करना था।

मैकियावली के समय में राष्ट्रीय राज्य शक्ति के प्रतीक और विकास के लिए अधिक उपयुक्त थे। अतः वह यह भी चाहता था कि इटली का राष्ट्रीयता के आधार पर एकीकरण हो और वह एक शक्तिशाली और विकसित राष्ट्र का आकार ग्रहण करे। उसने इस हेतु प्रादेशिकता के आधार पर इटली के एकीकरण का समर्थन किया। इस तरह इटली के राष्ट्रीय एकीकरण का समर्थन करके उसने आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। डॉयल के शब्दों में, "मैकियावली प्रथम विचारक था जिसने राष्ट्रीय राज्य के लक्षणों की विवेचना और विश्लेषण किया और इस राजनीतिक सावयव की धारणा को जन्म देने की चेष्टा की।"

6.10.7 राजनीति का धर्म और नैतिकता से पृथक्करण—मैकियावली के विचारों की एक प्रमुख विशेषता राजनीति को धर्म और नैतिकता के प्रभाव से सर्वथा मुक्त और पृथक् करना है। इस दृष्टि से वह मध्यकालीन विचारकों से सर्वथा भिन्न था। मध्य युग के समस्त राजनीतिक दर्शन में धर्म राजनीति पर हावी रहा और नैतिकता तथा धर्म की दुहाई देते हुए राजनीतिक संस्थाओं का विकास अवरुद्ध कियास गया। मध्य युग के अन्त में राजनीति को धर्म से पृथक् करने की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, लेकिन किसी ने भी इस सम्बन्ध में आवश्यक साहस का परिचय नहीं दिया। मैकियावली ने ही सर्वप्रथम निडरता के साथ घोषणा की कि राजनीति का धर्म और नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है और राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उचित—अनुचित, नैतिक—अनैतिक सभी प्रकार के साधन अपनाए जा सकते हैं। वह धोखा और ढोंग राजा के लिए जरूरी समझता है और कहता है कि राजा में जहां एक ओर शेर का साहस होना

चाहिए, वहां दूसरी ओर लोमड़ी की चालाकी भी आवश्यक है। वह स्पष्ट कहता है, "राजा को राज्य को सुस्थिर बनाए रखने पर ही ध्यान देना चाहिए और यदि वह अपने इस लक्ष्य में सफल रहा तो उसका हर साधन सम्मानपूर्ण और प्रशंसनीय समझा जाएगा।" डिस्कोर्सेज में उसने लिखा है कि, "मैं यह विश्वास करता हूं कि जब राज्य का जीवन संकट में हो तो राजाओं और गणराज्यों को रक्षा के लिए विश्वासघात और कृतघ्नता का प्रदर्शन करना चाहिए।" मैकियावली ने इस धारणा का प्रतिपादन किया कि धर्म और नैतिकता का स्वतन्त्र अस्तित्व व्यक्तिगत जीवन के क्षेत्र में तो हो सकता है सार्वजनिक क्षेत्र में तो उन्हें राजनीति का साधन बनकर रहना होगा। संक्षेप में, मैकियावली धर्म और नैतिकता से मुक्त राजनीति का सूत्रधार है। कोकर ने ठीक ही लिखा है कि, "मैकियावली को प्रथम आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तकार कहकर पुकारने का कारण धर्म और नैतिकता के प्रति उसकी उदासीनता और उसके द्वारा केवल लौकिक और मानवीय विवेक को की गई अपील है।"

6.10.8 शक्ति और सत्ता के राजनीति में प्रयोग का पक्षधर–आधुनिक युग शक्ति राजनीति का युग है। राजनीति में शक्ति का प्रयोग इतना अधिक होता है कि आज रानीति को 'शक्ति के लए संघर्ष' कहा जाता। इस शक्तिवादी राजनीति को वस्तुतः मैकियावली ने ही प्रारम्भ किया है। सम्भवतः वह प्रथम विचारक है जिसने स्पष्ट शब्दों में बल प्रयोग को राज्य का आधार बताया। वह मनुष्य को स्वाभाव से अनैतिक, कपटी, स्वार्थी और क्रूर समझता है अतः उसके नियन्त्रण के लिए राज्य में बल प्रयोग को अनिवार्य रूप से निहित मानता है। मैकियावली ने अपने दर्शन में एक केन्द्रीय राजसत्ता की स्थापना पर जोर दिया है और शक्ति की सर्वोच्चता की पूजा की है। मैक्सी के अनुसार, इस सम्बन्ध में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने वाला वह प्रथम विचारक है। शक्ति प्राप्त करने के लिए वह किसी भी उपाय का अवलम्बन करना उचित समझता था।

6.10.9 संघ राज्य का प्रथम उद्घोषक–मैकियावली संघ राज्य के विचार का प्रथम उद्घोषक है। उसने इटली के लिए एक ऐसे कॉमनवेल्थ का सपना देखा जिसका आधार संघात्मक व्यवस्था होगी। आधुनिक युग में बड़े राज्यों के लिए व्यवस्था ही अधिक उपयुक्त मानी जाती है जिसका सपना मेडियावेली ने 15वीं शताब्दी में देखा था।

इस प्रकार, मैकियावली के द्वारा प्रस्तुत राज्य की रूपरेखा आधुनिक राज्यों की रूपरेखाओं से बहुत कुछ मिलती–जुलती है। उसने इटली राज्य के सम्बन्ध में जो चित्र प्रस्तुत किया वह बहुत कुछ आधुनिक राज्यों के समाज है। आधुनिक राज्य प्रभुतासम्पन्न, धर्मनिरपेक्ष, स्वतन्त्र अस्तित्ववान और राष्ट्रीय राज्य है। कुछ राज्यों में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति गम्भीर रूप से विद्यमान है। मैकियावली ने स्पष्ट कहा था कि शक्ति संवर्धन राज्य तथा प्रभुत्व विस्तार राजा के लिए आवश्यक है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि राज्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखकर ही उन्नति कर सकता है।

गैटिल का मत है कि, "वह प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक था जिसने एक प्रभुतासम्पन्न, संगठित, धर्मनिरपेक्ष, राष्ट्रीय एवं स्वतन्त्र अस्तित्ववादी राज्य की कल्पना की थी। वह प्रथम आधुनिक यथार्थवादी था जिसने बताया कि राज्य को स्वयं के लिए जीवित रहना चाहिए तथा उसको अपने संरक्षण और हित का उद्देश्य रखना चाहिए।" स्पष्ट है कि मैकियावली धर्मप्रधान मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर आधुनिक युग की उन धारणाओं को जन्म देता है जो बाद में विकसित होकर उसकी आधारभूत अवधारणाएँ बन गईं। इसलिए मैक्सी ने उसे आधुनिक राजनीतिक चिन्तक और जोन्स ने उसे आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का पिता घोषित कर एक वास्तविकता का ही उद्घाटन किया है।

फिर भी कतिपय आलोचक मैकियावली की कृतियों में ऐसी बहुत सी बातें पाते हैं जो उसके आधुनिक युग के जनक होने के दावे का या तो खण्डन करती हैं या उसे दुर्बल करती हैं। वे इस प्रकार हैं–

(i) मैकियावली ने राज्य की सम्प्रभुता के बारे में स्पष्ट रूप से कहीं भी चर्चा नहीं की है। इस प्रकार वह राज्य के आवश्यक तत्व 'सम्प्रभुता' के बारे में पूर्णतया मौन है।

(ii) मैकियावली ने ऐतिहासिक पद्धति का गलत तरीके से प्रयोग किया है। वह व्यक्तिगत अनुभव तथा तात्कालीन परिस्थितियों के आधार पर कुछ निष्कर्षों पर पहुंचता है तथा उनकी पुष्टि में खोज–खोजकर ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करता है। इसलिए जोन्स ने लिखा है, "बोदा मैकियावली की अपेक्षा आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व अधिक अच्छी तरह करता है।" परन्तु क्या हमें पिता में सन्तान के गुण ढूंढने चाहिए? वस्तुतः हम सन्तान में पिता के गुण ढूंढते हैं। यह सच है कि मैकियावली ने आधुनिक युग के राजनीतिक विचारों के भवन का निर्माण नहीं किया, परन्तु उसकी आधारशिला अवश्य रखी।

6.11 मैकियावली के विचारों की आलोचना

मैकियावली को अपने युग का शिशु और आधुनिक युग के पिता की संज्ञा दी गई है, किन्तु राजनीतिक चिन्तन के विकास के इतिहास में इतना महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी उसकी विचारधारा में अव्यवस्था, अस्पष्टता और जटिलता के दोष तो हैं ही, उसके कुछ विचार भी त्रुटिपूर्ण हैं और उनमें असंगतियां भी हैं, जो इस प्रकार हैं–

6.11.1 अध्ययन पद्धति त्रुटिपूर्ण–मैकियावली की अध्ययन पद्धति दोषपूर्ण है। उसने ऐतिहासिक पद्धति का गलत प्रयोग किया है। उसने अतीत इतिहास के निष्पक्ष और तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपने मन्तव्य और सिद्धान्त निश्चित नहीं किए, किन्तु अपने अनुभव से कुछ धारणाए बना लीं और इतिहास में से इन्हें पुष्ट करने के लिए उदाहरण ढूंढे।

6.11.2 मानव स्वभाव सम्बन्धी एकाकी दृष्टिकोण–उसने मनुष्य को केवल निकृष्ट और स्वार्थी ही माना है, परन्तु वह यह भूल गया प्रतीत होता है कि मनुष्य में दिव्यता भी है। उसने दानवीय अंश को प्रधानता देते हुए मानव में विद्यमान दैवी अंश की उपेक्षा की है।

6.11.3 राजनीति में नैतिकता की उपेक्षा अनुचित–मैकियावली ने राजनीति के क्षेत्र में धर्म और नैतिकता की घोर उपेक्षा की है। वह उन्हें साध्य समझने के बजाय राज्य के हित साधने वाले साधन के रूप में प्रस्तुत करता है। इस तरह उसने राजनीति के भ्रष्ट होने का मार्ग खोल दिया। फोक्स की उक्ति "नैतिक रूप से जो गलत है, वह राजनीतिक रूप से कभी सही नहीं हो सकता।" मैकियावली के सिद्धान्त की अपेक्षा सत्य के कहीं अधिक निकट है।

6.11.4 राजनीति विज्ञान के मौलिक प्रश्नों की उपेक्षा–मैकियावली ने राजनीति विज्ञान के मूलभूत प्रश्नों की उपेक्षा की है। उसने अपने ग्रन्थों में राज्य के स्वरूप, सम्प्रभुता, उद्देश्य व शासन के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों पर कोई प्रकाश नहीं डाला। गैटिल ने ठीक ही लिखा है कि उसका सिद्धान्त राज्य के संरक्षण का सिद्धान्त है, न कि राज्य का प्रतिपादन करने वाला सिद्धान्त।

6.11.5 अवसरवादी राजनीति का प्रणेता–मैकियावली अवसरवादी राजनीति का प्रणेता है। उसने अपने राजा को अवसरवादी बनाकर अपना काम निकालने की बार–बार सलाह दी। संक्षेप में, आलोचकों के अनुसार मैकियावली एक राजनीतिक दार्शनिक नहीं अपितु पक्का अवसरवादी राजनीतिज्ञ था। यथार्थ में उसने कोई राजनीतिक दर्शन नहीं दिया। 'प्रिन्स' के विचार वे चाटुकारिताएँ हैं जिनके द्वारा वे राजाओं से अपने लिए राजनीतिक पद की भीख मांग रहे थे। सेबाइन ने उसे राजनीतिज्ञ या राजनीतिक विचारक की अपेक्षा कूटनीतिज्ञ ही अधिक माना है।

6.12 निष्कर्ष

इस प्रकार मैकियावली को प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक की संज्ञा दी जा सकती है। उसके विचारों एवं चिंतन पर तत्कालीन इटली के समाज एवं लोगों के व्यवहार का प्रभाव पड़ा अतः अपनु युग का शिशु भी माना जाता है। आधुनिक राष्ट्रीय राज्य की अवधारणा पर बल देकर तथा शक्ति में वृद्धि राष्ट्र का लक्ष्य मानकर उसने विचारों को पूर्ववर्ती विचारकों से अलग एवं यथार्थ बनाने का प्रयास किया। पाश्चात्य दर्शन में मैकियावली का योगदान काफी महत्वपूर्ण माना जाता है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. "मैकियावली अपने युग का शिशु है।" स्पष्ट कीजिए।
2. "मैकियावली प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक है।" कथन की व्याख्या कीजिए।
3. मैकियावली के राजनीतिक विचारों का विवेचन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. मैकियावली के राज्य सम्बन्धी विचारों का विवेचन कीजिए।
2. मैंकियावली के शासन प्रणाली सम्बन्धी विचारों का विवेचन कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. "द प्रिंस" के लेखक कौन है?
2. किसके अनुसार शासक में शेर व लोमड़ी दोनों के गुण होने चाहिए।
3. मैकियावली का जन्म किस देश में हुआ?

इकाई–7
टॉमस हॉब्स

संरचना

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 जीवन परिचय
7.3 प्रमुख रचनाएँ
7.4 हॉब्स के चिन्तन को प्रभावित करने वाली परिस्थितियां
  7.4.1 विज्ञान का विकास
  7.4.2 इंग्लैण्ड का गृहयुद्ध
  7.4.3 यात्राएँ और सम्पर्क
7.5 हॉब्स की अध्ययन पद्धति : वैज्ञानिक भौतिकवाद
7.6 हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धांत
  7.6.1 मानव स्वभाव का स्वरूप
  7.6.2 प्राकृतिक अवस्था
  7.6.3 प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक कानून
  7.6.4 समझौते के कारण–
  7.6.5 सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति
  7.6.6 राज्य का स्वरूप
7.7 हॉब्स के सामाजिक समझौता सिद्धांत के निष्कर्ष
7.8 हॉब्स के सामाजिक समझौता सिद्धांत की आलोचना
  7.8.1 मानव स्वभाव का दोषपूर्ण चित्रण
  7.8.2 प्राकृतिक अवस्था अस्वाभाविक
  7.8.3 प्राकृतिक दशा में प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता असंगत है
  7.8.4 अतार्किक
  7.8.5 निरंकुशता का समर्थन
7.9 हॉब्स का सम्प्रभुता सिद्धांत
  7.9.1 शासन के भेदः राजतन्त्र श्रेष्ठ शासन
  7.9.2 हॉब्स के कानून संबंधी विचार
  7.9.3 राज्य और चर्च के संबंध में हॉब्स के विचार
7.10 हॉब्स के राजदर्शन में निरंकुशतावाद एवं व्यक्तिवाद के तत्व
7.11 हॉब्स के राजदर्शन की आलोचना

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् छात्र–

- टॉमस हॉब्स के जीवनवृत्त और सामाजिक समझौता सिद्धांत को समझ सकेंगे।
- हॉब्स के राजदर्शन और सम्प्रभुता सिद्धांत की व्याख्या कर सकेंगे।
- निरकुंशवाद एवं व्यक्तिवाद की अवधारणा को समझ सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

टॉमस हॉब्स एक अतिशय महान् विचारक और राजनीतिशास्त्र का प्रणेता था। उसकी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्मदर्शिनी और विश्लेषणपटु थी। सम्भवतः उसकी विश्लेषण कला पर अरस्तू का प्रभाव है। यद्यपि प्लेटो या हीगल की भांति प्रचण्ड दार्शनिक अट्टालिका का निर्माण उसने नहीं किया तथापि राजनीतिशास्त्र के तात्विक विकास के इतिहास में वह एक विशिष्ट स्थान का निश्चित अधिकारी है। मौलिक सूझ, पांडित्यपूर्ण विशद् विवेचन और तीक्ष्ण तार्किकता के कारण उसका ग्रन्थ 'लेवियाथन' आज भी शास्त्रीय दृष्टि से अतिशय महत्वपूर्ण माना जाता है। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आज भी हॉब्स का नाम प्लेटो, माण्टेस्क्यू, मैकियावली, रूसो जैसे दार्शनिकों की प्रथम पंक्ति में लिया जाता है। मैक्सी के शब्दों में, "अंग्रेजी भाषा–भाषियों ने जितने भी राजनीतिक दर्शन के लेखकों को जन्म दिया है, उन सभी में कदाचित् हॉब्स महानतम् है।" वही पहला दार्शनिक था जिसने राजनीतिक चिन्तन में निरंकुशतावाद एवं धर्म निरपेक्षतावाद के लिए एक वैज्ञानिक आधार बनाया तथा भौतिक विज्ञानों में प्रयुक्त होने वाली पद्धति को दर्शन तथा राजनीतिक चिन्तन का आधार देकर राजनीतिक को विज्ञान का स्वरूप दिया। टॉमस हॉब्स को राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में सामाजिक समझौता सिद्धांत की नवीन परम्परा को विधिवत जन्म देने और विकसित करने का श्रेय प्राप्त है। यद्यपि सामाजिक समझौते के विचार का वर्णन प्राचीन और मध्ययुगीन विचारकों के द्वारा भी किया गया था, लेकिन इसे एक सिद्धांत की तरह विशद रूप से सर्वप्रथम प्रतिपादित करने का श्रेय हॉब्स को ही प्राप्त है। वैज्ञानिक चिन्तन प्रणाली, ऐतिहासिक एवं भौतिकवादी समीक्षा, तर्क सिद्ध व्याख्या, सुतीक्ष्ण शैली एवं विचारोत्तेजक लेख ये सब हॉब्स की देन हैं। जॉन लेयर्ड के शब्दों में, "हॉब्स प्रतिभासम्पन्न मनोवैज्ञानिक, उत्कृष्ट तत्वज्ञानी, प्रसिद्ध राजनीति चिन्तक एवं एक ऐसा नैतिकवादी है जिसे ब्रिटेन के आचारशास्त्र का जनक कहा जा सकता है।" वेपर के शब्दों में, "राजनीतिक दर्शन के इतिहास में हॉब्स, जो प्रायः निरंकुश शासनवादी माना जाता है, शायद सबसे अधिक व्यक्तिवादी है।" अंग्रेजी भाषाभाषी जातियों ने जितने राजनीतिक दार्शनिकों को जन्म दिया है, उनमें हॉब्स सबसे महान् है एवं उसका नाम तब तक अमर रहेगा जब तक लोग राजनीतिक समस्याओं पर विचार करते रहेंगे।

7.2 जीवन परिचय

टॉमस हॉब्स का जन्म सन् 1588 ई. में मेम्सबरी के पास वेस्टपोर्ट में हुआ था। उसके पिता वेस्टपोर्ट के पादरी थे। अपने क्रोधी स्वभाव के कारण उसके पिता ने एक अन्य पादरी पर हमला कर दिया था जिसके कारण उन्हें अपने तीन बच्चों और पत्नी को छोड़कर निर्वासित होना पड़ा। पिता की अनुपस्थिति में हॉब्स का पालन–पोषण उसके चाचा ने किया। वह बचपन से ही विलक्षण प्रतिभा का धनी था। उसने 4 वर्ष की अवस्था से अच्छी तरह पढ़ना–लिखना सीख लिया था और 6 की अवस्था में ग्रीक और लेटिन का अध्ययन शुरू किया। मेम्सबरी में ही उसने सन् 1596 से 1603 ई. तक लेटिन और ग्रीक भाषा का इतना गहन अध्ययन किया कि 14 वर्ष की आयु में उसने यूरीपाइडीज की दी मिडीआ का ग्रीक से लेटिन भाषा में अनुवाद किया। 15 वर्ष की आयु में वह ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ और पांच वर्ष बाद वह विश्वविद्यालय में प्रचलित तत्कालीन स्कालेस्टिक शिक्षा पद्धति के प्रति तीव्र घृणा लेकर स्नातक हुआ। 1608 ई. में जब उसकी आयु सिर्फ 20 वर्ष की थी, वह इंग्लैण्ड के कैवण्डिश नामक एक सम्भ्रान्त उच्च कुल में विलियम कैवेडिण्श (जो बाद में डिवोनशायर के अर्ल हुए) का शिक्षक नियुक्त हुआ। उसका इस परिवार के साथ जीवनभर संबंध बना रहा और इसने उसके बौद्धिक विकास पर गहरा प्रभाव डाला। 1610 ई. में अपने शिष्य के साथ यूरोप की पहली यात्रा करते हुए उसे वहां के दार्शनिक विद्वानों के तथा नवीन भौतिक विज्ञान के सम्पर्क में आने का अवसर मिला और यह ज्ञात हुआ कि ऑक्सफोर्ड का दर्शन बहुत पुराना पड़ चुका है। इसके बाद ही इस परिवार के साथ अपने सम्पर्क के कारण उसे तत्कालीन इंग्लैण्ड के बेकन एवं बेन जॉनसन जैस बुद्धिजीवियों से परिचित होने का अवसर मिला।

1628 ई. में हॉब्स कैवेण्डिश परिवार को छोड़कर सर क्लिनटन के पुत्र का अध्यापक नियुक्त हुआ। इस परिवार के साथ वह तीन वर्ष तक रहा जिसमें कि प्रथम दो वर्ष उसने विदेश यात्रा में ही बिताए। अपनी इस यात्रा में वह गणित और ज्यामिति की नई खोजों से परिचित हुआ। उसका परिचय उन नवीन विचारकों से हुआ जो यान्त्रिक आधार पर विज्ञान का क्रमबद्ध रूप से पुनर्निर्माण करने के आकांक्षी थे। 49 वर्ष की आयु में वह यूक्लिड की पुस्तक देखते ही रेखागणित का प्रेमी हो गया। इसी समय से उसे यह विश्वास हो गया कि सब अनुभूतियां गति का परिणाम हैं। "प्रकृति में गति सर्वव्यापक है और समस्त भौतिक जगत तथा मानसिक प्रक्रियाएँ सहजातीय तत्वों की गतिमात्र हैं।" सन् 1634 से 1637 तक हॉब्स ने यूरोप की पुनः यात्रा की। इसी भ्रमण काल में उसने इटली में गैलिलियों से और पेरिस में फ्रेन्च दार्शनिक देकार्ते से भेंट की।

1640 ई. में राजा और संसद में संघर्ष छिड़ने पर उसका ध्यान गणितशास्त्र से राजनीतिशास्त्र की ओर आकृष्ट हुआ। उसने निरंकुश राजसत्ता के समर्थन में एक पुस्तक लिखी और इस कारण इंग्लैण्ड में अपना रहना संकटपूर्ण समझते हुए वह भागकर फ्रांस चला गया। ग्यारह वर्षों तक वह फ्रांस में रहा और इसी अवधि में उसने 'डी सिवे की रचना की जो 1642 ई. में प्रकाशित हुई। इसी कालावधि में वह पेरिस में इंग्लैण्ड से भागकर आए हुए युवराज तथा भावी राजा चार्ल्स

द्वितीय का गणितशास्त्र का अध्यापक भी रहा। सन् 1651 में उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवियाथन' प्रकाशित हुआ, 1655 में उसने डि कॉरपोर तथा 1659 में 'डि होमिने' प्रकाशित किया। इनसे वह नास्तिक शिरोमणि समझा जाने लगा और कटट्र प्यूरिटन शासन में उसके जीवन पर पुनः संकट के बादल मंडराने लगे, किन्तु 1660 में क्रामवेल द्वारा स्थापित कामनवैल्थ की समाप्ति हुई, इंग्लैण्ड में राजतन्त्र की पुनर्स्थापना हुई और पेरिस में उससे गणित पढ़ने वाला युवराज चार्ल्स द्वितीय के नाम से ब्रिटेन की राजगद्दी पर बैठा जिससे उसके जीवन का संकट टल गया। राजघराने में हॉब्स का सम्मान बढ़ गया और चार्ल्स ने उसके लिए पेन्शन की व्यवस्था कर दी, किन्तु उसके धार्मिक विचारों के कारण बिशपगण धीरे–धीरे उसके विरोधी बनते हुए। कुछ बिशपो ने हॉब्स को नास्तिक के रूप में चिता पर जलाने का सुझाव दिया। इससे वह इतना आतंकित हुआ कि अपने को धार्मिक सिद्ध करने के लिए उसने गिरजे में जाना शुरू कर दिया। राजा ने हॉब्स को विवादास्पद लेख न लिखने की सलाह दी। सन् 1668 ई. में उसने 'डॉयलाग ऑन दि सिविल वार्स' की रचना की जिसमें गृहयुद्ध की विवेचना करते हुए उसने इसका उत्तरदायित्व संसद के समर्थन पर डाला तथा उन वैध राजतन्त्रवादियों की आलोचना की, जो इंग्लैण्ड में राजा का शासन और शक्तियां संसद द्वारा सीमित करना चाहते थे। इसी अवधि में लिखे गए ग्रन्थ 'डॉयलाग ऑफ दि कॉन लॉज' में उसने यह प्रतिपादित किया कि राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश और एकमात्र विधिनिर्माता है, जनता में उसे नियन्त्रित करने की कोई क्षमता नहीं है। 1679 में 91 वर्ष की आयु में उसका निधन हो गया।

7.3 प्रमुख रचनाएँ

1. डी–सिवे, 1642।
2. डी–कॉरपोरे, 1655।
3. लेवियाथन, 1651।
4. एलीमेण्ट्स ऑफ लॉ, 1650।
5. डी–होमिने, 1659।

डी–सिवे में हॉब्स ने सम्प्रभुता की व्याख्या करते हुए उसकी परिभाषा प्रस्तुत की है। डी–कॉरपोरे में हाब्स ने मानव स्वभाव का विवेचन करते हुए यह भी स्पष्ट किया है कि जनता को सम्प्रभु शासक का विरोध क्यों नहीं करना चाहिए। एलीमेण्ट्स ऑफ लॉ में उसने विधि की व्याख्या की है। लेवियाथन में हॉब्स के राजनीतिक विचारों का सर्वोत्त परिचय मिलता है। यह हॉब्स की अमर कृति है। इसके चार भाग हैं। पहले भाग में प्राकृतिक अवस्था, दूसरे में राज्य की उत्पत्ति, तीसरे में चर्च और राज्य के संबंध तथा अन्तिम चौथे भाग में कैथेलिक चर्च के आलोच्य पक्षों का विवरण दिया गया है।

लेवियाथन एक विशालकाय समुद्री राक्षस है जिसके माध्यम से हॉब्स समझौते से उत्पन्न सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राजशक्ति का स्वरूप प्रतिपादित करना चाहता है। उसने अपनी रचना के मुखपृष्ठ पर इसे सब मनुष्यों से मिलकर बनने वाले एक विराट् पुरुष या महामानव के रूप में चित्रित किया है। महामानव (लेवियाथन) की सारी देह छोटे–छोटे मनुष्यों से भरी हुई है जो सूचित करती है कि सबसे अपने अधिकार इसे देकर सामाजिक समझौते से प्रभुसत्ता सम्पन्न लेवियाथन का निर्माण किया है। मुकुटमण्डित लेवियाथन के दाएँ हाथ में तलवार तथा बाएँ हाथ में धर्मदण्ड धारण किए हुए महामानव खड़ा हुआ है। इससे तात्पर्य है कि शासन और धर्म दोनों क्षेत्रों में उसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है। इसलिए वेपर ने लिखा है–"हॉब्स की कृति राजनीतिक विचारों के इतिहास में सम्पूर्ण सम्प्रभुता की प्रथम व्याख्या है।"

7.4 हॉब्स के चिन्तन को प्रभावित करने वाली परिस्थितियां

हॉब्स के चिन्तन पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियां, कारण तथा तत्व निम्नलिखित हैं–

7.4.1 विज्ञान का विकास–पहली परिस्थिति जिसने हॉब्स को सर्वाधिक प्रभावित किया वह थी नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के क्रम का प्रारम्भ। ऑक्सफोर्ड में अध्ययन करते हुए उसे मध्ययुगीन दर्शन के प्रति तीव्र घृणा हो गई थी। अतः स्वभाविक रूप से उसका ध्यान नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों की और आकृष्ट हुआ। इस समय केप्लर, गैलिलियों तथा डेकार्ट ने यन्त्र–विज्ञान की सुस्थापना की थी. हार्वे तथा गिल्बर्ट ने शरीर विज्ञान तथा चुम्बकत्व के संबंध में खोजें प्रस्तुत की थी। हॉब्स गैलिलियो के गति नियम से अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसे अपने राजनीतिक चिन्तन का आधार बनाया।

7.4.2 इंग्लैण्ड का गृहयुद्ध–इसके अतिरिक्त दूसरी परिस्थिति थी तत्कालीन इंग्लैण्ड की अस्थिर राजनीतिक दशा। उस समय इंग्लैण्ड में निरंकुश राजतन्त्र की समर्थक और विरोधी दोनों प्रकार की विचारधाराओं में तीव्र संघर्ष हो रहा था। इससे इंग्लैण्ड में अराजकता और अव्यवस्था का वातावरण विद्यमान था। फलतः किसी भी व्यक्ति का न तो जीवन सुरक्षित था और न उसकी सम्पत्ति।

यह युग नए आर्थिक परिवर्तनों का युग भी था। सामन्तों के खिलाफ व्यापारी वर्ग का उदय हो रहा था, लेकिन उसे किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। अतः उन्हें प्राप्त करने के लिए और सामन्तों का प्रभाव घटाने के लिए वह पार्लियामेण्ट की शक्ति में वृद्धि के लिए आन्दोलन कर रहा था जबकि सामन्तवादी वर्ग पुरानी व्यवस्था को

बनाए रखने के लिए कृतसंकल्प था। इन परस्पर विरोधी विचारधाओं के कारण सन् 1639 में इंग्लैण्ड में गृहयुद्ध भड़क उठा। इस गृहयुद्ध के कारण जन–जीवन असुरक्षित हो गया। हॉब्स ने अपने समय की असुरक्षा और अराजकता की इन भावनाओं के दमन के लिए एक सर्वशक्तिशाली और निरंकुश राजतन्त्र का अपनी रचनाओं द्वारा प्रबल समर्थन किया। सेबाइन के शब्दों में, "राजतन्त्रीय निरंकुशता हॉब्स के राजनीतिक दर्शन व विचारों का बहुत ही कृत्रिम भाग है। गृहयुद्ध ने उनके विचारों और लेखों को प्रभावित किया, उन्हें जो कुछ कहना था उसमे इनका बहुत थोड़ा भाग है।"

7.4.3 यात्राएँ और सम्पर्क–हॉब्स को यूरोपीय यात्राओं तथा विभिन्न सम्पर्कों ने बहुत अधिक प्रभावित किया। शैक्षणिक भ्रमण के उद्देश्य से यूरोपीय महाद्वीप की यात्रा कई बार की और उसकी चिन्तनधारा को निर्धारित करने में इन भ्रमणों का महत्वपूर्ण स्थान है। सर्वप्रथम, 1610 ई. में अपने शिष्य कैवेडिश के साथ उसने फ्रांस और इटली की यात्रा की। इस यात्रा के फलस्वरूप उसे यूरोपीय महाद्वीप के बौद्धिक जीवन की प्रथम झांकी मिली। 1628 ई. में उसने क्लिनटन के पुत्र के साथ यूरोप महाद्वीप का पुनः भ्रमण किया और गणित तथा ज्यामिति की नई खोजों से परिचित हुआ। इन नई खोजों ने उसकी चिन्तनधारा को एक नई दिशा प्रदन की सन् 1634 से 1637 तक उसने तीसरी बार यूरोपीय महाद्वीप की यात्रा की। इसी भ्रमण काल में उसने इटली में गैलिलियों से भेंट की और पेरिस में फ्रेंच दार्शनिक देकार्ते के मित्रों के सम्पर्क में आया। इस यात्रा में हॉब्स को यह अनुभूति हुई कि प्रकृति में गति सर्वव्यापक है और समस्त भौतिक जगत एवं मानसिक प्रक्रिया गतिमात्र है। फलस्वरूप हॉब्स विश्व को यन्त्रवत् समझने लगा जिसमें समस्त घटनाएँ परमाणुओं की गतिशीलता के ही रूप हैं।

7.5 हॉब्स की अध्ययन पद्धति : वैज्ञानिक भौतिकवाद

हॉब्स पर अपने समय में होने वाली वैज्ञानिक खोजों का बड़ा प्रभाव था। इस प्रभाव के कारण उसने अपने युग की राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन के लिए अपने से पूर्ववर्ती विचारकों की अध्ययन पद्धति से बिल्कुल भिन्न अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया। उसने न तो मध्ययुग के प्रचलित धार्मिक ग्रन्थों पर आधारित प्रमाणवादी पद्धति और न बोदां जैसे लेखकों के द्वारा प्रयुक्त ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया। इसके विपरीत, उसने विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण को अपनाया जो पूर्णतः तार्किक और बुद्धिवादी दृष्टिकोण था। इस दृष्टिकोण के समर्थन में अपने विचार व्यक्त करते हुए उसने कहा कि "इतिहास के पाठ अधिकांशतः मूल्यहीन हैं, कामनवेल्थ की रचना के लिए विशिष्ट नियमों और सिद्धांतों का पता लगाना आवश्यक है, जिनकी वैज्ञानिक अथवा शाश्वत वैधता हो। उसके लिए इतिहास से अधिक अच्छा मार्ग–दर्शक सिद्धांत विवेक का है।"

वास्तव में हॉब्स वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर एक सम्पूर्ण दर्शन की रचना करना चाहता था और राजनीतिक दर्शन उसके इस सम्पर्ण चिन्तन का एक अंग था, भाग मात्र था। हॉब्स के इस सम्पूर्ण दर्शन को ही भौतिकवाद कहा गया है। यद्यपि हॉब्स ने गणित और भौतिक विज्ञान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं किया था, पर उसने उस साध्य को अवश्य समझ लिया था जिसकी और प्राकृतिक विज्ञान बढ़ रहा था। 'गैलिलियो के युग में हॉब्स राजनीति का गैलिलियो था।" गैलिलियो की भांति हॉब्स ने 'पुराने विषय में से एक विज्ञान को जन्म दिया।' यह नया विज्ञान गति का था। इस विज्ञान के अनुसार भौतिक संचार में पूर्ण रूप से एक यान्त्रिक व्यवस्था है। संसार जो कुछ होता है, उसकी एक–दूसरे से सापेक्ष पिण्डों के विस्थापन द्वारा ज्यामितीय परिशुद्धता के साथ व्याख्या की जा सकती है। इस सिद्धांत के आधार पर विज्ञान ने आशातीत उन्नति की। न्यूटन ने अपने ग्रहों के गति संबंधी सिद्धांत का आगे चलकर इसी सिद्धांत के आधार पर निरूपण किया। हॉब्स ने इसी सिद्धांत को हृदयंगम किया और इसे अपने दर्शन का केन्द्रबिन्दु बनाया। हॉब्स का विचार था कि मूल में प्रत्येक घटना एक गति के रूप में होती है। प्राकृतिक प्रक्रियाएँ विभिन्न संश्लेषों के मेल में घटित होती हैं। संश्लेषों के मूल में भी कुछ गतियां ही रहती हैं। यदि हम प्राकृतिक प्रक्रियाओं को समझना चाहते हैं तो हमें इन मूल गतियों को समझना चाहिए। इस तरह हॉब्स के दर्शन में सारी वस्तुओं का मूल आधार ज्यामिति और यान्त्रिकी की है। हॉब्स के दर्शन का उद्देश्य यह था कि मनोविज्ञान तथा राजनीति को विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाए। उसने मनोविज्ञान तथा राजनीतिक में इसी पद्धति का प्रयोग किया है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद का शब्दिक अर्थ दो पद्धतियों का सम्मिश्रण है। वैज्ञानिक शब्द का अर्थ है–व्याख्या, कार्य–कारण संबंध, व्यवस्था और निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति और हॉब्स में हम यह सब पाते हैं। वही इन्हीं आधारों पर अपने राजदर्शन का निर्माण करता है। उदाहरणार्थ, वह सर्वप्रथम मानव स्वभाव और उसके चरित्र का अध्ययन करता है उसकी भावना, इच्छा, विचारों का विश्लेषण करता है और तभी वह इस परिणाम पर आता है कि इस प्रकार के प्राणी के साथ व्यवहार करने तथा उसके कार्यों को नियन्त्रित करने के लिए राज्य को कैसा होना चाहिए। वह समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति बतलाता है पर इसके पूर्व एक प्राकृतिक अवस्था का चित्रण भी करता है जिसके पश्चात् नागरिक समाज का निर्माण आवश्यक हुआ था। इस प्रकार हॉब्स व्यवस्थित और क्रमागत आधार पर सर्वप्रथम मानव स्वभाव का विश्लेषण, फिर प्राकृतिक कानून, तत्पश्चात् प्राकृतिक अवस्था और अन्त में समझौते द्वारा राज्य का निर्माण करता है।

भौतिकवाद शब्द का अर्थ है कि धार्मिक अन्धविश्वासों, नैतिकता और ईश्वर में विश्वास इन सबसे पृथक् वास्तविकता वस्तु–जगत है। वह वातावरण में विश्वास करता है और उसके दर्शन में व्यक्ति को वातावरण से अधिक महत्व देता है। भौतिकवादियों के अनुसार हॉब्स इन अर्थों में पूर्णतया भौतिकवादी है। वह व्यक्ति को अधिक महत्व देता है। उसके मनोविज्ञान के कारण ही समझौते और शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना होती है। हॉब्स का विश्वास था कि संसार में पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है और जो कुछ प्रकृति अथवा पदार्थ नहीं है वह विश्व का अंग नहीं है। सेबाइन के अनुसार "हॉब्स पूर्णतः भौतिकवादी था और उसके लिए आध्यात्मिक सत्ता केवल काल्पनिक वस्तु मात्र थी।"

अतः हॉब्स की सम्पूर्ण प्रणाली संसार के तीनों भाग–प्रकृति, पदार्थ और मनुष्य एवं राज्य की व्याख्या भौतिक सिद्धांत के आधार पर हुई है। वह भौतिक वातावरण को बहुत महत्व देता है। उसके अनुसार यही मानव–मनोविज्ञान का आधार बिन्दु है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद की दृष्टि से हॉब्स का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में स्थान विवादास्पद है। जब 'लेवियाथन' प्रकाशित हुआ था तब सभी ने उसके नास्तिकवाद एवं वैज्ञानिक भौतिकवाद की घोर निन्दा की थी। हेनरी मोर तथा कडवर्थ जैसे दार्शनिकों, कम्बरलैण्ड जैसे धर्मशास्त्रियों तथा फिल्मर जैसे राजनीतिक दार्शनिकों ने उसके नास्तिकवाद तथा भौतिकवाद के सिद्धांतों की तीव्र आलोचना की थी।

इन सब आलोचनाओं के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि हॉब्स ने सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति के विकास में महान् योग दिया है। अब तक के इतिहास में राजनीतिक पद्धति की आवश्यकता के प्रति कोई चेतना नहीं थी। हॉब्स ने यह अनुभव किया कि एक विकसित पद्धति के बिना राजनीति विज्ञान, विज्ञान नहीं बन सकता। दूसरे, हाब्स इस दिशा में निर्देशन देने वाला वह सर्वप्रथम विचारक था जिसकी मान्यता थी कि राजनीतिक पद्धति में भौतिक विज्ञानों की पद्धतियों से बहुत कुछ लिया जा सकता है।

हॉब्स ने अपने परवर्ती अनेक राजनीतिक चिन्तकों और राजनीतिक विचारधाराओं को प्रभावित किया है। उसके भौतिकवाद की छाप माण्टेस्क्यू और कार्ल मार्क्स पर देखी जा सकती है। इसमें उपयोगितावाद का भी आरम्भ मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद पर अपने दर्शन को आधारित कर हॉब्स ने राजनीतिक इतिहास के विकास में महान् योग दिया।

हॉब्स की पद्धति की आलोचना करते हुए स्टास ने ठीक ही लिखा है कि गैलिलियों का अनुसरण कर हॉब्स ने भौतिक विज्ञान की पद्धति को राजनीति विज्ञान में लागू तो करना चाहा, परन्तु ऐसा करने में वह सफल न हो सका क्योंकि भैतिकशास्त्र का विषय प्राकृतिक पदार्थ है जबकि राजनीतिशास्त्र का विषय कृत्रिम पदार्थ है।

7.6 हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धांत

हॉब्स की राजनीति विचारधारा में सर्वप्रथम स्थान उसके सामाजिक समझौता सिद्धांत का है। उसके समझौता सम्बन्धी विचार उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवियाथन' में विस्तार से अंकित हैं। उसके सामाजिक समझौता सिद्धांत की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है–

(1) मानव स्वभाव का स्वरूप,

(2) प्राकृतिक अवस्था,

(3) प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक कानून,

(4) समझौते के कारण,

(5) सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति,

(6) राज्य का स्वरूप।

7.6.1 मानव स्वभाव का स्वरूप–हॉब्स के समय चल रहे इंग्लैण्ड के गृह युद्ध ने उसके सम्मुख मानव स्वभाव का घृणित पक्ष ही रखा। वह मनुष्य को स्वार्थी, झगड़ालू, नीचे, दुष्ट, विवेकहीन तथा आत्मकेन्द्रित मानता है।

हॉब्स के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक यन्त्र है जिसका निर्माण उन पुों से हुआ है जो यान्त्रिक नियम के अनुसार चलते हैं। मनुष्य इसी ब्राह्माण्ड का लघु रूप है, वह भी एक यन्त्र (मशीन) के समान है। उसका निर्माण भी ब्रह्माण की भांति विश्व में संचालित पुर्जी से हुआ है।

हॉब्स का उद्देश्य उस नियम की खोज करना है जिसके अनुसार मनुष्य का स्वभाव संचालित होता है। वस्तुतः मानव प्रकृ ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके ही हॉब्स अपने राजनीतिक सिद्धांत का निर्माण करना चाहता है। हॉब्स के अनुसार मनुष्य संवेदनाओं का जीव है। मनुष्य की विचार शक्ति भी संवेदनाओं से उत्पन्न होती है। इन्द्रियों के माध्यम से जब गति केन्द्रीय स्नायु संस्थान में पहुंचती है तो वहां संवेदना के रूप में प्रकट होता है और मस्तिष्क की इसी संवेदना को 'विचार' कहा जाता है।

हॉब्स के मतानुसार राज्य में दो प्रकार की गतियां हैं–ऐच्छिक और अनैछिक। यदि उसकी भावना के अनुकूल संवेग होता है तो अभिलाषा कहलाता है और यदि प्रतिकूल होता है तो विरक्ति या घृणा कहलाता है। इस प्रकार उसने भौतिकशास्त्र के आधार पर यह परिणाम निकाला कि अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए और गति करना या प्रवृत्त होना अभिलाषा और अनभीष्ट पदार्थों से हटने की और गति करना विरक्त या घृणा है। अतः हॉब्स के अनुसार मनुष्य में वस्तुओं के प्रति आकर्षण और विकर्षण पाया जाता है। वस्तुओं का आकर्षण उसमें घृणा पैदा करता है। अतः मनुष्य के लिए किसी वस्तु का अच्छा या बुरा होना उसकी भावना है। मनुष्य की सुख–दुःख, आशा–निराशा, भय, साहस, क्रोध, आदि की सभी मनोभावनाएँ और वासनाएँ अभिलाषा और विरक्ति के कारण होने वाली प्रवृत्ति और निवृत्ति का परिचय है।

हॉब्स से वह आकर्षित होता है, उन्हें अच्छी कहता है, जिन्हें वह नापसन्द करता है, उन्हें बुरी कहता है। अच्छाई या बुराई वस्तुओं में नहीं बल्कि मानव भावना में है।"

हॉब्स के अनुसार मनुष्य आनन्द प्राप्त करना चाहता है। समस–समय पर अपनी इच्छाओं को पूर्ण करना तथा वांछित वस्तुओं के पाने में सफलता प्राप्त करना ही आनन्द है। जिन साधनों से अपनी इच्छाएँ पूर्ण करते हुए आनन्द प्राप्त किया जाता है, उन साधनों को ही शक्ति कहते हैं। चूंकि मनुष्य के आनन्द अनन्त हैं, इसलिए मनुष्य के जीवन में एक शक्ति की प्राप्ति के बाद दूसरी शक्ति प्राप्त करने की इच्छा निरन्तर बनी रहती है।

हॉब्स का कहना है कि मानव के सारे कार्य स्वार्थ भावना से प्रेरित होते हैं। मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति में सदैव लगा रहता है। वह अपनी सम्पत्ति को सुरक्षित रखना चाहता है। वह अपने जीवन को निर्बाध तथा निर्द्वन्द्व रखने के चक्कर में रहता है। "युगों से भूखा और अतृप्त मानव अपनी अभिलाषाओं की तुष्टि में ही सतत् संलग्न रहता है। अवसर पाते ही वह सर्वग्राही पिशाच की तरह टूट पड़ता है और स्वयं को जीवित रखने में तथा स्वयं की इच्छा पूर्ति के लिए दूसरों को ध्वस्त करने से नहीं हिचकता।"

हॉब्स के अनुसार प्रकृति ने सब मनुष्यों को समान बनाया है। यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति शारीरिक बल की दृष्टि से दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा निर्बल हो, किन्तु वह मानसिक दृष्टि से बुद्धिमान तथा धूर्तता एवं मक्कारी में उसकी अपेक्षा अधिक बलवान हो सकता है।

हॉब्स के अनुसार चूंकि मनुष्यों में लक्ष्य प्राप्ति की योग्यता समान होती है जिससे प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। वे एक–दूसरे को हराना और नष्ट करना चाहते हैं। "मनुष्य प्रतिस्पर्धा के चलते लाभ के लिए, अविश्वास के चलते रक्षा के लिए एवं वैभव प्राप्ति के चलते प्रसिद्धि के लिए आपस में संघर्ष करते हैं। संक्षेप में, तीन कारणों से मनुष्यों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है–प्रतिद्वन्द्विता, भय और कीर्ति पाने तथा उसे बढ़ाने की लालसा। प्रतिद्वन्द्विता, भय और कीर्ति प्राप्त करने की आकांक्षा सतत् संघर्ष उत्पन्न करती है। जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु को पाने के लिए प्रयास करते हैं तो उनमें प्रतिद्वन्द्विता शुरू हो जाती है। जब एक व्यक्ति इस आकांक्षा में व्यथित रहता है कि दूसरे उससे अधिक न बढ़ जाए तो वह भयाक्रान्त होता है। मनुष्य में यह इच्छा भी स्वाभाविक है कि अन्य व्यक्ति उसकी प्रशंसा करें, उसे अपने से बड़ा तथा ऊंचा समझें। अतः सब व्यक्तियों के एक–दूसरे के साथ संबंध स्पर्धा, अविश्वास और कीर्ति की कामना से निर्धारित होते हैं। यद्यपि मनुष्य शन्ति चाहता है, किन्तु उसे सदैव दूसरों से भय लगता हैं। वह अपनी सम्पत्ति और अधिकार बढ़ाना चाहता है अतः अपने साथियों के साथ शाश्वत संघर्ष में संलग्न रहता है।

7.6.2 प्राकृतिक अवस्था–हॉब्स राज्य की उत्पत्ति से पहले की स्थिति को प्राकृतिक दशा का नाम देता है। उसने मानव स्वभाव के चित्रण के सिलसिले में मनुष्य को जो स्वार्थी, अहंवादी, संघर्षमय तथा इच्छाओं की पूर्ति में लीन बतलाया है उसके अनिवार्य परिणामस्वरूप प्राकृतिक की कल्पना की है।

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था सतत् युद्ध की अवस्था के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकती जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वार्थी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर एक–दूसरे से युद्ध करता होगा।

राज्य से पूर्व मनुष्य के किसी सामाजिक जीवन की कल्पना हॉब्स ने नहीं की है इसलिए सामाजिक नैतिकता से मुक्त व्यक्ति पशुता के ऊपर भला कैसे उठ सकता है? हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था पूर्णतः अराजकता की अवस्था है। यह अवस्था राज्य और उसकी बलशक्ति की उत्पत्ति के पूर्व थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धांत लागू था। मनुष्य जो चाहता था, करता था तथा जिसे चाहता था, मार डालता था। चूंकि वह जीवन में अकेला था, अतः हमेशा भय और असुरक्षा से ग्रस्त रहता था। शक्तिशाली निर्बल व्यक्तियों के अधिकारों को हड़प रहे थे। सर्वत्र शक्ति, धोखधड़ी और प्रवंचना का बोलवाला था। इस दशा में उचित–अनुचित, न्याय–अन्याय, धर्म–अधर्म का कोई विचार नहीं था। हॉब्स के शब्दों में, "जब तक समस्त मानवों के ऊपर एक सामूहिक सत्त नहीं रहती तब तक कोई कानून नहीं होता और जहां कोई कानून नहीं होता वहां कोई न्याय विद्यमान नहीं रह सकता। वहां उचित तथा अनुचित, न्याय तथा अन्याय की कोई धारणा अपना अस्तित्व नहीं रखती।"

हॉब्स के मतानुसार प्राकृतिक दशा में उद्योग या कला–कौशल का विकास नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य को यह भरोसा नहीं है कि वह उससे प्राप्त हो सकने वाले लाभ का उपभोग कर सकेगा। इस अवस्था में किसी प्रकार की संस्कृति, सभ्यता, भवन निर्माण, ज्ञान–विज्ञान, कला–साहित्य का विकास नहीं हो सकता। मनुष्य को सदैव भय और मृत्यु आशंका बनी रहती है।

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, कुत्सित, पशुतुल्य तथा छोटा होता है। यह एकाकी इसलिए होता है कि इस दशा में कोई किसी का अभिभावक, मित्र और रक्षक नहीं था, सब एक–दूसरे के शत्रु थे। वाणिज्य, व्यवसाय, कला और उद्योग–धन्धों का विकास न होने की दृष्टि से इस जीवन में निर्धनता का साम्राज्य था। यह कुत्सित इसलिए था किस इसमें युद्ध, मारकाट, हिंसा और हत्या का बोलबाला था। यह जीवन पशुतुल्य इसलिए था कि मनुष्य आपस में जंगली पशुओं जैसा व्यवहार करते थे। यह छोटा इसलिए था कि किसी भी क्षण कोई शक्तिशाली दूसरे व्यक्ति के जीवन का अन्त कर सकता था।

संक्षेप में, प्राकृतिक अवस्था 'सब की सबके विरुद्ध संघर्ष' की स्थिति थी। मनुष्य इस अवस्था में नरपशु और रक्त पिपासु थे, शत्रुओं का दमन करने, शक्ति बढ़ाने और यश प्राप्त करने के लिए सब प्रकार की हिंसा और हत्या का अवलम्बन करते थे। जीवन अवसादपूर्ण, गतिरोधमय और निस्सार था। हर क्षण कच्चे धागे से लटकती तलवार सिर पर नाचती रहती थी। संक्षेप में, हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था की तीन मोटी–मोटी विशेषताएँ हैं–

1. इसमें नैतिकता का सर्वथा अभाव था तथा सत् और असत् का कोई विचार नहीं होता था।
2. इसमें न्याय और अन्याय के विचार का अभाव था।
3. इस अवस्था में वैयक्तिक सम्पत्ति का अभाव था।

आलोचना–प्राकृतिक अवस्था के उपर्युक्त अन्धकारमय विवरण का क्या प्रयोजन था? आलोचकों के अनुसार प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को ऐतिहासिक प्रमाणों से पुष्ट नहीं किया है। वाहन के अनुसार, "प्राकृतिक अवस्था का कहीं अस्तित्व भी था, ऐतिहासिक आधार से शून्य है। हॉब्स प्राकृतिक अवस्था की यथार्थता में विश्वास करता हुआ दृष्टिगोचर होता है तथापि इसकी ऐतिहासिकता के बारे में अधिक जोर नहीं देता। एक स्थानपर तो वह स्वयं ही यह स्वीकार करता है कि कोई समय ऐसा नहीं था जब मनुष्य एक–दूसरे के साथ युद्ध की स्थिति में न रहा हो। वास्तविकता तो यह है कि प्राकृतिक अवस्था के चित्रण में हॉब्स का प्रयोजन 'विश्लेषण था, इतिहास नहीं।" इतिहास से उसका विशेष संबंध नहीं था। वह मनुष्य की स्वभावजन्य स्थिति का विश्लेषण मात्र करना चाहता था। उसके मतानुसार मनुष्य स्वभाव से ही, एक–दूसरे को अविश्वास और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यदि उन पर किसी सर्वोपरि शक्ति का दबाव न हो तो वे आपस में लड़ मरें। हॉब्स ने इसे 'सबका सबके विरुद्ध संघर्ष' की स्थिति बताया। अतः समाज के लिए एक सर्वोपरि शक्ति की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता को बताने के लिए वह उस अवस्था की कल्पना करता है, जब समाज में ऐसी शक्ति का अभाव था। हॉब्स के लिए प्रमुख प्रश्न यह नहीं था कि प्राकृतिक अवस्था का कोई ऐतिहासिक अस्तित्व था या नहीं? वास्तविक प्रश्न तो यह था कि सम्प्रभु के अभाव में वैसी असह्य स्थिति स्वाभाविक थी अथवा नहीं? इस दृष्टि से देखने पर हॉब्स का चित्रण यथार्थ की दृष्टि से खरा उतरता है।

प्राकृतिक अवस्था की यथार्थता को प्रमाणित करने के लिए हॉब्स ने अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं

1. जब मनुष्य कहीं यात्रा पर जाता है तो अपने को शस्त्रों से सुरक्षित कर लेता है; जब वह सोता है तो अपने द्वारा बन्द कर लेता है, जब वह अपने घर में होता है तब भी अपने सन्दूकों में ताला बन्द रखता है। हॉब्स के मतानुसार मनुष्यों का उक्त व्यवहार इस बात का परिचायक है कि अपनी सामाजिक अवस्था में भी मनुष्य अपने संगी साथियों को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। मनुष्य की इस सामाजिक स्थिति से उसकी उस प्राकृतिक अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है, जिसमें किसी भी प्रकरा की बाह्य शक्ति का अस्तित्व नहीं था।
2. इंग्लैण्ड के गृह युद्ध से भी उसके विवरण की पुष्टि हुई थी। राजसत्ता के दुर्बल होने के कारण बर्बरता का नग्न ताण्डव हुआ था। इससे हॉब्स को इस बात का विश्वास हो गया था कि सम्प्रभुता के अभाव में मनुष्य की स्थिति अत्यन्त दयनीय एवं भयंकर हो जाती है।
3. वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रों के परस्पर व्यवहार से भी उसके चित्रण की सम्पुष्टि होती है। पूर्ण प्रभुता सम्पन्न होने के कारण ये राज्य किसी अन्य राज्य की शक्ति को अपनी शक्ति से उच्च नहीं मानते। परिणामस्वरूप प्रत्येक राज्य अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करता है जिसका परिणाम अविश्वास, भय, घृणा तथा युद्ध का वातावरण होता है। जब सभ्य कहलाने वाले राज्यों के परस्पर संबंध में प्राकृतिक अवस्था का चित्र खरा उतरता है तो मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था अवश्य ही इसी प्रकार की अथवा इससे निकृष्टतर रही होगी।

4. हॉब्स ने अमरीका वे रेड इण्डियनों में पायी जाने वाली अवस्था का बड़े ध्यान से अध्ययन किया था। वहां भी उसे वैसी ही स्थिति देखने को मिली थी जैसी स्वतन्त्र राज्यों के परस्पर संबंध में पायी जाती थी। इससे भी हॉब्स इस निर्णय पर पहुंचा कि उसकी प्राकृतिक अवस्था का चित्र बिल्कुल निराधार नहीं कहा जा सकता।

यह सच है कि हॉब्स के विवरण में ऐतिहासिक सत्यता का अभाव है और उसकी दिलचस्पी भी प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने में नहीं थी। वह तो केवल यह बतलाना चाहता था कि राज्य की नियामक और नियन्त्रणकारी शक्ति के अभाव में मनुष्य ठीक वैसा ही बन जाएगा जैसा प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य का चित्रण किया गया है।

7.6.3 प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक कानून—हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अधिकार से अभिप्राय है अपने जीवन के संरक्षण के लिए मनुष्य को कोई भी कार्य करने की स्वतन्त्रता होना। वह अपने जीवन को बनाए रखने के लिए किसी को लूटने, पीटने या जान से मार डालने की पूरी स्वतन्त्रता रख है। टी. एच. हक्सले ने ऐसे अधिकार को 'शेर का अधिकार' कहा है, किन्तु सब मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार समान होने से सबको एक–दूसरे की हत्या और लूटमार का अधिकार मिल जाता है। इससे जीवन सर्वथा असुरक्षित हो जाता है। पर सभी मनुष्य उसे सुरक्षित बनाए रखना चाहते हैं। अतः वे प्राकृतिक अवस्था में भी आपसी सुरक्षा के लिए बुद्धि द्वारा कुछ कानून बनाते हैं। ये प्राकृतिक कानून कहलाते हैं।

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक कानून में बड़ा अन्तर है। प्राकृतिक अधिकार का अर्थ है कि "प्रत्येक मनुष्य को आत्मरक्षा हेतु आवश्यक समस्त कार्यों को करने की स्वतन्त्रता है।" प्राकृतिक मनुष्य की अवधारणा इससे भिन्न है। उसके द्वारा मनुष्य को ऐसे कार्य करने से रोका जाता है जो उसकी सबसे प्रबल इच्छा अर्थात् प्राण रक्षा के लिए घातक हो। प्राकृतिक अधिकार से स्वतन्त्रता का आभास होता है और प्राकृतिक कानून से दायित्व का।

हॉब्स ने अपनी पुस्तक 'लेवियाथन' में विभिन्न प्रकार के 19 प्राकृतिक कानून गिनाए हैं जिनमें तीन अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें प्रथम कानून यह है कि प्रत्येक मनुष्य शन्ति की खोज करे और शान्ति से रहे। शन्ति स्थापना से ही उसे हिंसा–जनित मृत्यु से छुटकारा मिल सकता है। वह उसकी सबसे प्रबल इच्छा होती है। अपनी इस अच्छा की पूर्ति में वह तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक समस्त मनुष्य अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग न करें। दूसरा कानून यह है कि सब मनुष्य अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग करें। इसके लिए आवश्यक है कि वह सार्वजनिक और पारस्परिक हों, अर्थात् सब मनुष्य एक साथ अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग करें। प्रत्येक मनुष्य दूसरे को यह वचन दे कि यदि सब मनुष्य ऐसा करने को तैयार हों तो "मै भी अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग करने को तैयार हूं।" यदि यह परित्याग सार्वजनिक एवं पारस्परिक नहीं होगा और कुछ व्यक्तियों को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त रहेंगे तो उनको अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होगी। इसके परिणामस्वरूप उनमें संघर्ष करने की भावना बनी रहेगी। इससे शन्ति की खोज का नियम भंग होगा। अतः सबके लिए एक साथ प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग आवश्यक है। तीसरा नियम उसने यह रखा कि मनुष्य को अपने वचन का पालन करना चाहिए। यदि मनुष्य अपने प्राकृतिक अधिकारों के परित्याग का वचन दे और फिर उसका पालन न करे, तो शान्ति की खोज और स्थापना के समस्त प्रयत्न व्यर्थ हो जाएँगे। अतः हॉब्स दिए गए वचन के पालन पर बड़ा जोर देता है। उसके अनुसार वचन का पालन करना ही न्याय कार्य है और जो वचन भंग करता है वह अन्याय का दोषी होता है। जब कोई मनुष्य किसी को वचन देता है तो उसका कार्य स्वार्थ से प्रेरित हुआ करता है। कालान्तर में, परिस्थिति में परिवर्तन के कारण, यह सम्भव है कि वचन भंग द्वारा ही उसे स्वार्थ–सिद्धि दिखलाई पड़े, किन्तु उसे वचन भंग नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से चारों और अव्यस्था और अनिश्चिता फैल जाएगी और मनुष्य पुनः प्राकृतिक अवस्था को प्राप्त कर लेगा। इस अवस्था और अनिश्चितता के अन्त के लिए हॉब्स एक ऐसी सर्वोपरि शक्ति की कल्पना करता है जो सब मनुष्यों को अपने दिए गए वचन के पालन के लिए बाध्य करे।

इन तीन कानूनों का महत्व इस आधार पर है कि निरंकुश एकतन्त्र समर्थन करने के लिए ये सैद्धान्तिक आधार है। प्रथम कानून के द्वारा शन्ति की स्थापना के लिए राजनीतिक व्यवस्था की अनिवार्यता को भी स्वीकार किया गया है। दूसरे कानून के द्वारा यह सिद्धर करने की चेष्टा की गयी है कि राजा के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्रजा को नहीं है। तीसरे कानून के द्वारा हॉब्स ने यह सिद्ध किया कि राजा या राज्य एक समझौता है जिसके उल्लंघन का प्रयास किसी व्यक्ति को नहीं करना चाहिए।

वेपर ने हॉब्स ने प्राकृतिक कानून का निचोड़ यही निकाला कि "एक मनुष्य को दूसरे के प्रति कोई ऐसा व्यवहार न करना चाहिए जिसे अपने प्रति करना अरुचिकार प्रतीत हो"द्य

7.6.4 समझौते के कारण—प्राकृतिक अवस्था में संघर्ष की स्थिति से संत्रस्त और चिन्तित होकर मनुष्य की बुद्धि और विवेक ने यह सोचा कि आत्म संरक्षण के लिए इस भयावह दशा का अन्त किया जाना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, प्राकृतिक अवस्था की कुछ कठिनाइयां थीं और उन्हीं के कारण हॉब्स के अनुसार राज्य की स्थापना या उत्पत्ति होती है। संक्षेप में, राज्य की उत्पत्ति के प्रमुख कारण अग्र प्रकार हैं–

1. प्राकृतिक अवस्था में अशान्ति, हिंसा, युद्ध, घृणा और असुरक्षा का वातावरण था। ऐसी दशा में यह आवश्यक था कि ऐसी सम्प्रभु सत्ता की स्थापना की जाए जो सुरक्षा की व्यवस्था कर सके।
2. प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून तो थे पर इन कानूनों की व्याख्या करने वाली कोई सर्वोच्च सत्ता नहीं थी जिससे इन कानूनों का मनमाना अर्थ लगाया जाता था। अतः विधि व्याख्याकार की आवश्यकता के कारण सम्प्रभु सत्ता की स्थापना आवश्यक हुई।
3. प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक नियमों का पालन कराने वाली कोई सत्ता नहीं थी। अपने स्वार्थ के वशीभूत होने के कारण लोग उनका उल्लंघन करते थे जिससे संघर्ष पनपथा था। इस स्थिति के निवारण के लिए भी सम्प्रभु सत्ता की स्थापना की आवश्कता हुई।
4. प्राकृतिक कानूनों का पालन लगातार तभी हो सकता था जब उनका उल्लंघन कराने वालों की उचित दण्ड देने वाली किसी दण्डशक्ति का अस्तित्व हो। अतः इस कारण भी एक सम्प्रभुता की स्थापना आवश्यक हो गई।

7.6.5 सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति–प्राकृतिक अराजक अवस्था से छुटकारा पाने के उद्देश्य से हॉब्स के अनुसार मनुष्यों ने आपस में एक समझौता, संविदा, अनुबन्ध अथवा करार करके अराजक दशा का अन्त किया। प्रत्येक व्यक्ति इस आशय की शपथ लेता है–"मैं इस व्यक्ति को या समूह को इस शर्त पर अपना अधिकार देता हूं तथा स्वयमेव अपने पर शासन करने के अधिकार का परित्याग करता हूं कि तू भी अपने अधिकार इसी प्रकार व्यक्ति को देगा और स्वशासन के अधिकार छोड़ देगा।"

ऐसा करने पर सारा जनसमुदाय एक व्यक्ति में संयुक्त हो जाता है, इसे राज्य या लेटिन भाषा में 'नगर' कहते हैं। इससे पहले समाज और राज्य की सत्ता नहीं थी। इस तरह जब सभी मनुष्य संविदा की प्रतिज्ञा करते हैं तो संविदा करने वाले व्यक्तियों का समूह 'राज्य' कहलाता है। जिस व्यक्ति या व्यक्ति समूह को संविदा करने वाले मानव अपने अधिकार सौंपते हैं, वह दीर्घकाय 'लेवियाथन' है और वह जनता की शान्ति व प्रतिरक्षा के लिए पृथ्वी पर मानव देव की भांति है।

7.6.6 राज्य का स्वरूप–इस प्रकार अनुबन्ध या समझौते द्वारा हॉब्स ऐसी दमनात्मक शक्ति की सृष्टि करता है जो इसके पूर्व नहीं थी। वह समझौते द्वारा दो कार्यों की पूर्ति करता है–प्रथम, वह एक व्यवस्थित और सभ्य समाज की स्थापना करता है और द्वितीय, वह एक ऐसे राज्य की स्थापना करता है जिसमें मनुष्य अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर एक निरंकुश प्रभु का निर्माण करते हैं। वह कहता है कि समझौते के द्वारा निर्मित राज्य व्यक्तियों को आश्वासन देता है कि उसकी बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा की जाएगी। ऐसा तभी हो सकता है जब सब मनुष्य राज्य की आज्ञा पालन करने का आश्वासन दें और राज्य की सम्पूर्ण शक्ति सिकी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समुदाय में परिवेष्ठित कर दी जाए। ऐसा व्यक्ति ही सबकी इच्छाओं को एक शक्तिशाली इच्छा के रूप में परिवर्तित कर सकता है। जो व्यक्ति इस शक्ति का प्रतीक होगा वह सम्प्रभु या राज्य कहलाएगा। हॉब्स का सम्प्रभु (राज्य या लेवियाथन) पूर्ण रूप से निरंकुश है। समझौते द्वारा उनके इच्छाओं के स्थान पर एक इच्छा का निर्माण होता है। सम्प्रभु के आदेश ही कानून हैं और उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण होता है। प्रभुसत्ता को लोगों पर असीम अधिकार प्राप्त होते हैं। लोगों का एकमात्र कार्य सम्प्रभु के आदेशों का पालन करना है।

संक्षेप में, समझौते के बाद समाज एवं राज्य का प्रादुर्भाव हुआ तथा कला, साहित्य, विज्ञान, व्यापार आदि का श्रीगणेश हुआ। हॉब्स के शब्दों में, "उस महान् दैत्य (लेवियाथन अथवा राज्य), उस मर्त्य प्रभु का इसी प्रकार से जन्म होता है। यह वही मर्त्य प्रभु है जिसकी कृपा पर, अमर ईश्वर की छत्रछाया में हमारी शान्ति और सुरक्षा निर्भर है।" सामाजिक समझौते द्वारा हॉब्स 'निरंकुश राजतन्त्रात्मक राज्य' की स्थापना करता है।

7.7 हॉब्स के सामाजिक समझौता सिद्धांत के निष्कर्ष

हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धांत की व्याख्या करने के पश्चात् निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं–

1. इसकी पहली विशेषता यह है कि समझौता सामाजिक है, शासकीय नहीं। शासकीय अनुबन्ध में शासक और शासितों में समझौता होता है, किन्तु हॉब्स का समझौता राजा और प्रजा के मध्य नहीं है, किन्तु विभिन्न व्यक्तियों के बीच हुआ है। संविदा करने वाले पक्ष व्यक्ति हैं जो आपस में एक–दूसरे के साथ संविदा करके सम्प्रभु (शासक) की सृष्टि करते हैं। अतएव संविदा की शर्त शासक पर लागू नहीं होती।
2. शासक या सम्प्रभु सत्ता समझौते में किसी भी पक्ष के रूप में सम्मिलित नहीं हैं, अतः वह जो कुछ भी करती है उसके लिए वह किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होती तथा वह पूर्णतः निरंकुश होती है।
3. इसकी तीसरी विशेषता यह है कि जिन उद्देश्यों से अनुबन्ध की रचना हुई, वे अनुबन्ध के अंग मान लिए गए हैं। इसका अर्थ यह है कि जब उन उनकी पूर्ति होती रहेगी तब तक अनुबन्ध जारी रहेगा।
4. इसकी चौथी विशेषता यह है कि यह मनुष्य के भय पर आधारित है। हिंसा जनित मृत्यु का भय ही मनुष्य को इस अनुबन्ध को करने के लिए बाध्य करता है।

5. पांचवी विशेषता यह है कि शासक सर्वोच्च विधायक होता है। उसके आदेश ही नियम अथवा विधि होते हैं।
6. छठी विशेषता यह है कि इस समझौते से प्राकृतिक अवस्था में एकाकी रहने वाली व्यक्तियों ने समाज का निर्माण किया है, अतः यह सामाजिक समझौता है।
7. सप्तम, प्रजा द्वारा किसी भी कारण से किया जाने वाला आज्ञा भंग अन्यायपूर्ण है क्योंकि वह अपनी वैयक्तिक इच्छा को प्रभु की इच्छा में विलीन कर देने वाले उपर्युक्त समझौते के प्रतिकूल है।
8. अष्टम, समझौते द्वारा विविध संघर्षरत इच्छाओं का स्थान एक प्रतिनिधियात्मक इच्छा ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार शासक के हाथ में एक सामूहिक सत्ता आ जाती है। वह एक कृत्रिम व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को प्राप्त कर लेता है, अतः वह प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिनिधि है।

7.8 हॉब्स के सामाजिक समझौता सिद्धांत की आलोचना

आलोचकों ने हॉब्स के सामाजिक समझौता सिद्धांत का कड़ा विरोध किया है। निम्नलिखित तर्क के आधार पर हॉब्स के सिद्धांत की आलोचना की जाती है–

7.8.1 मानव स्वभाव का दोषपूर्ण चित्रण–हॉब्स ने मानव स्वभाव का दोषपूर्ण, एकांगी और निराशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वह मनुष्य को घोर स्वार्थी, कपटी और क्रूर बतलाता है जबकि सहानुभूति, उदारता, दयालुता, परोपकार और प्रेम, आदि मानवीय गुण भी उसमें पाए जाते है। हॉब्स इन्हें सर्वथा भुला देता है, वह केवल उसकी पाशविक प्रवृत्तियों पर ही बल देता है। ऐसे एकपक्षीय दृष्टिकोण के आधार पर राजनीतिक सिद्धांतों का निर्माण नहीं हो सकता।

7.8.2 प्राकृतिक अवस्था अस्वामाविक–हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था असत्य, अस्वाभाविक और अनैतिहासिक है। प्राकृतिक दशा में मनुष्य एकाकी और ऐसी दशा में रहता था, जिसमें हत्या, हिंसा, छल, कपट का साम्राज्य था, किन्तु समझौता होने के बाद वह सामाजिक बनकर शन्तिपूर्ण समाज में रहने लगा। उसकी प्रवृत्ति में इस प्रकार एकाएक परिवर्तन कैसे आ गया कि उसने अराजकता और अव्यवस्था को सुव्यवस्था में परिणत कर लिया। एक ही क्षण में प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों ने संघर्षपूर्ण जीवन को छोड़कर सहयोगी जीवन की पद्धति को कैसे अपना लिया?

7.8.3 प्राकृतिक दशा में प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता असंगत है–प्राकृतिक दशा का वर्णन करते हुए हॉब्स ने यह भी प्रतिपादित किया है कि उसमें व्यक्ति को कुद अधिकार भी प्राप्त होते हैं जिनका रूप प्राकृतिक होता है। अराजकतापूर्ण प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति कोई अधिकार हो सकता है, यह न कहा जाना ही बुद्धिसंगत है।

7.8.4 अतार्किक–हॉब्स की यह भ्रान्त धारणा है कि आदिम समाज में मनुष्य एकाकी रहता है। उसे यह ज्ञात नहीं था कि मनुष्य में सामाजिक जीवन के तत्वों का कभी अभाव नहीं रहा। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि व्यक्ति कभी इस प्रकार, अकेले नहीं रहे, वे किसी न किसी प्रकार के समाज में रहते आए हैं।

7.8.5 निरंकुशता का समर्थन–हॉब्स द्वारा स्थापित शासन पर किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं है और वह पूरी तरह से निरंकुश है। उस पर न तो कानून का अंकुश है और न व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का ही कोई अंकुश है। वस्तुतः हॉब्स ने अपने समझौता सिद्धांत द्वारा मनुष्य को सर्वथा अधिकार शून्य करके लेवियाथन की दासता के पाश में जकड़ दिया है। इसमें मनुष्यों की स्थिति लेवियाथन रूपी चरवाहे के द्वारा हांके जाने वाले पशुओं के झुण्ड जैसी लगती है।

इन आलोचनाओं के बावजूद सामाजिक समझौते के सिद्धांत को प्रतिपादित कर हॉब्स ने इस सत्य का प्रतिपादन किया है कि राज्य न तो ईश्वर द्वारा उत्पन्न दैवी उत्पन्न दैवी संस्था है और न किसी प्राकृतिक विकास का परिणाम, वरन् यह तो मानव निर्मित एक ऐसी कृत्रिम संस्था है जिसे व्यक्ति द्वारा अपनी कुछ निश्चित आवश्कताओं की पूर्ति के लिए निर्मित किया गया है। अतः उसके लिए राज्य साध्य की और ले जाने वाला एक साधन मात्र है, स्वयं में साधन नहीं। इसके अतिरिक्त, हॉब्स की विचारधारा ने सम्प्रभुता की धारणा के प्रतिपादन का भी मार्ग प्रशस्त किया है। हॉब्स के चिन्तन को हम वैज्ञानिक कहेंगे क्योंकि उसने मानव स्वभाव का यर्थाथ चित्रण किया है। मानव स्वभाव के विश्लेषण पर ही उसने सिद्धांत को ढाला है।

7.9 हॉब्स का सम्प्रभुता सिद्धांत

हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता का सिद्धांत उसके सामाजिक समझौते के सिद्धांत से प्रभावित है। हॉब्स के शब्दों में, "व्यक्ति की रक्षा हेतु बिना तलवार के अनुबन्ध केवल शक्तिहीन कोरे शब्द हैं।" समझौते से स्थापित सम्प्रभु सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न और निरंकुश है। उसका प्रत्येक आदेश कानून और उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण है। उसे जनता के जीवन को नियन्त्रित करने का असीमित अधिकार प्राप्त है तथा जनता को किसी भी प्रकार से उसे चुनौती देने का या उसका विरोध करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। हॉब्स कहता है कि जनता का एकमात्र कार्य सम्प्रभु के आदेशों का पालन करना है, चाहे वे आदेश ईश्वरीय और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध ही क्यों नह हो जनता के लिए उसका पालन करना ही न्यायूपर्ण और वैध है।

हॉब्स के अनुसार सम्प्रभु को जनता की सम्पत्ति छीनने का, हयां तक कि उसके प्राण लेने का अधिकार भी है क्योंकि जनता की सम्पत्ति और प्राण उसकी सत्ता से ही असुरक्षित हैं। हॉब्स समस्त ऐसी संस्थाओं का विरोधी है जो सम्प्रभु की शक्ति को सीमित करने का प्रयास करती हैं। वह शक्ति के पृथक्करण एवं मिश्रित शासन व्यवस्था का भी विरोध करता है। उसके अनुसार ऐसी व्यवस्थाएँ अराजकता उत्पन्न करने वाली होती हैं।वह कहता है कि इंग्लैण्ड में उसके समय में होने वाले गृह युद्ध का यही करण था, जिसकी वजह से लोग यह सोचते थे कि सर्वोच्च सत्ता राजा और संसद में विभाजित है। अतः हॉब्स सम्प्रभुता को सम्पूर्ण अविभाज्य और असीम मानता है। इसी बात को लक्ष्य करते हुए सेबाइन का कथन है कि–

"हॉब्स ने सम्प्रभुता को उन समस्त अयोग्यताओं से पूर्णतः मुक्त कर दिया, जिन्हें बोदां ने आवश्यक रूप से बनाए रखा था।"

हॉब्स के अनुसार सम्प्रभु के निम्नलिखित कार्यों से उसकी असीमित और निरंकुश शक्तियों का परिचय मिलता है–(1) वह जनता के विचारों और सिद्धांतों का नियन्त्रण करे; (2) उसे जनता की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार है, वह इसे अपनी इच्छानुसार छीनने का भी अधिकार रखता है; (3) उसे अपने प्रजाजनों के सब विवादों के निर्णय करने का अन्तिम अधिकार है; (4) उसे अन्य देशों से युद्ध छेड़ने और सन्धि करने का तथा अपनी नीति को क्रियान्वित करने के लिए प्रजाजनों के सम्पूर्ण साधनों पर पूर्ण नियन्त्रण रखने का अधिकार है; (5) प्रभु शासन के सब अधिकारियों की सत्ता शासन के सब अधिकारियों की सत्ता का मूल स्रोत है।

हॉब्स का प्रभुसत्ता का विचार बोदां के विचार से महत्वपूर्ण भेद रखता है। बोदां प्रभुसत्ता पर ईश्वर के नियम, प्रकृति के नियम तथा राज्य के मौलिक नियमों के तीन प्रकार के प्रतिबन्ध स्वीकार करता है, किन्तु हॉब्स अपनी प्रभुसत्ता परऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं मानता। बोदां के मतानुसार राजा को प्रजा की निजी सम्पत्ति छीनने का अधिकार नहीं है, हॉब्स उसे यह अधिकार प्रदान करता है। बोदां का सम्प्रभुता का सिद्धांत एक अपूर्ण सिद्धांत था, हॉब्स ने उसी सभी प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त करके पूर्णता प्रदान की। अतः हारमोन के अनुसार, "हॉब्स का सम्प्रभु बोदां के सम्प्रभु की अपेक्षा पूर्ण शक्ति से युक्त है।"

इस प्रकार हॉब्स की प्रभुसत्ता की धारणा असीमित सम्प्रभुता की धारणा है, निरंकुशता और अविभाज्यता उसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं, उसका स्वरूप कानूनी है। राज्य के समस्त शासन संचालन में सम्प्रभु सर्वोच्च है, वहीं विधि निर्माता है, विधि को लागू करने वाला है तथा वही मुख्य न्यायाधिपति है। हॉब्स शक्ति के पृथक्करण में विश्वास नहीं करता। उसका सम्प्रभु धरती पर ईश्वर की तरह शक्तिशाली है, सैनिक और असैनिक शक्तियों का एकमात्र अधिष्ठाता है। राज्य का सम्पूर्ण प्रशासनिक वर्ग उसके द्वारा नियुक्त होता है और अपने कार्यों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी होता है। वही इन्हें अपने पद से हटा सकता है। यही नहीं राज्य के द्वारा प्रदान किए जाने वाले सभी सम्मान व उपाधियों का प्रदानकर्ता भी वही है। सभी समस्याओं के संबंध में अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार भी उसे ही प्राप्त है। अतः हॉब्स के सम्प्रभु के राज्य में व्यक्तियों को न तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है और न उसमें उसकी व्यवस्था ही है। सम्प्रभु के आदेशों का पालन करने के अतिरिक्त नागरिकों को और किसी प्रकार का अधिकार नहीं है।

7.9.1 शासन के भेदः राजतन्त्र श्रेष्ठ शासन

हॉब्स की सम्प्रभुता की धारणा पर ही शासन एवं कानून संबंधी धारणा आधारित है। उसके शासन के वर्गीकरण का आधार यह है कि प्रभुत्व शक्ति कितने व्यक्तियों में निहित है। इस आधार पर वह शासन के तीन रूप बताता है–सम्प्रभुता यदि एक व्यक्ति में निहित हो तो वह राजतन्त्र है, यदि कुछ व्यक्तियों में निहित हो तो वह कुलीनतन्त्र है और यदि सभी व्यक्तियों में निहित हो तो वह लोकतन्त्र है। वह कहता है कि इन तीन रूपों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का शासन नहीं होता है। सम्प्रभुता को अविभाज्य मानने के कारण वह अरस्तू आदि की मिश्रित संविधान की व्यवस्था का घोर विरोधी है। इन तीनों रूपों में भी वह राजतन्त्र को श्रेष्ठ मानता है, क्योंकि यह एक स्थायित्व और समृद्धि लाने वाली और विभिन्न संघर्षों को कम करने वाली व्यवस्था है। उसने राजतन्त्र को एक सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति माना है क्योंकि–

1. राजतन्त्र में राजा का तथा राज्य का निजी और सार्वजनिक हित एक होता है। राजा के धन और कीर्ति की वृद्धि राज्य की सम्पत्ति और यश को बढ़ाने वाली होती है।
2. इसमें शासन की स्थिरता और स्थायित्व अधिक होता है। लोकतन्त्रात्मक शासनों में कई व्यक्तियों के कारण शासन में अस्थिरता आ जाती है।
3. कुलीनतन्त्रीय और लोकतन्त्रीय शासनों की तुलना में इस पद्धति में भ्रष्टाचार और पक्षपात बहुत कम हो जाता है।

7.9.2 हॉब्स के कानून संबंधी विचार

हॉब्स के विचारों के अनुसार सम्प्रभुता का स्वरूप वैधानिक सम्प्रभुता का स्वरूप है। अतः उसका सम्प्रभु कानूनों द्वारा नियन्त्रित नहीं है। वह कानून निर्माता तो है, लेकिन स्वयं के संबंध में उन कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। कानून की परिभाषा करते हुए हॉब्स कहता है कि–"वास्तविक कानून उस व्यक्ति का आदेश है जिसे दूसरों को आदेश देने का अधिकार प्राप्त है।" अतः उसकी सम्प्रभुता दूसरों को आदेश देने की शक्ति है। उसके अनुसार "कानून

सम्प्रभु का आदेश है।" इस प्रकार हॉब्स कानून की विधिशास्त्रीय व्याख्या करता है और राज्यादेशों के अतिरिक्त और किसी को कानून नहीं मानता। वह प्राकृतिक कानून, रीति–रिवाज और दैवी कानून को कानून के रूप में स्वीकार नहीं करता क्योंकि उसका कहना है कि ये सब इसलिए समाज में कानून के रूप में मान्य होता है क्योंकि उन्हें सम्प्रभुता का समर्थन प्राप्त होता है। सम्प्रभुता के समर्थन की अनुपस्थिति में कानून के रूप में इसका कोई महत्व नहीं होता।

7.9.3 राज्य और चर्च के संबंध में हॉब्स के विचार

लेवियाथन के लगभग आधे भाग में धर्मशास्त्र और चर्च में संबंध रखने वाले प्रश्नों की मीमांसा है। हॉब्स ने इन प्रश्नो पर विशुद्ध तर्क की दृष्टि से विचार किया इसलिए उसे नास्तिक कहा गया है और कटु आलोचना का शिकार होना पड़ा।

धर्म की उत्पत्ति पर विचार करते समय हॉब्स इस मत का प्रतिपादन करता है कि उसकी उत्पत्ति अन्तरात्मा या किसी अन्य कारण से न होकर भय और स्वार्थ के कारण होती है। मनुष्यों को नाना प्रकार की वस्तुओं से भय लगता है। कुछ लोग सांप, पानी, अन्धकार और मृत्यु से भयभीत होते हैं तथा कुछ लोग उन अदृश्य शक्तियों से, जिनकी वे उन कहानियों में कल्पना करते हैं जो सार्वजनिक रूप से कही जाती हैं। ऐसे भय का नाम ही धर्म है।

धर्म के विषय में हॉब्स का अपना विचार सदैव यही रहा है कि धर्म का प्रयोग राज्य की सेवा और उपयोगिता के हित में होना चाहिए। वह चर्च की राज्य से पृथक् और भिन्न सत्ता नहीं मानता है। चर्च के लिए आवश्यक है कि वह प्रभुसत्ता के आदेश से संगठित हो। लेवियाथन के हाथों में जहां एक और राजसत्ता की वशवर्ती है। यदि राजा की आज्ञा के बिना कोई धार्मिक संगठन बनता है तो वह अवैध है। आध्यात्मिक शासन जैसी कोई वस्तु नहीं है क्योंकि राज्य में केवल राजनीतिक प्रभुसत्ता रखने वाले का ही शासन होता है। सार्वभौम चर्च जैसे नाम की कोई वस्तु नहीं है क्योंकि प्रत्येक राज्य का चर्च उसका एक अंग मात्र है।

हॉब्स का मत है कि राज्य में तब अव्यवस्था और अराजकता मच जाती है जब कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क मे यह भावना बैठ जाती है कि ईश्वर ने उन्हें प्रेरणा तथा सत्य का प्रकाश दिया है। सने अपनी पुस्तक में रोमन कैथोलिक चर्च का वर्णन करने वाले प्रकरण का नाम 'अन्धकार का राज्य' रखा है। रोमन चर्च के दावों का खण्डन करते हुए उसने लिखा है–" यद्यपि कोई व्यक्ति की चर्च की विशाल सत्ता के आरम्भिक रूप पर विचार करे तो वह सरलता से देख लेगा कि पोपशाही मृत रोमन साम्राज्य का ही भूत है, जो उसकी कब्र पर मुकुट धारण किए हुए आसीन है।" चर्च और राज्य के संबंध में हॉब्स के विचारों का सार इस प्रकार है–

(1) धर्म के संबंध में सर्वोच्च अधिकारी संप्रभु अथवा शासक है।

(2) आध्यात्मिक शासन जैसी कोई वस्तु नहीं।

(3) चर्च का दर्जा अन्य निगमों की भांति है, उसके सारे अधिकार राज्याधीन हैं।

(4) सभी धर्माधिकारी राज्यकीय कानूनों को मानने के लिए बाध्य हैं।

(5) धर्माधिकारी उपदेशक माने जा सकते हैं, शासक नहीं।

(6) चर्च जैसे धार्मिक समुदाय को राज्य के साथ सत्ता के लिए संघर्ष कभी नहीं करना चाहिए।

(7) जो धर्म को चुनौती दे उसका बहिष्कार होना चाहिए।

(8) धार्मिक बहिष्कार या चर्च की और से दिया जाने वाला अन्य कोई दण्ड भी तभी दिया जा सकता है जब सम्प्रभु चर्च को इस हेतु अधिकृत करे।

संक्षेप में, हॉब्स के धर्म और राज्य के संबंध संबंधी विचार मार्सीलियो से बहुत कुछ आगे हैं। उसने राज्य की सर्वोच्चता सिद्ध करके मध्ययुगीन चर्च के हस्तक्षेप को गलत बताया।

7.10 हॉब्स के राजदर्शन में निरंकुशतावाद एवं व्यक्तिवाद के तत्व

मैक्सी के अनुसार "निरंकुशतावादी होते हुए भी हॉब्स आदि से अन्त तक व्यक्तिवादी है।" सेबाइन के शब्दों में "हॉब्स ने एक व्यक्तिवादी के रूप में अपने विचारों का प्रारम्भ में प्रतिपादन किया, परन्तु उसके विचारों का अन्त निरंकुशतावाद में होता है।"

निरंकुशतावाद के तत्व–हॉब्स के राजनीतिक चिन्तन की सबसे बड़ी विशेषता है निरंकुश तथा अपरिमित सम्प्रभुता का सिद्धांत। यद्यपि हॉब्स से पूर्व ही बोदां यह कह चुका था कि सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च शक्ति है जिस पर कानून का बन्धन या सीमा नहीं है। तथापि वह इतना अवश्य ही मानता था कि प्राकृतिक कानून, ईश्वरीय कानून तथा अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने का व्यक्ति का अधिकार–ये सब सम्प्रभुता की सीमाएँ निर्धारित करते हैं। इस प्रकार हम उसके सिद्धांत में एक अस्पष्ट किन्तु निश्चित असंगति पाते हैं। इस असंगति का प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि उसने प्रभुसत्ता की धारणा का पूर्ण रूप से विश्लेषण नहीं किया। इस कमी की पूर्ति 60 वर्ष पश्चात् हॉब्स ने अपनी रचनाओं में की। उसने अपनी पुस्तक 'लेवियाथन' में राज्य के निरंकुशतवाद का एक सांगोपांग तथा क्रमबद्ध सिद्धांत विकसित किया

और सम्प्रभु को उन समस्त बाधाओं व सीमाओं से मुक्त कर दिया जो फ्रेन्च विचारक बोदां ने उस पर लगाई थीं। सेबाइन के शब्दों में "बोदां ने सम्प्रभुता पर जो असंगतिपूर्ण मर्यादाएँ आरोपित की थी हॉब्स ने उसे उनसे बिल्कुल मुक्त कर दिया।" इसी प्रकार वाहन ने लिखा है कि हॉब्स ही वह दार्शनिक है जिसने सम्पूर्ण रूप से निरंकुश प्रभुसत्ता की धारणा का प्रतिपादन किया है।

हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप निरंकुश राज्य की उत्पत्ति होती है। प्राकृतिक अवस्था शाश्वत संघर्ष की अवस्था थी जिसका अन्त करने के लिए लोगों ने एक सामान्य सत्ता की स्थापना पर बल दिया। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ एक समझौता या अनुबन्ध करता है। प्रत्येक व्यक्ति व्यक्ति इस आशय की शपथ लेता है–"मैं इस व्यक्ति को या व्यक्ति समूह को इस शर्त पर अपना अधिकार देता हूं तथा स्वयमेव अपने पर शासन करने के अधिकार का परित्याग करता हूं कि तू भी अपने अधिकार इसी व्यक्ति को देगा और स्वाशासन के अधिकार छोड़ देगा।" ऐसा करने पर सारा जनसमुदाय एक व्यक्ति में संयुक्त हो जाता है। इस राज्य या कॉमनवैल्थ कहते हैं। हॉब्स ने इसे 'लेवियाथन' भी कहा है। दूसरे शब्दों में, यही सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न शासक या सर्वोच्च अधिकार प्राप्त सम्प्रभु है। हॉब्स के सम्प्रभु अथवा लेवियाथन की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. **सम्प्रभुता असीमित**–हॉब्स की सम्प्रभुता की सबसे प्रमुख विशेषता है उसकी असीमितता। सम्प्रभुताधारी ईश्वरीय, प्राकृतिक या अन्य किसी भी कानून से बाध्य नहीं है। राजकीय कानून सम्प्रभु की आज्ञाएँ मात्र हैं और वह उनसे ऊपर है। उस पर यदि कोई अंकुश और नियन्त्रण लगाए जाएँ तो फिर वह सम्प्रभु ही नहीं रह जाता। इस प्रकार सम्प्रभुता पूर्णतया असीम और निरंकुश है।
2. **सम्प्रभु समस्त विधेयात्मक कानूनों का स्रोत**–हॉब्स के सम्प्रभु की एक अन्य विशेषता यह है कि वह समस्त विधेयात्मक कानूनों का स्रोत है। दूसरे शब्दों में सम्प्रभुता का अर्थ है समस्त प्रजाजन के लिए मान्य होने वाले कानूनों के निर्माण करने की शक्ति होना। हॉब्स के अनुसार यह शक्ति मात्र सम्प्रभु में ही निहित होती हैं और सम्प्रभु ही कानूनों का व्याख्याता भी है।
3. **सम्पत्ति का सृष्टा और नियामक**–हॉब्स के अनुसार सम्पत्ति की सृष्टि भी सम्प्रभु ही करता है क्योंकि सम्पत्ति के कानूनी अधिकार का जन्म राज्य के साथ ही हुआ है। सम्पत्ति का सृष्टा सम्प्रभु भी होने के कारण सम्प्रभु जब चाहे व्यक्ति से उसकी सम्पत्ति ले सकता है। इस प्रकार हॉब्स बोदा के इस विचार को स्वीकार नहीं करता कि कर लगाने के लिए जन स्वीकृति आवश्यक है।
4. **प्रशासनिक शक्तियों का एकमात्र स्त्रोत**–हॉब्स का सम्प्रभु प्रशासनिक शक्तियों का एकमात्र स्रोत है। यह प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति करता है, इनका श्रीगणेश करता है और समस्त अधिकारी उसके द्वारा प्रदान की गई शक्तियों का उपयोग करते हैं।
5. **सम्प्रभु न्याय का स्त्रोत**–हॉब्स के अनुसार न्याय का एकमात्र स्रोत भी सम्प्रभु ही है। शासक को न्याय का स्रोत और न्यायाधीशों को सिंहासन के नीचे के सिंह कहकर हॉब्स ने न्यायिक के सिद्धांत का खण्डन किया है। इस प्रकार हॉब्स की विचारधारा में शक्ति विभाजन तथा नियन्त्रण व सन्तुलन के लिए भी कोई स्थान नहीं है।
6. **अधिकार केवल सम्प्रभु में निहित**–राज्य में हॉब्स विद्यमान किसी भी व्यक्ति, परिवार, चर्च या अन्य किसी समुदाय के अधिकारों को स्वीकार नहीं करता और इस बात का प्रतिपादन करता है कि व्यक्ति और समुदायों का एकमात्र स्रोत सम्प्रभु है। उन्हें केवल ही अधिकार प्राप्त हो सकते हैं जो सम्प्रभु के द्वारा स्वीकार किए जाएँ। व्यक्ति या समुदाय सम्प्रभु के विरुद्ध किसी भी अधिकार का दावा नहीं कर सकते। इस संबंध में हॉब्स एक अपवाद अवश्य ही स्वीकार करता है और वह है व्यक्ति का आत्म सुरक्षा का अधिकार।
7. **युद्ध और शान्ति का निर्णायक**–हॉब्स ने केवल आन्तरिक क्षेत्र में वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी सम्प्रभुता की असीमितता का प्रतिपादन करता है और उसके अनुसार युद्ध और शन्ति का एकमात्र निर्णायक सम्प्रभु ही है। सम्प्रभु के द्वारा दूसरे राज्यों के साथ युद्ध, शन्ति या समझौते का मार्ग अपनाया जा सकता है। उसे अपनी इच्छानुसार सैनिक शक्ति के प्रयोग का अधिकार है।
8. **सम्प्रभुता अविभाज्य और अदेय**–हॉब्स के अनुसार सम्प्रभुता अविभाज्य और अदेय है। सम्प्रभुताधारी सम्प्रभुता का कोई भी गुण किसी अन्य को हस्तान्तरित नहीं कर सकता और न ही किसी अन्य को उसके प्रयोग में भागीदार बना सकता है।
9. **सम्प्रभुता का क्षेत्राधिकार सर्वव्यापी**–सम्प्रभुता का क्षेत्राधिकार राज्य में सर्वव्यापी है और कोई भी व्यक्ति या समुदाय इससे मुक्ति का दावा नहीं कर सकता।
10. **चर्च सम्प्रभु के अधीन**–हॉब्स की विचारधारा में स्वाधीन और स्वतन्त्र चर्च के लिए कोई स्थान नहीं है। हॉब्स के शब्दों में, "चर्च ईसाई धर्म में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों का एक संघ है जो एक सम्प्रभु के अधीन संगठित है और

सम्प्रभु की आज्ञा से ही अपना सम्मेलन कर सकता है।" सम्प्रभु को ही धार्मिक ग्रन्थों की व्याख्या करने का अधिकार है। राज्य के अन्तर्गत अन्य निगमों की भांति चर्च का भी प्रधान सम्प्रभु ही होता है।

हॉब्स ने शासक को सभी परम्परागत प्रतिबन्धों से मुक्त कर ऐसे सम्प्रभु का प्रतिपादन किया है जो विधि, प्रशासन, अधिकार, न्याय, नैतिकता, युद्ध–शन्ति और धर्म का एकमात्र स्रोत है। हॉब्स का स्पष्ट मत है कि जनता का एकमात्र स्रोत है। हॉब्स का स्पष्ट मत है कि जनता का एकमात्र कार्य सम्प्रभु के आदेशों का पालन करना है चाहे वे आदेश ईश्वरीय और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध ही क्यों न हों? सम्प्रभु को जनता की सम्पत्ति छीनने का, यहां तक कि उसके प्राण लेने का अधिकार भी है क्योंकि जनता की सम्पत्ति और प्राण उसकी सत्ता से ही सुरक्षित हैं। वाहन के अनुसार हॉब्स एक नग्न निरंकुशतावाद की स्थापना करता है।

व्यक्तिवाद के तत्व–मैक्सी के अनुसार "हॉब्स का लेवियाथन केवल सम्प्रभुता के सिद्धांत का और राज्य को एक साधन के रूप में मानने का ही ग्रन्थ नहीं है, वह व्यक्तिवाद का भी प्रबल समर्थक है।"

हॉब्स ने जहां एक और निरंकुश तथा असीमित सम्प्रभुता का प्रतिपादन किया है वहां दूसरी और उसकी विचारधारा में 'व्यक्तिवाद' के भी स्पष्ट और प्रबल दर्शन होते हैं। यह बात असंगतिपूर्ण लगने पर भी पूर्णतया सत्य है। व्यक्तिवाद की मूल धारणा यह है कि जितने भी संघ, समुदाय, अन्य संस्थाएँ या राज्य हैं, वे व्यक्तियों द्वारा निर्मित हैं, व्यक्ति ही उनकी इकाई है और ये सब अपने में सम्मिलित व्यक्तियों से अधिक या भिन्न कुछ भी नहीं हैं। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन मात्र। अतः व्यक्ति की भलाई–बुराई, दुख–सुख आदि को राज्य और समुदाय की भलाई–बुराई या सुख–दुख समझा जाना चाहिए।

डनिंग ने इस संबंध में लिखा है कि "हॉब्स के सिद्धांत में राज्य की शक्ति का उत्कर्ष होते हुए भी उसका मूल आधार पूर्ण रूप से व्यक्तिवादी है। वह सब व्यक्तियों की प्राकृतिक समानता पर उतना ही बल देता है जितना कि मिल्टन या अन्य किसी क्रान्तिकारी विचारक ने बल दिया था।"

सेबाइन के अनुसार निरंकुशता के आवरण में हॉब्स ने घोर व्यक्तिवादी का समर्थन किया है। हॉब्स ही सर्वप्रथम दार्शनिक था जिसने व्यक्ति के जीवन रहने के अधिकार को सर्वोपरि माना। व्यक्ति की सुरक्षा, शन्ति, सभ्यता, कला, विज्ञान की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य की स्थापना की। हॉब्स निरंकुशता के लिए निरंकुशता का प्रचार करता है।

हॉब्स की विचारधारा में व्यक्तिवाद निम्न रूपों में देखा जा सकता है–

1. **मानव स्वभाव संबंधी धारणा**–हॉब्स की मानव स्वभाव संबंधी धारणा व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुकूल ही है, समाजवाद या आदर्शवाद के अनुकूल नहीं है। हॉब्स अरस्तू के समान व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी नहीं मानता, वरन् असामाजिक प्राणी कहता है, जो आत्म केन्द्रित है और मनोवेगों, अहं और लोभ से प्रेरित होता है। हॉब्स की विचारधारा के अन्तर्गत यह व्यक्तिवाद का मनोवैज्ञानिक तत्व है और इसके आधार पर केवल व्यक्तिवादी धारणा की ही रचना हो सकती है।
2. **राज्य साधन है, व्यक्ति साध्य**–हॉब्स के चिन्तन में राज्य एक साधन है और व्यक्ति साध्य। राज्य के लिए व्यक्ति निर्माण नहीं होता, बल्कि व्यक्ति की सुरक्षा और शान्ति के लिए राज्य का निर्माण होता है। हॉब्स के दर्शन में व्यक्ति या व्यक्तिगत स्वार्थ के अतिरिक्त जन समुदाय या सामान्य इच्छा या सार्वजनिक हित नाम की कोई धारणा नहीं हैं।
3. **राज्य एक कृत्रिम संस्था है**–हॉब्स के समझौता संबंधी विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज या राज्य तो सिर्फ एक कृत्रिम संस्था है जिसका उपयोग मनुष्य अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए करता है।
4. **आत्मसंरक्षण का अधिकार**–हॉब्स के अनुसार अपने जीवन की रक्षा के लिए ही प्राकृतिक दशा का अन्त करने के उद्देश्य से मनुष्यों ने सामाजिक समझौता किया था, राज्य की अधीनता स्वीकार की थी। राज्य के बन जाने से उनके शेष सब अधिकार समाप्त हो जाते हैं, किन्तु आत्मसंरक्षण का अधिकार समाप्त नहीं होता। राज्य के अस्तित्व का उद्देश्य ही व्यक्ति के जीवन की रक्षा है। यदि राज्य का कोई नियम नागरिक के जीवन पर आघात करता है तो वह इसका विरोध कर सकता है। हॉब्स के शब्दों में, "जनता प्रभु की आज्ञा उसी समय तक मानने के लिए बाध्य है, जब तक उसमें जनता को संरक्षण प्रदान करने की शक्ति हो। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह प्रभु की ऐसी आज्ञाओं का पालन न करें, जिनमें उसे अपने आपको मारने, घायल करने या अंग–भंग करने का आदेश हो।" हॉब्स का व्यक्ति सेना में भर्ती होने से मना कर सकता है और केवल इतना ही नहीं, हॉब्स तो व्यक्ति को जेल से भाग जाने का भी परामर्श देता है।
5. **राज्य के कार्यों की निषेधात्मक धारणा**–आर्थिक क्षेत्र में भी हॉब्स अहस्तक्षेप नीति का समर्थन करता है। हॉब्स ने स्पष्ट कहा है कि उसके राज्य में व्यक्तियों को खरीदने, बेचने, आर्थिक संविदा करने, भोजन व्यवसाय आदि चुनने

एवं अपनी इच्छा के अनुकूल अपने बच्चों को शिक्षित करने का अधिकार प्राप्त है। वस्तुतः उसने आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति का विचार दिया जो आधुनिक व्यक्तिवादियों के विचार से पूर्णतः मेल खाता है।

7.11 हॉब्स के राजदर्शन की आलोचना

हॉब्स के विचारों के प्रकाशन के साथ ही उन्हें सर्वत्र कठोर आलोचना का शिकार होना पड़ा। राजतन्त्रवादी, संसदज्ञ और धर्माधिकारी सभी विभिन्न कारणों से उससे रुष्ट थे। विधिशास्त्री उसे संकीर्ण, अनभिज्ञ तथा उत्पीड़क समझते थे। लॉक और रूसो भी उसके आलोचक थे। कौली ने उसे "माम्जबरी का महारक्षक" कहा था। बैंटली ने हॉब्स को नैतिक पतन का जिम्मेदार ठहराया था।

उसके ग्रन्थ 'लेवियाथन' की भी कटु आलोचना की गयी। क्लेरेंडन ने विरोध प्रकट करते हुए कहा कि "हॉब्स की पुस्तक जला देनी चाहिए। मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमें राजद्रोह, विश्वासघात और धर्मद्रोह इतनी अधिक मात्रा में हों।" ब्रेमहिल ने लिखा है कि "यह ग्रन्थ सबको आग लगाने वाला है, इसने जितनी गड़बड़ पैदा की है उतनी वनस्पतियों के बगीचे में सूअर भी पैदा नहीं कर सकता।" वाहन का विचार है कि "जहां तक राजनीतिक विचार के सजीव विकास का प्रश्न है, लेवियाथन एक प्रभावहीन और निष्फल ग्रन्थ रहा है।"

हॉब्स के दर्शन की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है–

1. **मानव स्वभाव संबंधी निराशावादी धारणा**–हॉब्स ने मानव स्वभाव का एकांगी और निराशावादी चित्रण किया है। वह मनुष्य को घोर स्वार्थी, कपटी और हिंसक बतलाता है। उसने उसकी सामाजिकता को अस्वीकार किया है। यथार्थ में मनुष्य स्वार्थी होकर भी सामाजिक है और उसमें सहानुभूति, दया, क्षमा और प्रेम की भावना पायी जाती है।
2. **प्राकृतिक अवस्था का काल्पनिक चित्रण**–हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था का जो भयंकर चित्रण किया है वह ऐतिहासिक तथ्य तथा युक्ति के विरुद्ध है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य एकाकी और संघर्ष की स्थिति में रहता था, किन्तु समझौता होने के बाद वह सामाजिक बनकर शन्तिपूर्ण समाज में रहने लगा। उसकी प्रवृत्ति में इस प्रकार एकाएक परिवर्तन कैसे आ गया कि उसने अराजकता वे अव्यवस्था को सुव्यवस्था में परिणत कर लिया। आलोचकों के अनुसार आदिम समाज की इकाई व्यक्ति नहीं, परिवार था जहां संघर्ष के बजाय सहयोग की भावना थी।
3. **विरोधाभास**–हॉब्स के विचारों में विरोधाभास पाया जाता है। एक और वह निरंकुशतावाद का समर्थन करता है तो दूसरी तरफ उसके विचारों में व्यक्तिवाद के तत्व भी मौजूद हैं।
4. **निरंकुश प्रभुसत्ता का समर्थन**–हॉब्स ने निरंकुश प्रभुसत्ता का समर्थन किया है। उसने अपने राज्य में व्यक्तियों को सर्वथा अधिकार शून्य करके लेवियाथन की दासता के पाश में जकड़ लिया।
5. **राज्य तथा सरकार में अन्तर नहीं**–हॉब्स ने राज्य और सरकार को एक ही माना है। आधुनिक युग राज्य और सरकार में अन्तर करता है क्योंकि सरकारें बदलती रहती हैं।
6. **राज्य की रचनात्मक भूमिका का अभाव**–हॉब्स राज्य को कोई रचनात्मक कार्य नहीं सौंपता। उसका राज्य केवल पुलिस राज्य है। वह राज्य को व्यक्तियों के कल्याण मार्ग पर प्रवृत्त नहीं कर सका।

हॉब्स की राजनीतिक चिन्तन को महान् देन है। वह राजनीतिशास्त्र की विस्तृत एवं व्यवस्थित पद्धति का निर्माण करने वाला प्रथम अंग्रेज विचारक है। प्रभुसत्ता का प्रतिपादन यद्यपि उसके पूर्व ही किया जा चुका था, लेकिन एक निरंकुश और असीम प्रभुसत्ता का सुनिश्चित एवं पूर्ण विवरण सर्वप्रथम उसने ही किया। वास्तव में हॉब्स ने ही प्रभुसत्ता को वह स्वरूप दिया जो आज तक चला आ रहा है। हॉब्स के समझौता सिद्धांत द्वारा ही इस शाश्वत सत्य का प्रतिपादन हुआ कि राजसत्ता सर्वोपरि होती है। उसने ही पूर्णतः स्पष्ट रूप से बताया कि राज्य दैवीय इच्छा का नहीं वरन् मानवीय इच्छा का परिणाम है। इस प्रकार उसने राज्य को एक मानवीय संस्था घोषित किया। उसने धर्म और राजनीति को न केवल पृथक् किया बल्कि धर्म को राजनीति के अधीन बतलाया।

हॉब्स की एक महान् देन उसका व्यक्तिवाद है। प्रभुसत्तावादी हॉब्स के विचारों में हमें व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थन मिलता है। उसने व्यक्ति के कल्याण और सुरक्षा को साध्य घोषित किया। उसने राज्य को निरंकुश अधिकार इसी दृष्टि से दिए कि वह समाज मे शान्ति स्थापित रखे, व्यक्तियों का जीवन व सम्पत्ति सुरक्षित रखे।

हॉब्स के योगदान का मूल्यांकन करते हुए प्रो. ऑकशॉट ने लिखा है कि हॉब्स को राजनीतिक चिन्तकों की प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसी प्रकार उसकी महान् रचना 'लेवियाथन' के बारे में वे लिखते हैं कि, "वह अंग्रेजी भाषा में राजनीतिक दर्शन का सबसे महान् और कदाचित एकमात्र अनुपम ग्रन्थ है।" जान लेयर्ड के शब्दों में, "हॉब्स प्रतिभासम्पन्न मनोवैज्ञानिक, उत्कृष्ट तत्वज्ञानी, प्रसिद्ध राजनीतिक चिन्तक एवं एक ऐसा नैतिकतावादी है जिसे ब्रिटेन के आचारशास्त्र का जनक कहा जा सकता है।"

हॉब्स के राजनीतिक चिन्तन का प्रभाव जहां एक ओर सर्वाधिकारवादी विचारधारा पर पड़ा है वहीं दूसरी और व्यक्तिवादी और उपयोगितावादी विचारधारा भी उससे प्रभावित हुई है। वह स्पीनोजा, बेन्थम, ऑस्टीन और हीगल आदि दार्शनिकों का प्रेरणा स्रोत रहा है। ऑस्टीन द्वारा प्रतिपादित वैधानिक सम्प्रभुता का सिद्धांत हॉब्स के चिन्तन से प्रेरित रहा है। हॉब्स के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए मैक्सी ने लिखा है, "उसका प्रभाव राजदर्शन पर तब तक रहेगा जब तक कि लोग राजनीतिक विषयों पर चर्चा करते रहेंगे।" वेपर के अनुसार, "वह एक ऐसी खान है जिसमें दर्शन रूपी मूल्यवान धातु पर्याप्त मात्रा में मिलती है।'

हॉब्स की महत्ता इस बात में है कि उसने निरंकुशवाद तथा धर्मनिरपेक्षवाद का समर्थन भौतिकवाद के दर्शन के आधार पर किया और इस प्रकार राजदर्शन में आधुनिक युग का सूत्रपात किया।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सम्बन्धी विचारों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. "हॉब्स के दर्शन में निरकुंशवाद तथा व्यक्तिवाद दोनों के तत्व समाहित है।" स्पष्ट कीजिए।
3. हॉब्स की सम्प्रभुता की अवधारणा का विवेचन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. हॉब्स द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था को स्पष्ट कीजिए।
2. हॉब्स के दर्शन में व्यक्तिवादी तत्वों की विवेचना कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. हॉब्स की प्रमुख कृति का नाम लिखिए।
2. हॉब्स के अनुसार मानव स्वभाव कैसा है?
3. हॉब्स के अनुसार सामाजिक समझौते का क्या कारण था?

इकाई–8
जॉन लॉक

संरचना

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 जीवन परिचय

8.3 प्रमुख रचनाएँ

8.4 लॉक के चिन्तन को प्रभावित करने वाले तत्व एवं परिस्थितियाँ

8.5 जॉन लॉक की अध्ययन पद्धति

8.6 जॉन लॉक का सामाजिक समझौता सिद्धांत

8.6.1 मानव स्वभाव की धारणा

8.6.2 प्राकृतिक अवस्था

8.6.3 प्राकृतिक अवस्था की असुविधाएँ

8.6.4 सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति

8.6.5 लॉक के सामाजिक समझौते की विशेषताएँ

8.6.6 हॉब्स तथा लॉक के समझौते में तुलना

8.6.7 लॉक के सामाजिक समझौते की आलोचना

8.6.8 लॉक के अनुसार राज्य : विशेषताएँ

8.7 लॉक के शासन सम्बन्धी विचार

8.7.1 प्राकृतिक अधिकार सम्बन्धी विचार

8.8 लॉक का क्रान्ति संबंधी विचार एवं व्यक्तिवाद

8.8.1 लॉक : व्यक्तिवादी दृष्किोण

8.9.2 हॉब्स तथा लॉक के विचारों की तुलना

8.8.3 लॉक की राजनीतिक विचारधारा की आलोचना

8.9 राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में लॉक का महत्व

8.10 निष्कर्ष

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी–

- जॉन लॉक के जीवन काल को जान सकेंगे।
- जॉन लॉक के सामाजिक, शासन, क्रान्ति एवं व्यक्तिवाद से सम्बंधित सिद्धांतों अथवा विचारों की व्याख्या एवं विश्लेषण कर सकेंगे।
- लॉक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते सम्बन्धी विचारों को जान सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

जॉन लॉक केवल राजनीतिक विचारक और अनुभववादी तत्ववेत्ता ही नहीं है अपितु पश्चिमी यूरोप और अमरीका की आधुनिक सांविधानिक सांस्कृतिक विचारधारा के निर्माण में भी उसका महत्वपूर्ण योगदान है। लोकतान्त्रिक दर्शन की पृष्ठभूमि के निर्माण में उसका गौरवपूर्ण स्थान है। राजसत्ता सहमति पर ही आधारित रह सकती है, ऐसी घोषणा कर दण्डवाद, साम्राज्यवाद और निरंकुश शासन प्रणाली का उसने प्रबल विरोध किया। क्रान्ति के अधिकार का पोषण कर समस्त एकतन्त्रों को उसने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में भारी चुनौती दी जिसे फिर रूसो ने भी और भावनापूर्ण शब्दों में उद्घोषित किया। सहिष्णुता का समर्थन न केवल लॉक के उदारवाद की सूचना देता है अपितु यह भी बताता है कि

उस समय वैज्ञानिक अन्वेषणों से परम्परागत धार्मिक विश्वासों के प्रति एक उपेक्षा का भाग जाग रहा था। कार्यपालिका को विधायिका के अधीनस्थ रहना पड़ेगा, ऐसी घोषणा कर सांविधानिक शासन प्रणाली के समर्थक के रूप में लॉक हमारे सामने आता है। उसके विचारों का प्रभाव इंगलैण्ड में बिग दल के क्रियाकलापों पर पड़ा। सन् 1776 का स्वातन्त्र्य घोषणा पत्र लॉक के विचारों का असर सूचित करता है। जैफरसन तो लॉक के दर्शन का ही, रूसो भी कुछ अंश में लॉक से प्रभावित था। नैसर्गिक अधिकारवाद और संविधानवाद की जो लहर लॉक ने चलायी, रूसो ने उसका परिवर्द्धन किया। ऐसा भी कहा जा सकता है कि जहां अंग्रेज बुद्धिवादी होने के कारण जनता के अधिकार का जरा दबी जबान से लॉक अनुमोदन करता था, वहां फ्रांसीसी भावनावादी होने के कारण मानव अधिकार की डंके की चोट और रूसो ने उद्घोषणा की। वस्तुतः उदारवाद के आधारस्तम्भ के रूप में जॉन लॉक का नाम राजनीति दर्शन के इतिहास में अमर है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा के प्रति वह इतना अधिक जागरूक है कि उसके द्वारा व्यक्तियों को कुशासन के विरुद्ध विद्रोह का स्पष्ट अधिकार प्रदान कर दिया गया है। मानवीय स्वतन्त्रता के इस प्रहरी को 'उदारवाद की आत्मा' का नाम ठीक ही दिया गया है। इबन्सटीन के शब्दों में, "उदारवाद की आत्मा सर्वाधिक श्रेष्ठ रूप में जॉन लॉक में प्रतिबिम्बित हुई है।"

8.2 जीवन परिचय

जॉन लॉक का जन्म सन् 1632 ई. में सामरसेट शायर के रिंग्टन नामक स्थान में हुआ था। उसके पिता एक वकील थे। जब लॉक की उम्र 12 वर्ष की थी, तब इंगलैण्ड में गृहयुद्ध शुरू हो गया था। उसके पिता 1642 ई. में पार्लियामेण्ट की ओर से लड़ने वाली सेना में भर्ती हो गये और स्वयंसेवकों की एक कम्पनी के कप्तान भी बने। लॉक ने लिखा है कि जब मुझे कुछ समझने का होश आया तो मैंने अपने को तूफ़ान में पाया। लॉक की प्रारम्भिक शिक्षा घर ही हुई। बाद में उसे वेस्टमिन्सटर के पब्लिक स्कूल में भेजा गया। सन् 1652 ई. में उसने आक्सफोर्ड के क्राइस्ट चर्च कॉलेज में प्रवेश लिया जहां उसने सन् 1656 में बी.ए. तथा 1658 में 26 वर्ष की उम्र में एम. ए. की डिग्री प्राप्त की। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में एम.ए. करने के बाद वह वहीं यूनानी भाषा, काव्यशास्त्र और दर्शन का अध्यापक नियुक्त किया गया, परन्तु इस कार्य में उसका मन नहीं लगा और उसने बिशप के रूप में चर्च में प्रवेश पाने का प्रयास किया, किन्तु चर्च के कठोर नियमों का पालन करना उसकी क्षमता से बाहर था। अतः उसने सन् 1660 ई. के बाद ऑक्सफोर्ड के प्रसिद्ध चिकित्सक डेविड टॉमस से चिकित्साशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया और शीघ्र ही वह एक कुशल डाक्टर बन गया।

सन् 1666 ई. में एक ऐसी घटना घटित हुई जिसने लॉक के भविष्य को एक नया मोड़ दिया। उस समय के एक सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और बिग दल के संस्थापक लार्ड एश्ली जो बाद में अर्ल ऑफ शेफ्ट्सबरी के नाम से पुकारे गये, उसने इलाज के लिए डॉ. टामस के पास ऑक्सफोर्ड आये। डॉ. टामस द्वारा लॉक का परिचय एश्ली से हुआ और वे जॉन लॉक से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने लॉक को लन्दन आकर उसे उनका निजी डॉक्टर बनने को कहा। जॉन लॉक ने सन् 1667 में लार्ड एश्ली के निजी डाक्टर तथा निजी सचिव के रूप में कार्य प्रारम्भ किया और आगामी 15 वर्षों तक वह इस पद पर कार्य करता रहा। लॉर्ड एश्ली पार्लियामेण्ट की ओर से राजा के विरुद्ध लड़ने वाली सेनाओं के फील्ड मार्शल, संसद के अधिकारों के प्रबल समर्थक और उदारवाद के परम भक्त राजनीतिज्ञ थे। उनके सम्पर्क में रहने लॉर्ड लॉक को ब्रिटिश राजनीति और राजनीतिज्ञों को निकट से देखने का अवसर मिला। 1672 में एश्ली लॉर्ड चांसलर बने तब लॉक ने उनकी कृपा से कतिपय महत्वपूर्ण शासकीय पदों को भी सुशोभित किया। जब राजा ने एश्ली को लॉर्ड चांसलर के पद से सन् 1673 में अपदस्थ कर दिया तो लॉक को भी अपने पद से हाथ धोना पड़ा। इन दिनों लॉक का स्वास्थ्य ठीक नहीं था, अतः वह अपने इलाज के लिए सन् 1675 में फ्रांस चला गया और चार वर्षों तक वहीं रहा। सन् 1679 में राजा ने एश्ली को उसके पुराने पद पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिया तब लॉक भी वापस इंगलैण्ड आकर उसके साथ करने लगा, किन्तु 1681 ई. में राजा पुनः एश्ली से रुष्ट हो गया। क्योंकि वह प्रोटेस्टेण्ट धर्मावलम्बी व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठाने के षड्यन्त्र में संलग्न था। उसे इंगलैण्ड छोड़कर हालैण्ड भागना पड़ा। हालैण्ड में जब उसे यह आशंका हुई कि वहां की सरकार उसे पकड़कर ब्रिटिश सरकार को सौंप देगी तो वह वेश बदलकर और छिपकर रहने लगा। एश्ली ने जाने के बाद लॉक भी इंगलैण्ड में भयभीत रहने लगा, अतः वह भी भागकर हालैण्ड चला गया और सन् 1679 ई. तक वहीं रहा। तत्कालीन स्टुअर्ट वंशी राजा को गद्दी से उतारने तथा विलियम ऑफ ऑरेंज को गद्दी पर बिठाने के षड्यन्त्र में लॉक ने भी सक्रिय रूप से भाग लिया। 1688 ई. की क्रान्ति के सफल होने तथा विलियम को इंगलैण्ड बुलाये जाने पर लॉक भी उसी जहाज से इंगलैण्ड लौटा जिस जहाज से विलियम की पत्नी मेरी इंगलैण्ड आयी। विलियम ने राजगद्दी पर बैठने पर लॉक को उसकी सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप 'कमिश्नर ऑफ अपील्स' का पद दिया जिसे लॉक ने स्वीकार कर लिया। सन् 1700 ई. में स्वास्थ्य की दुर्बलता के कारण उसने सरकारी पद त्याग दिया। सन् 1704 में 72 वर्ष की अवस्था में उसका निधन हो गया।

8.3 प्रमुख रचनाएँ

जॉन लॉक की गणना इंगलैण्ड के महान लेखकों में की जाती है। उसने राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, शिक्षा, दर्शन, विज्ञान, आदि विभिन्न विषयों पर 30 से भी अधिक ग्रन्थ लिखे राजनीतिशास्त्र के सम्बन्ध में उसके महत्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं–

1. मनुष्य स्वभाव के सम्बन्ध में निबन्ध
2. शासन पर दो निबन्ध
3. सहिष्णुता पर पहला पत्र
4. सहिष्णुता पर दूसरा पत्र
5. सहिष्णुता पर तीसरा पत्र
6. शिक्षा से सम्बन्धित कतिपय विचार
7. कैरोलिना का मौलिक संविधान

इन सभी रचनाओं में से 'शासन पर दो निबन्ध' लॉक की महत्वपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थ के बारे में प्रो. वाहन ने लिखा है कि दोनों निबन्ध एक दुनाली बन्दूक की तरह हैं जिसमें एक नली फिल्मर की ओर और दूसरी हॉब्स की ओर निशाना साधे हुए है। पहले निबन्ध में फिल्मर द्वारा प्रतिपादित राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धांतों जोरदार खण्डन किया गया है। फिल्मेर के अनुसार प्राचीनतम सम्राट कुलों के पिता थे। ईश्वर ने आदम को, अपनी सन्तति के ऊपर पूरा अधिकार दिया। यह अधिकार पितृसत्तात्मक और राजतन्त्रात्मक था। राजतन्त्रात्मक शासन पितृसत्तात्मक होने के कारण स्वाभाविक और ईश्वर प्रदत्त है। उसने यह भी बताया कि इंगलैण्ड के स्टुअर्ट राजाओं के अधिकार वंशानुक्रम ढंग से, आदम से ही निःसृत हैं। राजाओं के दैवी अधिकारवाद और पितृसत्तात्मक अधिकारवाद का इस प्रकार फिल्मर ने समर्थन किया था। दूसरे निबन्ध में लेवियाथन में हॉब्स द्वारा प्रतिपादित निरंकुशतावाद का विरोध किया गया है। वस्तुतः लॉक के ग्रन्थ का उद्देश्य निरंकुशतावाद के आधारों का खण्डन करना और यह सिद्ध करना था कि 1688 की रक्तहीन क्रान्ति से राजा विलियम को प्राप्त राजसत्ता जनता की सहमति पर आधारित थी।

8.4 लॉक के चिन्तन को प्रभावित करने वाले तत्व एवं परिस्थितियाँ

लॉक का समय राजनीतिक दृष्टि से उथल–पुथल का समय था। वह उस समय की परिस्थितियों, घटनाओं और विचारकों से प्रभावित हुआ। सर्वप्रथम वह 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति की घटना से प्रभावित हुआ। नवम्बर 1688 में राजकुमार विलियम तथा रानी मेरी का इंगलैण्ड में स्वागत किया गया और दिसम्बर में जेम्स द्वितीय ने वहां से भागकर फ्रांस में शरण ली। इस प्रकार रक्तहीन क्रान्ति पूरी हो गयी और 'बिल ऑफ राइट' राजसत्ता का नया अधिकार पत्र पार्लियामेण्ट द्वारा 1689 में पारित कर दिया गया। इस अधिकार पत्र के आधार पर राज्य की सम्प्रभुता पार्लियामेण्ट में निहित मान ली गयी और राजा को उसके अधीन करके उसके उत्तराधिकार के नियमों को निर्धारण कर दिया गया। वित्त और सेना को संसद के अधीन करके उसके वार्षिक अधिवेशन को अनिवार्य बना दिया गया जिससे भविष्य में कोई भी राजा उसकी अवहेलना नहीं कर सके। द्वितीय, हूकर के दर्शन से लॉक अत्यधिक प्रभावित हुआ है। हूकर का कहना था कि सरकार सामाजिक हित की प्रतिनिधि है और इसलिए वह समुदाय के प्रति उत्तरदायी है। लॉक द्वारा प्रतिपादित सहमति की अवधारणा का आधार हूकर का विचार दर्शन ही है। तृतीय, हॉब्स के व्यक्तिवादी विचारों ने भी लॉक को प्रभावित किया है। कोई भी अंग्रेज बिना व्यक्तिगत हित की भावना के सामाजिक हित को मान्य नहीं करता। समाज को व्यक्तियों के समूह के रूप में ही स्वीकार करते हैं और सामाजिक हित को व्यक्तिगत हितों का संग्रह। राज्य की रचना हॉब्स के दर्शन में व्यक्तिगत हित के लिए गयी। इस व्यक्तिगत हित के प्रलोभन का संवरण शायद लॉक भी नहीं कर सकते थे विशेषकर ऐसे युग में जब व्यक्ति की उपेक्षा समाज कर नहीं सकता था और कोई भी सिद्धांत लोगों की दृष्टि में तब तक मान्य नहीं होता था जब तक व्यक्ति उसमें अपना निजी हित देख लेता था। लॉक के सिद्धांत को इसीलिए कुछ लोग हूकर और हॉब्स के दर्शन का योग मानते हैं यद्यपि वह केवल इतना ही नहीं है।

8.5 जॉन लॉक की अध्ययन पद्धति

जहाँ हॉब्स की पद्धति दार्शनिक, तार्किक एवं चिन्तनात्मक है, वहां लॉक की पद्धति अनुभववादी एवं विवेकवादी है। उसकी मान्यता है कि अनुभव ज्ञान का स्त्रोत है। अनुभव के बिना ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती है। लॉक के अनुसार मनुष्य के मस्तिष्क में जन्मजात कोई विचार नहीं होता। जन्म के समय मनुष्य का मस्तिष्क एक कोरे कागज की तरह होता है, जो भी विचार मनुष्य के मस्तिष्क में उठते हैं, वे अनुभव द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। सभी विचारों की उत्पत्ति दो स्त्रोतों से होती है–(1) संवेदना से और (2) प्रत्यक्ष बोध से। इन स्त्रोतों द्वारा प्राप्त अनुभव मनुष्य के मस्तिष्क में प्रवेश करता है तो बुद्धि द्वारा उसका विश्लेषण किया जाता है। इसके फलस्वरूप जटिल विचारों की उत्पत्ति होती है। ये जटिल विचार स्वयं ज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञान के साधन होते हैं। ज्ञान तब उत्पन्न होता है जब कि बुद्धि अपने विचारों की

परस्पर तुलना करती है। इस सिद्धांत के द्वारा लॉक ज्ञान की उत्पत्ति के विवेक मूलक तत्व का प्रतिपादन करता है। चूंकि विचरों के द्वारा ज्ञान होता है और सभी विचारों की उत्पत्ति अनुभव से होती है, इसलिए अनुभव से परे किसी ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती है। अपने इसी विचार के कारण लॉक को अनुभववाद का प्रतिपादक कहा जाता है। संक्षेप में लॉक की अनुभववादी होती है क्योंकि वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्त होता है जबकि बुद्धि विचारों में पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना करती है। तृतीय, मनुष्य के ज्ञान का क्षेत्र उसके अज्ञान के क्षेत्र से बहुत छोटा होता है। लॉक के अनुसार मनुष्य एक ससीम प्राणी है जो इस अनन्त असीम ब्रह्माण्ड की सभी बातों को जान नहीं सकता है। अतएव मनुष्य का ज्ञान उसके अज्ञान की तुलना में स्वल्प है।

8.6 जॉन लॉक का सामाजिक समझौता सिद्धांत

सामाजिक समझौता सिद्धांत को वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित करने वाले दार्शनिकों में हॉब्स और रूसो के साथ–साथ जॉन लॉक का नाम भी उल्लेखनीय है। लॉक के सामाजिक समझौते का सार है कि निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना और पार्लियामेण्ट की अन्तिम सत्ता को स्वीकार करना नितान्त न्यायसंगत था। लॉक के समझौता सम्बन्धी विचार हॉब्स के विचारों से मेल नहीं खाते। उसके समझौता सम्बन्धी विचारों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है–

8.6.1 मानव स्वभाव की धारणा

हॉब्स की भांति लॉक ने भी मानव स्वभाव की व्याख्या की है, किन्तु हॉब्स ने मनुष्य में केवल पाशविक प्रवृत्तियों को देखा जबकि लॉक उसके मानवीय गुणों पर बल देता है। लॉक के अनुसार मनुष्य की प्रमुख विशेषता बुद्धिमान तथा विचारवान प्राणी होना है। वह अपनी विवेक बुद्धि से एक नैतिक व्यवस्था की सत्ता स्वीकार करता है और इसके अनुसार कार्य करना अपना कर्तव्य समझता है। उसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से ही एक ऐसा सामाजिक प्राणी है जो पारस्परिक सहयोग, प्रेम, दया और सद्भावना के आधार पर दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध रखते हुए अपना जीवन व्यतीत करता है।

हॉब्स और लॉक के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों में बुनियादी अन्तर है। हॉब्स का मनुष्य कोरा जंगली पशु है जबकि लॉक का मनुष्य एक नैतिक प्राणी है; हॉब्स का मनुष्य भौतिकवादी है जबकि लॉक का मनुष्य कर्तव्य की पुकार सुनता है; हॉब्स का मनुष्य घोर स्वार्थी है जबकि लॉक का मनुष्य परोपकारी भी है; हॉब्स का मनुष्य झगड़ालू है जबकि लॉक का मनुष्य शान्तिप्रिय है।

8.6.2 प्राकृतिक अवस्था

हॉब्स ने मनुष्य को घोर स्वार्थी बतलाया था तथा प्राकृतिक अवस्था दो तदनुसार सतत संघर्ष और युद्ध की दशा माना था, परन्तु लॉक ने मनुष्य की स्वभावतः परोपकारी, दयालु, सहयोगी व समाजप्रिय माना है तथा उसी के अनुसार प्राकृतिक अवस्था की कल्पना भी इस प्रकार की है जिसमें मनुष्य पारस्परिक युद्ध की अवस्था में न रहकर पारस्परिक सहयोग की अवस्था में रहते हैं।

लॉक की प्राकृतिक अवस्था की कई विशेषताएँ हैं–प्रथम, प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य समान हैं क्योंकि सभी सृष्टि के एक ही स्तर पर और सब एक ही सर्वशक्तिमान और अनन्त बुद्धि–सम्पन्न सृष्टा की कृतियाँ हैं। द्वितीय, प्राकृतिक अवस्था शान्ति व पारस्परिक सद्भावना पर आधारित होने के कारण सभी व्यक्ति समान व स्वतन्त्र माने जाते हैं, कोई किसी को हानि पहुंचाने का प्रयत्न नहीं करता, सब समान रूप से प्राकृतिक समाज के लाभों को प्राप्त करते हैं और कोई किसी के अधीन नहीं होता। तृतीय, प्राकृतिक अवस्था में लोग पूर्णतः स्वतन्त्र होते हैं, किन्तु ये स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता या स्वेच्छाचारिता नहीं हैं क्योंकि प्राकृतिक अवस्था का नियन्त्रण प्राकृतिक नियमों के द्वारा होता है। बुद्धि पर आधारित नैतिक नियम ही प्राकृतिक नियम हैं। उदाहरणार्थ, दूसरे की हत्या करना प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल है क्योंकि इसका ज्ञान हमें इस प्रकार के तर्क से होता है, जैसे व्यक्ति अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकार नहीं रखता, वैसे ही वह दूसरों के जीवन को भी नष्ट कर सकता। वह जो व्यवहार अपने लिए नहीं चाहता उसे वैसा व्यवहार दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए।

लॉक के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था में तीन प्रकार के अधिकार प्राप्त थे–

(1) जीवन का अधिकार,

(2) स्वतन्त्रता का अधिकार,

(3) सम्पत्ति का अधिकार।

(1) जीवन का अधिकार–लॉक के अनुसार आत्मसंरक्षण मनुष्य की सबसे प्रबल आकांक्षा है और उसकी सब क्रियाओं का प्रधान प्रेरक तत्व है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किये जाने वाले बुद्धि संगत कार्य मनुष्य के विशेषाधिकार हैं। अर्थात् लॉक के अनुसार अपना जीवन सबको प्यारा है और उसको सुरक्षित रखना सबका प्राकृतिक अधिकार है।

(2) स्वतन्त्रता का अधिकार—लॉक के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छाचारिता नहीं हैं। लॉक के शब्दों में अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करना तथा किसी की इच्छा के अनुसार कार्य करने को बाध्य न होना प्राकृतिक अवस्था की स्वतन्त्रता है। जबकि प्राकृतिक नियमों के द्वारा स्थापित नैतिक व्यवस्था के अनुसार कार्य करना ही स्वतन्त्रता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को नैतिक सीमाओं में रहते हुए अपनी स्वतन्त्रता के उपभोग करने का प्राकृतिक अधिकार प्राप्त है।

(3) सम्पत्ति का अधिकार—लॉक के अनुसार सम्पत्ति का अधिकार एक महत्वपूर्ण अधिकार है। इसमें जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार भी सम्मिलित हैं। लॉक के अनुसार जिस चीज को मनुष्य ने अपने शारीरिक श्रम द्वारा प्राप्त किया है उस पर उसका प्राकृतिक अधिकार है। उसने बताया कि ईश्वर ने भूमि और उसकी सभी वस्तुएँ सब व्यक्तियों को सामूहिक रूप से प्रदान की हैं। व्यक्ति का शरीर ही उसके पास ऐसी सम्पत्ति है जिस पर उसका एकमात्र अधिकार होता है। जब व्यक्ति अपने शारीरिक श्रम को ईश्वर प्रदत्त सामूहिक वस्तुओं के साथ मिश्रित करता है तो वह उन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति का निर्माण होता है। उसके अनुसार व्यक्ति का सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार आदिम समाज से, जिसे उसने प्राकृतिक अवस्था कहा, पहले का है। उसके मत को स्पष्ट करते हुए सेबाइन ने लिखा है, "यह एक ऐसा अधिकार है जो प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अभिन्न भाग के रूप में लेकर समाज में आता है।"

8.6.3 प्राकृतिक अवस्था की असुविधाएँ

यद्यपि लॉक की प्राकृतिक अवस्था इस विवेक जनित प्राकृतिक नियम पर आधारित है कि 'तुम दूसरों के प्रति वही बर्ताव करो, जिसकी तुम दूसरों से अपने प्रति आशा करते हो।' यह प्राकृतिक अवस्था स्वर्ण युग की अवस्था है क्योंकि यह अवस्था पारस्परिक संघर्ष की अवस्था नहीं थी, इसमें शान्ति और विवेक का आधिक्य था।

प्राकृतिक अवस्था के स्वर्णिम चित्रण के बावजूद लॉक के अनुसार उसमें 3 कठिनाइयाँ थीं :

(i) प्रथम, प्राकृतिक अवस्था की एक कठिनाई यह है कि उसमें ऐसी कोई निश्चित, प्रकट एवं सर्वसम्मत विधि नहीं होती, जिसके द्वारा उचित–अनुचित तथा मतभेदों का निर्णय हो सके।

(ii) दूसरी कठिनाई यह है कि प्राकृतिक नियम या विधान को तथा इसके अनुरूप निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए प्राकृतिक दशा में कोई साधन या संस्था नहीं होती।

(iii) तीसरी कठिनाई यह है कि इसमें सब व्यक्तियों को न्याय करने और दण्ड देने का अधिकार होता है, अर्थात् दण्ड देने वाली कोई निष्पक्ष सत्ता नहीं होती।

प्राकृतिक अवस्था की उपरोक्त तीन असुविधाओं को दूर करने की दृष्टि से मनुष्यों ने एक सामाजिक समझौते या संविदा द्वारा राज्य का निर्माण किया। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि लॉक के अनुसार राजसत्ता की स्थापना मनुष्यों के पारस्परिक भय से छुटकारा पाने के उद्देश्य से नहीं होती वरन् प्राकृतिक अवस्था में रहने की कुछ कठिनाइयों के निवारण के उद्देश्य से होती है।

8.6.4 सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति

प्राकृतिक अवस्था की उपर्युक्त असुविधाओं को दूर करने के लिए लॉक के मतानुसार मनुष्यों ने एक समझौता किया। सब मनुष्यों के समान होने के कारण यह समाज के सब मनुष्यों का सब मनुष्यों के साथ किया जाने वाला अनुबन्ध था, अतएव इसे सामाजिक अनुबन्ध कहते हैं। इसमें सभी व्यक्तियों ने भाग लिया था। इसमें प्रत्येक व्यक्ति ने अपने केवल प्राकृतिक कानून को लागू करने का तथा उसका उल्लंघन के लिए दण्ड देने का अधिकार सारे समाज को अर्पित कर दिया, शेष सभी प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के जो प्राकृतिक अवस्था में थे, वह उसने प्रदान नहीं किये। इस तरह जो शक्ति समाज को प्रदान की गयी वह सीमित थी। इस संविदा से 'सिविल समाज' उत्पन्न हुआ और यह प्राथमिक संविदा थी। इसके उपरान्त एक दूसरी गौण संविदा के माध्यम से शासन की स्थापना की गयी। शासन की स्थापना एक साधन के रूप में की गयी जिससे राजनीतिक समाज के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों को कानूनी रूप देने के लिए तथा इन कानूनों को दण्ड व भय से कार्यान्वित करने के लिए शासन स्थापित किया गया। लॉक के समझौते की व्याख्या करते हुए डॉ. आशीर्वादम ने लिखा है–"लॉक ने जिन दो संविदाओं की चर्चा की है उनमें से पहली संविदा द्वारा नागरिक समाज की व दूसरी द्वारा सरकार की स्थापना होती है, अर्थात् पहली संविदा जनता के बीच हुई थी और दूसरी की ओर समूची जनता तथा दूसरी ओर शासक के बीच हुई। पहले समझौते द्वारा समाज को जो अधिकार व्यक्तियों ने सौंपे, वे समाज द्वारा (दूसरा समझौता होने पर) सरकार को प्रदान कर दिये जाते हैं। सरकारी समझौते में चूंकि सरकार भी एक पक्ष होती है, अतः उसके ऊपर समाज द्वारा कुछ शर्त लगा दी जाती है जिनका पालन यदि सरकार नहीं करती तो उसे समाप्त कर नयी सरकार का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार लॉक ने एक सीमित उत्तरदायी सरकार की कल्पना की थी।

8.6.5 लॉक के सामाजिक समझौते की विशेषताएँ

लॉक के सामाजिक समझौते की वेपर द्वारा निम्नलिखित विशेषताएँ बतलायी गयी हैं:

- यह समझौता सभी व्यक्तियों की सहमति पर आधारित होता है। कोई व्यक्ति इस नवीन समाज में सहमति के बिना प्रविष्ट नहीं हो सकता। 'सहमति की दुनिया में प्रत्येक वैध सरकार का निर्माण करती है। जो व्यक्ति सहमति प्रदान नहीं करते वे प्राकृतिक अवस्था में बने रहते हैं और समुदाय का उन पर उत्तरदायित्व नहीं रहता।
- यह समझौता एक बार हो जाने के बाद कभी रद्द नहीं हो सकता है। अर्थात् एक बार समझौता हो जाने के बाद इसे कभी भंग नहीं किया जा सकता है। लॉक के अनुसार, जिसने इस समझौते को स्वीकार कर लिया है, उसे प्राकृतिक दशा में लौटकर जाने की कभी स्वतन्त्रता नहीं है।
- यह एक ऐसा समझौता है जिसे प्रत्येक पीढ़ी को मानना चाहिए क्योंकि जन्म के समय कोई भी बालक किसी देश या सरकार के अधीन नहीं होता। वह यह मानता है कि राज्य के प्रत्येक नागरिक के बच्चे सर्वथा स्वतन्त्र रूप में पैदा होते हैं, इन्हें इस बात की पूरी स्वाधीनता है कि वे उस राज्य में सम्मिलित होने या न होने की सहमति प्रदान करें और यदि वे ऐसा नहीं करते तो उस राज्य से बाहर जाने पर वे अपनी पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित हो जायेंगे।
- लॉक के सामाजिक समझौते में व्यक्ति अपने केवल कुछ ही अधिकारों का परित्याग करते हैं, अपने सभी अधिकारों का नहीं। ये अधिकार हैं–प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने, उसे कार्य रूप देने तथा उल्लंघनकारी को दण्ड देने के अधिकार। वह अपना अधिकार किसी एक व्यक्ति को नहीं, समस्त जनसमुदाय को सौंपता है। अर्थात् ये अधिकार वैयक्तिक धरातल से हटकर सम्पूर्ण राजनीतिक समाज में निहित हो गये।
- इस समझौते द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अन्त होता है न कि प्राकृतिक कानून का। राज्य के अन्तर्गत भी मानव प्राकृतिक कानून के अधीन उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार कि वह प्राकृतिक अवस्था में रहता था। लॉक के शब्दों में "प्राकृतिक कानून के बन्धन समाज में समाप्त नहीं हो जाते।"
- यह समझौता राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है। यह समझौता एक ट्रस्ट (न्यास) के निर्माण का पहला चरण है। ट्रस्ट या समाज का निर्माण करने के बाद सरकार का निर्माण होता है। इसीलिए वाहन का मत है कि लॉक ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, फिर भी वह दो प्रकार के समझौते मानता है–पहला समझौता प्राकृतिक दशा को समाप्त करके उसके स्थान पर सभ्य नागरिक समाज की स्थापना करता है। इसके बाद दूसरे समझौते द्वारा व्यक्ति राज्य का निर्माण करते हैं। जहां प्रथम समझौता व्यक्तियों में परस्पर होता है, वहां दूसरा समझौता नागरिक समुदाय और सरकार के बीच होता है।

इसके विपरीत, बार्कर जैसे विद्वानों का मत है कि लॉक के अनुसार सिर्फ एक समझौता होता है, दो नहीं उनके अभिमत में लॉक यह पूर्णतः स्पष्ट कर देता है कि समझौता सरकार के साथ नहीं होता, क्योंकि सरकार की उत्पत्ति तो समझौते के बाद होती है। समझौते से तो सिर्फ नागरिक समुदाय का जन्म होता है, सरकार का नहीं। समझौते द्वारा सरकार की स्थापना से सरकार को विशेष गरिमा और अत्यधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है, जो लॉक की दार्शनिक धारणा के विपरीत है क्योंकि लॉक का उदारबाद अधिक शक्तिशाली सरकार का विरोधी है।

8.6.6 हॉब्स तथा लॉक के समझौते में तुलना

हॉब्स और लॉक दोनों ही समझौतावादी विचारक है। यदि हम दोनों के समझौता सम्बन्धी विचारों की तुलना करते हैं तो उनमें समानताएं और असमानताएं दोनों दिखलायी पड़ती है। दोनों के विचारों में निम्नलिखित समानताएं हैं– (i) दोनों के समझौते सामाजिक है, (ii) दोनों के समझौतों में सरकार भाग नहीं लेती, (iii) दोनों के समझौते प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं, तथा (iv) दोनों समझौतों द्वारा राजा के दैवी अधिकार का खण्डन करते हैं।

इन समानताओं के बावजूद हॉब्स और लॉक के समझौता सम्बन्धी विचारों में आकाश–पाताल का अन्तर है। डनिंग के अनुसार हॉब्स ने समझौते के आधार पर सरकार की सत्ता को निरंकुश बनाया था, किन्तु लॉक ने इसी सिद्धान्त द्वारा उस पर अनेक मर्यादाएं और प्रतिबन्ध लगाये। दोनों समझौतों में प्रमुख अन्तर इस प्रकार हैं–

- हॉब्स का सामाजिक समझौता प्राकृतिक अवस्था में स्वार्थी, एकाकी और पाशविक जीवन बिताने वाले मनुष्यों द्वारा सम्पन्न हुआ। दूसरी तरफ लॉक का समझौता ऐसे मनुष्यों द्वारा सम्पन्न हुआ जो कतिपय असुविधाओं के बावजूद एक सामाजिक जीवन बिताते थे।
- हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में सतत् संघर्ष से उत्पन्न अराजकता को दूर करने के लिए सामाजिक समझौते की आवश्यकता होती है। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में प्रमुख रूप से तीन असुविधाएं थीं–

प्राकृतिक नियम स्पष्ट नहीं थे, प्राकृतिक नियमों की व्याख्या करने वाली और इन नियमों को लागू करने वाली सत्ता का अभाव था। अतः इन असुविधाओं को दूर करने के लिए ही समझौता करने का निश्चय किया गया।

- हॉब्स ने अपने सामाजिक समझौते को एक ऐसे प्राकृतिक अवस्था पर आधारित किया है जिसकी ऐतिहासिकता का ठोस प्रमाण नहीं मिलता। अतः उसका समझौता दार्शनिक है, ऐतिहासिक नहीं लेकिन लॉक का सामाजिक समझौता दार्शनिक होने के साथ–साथ एक ऐतिहासिक तथ्य भी है। लॉक के शब्दों में, "जिन राज्यों की उत्पत्ति के ऐतिहासिक लेख प्राप्त हैं। उनसे समझौते सिद्धान्त की पुष्टि होती है।"रोम, वेनिस और स्पार्टा के उदाहरणों से लॉक ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि की है।
- हॉब्स ने समझौते की धारणा द्वारा निरकुंश राजतंत्र का समर्थन किया जबकि लॉक ने सीमित अथवा वैधानिक राजतंत्र का।
- हॉब्स का समझौता जनता की उपेक्षा करता है तथा सम्प्रभु का पक्ष लेता है। दूसरी तरफ लॉक का समझौता अधिकांशतः जनता का पक्ष लेता है। यद्यपि इसमें सरकार शामिल नहीं होती, परन्तु लॉक ने उसे प्राकृतिक कानून तथा व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों से मर्यादित तथा नियन्त्रित रखा है।
- हॉब्स का सामाजिक समझौता प्राकृतिक कानून का अन्त करके नागरिक विधि–व्सवस्था को जन्म देता है, परन्तु लॉक के सामाजिक समझौते से प्राकृतिक कानून पर कोई भी प्रतिकूल असर नहीं पड़ता। नागरिक समाज में भी प्राकृतिक कानून ज्यों का त्यों बना रहता है तथा वह शासन एवं जनता दोनों को नियन्त्रित करता है।

8.6.7 लॉक के सामाजिक समझौते की आलोचना

लॉक के सामाजिक समझौते की निम्नलिखित आलोचना की जाती है–

- लॉक ने बार–बार मूल समझौता शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु उसने कहीं भी स्प्ष्ट नहीं किया है कि मूल समझौते से उसका तात्पर्य क्या है। इसीलिए वाहन तथा सेबाइन जैसे विद्वानों ने कहा है कि लॉक के अनुसार दो समझौते होते हैं–प्रथम अर्थात् मूल समझौते से प्राकृतिक अवस्था को समाप्त कर राज्य का निर्माण किया जाता है एवं दूसरे समझौते से सरकार की स्थापना की जाती है।
- लॉक के समझौता सम्बन्धी विचार सुस्पष्ट एवं तर्कसंगत नहीं हैं। उसके समझौता सम्बन्धी विचारों से कुछ विचारकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि समझौते दो हुए, जबकि बार्कर जैसे विद्वानों का मत है कि लॉक के अनुसार सिर्फ एक समझौता होता है।
- लॉक समझौते का आधार सहमति को मानता है, परन्तु इतिहास में ऐसे भी राज्यों का उल्लेख मिलता है जो बल व शक्ति के आधार पर बने और नष्ट हुए।
- लॉक ने एक और समझौते को सर्वसम्मति से सम्पन्न कराया है, परन्तु दूसरी ओर बहुमत के शासन सिद्धांत का समर्थन करता है। अतः लॉक के विचारों में विरोधाभास पाया जाता है।
- लॉक ने प्राकृतिक अवस्था में जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों के अस्तित्व की बात कही है। राजनीतिक समाज के निर्माण से पूर्व अधिकारों का अस्तित्व मात्र काल्पनिक है।

8.6.8 लॉक के अनुसार राज्य : विशेषताएँ

लॉक ने अनुसार राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते द्वारा हुई है। प्राकृतिक जीवन की असुविधाओं और कठिनाइयों को दूर करने के लिए सामाजिक समझौते के माध्यम से राज्य का निर्माण किया गया।

प्राकृतिक अवस्था की तीन बड़ी कमियाँ थीं–प्राकृतिक कानून अस्पष्ट थे, निष्पक्ष न्यायाधीश तथा कानूनों के क्रियान्वयन करने वाली शासन सत्ता का अभाव था। इन अभावों की पूर्ति करके व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षित बनाना ही राज्य का प्रधान लक्ष्य है। अतः लॉक के अनुसार समझौते द्वारा निर्मित राज्य तीन कार्य करता है। प्रथम, वह प्राकृतिक कानून की व्याख्या द्वारा व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित करता है; दूसरा, कानून को लागू करते हुए वह शासन का संचालन करता है और राज्य का तीसरा कार्य विधायिका द्वारा बनाये गये कानूनों का उल्लंघन करने वाले अपराधियों को दण्ड देना है। यह कार्य न्याय विभाग और न्यायाधीशों द्वारा होता है।

लॉक ने सामाजिक समझौते के आधार पर जिस राज्य की स्थापना की है और उसके द्वारा अपने ग्रन्थों में राज्य पर जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनके आधार पर उसके राज्य की विशेषताओं का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है।

1. राज्य सहमति पर आधारित– लॉक का राज्य जन सहमति पर आधारित है। लॉक ने समझौते में केवल उन्हीं व्यक्तियों को शामिल किया है जो समुदाय या राज्य निर्माण के सम्बन्ध में सहमत हैं। जो व्यक्ति राज्य में नहीं रहना

चाहते वे अपनी प्राकृतिक अवस्था में पूर्ववत बने रहते हैं। इस तरह यह स्पष्ट है कि जो लोग समझौते में शामिल होते हैं वे सर्वसम्मति से राज्य का निर्माण करते हैं।

2. राज्य जन कल्याण का एक साधन– लॉक की विचारधारा के अन्तर्गत व्यक्ति को साध्य और राज्य को मात्र एक साधन की स्थिति प्रदान की गयी है। राज्य व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं। वह बार–बार इस बात पर बल देता है कि शासन का लक्ष्य समुदाय की भलाई करना है। वस्तुतः राज्य रूपी यन्त्र का निर्माण उसके नागरिकों की भलाई के लिए हुआ है। आदर्शवादी विचारकों की भांति लॉक राज्य को किसी प्रकार की रहस्यात्मक श्रेष्ठता प्रदान नहीं करता, वह तो व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा का एक साधन मात्र है।

3. सीमित और मर्यादित राज्य– लॉक का राज्य सीमित और मर्यादित है न कि निरंकुश। लॉक का राज्य निरंकुश नहीं हो सकता क्योंकि उस पर बहुत सी सीमाएँ हैं। पहली सीमा तो यह है कि राज्य अपनी सत्ता जनता से ग्रहण करता है और दूसरी यह कि राज्य को यह सत्ता या अधिकार न्यास के रूप में कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिया जाता है। उसके मतानुसार, "मनुष्यों द्वारा राज्य के निर्माण का उद्देश्य सम्पत्ति का संरक्षण है।" अतः राज्य कभी भी नागरिकों की सम्पत्ति का अपहरण नहीं कर सकता एवं कभी भी ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता जो इस मूल उद्देश्य के प्रतिकूल हो। राज्य तो इस उद्देश्यरूपी न्यास का संरक्षक है। 'ट्रस्ट' और 'ट्रस्टी' में यह भाव निहित है कि सरकार की शक्तियाँ सीमित हैं और यदि सरकार ट्रस्ट की सीमाओं का उल्लंघन करती है तो समाज को अधिकार है कि वह सरकार को भंग कर दे। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति को धर्मशाला या मन्दिर बनवाने के लिए रुपया दिया जाता है तो वह इसका व्यय मनमाने ढंग से किसी तीसरे कार्य में नहीं कर सकता। इसी प्रकार राज्य अपनी समूची शक्ति और अधिकारों का प्रयोग केवल नागरिकों के अधिकारों की रक्षा और हित के लिए कर सकता है। जिस प्रकार धन का दुरुपयोग करने पर ट्रस्टी को अपने पद से हटा दिया जाता है, उसी तरह राजसत्ता भी यदि अपने अधिकारों और कर्तव्यों का पालन न करे तो उसे पदच्युत किया जा सकता है।

4. वैधानिक राज्य– लॉक वैधानिक राज्य की अवधारणा का प्रतिपादन करता है जिसके अन्तर्गत 'विधि का शासन' को अपनाया गया है, मनमाने शासन को नहीं। लॉक की मान्यता है कि जहां मनुष्य अनिश्चित, अज्ञात एवं स्वेच्छाचारी इच्छा के अधीन रहते हैं, वहां उन्हें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव शासन का संचालन उद्घोषित, ज्ञात एवं स्थायी कानूनों द्वारा होना चाहिए, न कि बिना पूर्व योजनाओं की तत्क्षणकृत आज्ञप्तियों द्वारा। लॉक राज्य में विधि को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता है और शासक एवं शासित दोनों को समान रूप से उचित विधियों के पालन का निर्देश देता है। लॉक के शब्दों में जहां कानून का अन्त होता है वहां अत्याचार प्रारम्भ हो जाता है।' यद्यपि लॉक शासन द्वारा स्वविवेकी और संकटकालीन शक्तियों के प्रयोग को स्वीकार करता है, लेकिन उसका कथन है कि ये शक्तियाँ विधि के शासन की पूरक हैं, विकल्प नहीं। अतः शासक के द्वारा इन शक्तियों का प्रयोग अपवाद रूप में और विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए। संक्षेप में, वैधानिक राज्य का विचार लॉक की बहुत बड़ी देन है।

5. सहिष्णु राज्य– लॉक के राज्य की अन्य विशेषता सहिष्णुता है। उसका राज्य एक धर्म सहिष्णु राज्य है जो धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता। वह विभिन्न मतों का आदर करता है। उसके अनुसार धार्मिक विश्वास व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है और नागरिक सत्ता का सम्बन्ध सिर्फ बाहरी बातों से है, अन्तरात्मा से नहीं।

लॉक की मान्यता है कि राज्य में विभिन्न धर्मावलम्बियों के रहने से उसकी एकता नष्ट नहीं होती। राज्य की एकता तो तब खतरे में पड़ जाती है जब राज्य द्वारा बलपूर्वक जनसमुदाय पर धार्मिक एकरूपता लादने का प्रयास किया जाता है। फ्रेजर के शब्दों में "धार्मिक स्वतन्त्रता विषयक लॉक दार्शनिक संरक्षण सामाजिक राज्य व्यवस्था को उसके योगदानों में सबसे अधिक व्यापक है।"

यहां यह स्मरणीय है कि यद्यपि लॉक धार्मिक सहिष्णुता का प्रबल समर्थक है तथापि उसके अनुसार दो अपवाद हैं। प्रथम, राज्य को किसी ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय के विरुद्ध बल प्रयोग का अधिकार है जिसकी गतिविधियाँ अव्यवस्था पैदा करती हैं। द्वितीय, राज्य कैथोलिक, मुसलमानों तथा नास्तिकों के प्रति सहिष्णु नहीं रहेगा। कैथिलिकों के प्रति लॉक की असहिष्णुता का कारण उनकी विदेशी राज्यों के प्रति निष्ठा है; मुसलमान उसके मत में, ऐसे नैतिक नियम बनाते हैं जो अंग्रेजी सभ्यता के प्रतिकूल हैं और नास्तिकों से वह इसलिए घृणा करता है कि वे ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते।

6. निषेधात्मक राज्य– लॉक के राजनीतिक दर्शन में राज्य के कार्य निषेधात्मक हैं। राज्य केवल उन्हीं असुविधाओं और कठिनाइयों को दूर करने की कोशिश करता है जो प्राकृतिक अवस्था में थीं। वह केवल सुरक्षा, सुव्यवस्था और न्याय के तीन कार्य कर सकता है इनके अतिरिक्त लोगों को शिक्षा देने, उनका स्वास्थ्य सुधारने, उन्हें सुसंस्कृत और नैतिक बनाने का कार्य कोई राज्य नहीं कर सकता। वह नागरिकों की सम्पत्ति पर भी मनमाना कर नहीं लगा सकता क्योंकि सम्पत्ति की रक्षा के लिए ही राज्य की स्थापना हुई है।

निषेधात्मक होने पर भी लॉक का राज्य एक परिवर्तक या परिवर्तन का वाहक है जो कि स्वार्थ को परमार्थ में बदलने का कार्य करता है। यद्यपि वह नागरिकों के चरित्र को नहीं बदलता, तथापि वह उन्हें उस प्रकार के आचरण को अपनाने की प्रेरणा देता है, जिस प्रकार के आचरण की अपेक्षा ईश्वर को मनुष्यों से रहती है।

लॉक के राज्य सम्बन्धी विचारों की विशेषताओं से राज्य के उदारवादी स्वरूप की झांकी मिलती है। लॉक का राज्य उदारवादी है क्योंकि वह जन–सहमति पर आधारित है, वह जन–कल्याण का एक साधन है, वह सीमित है, वह वैधानिक, सहिष्णु और निषेधात्मक है।

8.7 लॉक के शासन सम्बन्धी विचार

लॉक के राजदर्शन में राज्य एवं सरकार के मध्य स्पष्ट अन्तर किया गया है। उसने राज्य और सरकार को एक नहीं माना है। उसके अनुसार सामाजिक समझौते से राज्य का निर्माण होता है न कि सरकार का। सरकार की स्थापना–लॉक के अनुसार सामाजिक समझौते के माध्यम से नागरिक समुदाय अथवा समाज की स्थापना हो जाने के बाद सरकार की स्थापना किसी समझौते द्वारा नहीं, बल्कि एक विश्वासजन्य न्यास द्वारा हुई।

समाज तथा सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध को सूचित करने के लिए लॉक ने संविदा के स्थान पर ट्रस्ट शब्द का प्रयोग इसलिए किया कि वह सरकार को समाज के अधीन रखना और इस बात पर जोर देना चाहता है कि सरकार जनहित के लिए स्थापित है और ट्रस्ट की अवहेलना करने पर उसे हटाया जा सकता है। लॉक के अनुसार राज्य एक समुदाय है जो लोगों के समझौते द्वारा संगठित किया जाता है पर सरकार वह है जिसे यह समुदाय अपने कर्तव्यों को व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए ट्रस्ट के रूप में निर्मित करता हैं हार्मोन के शब्दों में लॉक की इस ट्रस्ट धारणा के अनुसार, "सरकार को जनता के समान अधिकार प्राप्त नहीं हैं, सरकार के तो जनता के प्रति कर्तव्य ही हैं।" ट्रस्ट की स्थापना समुदाय के द्वारा अपने हित के लिए की गयी है, अतः सरकार का यह कर्तव्य है कि वह ट्रस्ट के अनुसार कार्य करे। यदि सरकार ट्रस्ट की मर्यादाओं का उल्लंघन करती है तो समुदाय को अधिकार प्राप्त है कि वह सरकार को भंग कर दे।

सरकार के कार्य–सरकार के कार्यों की चर्चा करते हुए लॉक ने कहा है कि, "मनुष्यों के राज्य में संगठित होने तथा अपने आपको सरकार के अधीन रखने का महान् एवं मुख्य उद्देश्य अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना है।" यहां लॉक ने सम्पत्ति शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया है और उसकी सम्पत्ति की धारणा के अन्तर्गत जीवन तथा स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए सरकार को तीन कार्य करने होते हैं। उसका प्रथम कार्य मानव जीवन को व्यवस्थित रखने और समस्त विवादों का निर्णय करने के लिए उचित–अनुचित, न्याय–अन्याय का मापदण्ड निर्धारित करना है अर्थात् प्राकृतिक कानून की सर्वमान्य व्याख्याएँ प्रस्तुत करना है। यह कार्य सरकार के व्यवस्थापक अंग का है। सरकार का दूसरा कार्य एक ऐसी निष्पक्ष शक्ति की स्थापना करना है जो कि स्थापित कानूनों के अनुसार व्यक्तियों के पारस्परिक विवादों पर निर्णय दे सके। इसे हम सरकार का न्यायिक कार्य कह सकते हैं। सरकार का तीसरा कार्य है दूसरे समाजों तथा दूसरे नागरिकों से समाज तथा उसके नागरिकों के हितों की रक्षा करना। युद्ध की घोषणा, शान्ति स्थापित करना, दूसरे राज्यों से सन्धि करना व न्यायपालिका के निर्णयों को क्रियान्वित करना इसके अन्तर्गत आते हैं। इन्हें सरकार के कार्यपालिका कार्य कहा जा सकता है।

सरकार के अंग–लॉक ने प्राकृतिक अवस्था की तीन प्रमुख असुविधाओं–सुस्पष्ट नियम बनाने वाली, उन्हें पालन कराने वाली तथा नियमों का उल्लंघन करने वालों को निश्चित दण्ड देने वाली सत्ता के अभाव के आधार पर नागरिक समाज में सरकार के तीन प्रमुख अंग माने हैं– (i) विधायिका, (ii) कार्यपालिका और (iii) संघीय शक्ति।

लॉक के अनुसार विधायिका सरकार का सर्वोच्च अंग है। इसे राज्य के हित में विधि निर्माण की शक्ति होती है। विधिके माध्यम से यह व्यक्तियों के उन प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करती है जिन्हें उन लोगों ने समझौतानुसार अपने पास रखे थे।

लॉक के अनुसार सरकार का दूसरा अंग कार्यपालिका को माना गया है। इसका प्रमुख कार्य विधायिका द्वारा निर्मित विधियों को लागू करना है। वह कार्य पालिका को विधि लागू करने के अतिरिक्त न्याय करने का भी अधिकार प्रदान करता है। वस्तुतः उसने न्यायपालिका को स्वतन्त्र अस्तित्व न प्रदान कर कार्यपालिका का ही अंग माना है।

लॉक के अनुसार शासन की तीसरी शक्ति संघीय शक्ति है जिसका कार्य दूसरे देशों के साथ संधियाँ करना है और विदेश नीति सम्बन्धी पहलुओं पर ध्यान देना है।

शक्ति पृथक्करण–लॉक का कथन है कि इन तीन कार्यों–विधायी, कार्यपालिका तथा न्यायिक–के सम्पादन के लिए पृथक्–पृथक् गुणों और शक्तियों की आवश्यकता होती है, इसलिए इन शक्तियों तथा कार्यों में पृथक्करण होना चाहिए। उसने विधायिका तथा कार्यपालिका में स्पष्ट और अनिश्चित पृथकता स्वीकार की और कार्यपालिका को विधायिका के अधीनस्थ बनाया। उसने इन दोनों शक्तियों के एकीकरण के प्रति अस्वीकृति प्रकट करते हुए लिखा कि "जिन व्यक्तियों के हाथ में विधि निर्माण की शक्ति होती है उनमें विधियों को क्रियान्वित करने की शक्ति अपने हाथ में ले लेने की प्रबल इच्छा हो सकती है क्योंकि शक्ति हथियाने का प्रलोभन मनुष्य की एक महान् दुर्बलता है।"

लॉक ने यह भी कहा कि कार्यपालिका का सत्र निरन्तर चलना चाहिए, लेकिन विधायिका के लिए ऐसी व्यवस्था का होना आवश्यक नहीं है। यद्यपि न्यायिक तथा कार्यपालकीय कार्यों में स्पष्ट भेद है तथापि लॉक ये दोनों ही कार्य एक ही अंग को सौंपने के लिए तैयार है क्योंकि ये दोनों अंग समाज की सशक्त शक्ति के आधार पर ही अपना कार्य कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में हारमोन ने लिखा है : "लॉक के युग में न्याय का कार्य भी कार्यपालिका के अधीन माना जाता था, अतः लॉक इसके लिए पृथक् न्यायपालिका की व्यवस्था नहीं बताता। निस्सन्देह वह पृथक् तथा निष्पक्ष न्याय व्यवस्था का समर्थन करता है, परन्तु न्यायपालिका के पृथक्करण तथा स्वतन्त्रता के सिद्धांत को नहीं मानता।" क्या लॉक शक्ति पृथक्करण सिद्धांत का प्रतिपादक है? इस सम्बन्ध में वेपर का मत है कि लॉक ने उस शक्ति पृथक्करण सिद्धांत की अवधारणा का प्रतिपादन नहीं किया है जिसे हम आगे चलकर अमरीकी संविधान में पाते हैं। अमरीकी संविधान में निहित शक्ति पृथक्करण का तात्पर्य है कि शासन का कोई भी अंग अन्य अंगों से सर्वोच्च नहीं है जबकि लॉक ने विधायिका की सर्वोच्चता का प्रतिपादन किया था। सेबाइन के अनुसार–"इंगलैण्ड की क्रान्ति के अनुभव के आधार पर लॉक ने यह मान लिया था कि शासन में विधायी शक्ति सबसे ऊंची होती है तथापि वह यह भी मानता था कि कार्यांग विधि निर्माण में भाग ले सकता है। लेकिन दोनों शक्तियाँ सीमित होती हैं स्वतन्त्रता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि विधायी और कार्यकारी शक्ति एक ही हाथों में केन्द्रित न रहे। लॉक ने विधानमण्डल और कार्यपालिका के सम्बन्धों का जो विवरण दिया है, वह राजा और संसद के वाद–विवाद के किसी न किसी पहलू को प्रकट करता है।"

वस्तुतः शक्ति पृथक्करण सिद्धांत का असली जनक लॉक नहीं, मॉन्टेस्क्यू है जिसने शासन के तीनों अंगों–विधायका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका का स्पष्ट रूप से वर्गीकरण किया। लॉक के दर्शन में तो शक्ति पृथक्करण के बीज मात्र ही दिखलायी देते हैं।

सरकार के रूप–लॉक ने सरकार के रूपों का उल्लेख संक्षेप में ही किया है। वह सरकार के रूपों की अपेक्षा उन सिद्धांतों को अधिक महत्व देता है, जिन पर सरकार आधारित हो। उसके अनुसार सरकार का स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि बहुमत अथवा समुदाय अपनी शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करना चाहता है।

वह सरकार के तीन विभिन्न रूपों का उल्लेख करता है। यदि समाज विधायिका शक्ति अपने ही हाथों में रखता है और स्वयं द्वारा निर्मित कानूनों को क्रियान्वित करने के लिए ही कुछ अधिकारियों की नियुक्ति करता है तो वह सरकार जनतन्त्रवादी है। यदि समाज अथवा बहुमत विधायी शक्ति को कुछ गिने–चुने लोगों एवं उनके उत्तराधिकारी को सौंप देता है तो वह सरकार वर्गतन्त्री होती है और यदि व्यवस्थापन शक्ति एक व्यक्ति को दी जाती है तो वह सरकार राजतन्त्रात्मक कहलाती है।

लॉक सामान्यतया जनतन्त्र का समर्थन करता है क्योंकि उसका विचार है कि जन इच्छा का सर्वाधिक श्रेष्ठ रूप में पालन जनतन्त्र में ही सम्भव है, परन्तु वह कोई जनतन्त्रवादी नहीं था, उसका विश्वास था कि संवैधानिक राजतन्त्र से उसका आशय है राज्य के प्रधान के रूप में सीमित शक्तियों वाला सम्राट हो, किन्तु विधायी और प्रशासनिक विषयों पर अन्तिम नियन्त्रण की शक्ति जन–प्रतिनिधियों को प्राप्त हो। 1688 ई. की गौरवपूर्ण क्रान्ति द्वारा इंगलैण्ड में लगभग ऐसी ही व्यवस्था स्थापित की गयी थी।

8.7.1 प्राकृतिक अधिकार सम्बन्धी विचार

प्राकृतिक अधिकारों की धारणा लॉक के राजनीतिक दर्शन का सार है। प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए ही समझौते द्वारा राजनीतिक समुदाय का निर्माण होता है। शासन का प्रमुख कार्य अधिकारों की रक्षा करना है। अतः यह कहना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि लॉक के प्रायः सभी सिद्धांत–सामाजिक समझौता, शासन, विद्रोह, आदि किसी न किसी रूप से उसके प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत से सम्बद्ध हैं।

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्तियों को तीन अधिकार प्राप्त थे। जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार और सम्पत्ति का अधिकार। लॉक ने कहा कि हर व्यक्ति के पास प्राकृतिक, कभी न छोड़े जाने वाले मूलभूत अधिकार होते हैं, जिन्हें कोई छू नहीं सकता, चाहे वह राज्य हो या समाज या कोई अन्य व्यक्ति। ये प्राकृतिक अधिकार हर सामाजिक, प्राकृतिक, कानूनी तथा राजनीतिक व्यवस्था में सर्वमान्य होंगे।

1. **जीवन का अधिकार**–मनुष्य को जीवन का अधिकार प्राकृतिक कानून से प्राप्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मरक्षा का अधिकार है क्योंकि अपना जीवन सबको प्रिय है और उसे सुरक्षित रखना प्राकृतिक अधिकार है। व्यक्ति न तो स्वयं अपने जीवन का अन्त कर सकता है और न ही वह अन्य किसी व्यक्ति को अपने जीवन के अन्त का अधिकार सौंप सकता है।
2. **स्वतन्त्रता का अधिकार**–स्वतन्त्रता के अधिकार से लॉक का आशय है, अपनी ही इच्छा के अनुसार कार्य करना तथा किसी अन्य की इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य न होना। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की इस स्थिति में व्यक्ति किसी भी शक्ति के अधीन नहीं होता, केवल प्राकृतिक कानून के अधीन होता है।

3. **सम्पत्ति का अधिकार**–लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार का विस्तार से प्रतिपादन किया है। सम्पत्ति के अधिकार की धारणा का प्रयोग वह संकुचित तथा व्यापक दोनों ही अर्थों में करता है। व्यापक अर्थ में सम्पत्ति से उसका तात्पर्य जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से है और संकुचित अर्थ में सम्पत्ति के अधिकार का प्रयोग व्यक्तिगत सम्पत्ति के अर्थ में किया गया है।

लॉक की सीमित संवैधानिक धारणा का उद्देश्य अपनी सम्पत्ति की हिफाजत है। इससे स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति का सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक है तथा समाज एवं सरकार की स्थापना से पूर्व का है। सम्पत्ति की परिभाषा में उन्होंने व्यक्ति की जिन्दगी, स्वतन्त्रताएँ तथा सम्पत्ति सबको शामिल किया, किन्तु कहीं–कहीं लॉक सम्पत्ति में केवल भूमि और समाज को शामिल करते हैं। व्यक्ति की जिन्दगी और स्वतन्त्रता को नहीं। लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक बताया तथा इसे प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक कानून पर स्थापित करते हुए सम्पत्ति के अधिकार पर से प्राकृतिक कानून के सारे बन्धनों को हटा दिया।

लॉक सम्पत्ति पर अपने विचार का आरम्भ इस विचार से करते हैं कि आरम्भ में भूमि तथा इसके सारे फल प्रकृति द्वारा सारी मानव जाति को दिये गये थे। दूसरे, वह कहते हैं कि मानव को इनका उपयोग करने से पहले उन्हें अपना बनाना पड़ता है। तीसरे, वे कहते हैं कि हर व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसकी शारीरिक मेहनत तथा उसके हाथों का काम उनकी अपनी सम्पत्ति है। चौथी बात, लॉक कहते हैं कि प्राकृतिक व्यवस्था से मनुष्य अपनी मेहनत से जो लेते हैं वह उनकी निजी सम्पत्ति है बशर्ते कि वह दूसरों के लिए काफी छोड़ दें। पांचवीं बात, लॉक कहते हैं कि इस प्रकार सम्पत्ति पैदा करने के लिए किसी दूसरे की आज्ञा लेने की जरूरत नहीं है, क्योंकि यह जिन्दा रहने की आवश्यकता है। इस प्रकार उपरोक्त तर्कों द्वारा लॉक निजी सम्पत्ति को न्यायसंगत ठहराते हैं तथा प्रकृति द्वारा दी गयी सम्पत्ति का, व्यक्ति द्वारा मेहनत से अपना बनाया जाना उचित मानते हैं।

लॉक निजी सम्पत्ति के अधिकार पर कतिपय सीमाएँ लगाते हैं जो निम्नलिखित हैं–(1) किसी को भी सम्पत्ति नष्ट करने का अधिकार नहीं है, (2) उसे दूसरों के लिए काफी छोड़ देना चाहिए; तथा (3) निजी सम्पत्ति वह हो सकती है जिसे सम्पत्ति के मालिक ने अपना श्रम मिलाकर अर्जित किया हो।

ये तीनों सीमाएँ देखने में बड़ी अच्छी लगती हैं, किन्तु जॉन लॉक इन सीमाओं को तर्कों द्वारा हटाकर निजी सम्पत्ति के अधिकार को सीमाहीन बना देते हैं। सम्पत्ति को नष्ट नहीं किया जाना चाहिए, यह पहली सीमा है जो मुद्रा के प्रचलन के बाद स्वयं समाप्त हो जाती है क्योंकि सम्पत्ति को बेचकर मुद्रा में बदल दिया जायेगा तथा मुद्रा (धन) नष्ट न होने वाली सम्पत्ति है। लॉक ने असीमित मुद्रा को पूंजी के रूप में एकत्र किये जाने को मान्यता प्रदान की। उसने मुद्रा का केवल आदान–प्रदान की वस्तु ही नहीं समझा। अतः लॉक ने निजी सम्पत्ति के पूंजी के रूप को मान्यता देकर पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में निजी सम्पत्ति के इस रूप को उभारा।

दूसरी सीमा, कि सम्पत्ति को दूसरों के लिए काफी छोड़ देना चाहिए, को भी वे हटा देते हैं। वे कहते हैं कि जो प्राकृतिक भूमि, आदि मनुष्य मेहनत से अपनी निजी सम्पत्ति बना लेते हैं, उससे वह दूसरों के लिए कुछ उत्पादन करते हैं, और यह उत्पादन समाज की सामान्य भूमि, आदि की कमी को पूरा कर देता है। इसका दूसरा अर्थ निकलता है कि पूंजीपति की पूंजी द्वारा किया गया उत्पादन समाज को उससे ज्यादा दे देता है, जितनी कि पूंजी है। यदि पूंजीपति एक लाख रुपये की लागत से बने उद्यम से पांच लाख रुपये का उत्पादन समाज को उपलब्ध कराये तो पूंजीपति को सामान्य हित के लिए हानिकारक नहीं माना जा सकता। अतः लॉक निजी सम्पत्ति पर से दूसरी सीमा हटाकर असीमित पूंजी अर्जित करने को समाज के हित में भी, उचित मानते हैं। पूंजीवाद की सम्पत्ति के बारे में यही धारणा है और आम आदमी, चेतन या अचेतन मन से जब यह कहता है कि यदि पूंजीपति नहीं होंगे तो समाज में कारखाने कौन बनायेगा? उत्पादन कैसे हो? तब वह भी लॉक के विचार को ही अपनी भाषा में दोहराता है।

तीसरी सीमा, कि निजी सम्पत्ति वही हो सकती है जो व्यक्ति ने अपना श्रम मिलाकर अर्जित की हो, को भी लॉक आसानी से हटा देते हैं। हर व्यक्ति अपने श्रम का मालिक होता है तथा श्रम उसकी सम्पत्ति है। वह इसे, इस सम्पत्ति की तरह, मजदूरी के बदले बेचता है। यदि वह इसे दूसरे व्यक्ति को बेच देता है तो यह श्रम उस व्यक्ति का श्रम बन जाता है जिसने इसे खरीदा है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मजदूरी के सम्बन्धों को मानते हुए लॉक श्रमिक द्वारा श्रम के बेचे जाने को मान्यता देते हैं। मालिक को नौकर (पूंजीपति को मजदूर) के श्रम का मालिक बनाकर, नौकर के श्रम को खुद मालिक का श्रम बताकर लॉक इस सीमा को खत्म कर, दूसरे के श्रम को खरीदकर उससे सम्पत्ति के अर्जित किए जाने के उचित ठहराते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में जहां मालिक–मजदूर होते हैं, इस प्रका का सिद्धांत मालिकों की निजी सम्पत्ति को न्यायसंगत मानता है, किन्तु यहां लॉक यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य अपने श्रम को अपने से अलग कर दूसरे को बेच सकता है। मार्क्स ने व्यक्ति तथा उसके श्रम के सम्बन्धों के इस विचार की कटु आलोचना करते हुए अलगाव का सिद्धांत दिया है जो निजी सम्पत्ति का घोर अनैतिक परिणाम है। लॉक का यह मानना कि श्रम को बेचा जा सकता है तथा इससे जीवन और स्वतन्त्रता में फर्क नहीं पड़ता, उचित नहीं माना जा सकता क्योंकि श्रम को बेचने के

लिए मजदूर व्यक्ति का जीवन तथा स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं है। संक्षेप में, लॉक के निजी सम्पत्ति के अधिकार का सार इस प्रकार है :

1. निजी सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक है।
2. निजी सम्पत्ति के अधिकार के बिना मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ जायेगा।
3. निजी सम्पत्ति खरीदी और बेची जाने वाली चीज है।
4. निजी सम्पत्ति मेहनत तथा योग्यता से प्राप्त होती है।
5. व्यक्ति का श्रम तथा योग्यता उसकी अपनी सम्पत्ति है, वह इसे बेच सकता है तथा दूसरा आदमी इसे खरीद सकता है।
6. श्रम को खरीदने वाला श्रम को बेचने वाले के श्रम का न्यायसंगत मालिक बन जाता है तथा इस श्रम से उत्पन्न सम्पत्ति को मालिक भी श्रम को खरीदने वाला ही है।
7. निजी सम्पत्ति समाज के हित में है क्योंकि यह उत्पादन का आधार है।
8. निजी सम्पत्ति के अधिकार के बिना मेहनत करने का प्रोत्साहन नहीं रहेगा।
9. समाज के सामान्य हित में निजी सम्पत्ति के अधिकार पर कुछ बन्धन लगाया जा सकता है।

लॉक क धारणा है कि प्राकृतिक अवस्था के ये अधिकार राजनीतिक समुदाय की स्थापना के बाद भी व्यक्ति के पास ही बने रहते हैं क्योंकि व्यक्ति के अधिकार प्राकृतिक अवस्था से ही राज्य में लाये जाते हैं, इसलिए ये ऐसे अधिकार हैं जिनका राज्य द्वारा अपहरण नहीं किया जा सकता। समाज तथा सरकार के लिए व्यक्ति के इन अधिकारों का सम्मान करना अनिवार्य है। लॉक के विचार को स्पष्ट करते हुए एण्ड्यू हैकर ने लिखा है कि "व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार उसके व्यक्तित्व में अन्तर्निहित हैं, उसके जन्म से ही अपरिवर्तनीय हैं और व्यक्ति के द्वारा इन्हें जीवनपर्यन्त अन्य किसी को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता।" शासन द्वारा व्यक्ति के इन अधिकारों को अस्वीकार करना कभी भी न्यायसंगत नही हो सकता क्योंकि स्वयं समाज का अस्तित्व ही उनकी रक्षा करने के लिए है।

लॉक प्राकृतिक कानून तथा प्राकृतिक अधिकार का इतना अधिक भक्त है कि उसके अनुसार यदि राजनीतिक समुदाय (राज्य) व्यक्ति के इन प्राकृतिक अधिकारों को भंग करता है तो जनता द्वारा उसके विरुद्ध विद्रोह किया जा सकता है। लॉक ने अपनी इस धारणा के आधार पर ही 1688 ई. की इंगलैण्ड की क्रान्ति को न्यायोचित सिद्ध किया है।

प्राकृतिक अधिकारों की धारणा के दोष—लॉक के प्राकृतिक अधिकारों सम्बन्धी विचारों में निम्नलिखित दोष बतलाये जा सकते हैं—

1. लॉक के प्राकृतिक सम्बन्धी विचारों में विरोधाभास पाया जाता है। एक ओर तो उसने अधिकार को प्राकृतिक एवं जन्मजात माना है, परन्तु दूसरी ओर वह यह भी कहता है कि जिस वस्तु को मनुष्य ने अपने शारीरिक श्रम द्वारा प्राप्त किया है, उस पर उसका प्राकृतिक अधिकार है। यदि अधिकार जन्मजात एवं स्वाभाविक हैं तो उन्हें बाह्य वस्तुओं की तरह श्रम द्वारा अर्जित नही किया जा सकता।
2. लॉक ने जितने विस्तार के साथ सम्पत्ति के अधिकार पर विचार किया है उतना स्वतन्त्रता, समानता और जीवन के अधिकार के बारे में विचार नहीं किया है। इससे ऐसा लगता है कि लॉक की सम्पति में व्यक्तिगत सम्पत्ति से बढ़कर और कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं है।
3. आलोचकों के अनुसार लॉक ने निजी सम्पत्ति का सिद्धांत प्रतिपादित कर पूंजीवाद के प्रवक्ता की भूमिका अदा की है। श्रम सिद्धांत पर आधारित सम्पत्ति की व्याख्या करते हुए लॉक ने स्वयं कहा है—"जिस घास को मेरे घोड़े ने खाया है, मेरे नौकर ने काटा है और मैंने छीला है, वह मेरी सम्पत्ति है और उस पर किसी दूसरे का अधिकार नहीं है।" लॉक के इसी विचार पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए रिचे ने लिखा है कि इसी आधार पर तो बड़े—बड़े पूंजीपति मजदूरों के श्रम से उत्पन्न समस्त पदार्थों को अपनी सम्पत्ति मान बैठते हैं और मजदूरों का शोषण करते हैं।
4. लॉक ने सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार के प्रसंग में उत्तराधिकार द्वारा अथवा वसीयत द्वारा सम्पत्ति के हस्तान्तरण का समर्थन किया है, परन्तु उसने यह स्पष्ट नहीं किया है कि जब श्रम का संयोग व्यक्तिगत सम्पत्ति का आधार और कारण है तो किसी व्यक्ति के बिना श्रम किये ही उत्तराधिकार अथवा वसीयत द्वारा दूसरे की सम्पत्ति प्राप्त करने का हक कैसे हो जाता है।
5. लॉक ने केवल जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों को स्वीकार किया है। आलोचकों के अनुसार आधुनिक युग में शिक्षा, संस्कृति, धर्म, आदि सम्बन्धी अधिकार भी काफी महत्वपूर्ण माने गये हैं। अतः लॉक के विचार संकुचित हैं।

6. लॉक ने सिर्फ स्वतन्त्रता पर जोर दिया, समानता पर नहीं जबकि आधुनिक काल में यह माना जाता है कि समानता के बिना स्वतन्त्रता पूर्णतः खोखली है।
7. जन्मजात प्राकृतिक अधिकारों की धारणा आज अस्वीकृत हो चुकी है। अधिकार तो जीवन की उन परिस्थितियों को कहते हैं जो कि मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियों के विकास के लिए आवश्यक हों, समाज द्वारा जिन्हें मान्यता प्रदान की गयी हो ओर राज्य द्वारा लागू किया जाता हो। वास्तव में समस्त अधिकार समाज या राज्य की ही देन होते हैं और इस सम्बन्ध में ग्रीन ने ठीक ही लिखा है कि "प्राकृतिक अवस्था में, जो कि एक सामाजिक स्थिति होती है, अधिकारों की कल्पना स्वयं में ही एक विरोधाभास है।"

इन आलोचनाओं के बावजूद यह माना जाता है कि प्राकृतिक अधिकारों की धारणा राजनीतिक दर्शन को लॉक की उत्कृष्टतम देन हैं जहां तक व्यक्तिगत सम्पत्ति के संरक्षण का प्रश्न है, लॉक ने बहुत युक्तिसंगत सिद्धांत की खोज की। इन्हीं सिद्धांतों को आगे चलकर एडम स्मिथ ने महत्वपूर्ण आर्थिक सिद्धांतों में परिणत कर दिया। इंगलैण्ड और तत्पश्चात अमेरिका में इनका काफी प्रभाव पड़ा क्योंकि इन देशों के मध्य वर्ग ने चर्च तथा सामन्तशाहों के विरुद्ध अपनी सम्पत्ति विषयक अधिकार और सुरक्षा की खोज की। लॉक के प्राकृतिक अधिकारों की उद्घोषणा अमरीकी संविधान के चौदहवें संशोधन में हुई है जिसमें कहा गया है कि "राज्य कानून को उचित प्रक्रिया के बिना किसी व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकता।" डनिंग ने ठीक ही लिखा है–"राजनीतिक दर्शन को लॉक का सर्वाधिक विशिष्ट योगदान प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत है।"

8.8 लॉक का क्रान्ति संबंधी विचार एवं व्यक्तिवाद

लॉक ने अपने राजनीतिक दर्शन में जनता को क्रान्ति या विद्रोह का अधिकार प्रदान किया है। उसके अनुसार राज्य का निर्माण जनता के हित के लिए कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के निमित होता है। अर्थात् राज्य की स्थापना व्यक्तियों के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा के लिए की जाती है। जब तक व्यक्तियों के इन अधिकारों की रक्षा होती रहती है तब तक जनता विद्रोह नहीं कर सकती, परन्तु जब इन अधिकारों की रक्षा न हो सके तथा जनता का कष्ट असह्य हो जाये तो जनता के लिए क्रान्ति करना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है।

क्रान्ति के कारणों की विवचेना करते हुए लॉक ने कहा है कि यदि शासन को जन सहमति प्राप्त न हो, वह अपने न्यास या ट्रस्ट के विरुद्ध आचरण करे और वैधानिक शासन के स्थान पर निरंकुश आचरण करने लगे, अपनी मर्यादाओं का पालन न करे तो जनता को शासन सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने तथा उसे बदलने का अधिकार है। लॉक के अनुसार विद्रोह का वास्तविक उत्तरदायित्व कार्यपालिका या राजा पर है। कार्यपालिका या राजा जब अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर निरंकुश आचरण करने लगे तो जनता को इस स्थिति में विद्रोह करने का अधिकार है। इसी प्रकार "जब जनता यह अनुभव करे कि विधायिका इसमें रखे जाने वाले विश्वास के प्रतिकूल कार्य कर रही है तो जनता को यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है कि वह विधायिका को हटा दे या बदल डाले।

लॉक के सिद्धांत की यह विशेषता है कि सरकार के भंग होने पर 'राजनीतिक समुदाय' ज्यों का त्यों बना रहता है क्योंकि 'राजनीतिक समुदाय' का स्थान सरकार के ऊपर है। वह सरकार अथवा शासन के भंग होने के सम्बन्ध में केवल यही कहता है कि "सरकार तब भंग हो जाती है जबकि कानून निर्माण शक्ति उस संस्था से हट जाती है जिसको कि जनता ने यह दी थी या तब जबकि कार्यपालिका या विधायिका उसका प्रयोग ट्रस्ट की शर्तों के विपरीत करते हैं। लॉक ने यह स्पष्ट नहीं किया कि लोग यह कार्यवाही किस प्रकार करते हैं। वह बस यही कहता है कि जनता इस अधिकार का प्रयोग भगवान से अपील करने के तथा शक्ति और हिंसा के विरुद्ध भगवान द्वारा दिये गये अन्तिम उपाय अर्थात् विद्रोह के द्वारा कर सकती है। विद्रोह का अधिकार वह केवल बहुसंख्या को ही देता है।

लॉक ने अपना राजदर्शन में विद्रोह एवं क्रान्ति के अधिकार पर इतना अधिक बल दिया है कि कतिपय विद्वान उसके सम्बन्ध में यह मत व्यक्त करते हैं कि "लॉक ने शासन सम्बन्धी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।" लॉक की स्पष्ट मान्यता है कि राज्य का प्रधान उद्देश्य जन कल्याण है, राजा या शासन के अस्तित्व का आधार व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति की रक्षा करना है। राजा के साथ–साथ यह बात संसद पर भी लागू होती है। लॉक ने अपने जीवन में देखा था कि इंगलैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम, जेम्स द्वितीय तथा लम्बी पार्लियामेण्ट ने अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया तथा जनकल्याण की उपेक्षा की थी जिसकी परिणति 1688 ई. की क्रान्ति में हुई। अतः लॉक ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि यदि कोई शासन अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे, अपने कर्तव्यों का पालन न करे और अत्याचारी शासन का रूप धारण कर ले तो उसे क्रान्ति द्वारा हटाया जा सकता है। अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह करना नागरिकों का पवित्र अधिकार है।

क्या विद्रोह के अधिकार द्वारा लॉक अनावश्यक रूप से क्रान्ति और अराजकता का समर्थन करता है? लॉक एक गम्भीर विचारक था जिसने जनता में निहित क्रान्ति के अधिकार पर निम्नलिखित सीमाएँ लगायी हैं: जनता को तुच्छ और क्षणिक कारणों से क्रान्ति के अधिकार का प्रयोग नहीं करना चाहिए; क्रान्ति तभी की जानी चाहिए जब शासक जनता के

अधिकारों की रक्षा करने में अक्षम हो तथा शासक अपनी क्रूरता की पराकाष्ठा पर पहुंच जाए, क्रान्ति में बहुमत का भाग लेना अनिवार्य है। क्रान्ति की आग चाहे एक व्यक्ति के द्वारा भड़काई जाये या अल्पमत द्वारा, जब तक बहुसंख्यक लोग क्रान्ति में सम्मिलित नहीं होते तब तक सम्पूर्ण समाज–हित की भावना प्रकट नहीं होती।

संक्षेप में, क्रान्ति सम्बन्धी विचार राजनीतिक दर्शन को लॉक की महत्वपूर्ण देन है। उसके क्रान्ति विषयक सिद्धांत का जैफरसन व अन्य राजनीतिज्ञों पर काफी प्रभाव पड़ा। इसी कारण उसे 'क्रान्तियों का दार्शनिक' भी कहा जाता है। कतिपय आलोचक यह भी कहते हैं कि वह दार्शनिक नहीं था, अपितु विशिष्ट राजनीतिक सिद्धांतों का प्रचार करने वाला लेखक था, उसका उद्देश्य 1688 की क्रान्ति का समर्थन करना, उसको न्यायोचित सिद्ध करना था। उसने अपनी रचना 'नागरिक शासन' इसी उद्देश्य से इस क्रान्ति के दो वर्ष बाद 1690 में प्रकाशित की। इसकी भूमिका में उसने लिखा है कि इसमें उसका उद्देश्य "हमारे वर्तमान राजा विलियम के सिंहासन पर बैठने की घटना को सुप्रतिष्ठित बनाना है।"

8.8.1 लॉक : व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

लॉक के दर्शन का सर्वाधिक शक्तिशाली तत्व उसकी व्यक्तिवादिता है। वह शक्ति का परम उपासक और भक्त है। यह उसके राजनीतिक विचारों की आधारशिला है। वॉहन के शब्दों में, "लॉक की व्यवस्था में प्रत्येक वस्तु व्यक्ति के चारों ओर चक्कर काटती है। प्रत्येक वस्तु को इस भांति सजाकर रखा गया है कि व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सब प्रकार से सुरक्षित रहे।"

हॉब्स ने भी जैसा कि हम जानते हैं, व्यक्ति को ही अपने दर्शन का केन्द्रबिन्दु बनाया है परन्तु हॉब्स के व्यक्तिवाद तथा लॉक के व्यक्तिवाद में भिन्नता है। हॉब्स ने प्राकृतिक आवस्था के एकाकी व्यक्ति से प्रारम्भ करके निरंकुश सम्प्रभु का गुणगान किया। उसके दर्शन में प्राकृतिक दशा की घोर यातना और असुरक्षा सहन करने वाले व्यक्तियों ने एक व्यक्ति अथवा एक समूह का शासन स्थापित किया, परन्तु लॉक का व्यक्तिवाद भिन्न ढंग का है। लॉक ने प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियों को एकाकी और निर्धन नहीं कहा, साथ ही लॉक के दर्शन में व्यक्तियों ने समस्त समाज को सम्प्रभु बनाया, किसी एक व्यक्ति को नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हॉब्स का व्यक्तिवाद स्वार्थी व्यक्तियों के चारों ओर चक्कर काटता है, जबकि लॉक का व्यक्तिवाद उदारवाद से ओतप्रोत है।

निम्न विवेचन से लॉक के व्यक्तिवाद का स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट होता है–

1. राज्य का अधिकार व्यक्तियों की सहमति–लॉक ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समझौता सिद्धांत को अपनाया है, जिसका मूल विचार यह है कि राज्य की स्थापना व्यक्तियों की सहमति के आधार पर हुई है। किसी व्यक्ति को राज्य की सदस्यता स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियों को समझौते में शामिल होकर राज्य का निर्माण करने की छूट है। जो व्यक्ति समझौते में शामिल नही होते, वे प्राकृतिक अवस्था में ही बने रहते हैं। लॉक ने भावी पीढ़ियों को राज्य की सदस्यता स्वीकार करने या न करने की छूट दी है। संक्षेप में, लॉक ने राज्य की सदस्यता के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का आदर किया है, अतः वह एक व्यक्तिवादी विचारक है।

2. राज्य के निर्माण का उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा–लॉक जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के तीन अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्रदान करता है। इन्हें वह व्यक्ति के जन्मसिद्ध, स्वाभाविक और प्राकृतिक अधिकार समझता है। राज्य का प्रादुर्भाव इन्हीं की रक्षा के लिए होता है, उसका मुख्य लक्ष्य व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखना हैं।

3. व्यक्ति के पक्ष में राज्य पर सीमाएँ–मैक्सी के शब्दों में उसका कार्य "राज सत्ता की स्थिति को उच्चतर बनाना नहीं, अपितु उसकी मर्यादाओं का उल्लेख करना था।" शासक समाज के प्रतिनिधि मात्र हैं। वे हॉब्स के लेवियाथन की भांति निरंकुश प्रभु नहीं हैं, किन्तु केवल उतने ही अधिकार रखते हैं जो उन्हें व्यक्तियों द्वारा दिये जाते हैं। लॉक का राज्य जनता द्वारा प्रदत्त शक्तियों का ही प्रयोग कर सकता है क्योंकि राज्य जनता का मात्र एजेन्ट है; राज्य प्राकृतिक विधि के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता जिनसे व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों का अतिक्रमण होता हो। राज्य कभी भी नागरिकों की सम्पत्ति का अपहरण नहीं कर सकता। अतः लॉक के राज्य की तुलना एक बड़ी लिमिटेड कम्पनी से की जाती है जिसमें कम्पनी के संचालकों तथा हिस्सेदारों के दायित्व मर्यादित होते हैं।

4. व्यक्ति द्वारा राज्य विरोध–लॉक के अनुसार राज्य का निर्माण जनकल्याण के लिए किया गया है। राज्य एक ट्रस्ट के समान है, वह जनता की सहमति पर आधारित तथा वैधानिक होता है। वह हॉब्स के 'लेवियाथन' की भांति असीमित अधिकार सम्पन्न निरंकुश प्रभु नहीं है। अतः यदि शासन निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रहे अथवा यदि वह अपने अधिकार क्षेत्र का उल्लंघन करने लगे तो ऐसी स्थिति में उसके विरुद्ध विद्रोह या क्रान्ति करने का व्यक्ति को अधिकार है।

5. व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता–उसके धर्म विषयक विचारों में भी व्यक्तिवाद की स्पष्ट झलक है। वह प्रत्येक व्यक्ति को अन्तःकरण के अनुसार धार्मिक पूजा और उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। उसके मतानुसार राज्य के सभी नागरिकों को इस बात की खुली छूट होनी चाहिए कि व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का सदस्य बन सके।

इस प्रकार जॉन लॉक ने व्यक्ति को अपनी सम्पूर्ण व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु बनाया है। बार्कर के शब्दों में, "लॉक में व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च गरिमा स्वीकार करने वाली तथा सुधार चाहने वाली महान् भावना थी।" डनिंग ने व्यक्तिवाद की आधारशिला–मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों को राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में लॉक की सबसे महत्वपूर्ण देन स्वीकार किया है। मैक्सी के शब्दों में–"लॉक ने व्यक्तिवाद को अजेय राजनीतिक तथ्य बनाया है।"

कतिपय आलोचकों का मत है कि लॉक के व्यक्तिवादिता सम्बन्धी विचारों में अन्तर्विरोध है। व्यक्ति को अपने चिन्तन में अत्यधिक महत्व देते हुए भी लॉक ने उसे सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न नहीं माना क्योंकि उसने अपनी विचारधारा में बहुमत को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी व्यक्ति विशेष अथवा अल्पमत को बहुमत के निर्णय को स्वीकार कर लेना एक अपरिहार्य आवश्यकता है। यदि व्यक्ति पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न है तो उसे अपने निजी निर्णय का केवल इसलिए परित्याग कर देने को बाध्य नहीं किया जा सकता कि बहुमत उससे सहमत नहीं है। इसी प्रकार लॉक ने अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह का जो अधिकार दिया है वह भी बहुसंख्यकों को दिया है, व्यक्ति को अथवा अल्पसंख्यकों को नहीं। इन्हीं तर्कों के आधार पर यह कहा जाता है कि लॉक की व्यवस्था में व्यक्ति वास्तव में प्रभुत्व सम्पन्न नहीं है। इसीलिए सेबाइन का मत है कि लॉक ने सामुदायिक हित का बिगुल अधिक बजाया है।

8.9.2 हॉब्स तथा लॉक के विचारों की तुलना

हॉब्स तथा लॉक दोनों ही ब्रिटिश विचारक हैं तथा राज्य की उत्पत्ति का मूल कारण सामाजिक समझौते को समझते थे। दोनों प्राकृतिक अवस्था के सिद्धांत में विश्वास करते हैं तथा यह भी प्रतिपादित करते हैं कि सरकार समझौते में भाग नहीं लेती। दोनों के अनुसार राज्य का उद्देश्य शान्ति की स्थापना करना, व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करना एवं कानून के भंग करने वालों को दण्ड देना है। लॉक का दर्शन भी हॉब्स की भांति व्यक्तिवाद पर आधारित है। इन समानताओं के बावजूद भी दोनों के सिद्धांतों में बुनियादी मतभेद है। जॉन्स के शब्दों में लॉक तथा हॉब्स राज्य की सत्ता के प्रयोजन के सम्बन्ध में सहमत हैं कि यह इसके प्रयोजनों के लिए शान्ति स्थापित करना, इन्हें सुरक्षा प्रदान करना तथा इसका कल्याण करना है, किन्तु वे इस विषय में मौलिक मतभेद रखते हैं कि उस उद्देश्य की पूर्ति सर्वोत्तम रीति के किस भांति हो सकती है। प्रथम, हॉब्स के अनुसार मनुष्य स्वार्थी, क्रूर, दुष्ट, हिंसक, भय, शक्ति तथा कीर्ति की भावना से प्रेरित होने वाला और पाशविक एवं बुरी प्रवृत्तियों की प्रधानता रखने वाला है। लॉक मनुष्य को अच्छी एवं मानवीय प्रवृत्तियों की प्रधानता रखने वाला है। लॉक मनुष्य को अच्छी एवं मानवीय प्रवृत्तियों–प्रेम, दयालुता सहयोग, आदि की उदात्त भावनाओं से युक्त मानता है।

द्वितीय, हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक दशा सतत् संघर्ष, युद्ध और विषमता की दशा है। इसमें किसी व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नहीं है। इसमें नैतिकता का सर्वथा अभाव है। सब मनुष्य अपने लिए हिंसा और हत्या ठीक समझते हैं। लॉक के अनुसार प्राकृतिक दशा शन्ति, सम्पन्नता, सहयोग, समानता और स्वतन्त्रता की अवस्था है। लॉक प्राकृतिक अवस्था मे व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति में अधिकारों की भी कल्पना करता है।

तृतीय, हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक दशा में सतत् संघर्ष से उत्पन्न अराजकता को दूर करने के लिए सामाजिक समझौते की आवश्यकता होती है। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में प्रमुख रूप से तीन असुविधाएँ थीं प्राकृतिक नियम स्पष्ट नहीं थे, प्राकृतिक नियमों की व्याख्या करने वाली और इन नियमों को लागू करने वाली सत्ता का अभाव था। अतः इन असुविधाओं को दूर करने के लिए ही राज्य निर्माण का निश्चय किया गया।

चतुर्थ, हॉब्स के अनुसार, राज्य का निर्माण करने के लिए एक ही समझौता किया गया। लॉक के अनुसार दो प्रकार के समझौते हुए–पहला सामाजिक और दूसरा राजनीतिक। पहले समझौते द्वारा समाज की स्थापना हुई और दूसरे समझौते द्वारा सरकार की स्थापना की गयी।

पंचम, हॉब्स ने निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया है; लॉक ने सीमित अथवा वैधानिक राजतन्त्र का समर्थन किया है।

षष्ठ, हॉब्स प्रजा को शासक के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार नहीं देता। इसके विपरीत, लॉक शासक की शक्तियों को सीमित मानता है। उसके अनुसार बहुसंख्यक प्रजा को राजसत्ता के विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह करने का अधिकार है। हॉब्स तथा लॉक के विचारों की तुलना करने से यह प्रतीत होता है कि हॉब्स के सामाजिक समझौता एवं राज्य सम्बन्धी विचार अधिक मौलिक, तर्कयुक्त तथा युक्तिसंगत और सम्बद्धता रखने वाले हैं। फिर भी उसके विचार भविष्य में लोकप्रिय एवं प्रबल होने वाली लोकतन्त्र की विचारधारा के अनुकूल नहीं थे। इसीलिए प्रो. लास्की ने लिखा है कि जहां हॉब्स और लॉक के विचारों में मतभेद है, वहां भावी पीढ़ियों ने लॉक के विचारों को ग्रहण किया है। अधिकांश आधुनिक राज्यों के संविधान हॉब्स के नहीं, अपितु लॉक के सिद्धांतों पर आधारित हैं।

8.8.3 लॉक की राजनीतिक विचारधारा की आलोचना

लॉक के राजनीतिक दर्शन की कड़ी आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि लॉक में हॉब्स जैसी पैनी दृष्टि, सूक्ष्म विवेचना की शक्ति और कल्पना की ऊंची उड़ान भरने की सामर्थ्य नहीं थी। उसके विचारों में बड़ी अस्पष्टता,

परस्पर विरोध और असंगतियाँ हैं। परस्पर विरोध और असंगतियों के अतिरिक्त उसकी विचारधारा के प्रधान दोष निम्नलिखित हैं–

1. **मानव स्वभाव सम्बन्धी आदर्शात्मक दृष्टिकोण**–लॉक का मानव स्वभाव सम्बन्धी एक पक्षीय है। उसने मनुष्यों में केवल अच्छाइयाँ ही अच्छाइयाँ देखीं। वह मनुष्य को नैतिक, दयालु, सहयोगी एवं सामाजिक मानता है। मानव स्वभाव की यह कल्पना यथार्थ कम और आदर्श अधिक है।
2. **प्राकृतिक अवस्था का अवास्तविक चित्रण**–मानव स्वभाव की भ्रान्त धारणा के आधार पर लॉक ने ऐसी प्राकृतिक दशा का चित्रण किया जो इस भूतल में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। उसने प्राकृतिक अवस्था को शान्त एवं नैतिक बतलाया। उसके मतानुसार इसमें न केवल अखण्ड शान्ति का साम्राज्य था, किन्तु सब मनुष्य न्याय की स्थापना करने वाले प्राकृतिक नियम का पालन करते थे। सच्चाई यह है कि आज इतनी अभूतपूर्व प्रगति होने के बाद भी ऐसी शान्त स्थिति नहीं आ पायी है। आज भी घोर अशान्ति, अराजकता और भय का साम्राज्य है, तो यह कैसे माना जाये कि लॉक द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था सही है।
3. **वैयक्तिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा**–वैयक्तिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में लॉक के विचार पूंजीपति वर्ग का अनुचित रूप से प्रबल समर्थन करते हैं। उसके मतानुसार जब कोई व्यक्ति प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं को अपने श्रम से उपयोगी बना लेता है तो उन पर उसका व्यक्तिगत अधिकार हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि उसने पूंजीवाद का प्रबल पोषण किया है।
4. **राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र कारण जनसहमति नहीं हो सकता**–लॉक राज्य निर्माण में जनसहमति को अत्यधिक महत्व देता है, परन्तु इतिहास में ऐसे ही राज्यों का उल्लेख है जो बल व शक्ति के आधार पर बने व नष्ट हुए।
5. **लॉक का समझौता अस्पष्ट**–समझौते के बारे में लॉक के विचार हॉब्स की भांति सुस्पष्ट और तर्कसंगत नहीं हैं। लॉक ने समझौते के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसमें उसने यह बात स्पष्ट नहीं कही है कि समाज व शासन की स्थापना के लिए अलग–अलग दो समझौते हुए हैं या एक पर, जो कुछ उसने कहा है उससे कुछ विचारकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि समझौते दो हुए हैं। कुछ विचारकों ने यह निष्कर्ष भी निकाला है कि समझौता केवल एक ही हुआ है तथा उससे एक राजनीतिक समाज की स्थापना हुई है।
6. **प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों को मान्यता देना नितान्त भ्रमपूर्ण**–लॉक ने प्राकृतिक अवस्था में जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों के अस्तित्व की बात कही है। राजनीतिक समाज के निर्माण से पूर्व अधिकारों का अस्तित्व मात्र काल्पनिक है।
7. **निरन्तर क्रान्ति की आशंका**–लॉक के अनुसार यदि सरकार जनहित के विरुद्ध कार्य करे तो जनता के द्वारा विद्रोह करके सरकार को पदच्युत किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में लॉक का दर्शन जनता के लिए विद्रोह का लाइसेंस बन जाता है और सरकार के पास अपनी रक्षा के कोई साधन नहीं रहते।
8. **राज्य के स्वरूप में कोई मौलिक सिद्धांत नहीं**–लॉक के राज्य एवं सरकार की शक्तियों के विवरण को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि उन्होंने किसी मौलिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया है बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने निबन्ध में इंगलैण्ड के संसदीय का आंखों देखा हाल लिख रहा है।

8.9 राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में लॉक का महत्व

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में जॉन लॉक का विशिष्ट महत्व है जिसके निम्नलिखित कारण हैं:

वह उदारवाद का जनक है। उसने अपने विचारों के माध्यम से उदारवादी सिद्धांतों का श्रीगणेश किया। उसके प्रमुख विचार–सत्ता का स्त्रोत जनता होती है, शासन जन सहमति पर आधारित होना चाहिए, शासन की शक्ति सीमित और मर्यादित होनी चाहिए, आदि उदारवाद के आधार स्तम्भ हैं। वस्तुतः लॉक का दर्शन उदारवाद की अन्तरात्मा है।

लॉक के राजदर्शन में व्यक्तिवाद का प्रबल पोषण मिलता है। व्यक्तियों को प्राकृतिक अधिकारों से विभूषित कर, व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च गरिमा को स्वीकार कर, सार्वजनिक हितों पर व्यक्तिगत कल्याण के सन्दर्भ में विचार करने का सुझाव देकर लॉक ने व्यक्तिवाद की सुदृढ़ पृष्ठभूमि तैयार की।

जनता की सहमति पर आधारित वैधानिक शासन का विचार लॉक की महत्वपूर्ण देन है। लॉक सीमित शक्तियों वाले और शासित वर्ग की इच्छा पर आधारित शासन की धारणा का प्रतिपादन करने वाले प्रथम विचारकों में से है। मैक्सी के अनुसार लॉक से पूर्व किसी राजनीतिक विचारक ने इतने स्पष्ट रूप से इस सिद्धांत की स्थापना नहीं की थी कि यदि कोई शासन प्रजाजनों की सहमति पर आधारित न हो तो वह अवैध तथा निराधार होता है।

प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत राजनीतिक दर्शन को लॉक की सबसे विशिष्ट देन है। उसने जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को मनुष्य के जन्मसिद्ध प्राकृतिक अधिकार मानते हुए यह कहा कि राज्य का कर्तव्य इनकी रक्षा करना है, वह किसी मनुष्य को कभी इससे वंचित नहीं कर सकता है। यदि कोई राज्य ऐसा करता है तो व्यक्ति को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। इसी से प्रेरणा पाकर अधिकांश राज्यों ने आजकल अपने संविधानों में मौलिक अधिकारों के प्रावधान किये हैं।

मॉन्टेस्क्यू से वर्षों पूर्व शासन को तीन अंगों में विभाजित कर उसने शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत का भी बीजारोपण किया।

ऐसा कहा जाता है कि उपयोगितावाद की शुरूआत भी लॉक से हो जाती है। लॉक ने व्यक्ति के आत्मिक उत्थान के साथ–साथ भौतिक उत्थान को भी समन्वित करने की चेष्टा की। व्यक्ति की भौतिक समृद्धि और आर्थिक उन्नति को उसने बहुत प्रधानता दी। अपने 'लेटर्स आफ ह्यूमन अण्डरस्टेण्डिग' में लॉक ने सुख और दुख के सिद्धांत की खोज की और यह बताया कि दुख की कमी और सुख की अधिकता ही किसी वस्तु की उपयोगिता निर्धारित करती है। इस उपयोगिता को मानव स्वभाव के साथ सम्बद्ध कर लॉक बेन्थम के राजनीतिक पूर्वज लगते हैं।

8.10 निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक चिंतन में जॉन लॉक का भी विशेष योगदान रहा है। पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में उसे उदारवाद का जनक तथा उदारवाद की आत्मा के नाम से जाना जाता है। लॉक ने सीमित सरकार का समर्थन कर निरकुंशतावादी प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने का प्रयास किया है। प्राकृतिक अधिकारों पर बल देकर उसने व्यक्ति के जीवन में मूल अधिकारों की आवश्यकता को भी अनुभव करने का प्रयास किया। इस प्रकार पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन में समझौतावादी विचारों का प्रतिपादन करने, सीमित सरकार का समर्थन करने तथा प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन करने के कारण लॉक का विशेष योगदान माना जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जॉन लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धांत का वर्णन कीजिए।
2. हॉब्स तथा लॉक के विचारों का तुलनात्मक अवलोकन कीजिए।
3. लॉक के राजनीतिक चिंतन में योगदान को स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. प्राकृतिक अवस्था की जॉन लॉक के अनुसार क्या असुविधाएं थी?
2. लॉक द्वारा बतलाये गये प्राकृतिक अधिकारों की विवेचना कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. लॉक के अनुसार मानव स्वभाव कैसा था?
2. लॉक के प्रमुख दो ग्रंथों के नाम लिखिए।
3. प्राकृतिक अवस्था के लॉक द्वारा बतलाये गये कोई दो लक्षण लिखिए।

इकाई–9
जीन जैक्स रूसो

संरचना

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 जीवन परिचय
9.3 प्रमुख रचनाएँ
9.4 रूसो के विचारों पर प्रभाव
9.5 रूसो के प्रमुख राजनीतिक विचार
  9.5.1 मानव स्वभाव
  9.5.2 प्राकृतिक अवस्था
  9.5.3 समझौते के कारण
  9.5.4 सामाजिक समझौता तथा राज्य का स्वरूप
  9.5.5 सामाजिक समझौते सिद्धांत के निष्कर्ष
9.6 रूसो के समझौते सिद्धान्त की आलोचना
  9.6.1 प्राकृतिक अवस्था काल्पनिक है
  9.6.2 मानव स्वभाव का गलत अध्ययन
  9.6.3 विचित्र विरोधाभास
  9.6.4 सामाजिक प्रगति के सिद्धान्त का विरोध
  9.6.5 राज्य समझौते का नहीं, विकास का परिणाम है
  9.6.6 व्यक्ति को निरंकुशता के हवाले कर देना
  9.6.7 व्यक्ति की स्थिति हास्यास्पद
  9.6.8 रूसो का राज्य 'शीश कटा लेवियाथन'
9.7 रूसो के सामाजिक सिद्धान्त का महत्व
9.8 रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त
9.9 अन्य राजनैतिक विचार
  9.9.1 सम्प्रभूता सम्बन्धी विचार
  9.6.2 शासन सम्बन्धी विचार
  9.6.3 शासन प्रणालियों का वर्गीकरण
  9.6.4 कानून सम्बन्धी विचार
  9.6.5 स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार
9.10 रूसो के राजदर्शन में निरंकुशतावाद के तत्व
  9.10.1 रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का शीश विहीन लेवियाथन
  9.10.2 हॉब्स और रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा में समानता
  9.10.3 हॉब्स और रूसो के निरंकुशतावादी चिन्तन में अन्तर
9.11 रूसो के विचारों की आलोचना
  9.11.1 उसकी विचाराधारा में असंगतियाँ एवं विरोधाभास
  9.11.2 निरंकुशतावाद का समर्थक

9.11.3 मानव स्वभाव सम्बन्धी आदर्शात्मक विचार
9.11.4 बुद्धिवाद और प्रगति का विरोधी
9.12 रूसो के विचारों की उपादेयता
9.12.1 सामान्य इच्छा का सिद्धान्त
9.12.2 लोकप्रिय सम्प्रभुता की धारणा
9.12.3 राष्ट्रवाद का उद्घोषक
9.13 रूसो के राजदर्शन में व्यक्तिवाद, निरंकुशतावाद, समाजवाद और लोकतन्त्र
9.13.1 रूसो के दर्शन में व्यक्तिवाद
9.13.2 रूसो के राजदर्शन में निरंकुशतावाद
9.13.3 रूसो लोकतन्त्र का अग्रदूत
9.13.4 रूसो के दर्शन में समाजवाद

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् छात्र–

- रूसो के जीवन परिचय को समझ सकेंगे।
- रूसो के प्रमुख राजनीतिक विचार, व्यक्तिवाद, निरंकुशतावाद, समाजवाद एवं लोकतंत्र पर रूसो के विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- रूसों की सामान्य इच्छा की अवधारणा के बारे में जान सकेंगे।
- लोकप्रिय सम्प्रभूता की अवधारणा को समझ सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

रूसो की रचनाओं में 'सोशल कान्ट्रेक्ट' उल्लेखनीय रचना है। इस अमर ग्रन्थ में उसके राजनीतिक विचारों का निचोड़ निहित है। इसी ग्रन्थ में वह 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। वस्तुतः रूसो के राजनीतिक चिन्तन में व्यक्तिवाद, समाजवाद, निरंकुशवाद और लोकतन्त्र सम्बन्धी विचार एक साथ दिखलाई देते हैं। बर्गसन के शब्दों में "देकार्त के बाद मानव मन पर सबसे अधिक प्रबल प्रभाव रूसो का है, उसने अपनी मौलिक प्रतिभा की छाप राजनीति, साहित्य, शिक्षा और धर्म सभी पर छोड़ी है।" वाहन के अनुसार "अरस्तू की पॉलिटिक्स के पश्चात् 'सोशल कान्ट्रेक्ट' राजदर्शन पर लिखी हुई सबसे अधिक मौलिक और विचारों की दौड़ में सबसे अधिक समृद्ध रचना है।" डॉयल के अनुसार–"घोर दुविधा तथा असन्तोष के काल में रूसो ने यूरोप के सामने एक पुराने जर्जरित ढांचे को नष्ट कर देने का औचित्य पेश किया और अतिरंजना नहीं कि आधुनिक युग को लाने वाले समस्त मार्गों के द्वार पर हम रूसो को खड़ा पाते हैं। इन प्रशंसात्मक टिप्पणियों के बावजूद ऐसा कोई विचारक रूसो के अतिरिक्त नहीं है जिसके योगदान के बारे में आम सहमति पाई जाती हो। उसकी जितनी अधिक प्रशंसा की गई है उतनी ही आलोचना भी। रूसो को प्लेटो के बाद ऐसा महानतम् दार्शनिक माना गया जिसने राज्य की प्राकृतिक अवस्था में बड़ी गहराई से झांका है। दूसरी तरफ वाल्तेयर ने उसे नीम हकीम जंगली, हू–हू करने वाला उल्लू , स्विसवासी चाकर, डायोजीनीस के कुत्ते तथा हीरोस्ट्रेटस की कुतिया की दोगली सन्तान कहा गया है।

मार्ले के अनुसार रूसो यद्यपि महान् विचारक है तथापि वह यह नहीं मानता कि विचार किस प्रकार किया जाता है। फ्रेन्च लोगों का कहना है कि 'यह ज्यादा अच्छा होता यदि रूसो के विचारों का अनुवाद न होता।

दूसरी तरफ रूसो को स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का अग्रदूत कहा जाता है। राजनीतिक विचारों के इतिहास में समानता और सामान्य व्यक्ति में विकास की भावना से कोई विचारक इतना घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध नहीं है जितना की रूसो। उसका अमर वाक्य–"मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है और सर्वत्र वह जंजीरों से जकड़ा हुआ है," आज भी स्वतन्त्रता का सिंहनाद है।

फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि जिस व्यक्ति के बारे में इतने विरोधी और विवादास्पद विचार प्रकट किए गए हैं वह एक देदीप्यमान और स्पष्टवादी, सुन्दरतम गद्य लेखक है। समूचे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्लेटो के बाद ऐसा उत्कृष्टतम् लेखक कोई अन्य नहीं हुआ है। उससे इतने अधिक विविध विषयों में चिन्तन किया कि असंख्य विशेषज्ञों को अपने ज्ञानार्जन के लिए उसके दर्शन का मनन करना पड़ेगा। यही कारण है कि जब रूसो 'प्राकृतिक मनुष्य' का उल्लेख करता है तो मानव–वैज्ञानिक उसको आदिम मनुष्य, मनोवैज्ञानिक उसको अपरिवर्तनशील मनुष्य एवं नीतिशास्त्री

उसको आदर्श मनुष्य मानते हैं। आदर्शवादियों के लिए रूसो का आदर्शवादी रूप महत्वपूर्ण है, जबकि व्यक्तिवादियों के लिए उसका व्यक्तिवादी रूप।

9.2 जीवन परिचय

महान् दार्शनिक अपने विचारों तथा अपनी रचनाओं के कारण जाने जाते हैं न कि अपने जीवन की घटनाओं के कारण। उनके जीवन में प्रायः ऐसी घटनाएँ कम होती हैं जो सामान्य व्यक्तियों के लिए दिलचस्पी का कारण बनें, परन्तु यह बात रूसो पर लागू नहीं होती। वह अपनी रचनाओं के लिए तो विश्वविख्यात है ही, परन्तु उसका जीवन भी अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण घटनाओं से भरा पड़ा है। वह तो एक रोमांचकारी उपन्यास अथवा भारतीय चित्रपट के नायक के समान प्रतीत होता है।

जीन जैक्स रूसो का जन्म 28 जून, 1712 को जिनेवा में हुआ। उसके पिता का नाम आइजक रूसो था जो धार्मिक अत्याचारों के कारण फ्रांस से भागकर जिनेवा चला गया था। रूसो के प्रजनन के समय उसकी माता का देहान्त हो गया। उसका पिता एक घड़ीसाज था पर नृत्य में उनकी इतनी रुचि थी कि उसके विशेषज्ञ बनने की धुन में वह अपना व्यवसाय छोड़ चुका था। वह चरित्रहीन, अशिक्षित एवं चंचल मनोवृत्ति का था जो अपने बेटे को उचित शिक्षा न दे सका। उसका पिता रात–दिन भर रूसो से अश्लील और उच्छृखल उपन्यास व कहानियाँ पढ़वाकर आनन्द प्राप्त करता था जिसका स्वाभाविक रूप से बच्चे की कोमल भावना पर अत्यन्त बुरा प्रभाव पड़ा। इस सम्बन्ध में रूसो ने लिखा है, "मेरी जो इच्छा होती थी, करता था और मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध कहने वाला कोई नहीं था। मेरे पिता मुझे रोमांचकारी यात्राओं और प्रेम कहानियों को सारी रात जोर–जोर से पढ़कर सुनाने के लिए जगाए रखते थे। इस प्रकार थोड़े ही समय में मुझे न केवल पढ़ने और समझने का अभ्यास हो गया बल्कि बचपन में ही मुझमें वासनात्मक प्रवृत्ति का ऐसा प्रादुर्भाव हो गया कि मैं प्रत्येक चीज का अनुभव तो करता था पर उसे समझता नहीं था। सभी प्रकार की अनिश्चित भावुकताओं ने, जिनके प्रभाव में, मैं एक के बाद एक आया, मेरे जीवन में आश्चर्यजनक और वासनापूर्ण प्रभाव डाला, जिससे मुझे अपने अनुभव और जानकारी के बाद भी काभी पूर्णतया मुक्ति नहीं मिल सकी।" जब रूसो केवल दस वर्ष का था उसके पिता ने झगड़े में एक व्यक्ति को बुरी तरह घायल कर दिया और दण्ड के भय में जिनेवा छोड़कर भाग गया। भागने से पहले वह रूसो को उसके चाचा के संरक्षण में छोड़ गया। दो वर्ष तक उसके चाचा ने उसे शिक्षा देने के लिए बाईसी नगर में रखा। इसके पश्चात् वह वापस जिनेवा लाया गया। यहां पर उसे खुदाई का काम सीखने के लिए एक व्यक्ति के पास रखा गया। वह व्यक्ति उसे कार्य सिखाने के लिए अत्यन्त निर्दयतापूर्वक पीटा करता। एक दिन रूसो अपने स्वामी की दुष्टता से तंग आकर घर से भाग निकला। इन्हीं दिनों मां की अनुपस्थिति में जिस किसी स्त्री ने उसका पालन–पोषण करना चाहा उसी के साथ रूसो ने प्रेम करना शुरू कर दिया।

रूसो इसके बाद फ्रांस पहुंचा और अपने जीवन के भरण–पोषण के लिए फ्रांस के विभिन्न स्थानों में निरुद्देश्य भ्रमण और आवारागर्दी करता रहा। उसने छोटी–मोटी चोरियाँ भी की। जो भी धन्धा किया उसे छोड़ दिया, जहां भी नौकरी की वहां से उसे निकाला गया। इन्हीं दिनों रूसो एक कैथोलिक पादरी के सम्पर्क में आया जिसने उसके साथ अत्यन्त उदारतापूर्वक व्यवहार किया। रूसो का कैथोलिक धर्म में दीक्षित कर उसे ऐनसी में मेडम डीवारेन्स के संरक्षण में भिजवा दिया गया। इस महिला ने रूसो को शिक्षा प्राप्त करने के लिए तुरिन के एक मठ में प्रवेश करा दिया, परन्तु जब भी वह इस आवारा युवक से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकी। कुछ ही दिनों बाद रूसो वहां से भाग चला, किन्तु दर–दर ठोकरें खाने के बाद वह पुनः डीवारेन्स के द्वार पर आ गया। इस महिला ने रूसो की अपने प्रति इतनी श्रद्धा देखकर न केवल उसे संरक्षण दिया, अपितु उसे अपने प्रेमी के रूप में भी स्वीकार किया। सन् 1737 में रूसो कुछ दिनों के लिए जिनेवा चला गया। इस अवधि में डीवारेन्स ने अपने लिए एक और प्रेमी तलाश कर लिया। स्वाभिमानी रूसो के लिए यह एक बहुत बड़ा धक्का था। एक नारी द्वारा ठुकराए जाने पर रूसो ने दो वर्ष तक एकाकी व पीड़ायुक्त जीवन व्यतीत किया। सन् 1741 ई. में अपने कुछ मित्रों की सहायता से उसे वेनिस में फ्रांस के राजदूत के सचिव की नौकरी प्राप्त हो गयी, किन्तु 18 महीने की नौकरी के बाद उसे निकाल दिया गया। सन् 1744 में वह फिर से पेरिस आ गया बदनाम रूसो को दोस्तों ने ठुकरा दिया। वह भीख मांगकर जीवन व्यतीत करने लगा। इन्हीं दिनों एक अनपढ़ धोबन येरेसी ने उसके सम्मुख अपना आंचल फैला दिया। उस महिला से रूसो के पांच बच्चे हुए जिनमें एक को भी उसने स्वीकार नहीं किया और सभी बच्चों को अनाथालय में भिजवा दिया गया। सन् 1770 ई. में अपनी वृद्धावस्था में रूसो ने उससे विवाह कर लिया।

सन् 1750 ई. में रूसो के जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसने रूसो के जीवन में क्रान्तिकारी मोड़ उपस्थित कर दिया। प्रसिद्ध दार्शनिक दिदरों से मिलने के लिए एक दिन जब रूसो सड़क पर जा रहा था तो रास्ते में उसे अखबार का एक पृष्ठ पड़ा हुआ मिला। इसमें पेरिस की सबसे बड़ी साहित्यिक संस्था डी जान एकेडमी की ओर से उसमें निबन्ध प्रतियोगिता का एक विज्ञापन था। इस निबन्ध प्रतियोगिता का विषय था–"विज्ञान तथा कला की प्रगति ने नैतिकता को भ्रष्ट करने में योग दिया है अथवा उसे विशुद्ध करने में।" इस विज्ञापन को पढ़ते ही रूसो के मन में सैकड़ों विचारों का

स्रोत फूट पड़ा। रूसो के शब्दों में, "उसका मस्तिष्क हजारों प्रकाश की किरणों से चकाचौंध हो गया। समाज के प्रति उसके क्रान्तिकारी विचारों का एकाएक स्रोत फूट निकला।" रूसो ने क्रान्तिकारी विचारों से ओत–प्रोत निबन्ध लिखा। उसने यह सिद्ध किया कि विज्ञान और कला ने मनुष्य का पतन किया है। मानव समाज की प्रारम्भिक अवस्था में सब मनुष्य सरल और निष्पाप जीवन बिताते हुए आनन्दपूर्वक रहते थे। वर्तमान समाज की सब बुराइयों का मूल सभ्यता की उन्नति, ज्ञान का प्रेम और सभ्य समाज का कृत्रिम जीवन है।

रूसो को प्रथम पुरस्कार मिला और इस पुरस्कार ने उसे विश्वविख्यात बना दिया। रूसो की भेंट तात्कालिक प्रमुख विचारक दिदरो तथा वाल्टेयर से होती है और दिदरो के साथ फ्रेन्च विश्व ज्ञानकोश में उसने लिखना आरम्भ किया। 1754 ई. में उसने एक दूसरी निबन्ध प्रतियोगिता के लिए निबन्ध लिखा जिसका शीर्षक था–"मनुष्यों में विषमता उत्पन्न होने का क्या कारण है क्या प्राकृतिक कानून इसका समर्थन करता है।" इस निबन्ध में उसने निजी सम्पत्ति तथा आर्थिक विषमता उत्पन्न होने के कारणों पर प्रकाश डाला है। चूंकि अकादमी के निर्णायकों के विचार रूसो के विचार से मेल नहीं खाते थे इसलिए उसका निबन्ध पुरस्कृत नहीं हो सका। बाद में यही निबन्ध 'क्पेबवनतबमे वद जीम ल्तपहपद वि प्दमुनंसपजल' के नाम से सन् 1755 में प्रकाशित हुआ जिसने फ्रांस की जनता में एक हलचल सी पैदा कर दी। यही ग्रन्थ बाद में फ्रांस के क्रान्तिकारियों की बाइबिल बन गया। रूसो ने अब कलम अपने हाथ में थाम ली और अनेक ग्रन्थों की रचना की। सन् 1762 में राजनीति पर उसकी प्रसिद्ध रचना सोशल कॉन्ट्रेक्ट तथा शिक्षा सम्बन्धी पुस्तक इमाइल का प्रकाशन हुआ। उसके क्रान्तिकारी विचारों से शासकगण क्रुद्ध और विक्षुब्ध हो उठे। इमाइल में व्यक्त विचारों से पादरी लोग नाराज हो गए। अपने धर्म विरोधी और राजतन्त्र विरोधी विचारों के कारण उसकी मातृभूमि जिनेवा की परिषद् ने इन दोनों ग्रन्थों को जला डालने का तथा जिनेवा आने पर रूसो को बन्दी बनाने का आदेश प्रसारित किया। फ्रेन्च सरकार ने भी इसी कारण उसे गिरफ्तार करने का आदेश दिया। रूसो को अपने प्राण रक्षा के लिए फ्रांस से भागना पड़ा। प्रताड़ित और तिरस्कृत रूसो चिड़चिड़ा होकर पागलों की तरह फ्रांस, इंग्लैण्ड और स्विट्जरलैण्ड में घूमता रहा। उसके दिमाग की विक्षिप्ता बढ़ती जा रही थी। अपने मित्रों पर वह शक करने लगा कि वे उसे मार डालना चाहते हैं। फ्रेन्च राज्य क्रान्ति से 11 वर्ष पहले सन् 1778 में 66 वर्ष की आयु में उसका निधन हो गया।

9.3 प्रमुख रचनाएँ

1. डिसकोर्सेज आन दि मॉरल एफेक्ट्स ऑफ दि ऑर्ट्स एण्ड साइसेन्ज
2. डिसकोर्सेज आन दि आरिजिन ऑफ इनइक्वैलिटी
3. इकनॉमिक पॉलिटिक
4. सोशल कान्ट्रेक्ट
5. दि इमाइल

9.4 रूसो के विचारों पर प्रभाव

रूसो की विचारधारा पर उसके युग की परिस्थितियों तथा अनेक राजनीतिक दार्शनिकों का प्रभाव दिखायी देता है। मोटे तौर पर हम रूसो पर दिखायी देने वाले प्रभावों को निम्न भागों में बांट सकते हैं–

1. रूसो के विचार पर जॉन लॉक और प्लेटो का स्पष्ट प्रभाव है। बार्कर ने लिखा है कि रूसो ने आरम्भ तो अवश्य ही लॉक से किया लौटकर वह प्लेटो के रिपब्लिक तक पहुंचा और फ़िर आगे बढ़कर हीगल की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। प्लेटो और अरस्तू की भांति रूसो ने कहा कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, मनुष्य का पूर्ण जीवन केवल समाज में ही सम्भव है। राज्य की अधीनता मनुष्य इसलिए स्वीकार करता है कि राज्य उसका नैतिक नियन्त्रण करे और व्यक्ति को अन्तिम लक्ष्य की और ले जाने में सफल हो।
2. अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सोशल कान्ट्रेक्ट' की रचना करते समय रूसो पर हॉब्स और लॉक के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। हॉब्स के प्रभाव के कारण रूसो के विचार तीव्र व्यक्तिवादी प्रतीत होते हैं और अन्त में वह निरंकुशतावाद का भी समर्थन कर बैठती है तथा लॉक के प्रभाव के कारण वह लोकतन्त्र का समर्थक है तथा राज्य की स्थापना का आधार सहमति मानता है।
3. जिनेवा के वातावरण से भी रूसो प्रभावित हुआ है, इसलिए उसके राजनीतिक विचार स्थानिक रहे। वह छोटे नगर–राज्यों के पक्ष में था।
4. फ्रांस की तात्कालिक परिस्थितियों से भी रूसो प्रभावित हुआ। उस समय मुख्य प्रश्न यह था कि निरंकुश, राजसत्ता, सामन्तशाही और चर्च की अतियों से सामान्य जनता को कैसे राहत मिले। रूसो के सामने राजत्व की सम्प्रभुता के सर्थन के स्थान पर सामान्य जनता के लिए शासन की क्रूरता और चतुर्दिक शोषण से मुक्ति का प्रश्न था।

5. राज्य पर प्रभाव डालने वाले तत्व जैसे बाह्य परिस्थितियाँ, ऐतिहासिक परम्पराएँ आदि के सम्बन्ध में जब रूसो लिखता है तो उस मॉन्टेस्क्यू का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। वाहन के शब्दों में, "रूसो ने लॉक के शिष्य के रूप में आरम्भ किया; अपने विकास के महत्वपूर्ण वर्षों में वे पूरे हृदय के साथ प्लेटो के शिष्य रहे और अन्त तक वे मॉण्टेस्क्यू के जादू में आ गए, अवश्य ही मॉण्टेस्क्यू के प्रभाव में आने वाले ये सबसे महान् विचारक थे।"

9.5 रूसो के प्रमुख राजनीतिक विचार

यद्यपि हॉब्स और लॉक की तरह रूसो भी समाज और राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का समर्थक है तथापि उसका उद्देश्य उसकी तरह व्यक्तिवाद और प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन करना मात्र नहीं था। इनके विपरीत, रूसो समाज के नैतिक पतन के प्रति अत्यधिक चिन्तित था और चाहता था कि इस अभिशाप से मुक्त होकर मनुष्य का जीवन पुनः नैतिक दृष्टि से उच्च हो जाए। अतः वह समाज और राज्य की आदर्शवादी दृष्टिकोण से विवेचना करता है और इसी आधार पर मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करता है। रूसो ने अपनी पुस्तक 'दि सोशल कान्ट्रेक्ट' में अपने समझौता सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया है। रूसो के प्रमुख विचार निम्नलिखित हैं–

रूसो का सामाजिक समझौता–रूसो के समझौता सम्बन्धी विचारों को अग्र शीर्षकों में समझा जा सकता है–

1. मानव स्वभाव,
2. प्राकृतिक अवस्था,
3. समझौते के कारण,
4. सामाजिक समझौता तथा राज्य का स्वरूप,
5. सामाजिक समझौते की विशेषताएँ।

9.5.1 मानव स्वभाव–रूसो की रचनाओं में मनुष्य का चित्रण एक ऐसे तनावग्रस्त व्यक्ति के रूप में है जिसका तनावमय अतीत एक तनाव मुक्त भविष्य का निर्माण करने की प्रेरणा देता है। इस तनावग्रस्त व्यक्ति की दो वृत्तियाँ हैं–स्वार्थ और परमार्थ जो आपसी कशमकश में रहती हैं। इस तनाव में से चेतना का जन्म होता है। रूसो के अनुसार चेतना एक नेत्रहीन इच्छा है जो शुभ कर्म करना तो चाही है, परन्तु यह नहीं जानती कि शुभकर्म क्या है? इसलिए मनुष्य की आत्म सिद्धि के लिए रूसो विवेक का सहारा लेता है। विवेक अच्छाई और बुराई में अन्तर स्पष्ट करता है। इन तत्वों के आधार पर रूसो दो प्रकार के व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत करता है–(i) अप्राकृतिक व्यक्ति जिसमें स्वार्थ और परमार्थ युद्ध–रत हैं, जिसकी चेतना अन्धी है और विवेक पथभ्रष्ट है। ऐसा व्यक्ति लगातार भटकता रहता है और (ii) इसके विपरीत, प्राकृतिक मनुष्य वह है जिसमें या तो तनाव पैदा ही न हुआ हो या जिसने शक्तिशाली विवेक और अडिग चेतना के द्वारा आत्महित और परमार्थ में सामंजस्य बिठा लिया हो।

रूसो के अनुसार आदिम मनुष्य एक ऐसा व्यक्ति था जिसमें यह तनाव पैदा ही नहीं हुआ था। वह प्रसन्न और सन्तुष्ट था। पेड़–पौधों और पशु–पक्षियों की तरह वह पैदा होकर प्राकृतिक रूप से ही समाप्त हो जाता था।

रूसो प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को स्वाभाविक रूप से अच्छा, सुखी, सीधा, चिन्तारहित, स्वस्थ, शान्तिप्रेमी और एकान्तप्रिय समझता था। इस विषय में रूसो का विचार हॉब्स तथा लॉक दोनों से ही भिन्न है। हॉब्स का कहना था कि प्राकृतिक दशा में रहने वाला मनुष्य न केवल हिंस्त्र और क्रूर था, प्रत्युत कपटी भी था। दूसरी और लॉक ने मनुष्य को प्राकृतिक नियम और ईश्वरीय नियम से अनुशासित होने वाला माना था। रूसो प्राकृतिक दशा में नैतिकता के ऐसे उच्च विकास को भी असम्भव मानता है। अतः दोनों के विचारों को गलत मानते हुए रूसो न आदिम मनुष्य को पशुतुल्य, निष्पाप, निर्दोष तथा स्वाभाविक रूप से अच्छा माना है।

रूसो के अनुसार सभ्यता के उदय और विकास के साथ–साथ मनुष्य की तनावग्रस्तता बढ़ती गई। रूसो के विचार में समकालीन सभ्यता एक तनावग्रस्त सभ्यता है। यह मनुष्य को प्रफुल्लचित रखने वाला बाग नहीं, बल्कि एक कैद है। इसलिए मनुष्य की इच्छा है कि वह एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करे जो प्राकृतिक मनुष्य की सभ्यता हो और जहां उसके स्वार्थ और परमार्थ में चेतना और विवेक के अनुसार समन्वय हो सके।

9.5.2 प्राकृतिक अवस्था–रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य प्रकृति की गोद में रहता था। उसका जीवन पशुओं जैसा व एकाकी था। वह अपना जीवन वनों में विचरण करके बिताता था। किसी व्यक्ति का कोई घर न था और न उसकी कोई सम्पत्ति थी। मनुष्य अपनी प्रकृति की सादगी और परमार्थ की भावना के साथ उसमें सादगी में रहता था। इस अवस्था में सब समान थे तथा अपने–अपने जीवन के स्वामी थे। कोई कलह, द्वेष, मारपीट नहीं थी। कोई सभ्यता नहीं थी तथा सभ्यता की आवश्यकता भी नहीं थी। मनुष्य एकान्त में सुखी, बेपरवाह जिन्दगी जी रहा था; न ही वस्त्र धारणा करता था, न ही भाषा का माध्यम था।

इस प्रकार रूसो के अनुसार प्राकृतिक मनुष्य एकाकी, स्वतन्त्र, नैतिक–अनैतिक भावनाओं से मुक्त, निःस्वार्थ, सम्पत्ति और परिवार से रहित आदिम स्वर्णयुग की स्वर्गीय दशा में रहता था। प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति के लिए रूसो 'आदर्श बर्बर' शब्द का प्रयोग करता है। प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति एक भोले और अज्ञानी बालक की भांति सादगी और परमसुख का जीवन व्यतीत करता था। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था अनैतिक नहीं हो सकती है, इसे न सद्गुण की अवस्था कहा जा सकता है। यह धोखाधड़ी और युद्ध की अवस्था बिल्कुल ही नहीं थी क्योंकि अनैतिकता का बोध तब होता है जब मनुष्य में किसी उच्च गुण के समझने की क्षमता होती है और उच्च गुणों का वह दिग्दर्शन करता है। धोखाधड़ी करने की प्रवृत्ति भी तब जागती है जब उसमें हिसाबी बुद्धि का उदय होता है। यह प्राकृतिक अवस्था में थी नहीं। गूच के शब्दों में, "रूसो द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था न तो हॉब्स के सदृश्य सभी का सभी के विरुद्ध युद्ध की थी और न ही लॉक की शान्ति व सइच्छा की अवस्था जैसी थी। यह ऐसी दशा थी कि जिसमें व्यक्ति पशु जैसा अकेला जीवन बिताता था।"

9.5.3 समझौते के कारण–प्राकृतिक अवस्था 'आदर्श अवस्था' थी जहां मनुष्य एक मासूम, निर्दोष और निर्मल पंछी की तरह प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेता हुआ, स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करता हुआ मस्त जीवन व्यतीत करता था। उसे किसी प्रकार की चिन्ता न थी, उसका जीवन शान्तिपूर्ण और सुखी था, परन्तु यह स्वर्णिम अवस्था अधिक दिनों तक कायम न रह सकी। मानव के ज्ञान में वृद्धि हुई। मनुष्य को अग्नि का ज्ञान हुआ। कुछ मोटे ढंग के हथियार व औजार अस्तित्व में आए। लोगों का घुमक्कड़ वनचर जीवन छूट गया और वे निश्चित स्थान पर बसने लगे। स्त्री पुरुषों का आकस्मिक मिलन कुछ स्थायी होने लगा और परिवार भी अस्तित्व में आए। मनुष्यों में परिवार के साथ–साथ सम्पत्ति बनाने की इच्छा हुई। व्यक्तिगत सम्पत्ति की मान्यता के कारण लोगों में परस्पर कलह, द्वेष, हिंसा व युद्ध आदि का प्रादुर्भाव हुआ। "सम्पत्ति सम्बन्धी सर्प मानव समाज में पैदा हो गया और उसकी सुख–शान्ति काफूर हो गई।" सम्पत्ति के कारण ही धनी व निर्धन का भेद उत्पन्न हुआ। इससे उदात्त वनेचर की स्वाभाविक समानता, स्वतन्त्रता समाप्त हो गई एवं दास प्रथा आदि बुराइयाँ उत्पन्न हुईं। व्यक्तिगत सम्पत्ति ने प्राकृतिक अवस्था की शन्ति भंग करके ऐसे सभ्य कहे जाने वाले समाज को जन्म दिया जिसने मनुष्य से मनुष्य की सादगी, ईमानदारी, समानता, परमार्थ की भावना छीनकर उसे इंसानियत का दुश्मन, सम्पत्ति का भूखा, स्वार्थी, घमण्डी बना दिया, अतः सभ्यता, सभ्य समाज, विज्ञान, सम्पत्ति आदि मनुष्य की दुश्मन हैं।

रूसो के अनुसार सभ्यता की वृद्धि के साथ–साथ दरिद्रता, शोषण, हत्या और बीमारी बढ़ती चली गई। युद्ध और तनाव ने मनुष्य को हिंसक बना दिया जिससे समाज की वह दशा हो गई जो हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में थी। रूसो के शब्दों में, "समाज और राज्य का उदय ऐसा था जिसने गरीबों को नयी जंजीरों में बांध दिया और अमीरों को नयी शक्ति दे दी जिसने प्राकृतिक स्वतन्त्रता को बिल्कुल नष्ट कर दिया, सम्पत्ति के कानूनों को बनाकर असामनता को जन्म दिया और कुछ महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के लाभ के लिए सारी मानवता को सदा के लिए मजदूरी, गुलामी और दयनीय स्थिति में धकेल दिया।" रूसो के अनुसार सम्पत्ति के प्रादुर्भाव से मनुष्य की स्वतन्त्रता परतन्त्रता में बदल गई जिसको लक्ष्य करके वह कहता है कि "मनुष्य स्वन्त्र उत्पन्न होता है, किन्तु सर्वत्र वह बेड़ियों से जकड़ा हुआ है।" इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य को स्वतन्त्र एवं स्वाधीन होना चाहिए, यही उसके लिए सर्वोत्तम दशा है, किन्तु समाज के नियम, रूढ़ियाँ तथा प्रतिबन्ध उसे दास बना रहे हैं,उसकी विशुद्ध प्राकृतिक दशा के जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार से उसे वंचित कर रहे हैं। वह अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिए इन बन्धनों से किस प्रकार मुक्त हो, यह रूसो के राजनीतिक चिन्तन की मूल समस्या है।

संक्षेप में, मनुष्य की बेड़ियाँ या परतन्त्रता मनुष्य को व्याकुल करने लगी और वह इससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो उठा। अतः उसने अपने को सर्वनाश की और ले जाने वाली इस अराजक व्यवस्था का अन्त करने के लिए अनुबन्ध या सामाजिक समझौते के आधार पर राज्य की स्थापना की।

रूसो का स्पष्ट मत है कि मनुष्य ने स्वयं ही अपनी खुशियों का, समानता का, स्वतन्त्रता का गला घोंटा हैं, परन्तु इन्हें दुबारा प्राप्त करना अपरिहार्य हैं क्योंकि स्वतन्त्रता, समानता और प्रसन्नता के बिना जीवन व्यर्थ था। प्रश्न है कि इन्हें कैसे प्राप्त किया जाए? रूसो का उत्तर था–"प्रकृति की और चलो"। वह कहता था कि हमें "हमारा अज्ञान, हमारा भोलापन, हमारी गरीबी लौटा दो, हम स्वतन्त्र हो जाएँगे।"

परन्तु रूसो को इस बात का निश्चय हो चुका था कि नागरिक समाज से प्राकृतिक अवस्था की और लौटना असम्भव है। अतः अब वह प्रकृति की और लौट चलने का आवाहन नहीं देता। मैक्सी के शब्दों में 'अब उसकी दिशा आगे की और है न कि पीछे की और'। अब रूसो के सामने समस्या थी–"क्या यह सम्भव है कि ऐसे समाज की स्थापना की जाए जो अपने सदस्यों के जन–धन की पूर्ण शक्ति के साथ रक्षा करे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरो के साथ एक होते हुए केवल अपने आदेशानुसार आचरण कर सके और पहले की भांति स्वतन्त्र रह सके?" इस समस्या का समाधान था–"सामाजिक समझौता", जिसे हॉब्स, लॉक आदि दार्शनिक पहले ही प्रतिपादित कर चुके थे।

9.5.4 सामाजिक समझौता तथा राज्य का स्वरूप–युद्ध और संघर्ष के वातावरण का अन्त करने के लिए रूसो एक सामाजिक समझौते की कल्पना करता है। सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण किया गया, किन्तु अधिकारों का यह समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए किया गया।

रूसो के अनुसार मनुष्यों ने आपस में एक समझौता किया। इस समझौते में सभी व्यक्तियों ने भाग लिया। प्रत्येक व्यक्ति विशेष को अर्पित न कर सम्पूर्ण समाज को अर्पित करता है। इस प्रकार यह समझौता लोगों के निजी स्वरूप और सामूहिक स्वरूप के मध्य हुआ। अ, ब, स, द आदि ने अपने अधिकारों को अ+ब+स+द के सामूहिक स्वरूप को सौंप दिया। इसमें किसी की हानि नहीं, वरन् सबका लाभ ही होता है क्योंकि जब उनमें से किसी एक के व्यक्तिगत अधिकारों पर आक्रमण होता है तो उसकी रक्षा के लिए सारा समाज उपस्थित हो जाता है। रूसो की कल्पना के अनुसार–"हम में से प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और सभी शक्तियों को सामान्य रूप से सार्वजनिक इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अन्तर्गत रखता है और हम संयुक्त रूप से सार्वजनिक इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अन्तर्गत रहते हैं और हम संयुक्त रूप से प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण संगठन के अखण्ड हिस्से के रूप में पाते हैं।"

"समझौता करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत के स्थान पर, समूह बनाने की इस प्रक्रिया में, एकदम एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय का जन्म होता है जो कि उतने ही सदस्यों से मिलकर बना है जितने कि उसमें मत होते हैं। समुदाय बनाने के इसकार्य से ही इस निकाय की अपनी एकता, अपनी सामान्य सत्ता, अपना जीवन तथा अपनी इच्छा प्राप्त होती है। समस्त व्यक्तियों के बने संगठन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहले नगर कहते थे, अब इसे गणराज्य कहते हैं और अब सक्रिय होता है जो सम्प्रभु तथा ऐसे ही अन्य निकायों से इसकी तुलना करने पर इसे शक्ति कहते हैं।"

सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित 'राज्य' को 'सामान्य इच्छा' कहा जाता है। सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति 'सामान्य इच्छा' में ही होती है। सभी व्यक्ति सामान्य इच्छा के अधीन रहते हुए कार्य करते हैं। प्रत्येक नागरिक का सम्प्रभुता में एक भाग होा है और साथ ही वह जानता भी है क्योंकि उसे उस कानून को मानना पड़ता है जिसे उसने स्वयं सम्प्रभु के रूप में बनाया है। इस प्रकार रूसो के दर्शन में हमें 'जनप्रिय सम्प्रभुता' और लोकतन्त्रीय सरकार की आधारशिला मिलती है।

9.5.5 सामाजिक समझौते सिद्धांत के निष्कर्ष–रूसो के सामाजिक समझौते की निम्न विशेषताओं से इसे सरलता से समझा जा सकता है–

1. सामाजिक समझौते के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्ति व अपने अधिकारों को सबको समर्पित कर देता है। इस समपर्ण का आधार और शर्त है समता क्योंकि सभी व्यक्तियों ने समान रूप से अपने अधिकारों का समर्पण कर दिया।
2. समझौते की क्रिया के द्वारा अलग–अलग व्यक्तियों के निजी व्यक्तित्व के स्थान पर एक सामूहिक व्यक्तित्व स्थापित हो जाता है, जिसकी एक पृथक् एकता, पहचान, जीवन तथा इच्छा होती है।
3. सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप मनुष्य की परतन्त्रता का अन्त हो जाता है, वह वास्तविक रूप से स्वतन्त्र हो जाता है और जीवन की एक निश्चित विधि में ढल जाता है।
4. समझौते के परिणामस्वरूप व्यष्टि का स्थान समष्टि तथा व्यक्तिगत इच्छा का स्थान सामान्य इच्छा ले लेती है।
5. रूसो के अनुसार समझौते से किसी सरकार की स्थापना नहीं होती वरन् उससे सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न एक ऐसे समाज की स्थापना होती है जिसके संचालन का आधार समाज की सामान्य इच्छा होती है। समझौते द्वारा स्थापित सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाज अपनी सामान्य इच्छा के अनुसार समाज का संचालन करने के लिए सरकार की नियुक्ति करता है जो उस समाज का एक यन्त्र मात्र होती है तथा ऐसी सरकार यदि सामान्य इच्छा के अनुसार कार्य नहीं करती, तो उसे बदला व हटाया जा सकता है।
6. इस समझौते के द्वारा व्यक्ति कुछ भी नहीं खोता क्योंकि जो अधिकार वह दूसरों को अपने ऊपर देता है वही अधिकार वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर प्राप्त कर लेता है।
7. रूसो के अनुसार समझौता कोई ऐसी घटना नहीं है जो कभी एक बार घटी हो। यह तो एक निरन्तर चलने वाला क्रम है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में निरन्तर भाग लेता रहता है।
8. इस प्रकार उत्पन्न राज्य एक सावयव राज्य है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अविभाज्य अंग होने के कारण राज्य से किसी भी प्रकार अलग नहीं हो सकता और न ही व्यक्ति राज्य के विरुद्ध आचरण कर सकता है।

इस प्रकार रूसो का सामाजिक समझौता हॉब्स और लॉक के समझौ से भिन्न होते हुए भी प्रभावित अवश्य है। हॉब्स की भांति रूसो ने माना है कि समझौते के लिए उत्सुक व्यक्तियों ने अपने सम्पूर्ण अधिकार बिना किसी शर्त के समर्पित कर दिये, लेकिन यह अवश्य है कि हॉब्स के मन्तव्य के विपरीत ये अधिकार किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को नहीं सौंपे गए। लॉक की भांति रूसो ने यह स्वीकार किया है कि समझौते के बाद सम्पूर्ण सत्ता समाज में ही निहित रही। रूसो

की इस स्थिति के बारे में गैटेल ने लिखा है, "रूसो की रचना का यह भाग हॉब्स और लॉक दोनों से प्रभावित था, हॉब्स की पद्धति और लॉक के निष्कर्ष को जिज्ञासापूर्वक संयुक्त कर दिया गया...इस प्रकार हॉब्स की तरह जहां सत्ता निरंकुश स्थापित हुई, वहां लॉक की रह व्यक्ति अब भी समान अधिकार रखते थे।"

9.6 रूसो के समझौते सिद्धान्त की आलोचना—17वीं शताब्दी में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय रहा, परन्तु रूसो की मृत्यु के उपरान्त इसका पूर्ण पतन हो गया। बेन्थम, सर फ्रेडरिक पोलक, वाहन, एडमण्ड बर्क, आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। सर हेनरीमेन ने तो स्पष्ट कहा है कि "समाज तथा सरकार की उत्पत्ति के इस वर्णन से बढ़कर व्यर्थ की वस्तु और क्या हो सकती है?" निम्न तर्कों के आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जा सकती है—

9.6.1 प्राकृतिक अवस्था काल्पनिक है—रूसो ने प्राकृतिक अवस्था का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह निराधार एवं काल्पनिक है। ऐतिहासिक तथ्य यह किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं करते कि मनुष्य ऐसा शान्तिमय, सुखमय और आदर्श जीवन—यापन कभी करते थे।

9.6.2 मानव स्वभाव का गलत अध्ययन—रूसो की प्राकृतिक अवस्था का चित्रण मानव स्वभाव की गलत धारणा पर बना है। उसका मत है कि मौलिक रूप से मनुष्य अच्छा और गुणी है। उसके समस्त दोष बाह्य परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न हुए हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है। निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य अच्छाई और बुराई का सम्मिश्रण है।

9.6.3 विचित्र विरोधाभास—रूसो के अनुसार यह समझौता व्यक्ति और समाज में होता है और दूसरी और रूसो यह बताता है कि समाज समझौता का परिणाम है। यह एक विरोधाभास है जो समझौते की धारणा को असंगत बनाता है। इसके अतिरिक्त रूसो के वर्णन में एक अन्य असंगति यह है कि कहीं तो वह समझौते की ऐतिहासिक घटना कहता है और कहीं उसे एक निरन्तर चलने वाला क्रम।

9.6.4 सामाजिक प्रगति के सिद्धान्त का विरोध—रूसो सामाजिक प्रगति के सिद्धान्त का विरोध करता है। उसकी यह मान्यता है कि जैसे—जैसे समाज प्राकृतिक जीवन से दूर हुआ है वैसे—वैसे उसका पतन हुआ है, लेकिन यह बात तथ्यपूर्ण नहीं है। मानव जाति का आज तक का इतिहास उसकी प्रगति का इतिहास है। ज्ञान और विज्ञान दोनों के क्षेत्रों के विकास के जिन शिखरों को आज मनुष्य स्पर्श कर पाने में सफल हुआ है वैसा अतीत में कभी नहीं हुआ। मनुष्य में विद्यमान जिज्ञासा की प्रवृत्ति उसे हमेशा आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती रही है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।

9.6.5 राज्य समझौते का नहीं, विकास का परिणाम है—रूसो की धारणा सरासर गलत है कि राज्य का जन्म किसी समझौते के कारण हुआ है। आज यह सिद्ध हो चुका है कि राज्य का किसी समय विशेष में जन्म नहीं हुआ वरन् उसका शनैः शनै विकास हुआ है।

9.6.6 व्यक्ति को निरंकुशता के हवाले कर देना—रूसो के अनुसार समझौते के द्वारा व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता और अधिकार समाज को समर्पित कर देता है। अतः इसकी स्थिति स्वतन्त्रता और अधिकारविहीन हो जाती है। रूसो इसकी सफाई यह कहकर देता है कि समाज का सदस्य होने के नाते व्यक्ति अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता और अधिकार पुनः प्राप्त कर लेता है, किन्तु यह एक सैद्धान्तिक कथन मात्र है। वास्तविकता यह है कि रूसो ने व्यक्ति को पूर्णतः सामान्य इच्छा की निरंकुशता के हवाले कर दिया है।

9.6.7 व्यक्ति की स्थिति हास्यास्पद—रूसो ने व्यक्ति को दोहरा व्यक्तित्व प्रदान किया है। शासन के रूप में वह नागरिक है और कानून का आदेश पालन करने वाले के रूप में प्रजा है—अर्थात् वह नागरिक और प्रजा दोनों है। नागरिक की इस दोहरी स्थिति से जो परिणाम निकलते हैं वे बुद्धि से परे और हास्यास्पद हैं। उदाहरण के लिए, अगर एक व्यक्ति को राजाज्ञा से फांसी पर लटकाया जाता है तो रूसो के अनुसार उसके सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि उसने एक नागरिक की तरह अपने आपको फांसी पर लटकाए जाने की आज्ञा दी और एक प्रजा की तरह राजाज्ञा का पालन करते हुए वह फांसी पर लटक गया। यह न समझ में आने वाली विचित्र बात है।

9.6.8 रूसो का राज्य 'शीश कटा लेवियाथन'—रूसो राज्य व समाज में किसी प्रकार का अन्तर नहीं करता। फलतः रूसों का राज्य सर्वाधिकारवादी राज्य बन जाता है जिसे आलोचकों ने 'शीशविहीन लेवियाथन' कहा है। उसे 'शीशविहीन लेवियाथन' इसलिए कहा गयाहै कि यद्यपि हॉब्स के 'लेवियाथन' की तरह वह सामान्य इच्छा से निर्देशित होने के कारण निरंकुश नहीं है, लेकिन सामान्य इच्छा क्या है इसका निर्धारण करने का एकाधिकार उसके हाथों में केन्द्रित है। अतः

व्यावहारिक रूप से वह निरंकुश हो जाता है। इस तरह वह सामान्य इच्छा से जो पर्ण जनतान्त्रिक है, निर्देशित होते हुए भी निरंकुशता का उपयोग करने की स्थिति में बना रहता है। इसलिए वह एक 'शीश कटा लेवियाथन' है।

9.7 रूसो के सामाजिक सिद्धान्त का महत्व

रूसो के सिद्धान्त की आलोचना की गई है, इसे काल्पनिक तथा निरंकुश कहा गया है तथापि उसके सिद्धान्त का महत्व अवश्य है। प्रथम, इस सिद्धान्त के द्वारा रूसो ने दैवी अधिकार के सिद्धान्त पर कटु प्रहार किया। द्वितीय, इस सिद्धान्त ने राज्य को मानवीय संस्था बताकर निरंकुश शासन का विरोध किया। तृतीय, इस सिद्धान्त ने इस बात पर जोर दिया है कि राज्य और शासन का अधिकार जन सहमति है। पंचम इसने, लोकप्रिय सम्प्रभुता को सुदृढ़ बनाया।

9.8 रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त है। कुछ विचारक इस सिद्धान्त को सबसे अधिक खतरनाक सिद्धान्त मानते हैं जबकि अन्य विचारकों की राय में सामान्य इच्छा का सिद्धान्त लोकतन्त्र तथा राजनीति दर्शन की आधारशिला है। आस्बर्न के शब्दों में, "सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीति दर्शन को न केवल रूसो का मौलिक योगदान है अपितु सबसे महत्वपूर्ण योगदान भी है।" रूसो की मुख्य समस्या यह है कि किस प्रकार सामाजिक सत्ता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में समन्वय स्थापित किया जाए और किस प्रकार स्वतन्त्रता रूपी अण्डे को तोड़े बिना राज्य रूपी आमलेट को तैयार किया जाए। रूसो ने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा इस समस्या के समाधान का प्रयास किया है।

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धान्त के अनुसार आदिम मनुष्य पशुतुल्य, निष्पाप, निर्दोष तथा स्वाभाविक रूप से अच्छा था। उसका जीवन पशुओं जैसा व एकाकी था। रूसो के अनुसार प्राकृतिक मनुष्य एकाकी, स्वतन्त्र, नैतिक तथा अनैतिक भावनाओं से मुक्त, सम्पत्ति तथा परिवार से रहित आदिम स्वर्णयुग की स्वर्गीय दशा में रहता था। प्राकृतिक अवस्था आदर्श अवस्था थी, लेकिन कृषि के आविष्कार के कारण सम्पत्ति और 'मरे–तरे' की भावना का विकास हुआ जिससे प्राकृतिक शान्तिमय जीवन नष्ट हो गया तथा युद्ध, संघर्ष और विनाश का वातावरण उत्पन्न हुआ। इस असहनीय स्थिति से छुटकारा पाने के लिए सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा अपने सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण किया गया। समझौते के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अन्तर्गत रहते हुए कार्यरत रहते हैं। दूसरे शब्दों में, रूसो सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित राज्य को 'सामान्य इच्छा' कहता है।

रूसो के सम्पूर्ण दर्शन में सामान्य इच्छा का सिद्धान्त उसका मौलिक योगदान है। रूसो के इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त ने राजदर्शन में हलचल उत्पन्न कर दी। जोन्स के शब्दों में, "सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो के चिन्तन का न केवल केन्द्र बिन्दु है अपितु यह अत्यन्त मौलिक, दिलचस्प और ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिक सिद्धान्त को उसका महत्वपूर्ण योगदान है।" शायद ही कोई सिद्धान्त इतना विवादास्पद रहा हो जितना कि सामान्य इच्छा का सिद्धान्त। एक ओर तो लोकतन्त्र के समर्थकों ने मुक्त ह्रदय से इसका स्वागत कर इसे प्रजातन्त्र का आधार स्तम्भ बनाया और दूसरी ओर निरंकुश शासकों ने इसका दामन पकड़कर जनता पर मनमाने अत्याचार किए।

सामान्य इच्छा क्या है?—सामान्य इच्छा क्या होती है, इसे समझने के लिए रूसो द्वारा प्रतिपादित मानव इच्छा के विश्लेषण को समझना आवश्यक है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। किसी न किसी प्रकार के विचार या इच्छाएँ उसके ह्रदय से सदा उठती रहती हैं। मनुष्य की ये इच्छाएँ सामान्यतः दो प्रकार की होती हैं—प्रथम, यथार्थ तथा द्वितीय, आदर्श इच्छाएँ।

यथार्थ इच्छा—सामान्यतया यथार्थ इच्छा और आदर्श इच्छा का एक की अर्थ लिया जाता है, परन्तु रूसों के द्वारा इनका प्रयोग विशेष अर्थों में किया गया है।

रूसो के अनुसार मनुष्य की यर्थाथ इच्छा स्वार्थ प्रधान होती है। वह मनुष्य की अविवेकपूर्ण संकीर्ण प्रवृत्ति का परिणाम होती है, स्वार्थ तथा वैयक्तिक हित की दृष्टि में रखती है तथा सामाजिक हित का विचार नहीं करती। उदाहरणार्थ, खाद्य पदार्थों में मिलावट करने वाले व्यापारी का लक्ष्य केवल लाभ कमाने का विचार होता है, वह इससे समाज को पहुंचने वाली हानि को कभी नहीं देखता। संक्षेप में, यर्थाथ इच्छा संकुचित, अविवेकपूर्ण, अस्थाई और क्षणिक इच्छाएँ होती हैं। डॉ. आशीवार्दम् के शब्दों में, "यह व्यक्ति की समाज विरोधी इच्छा है, क्षणिक एवं तुच्छ इच्छा है। यह संकुचित तथा स्वविरोधी है।"

आदर्श इच्छा—मनुष्य की आदर्श इच्छा उसके व्यापक दृष्टिकोण का परिणाम होती है। यह सामाजिक हित से सम्बन्ध होने के कारण अस्थाई और क्षणिक नहीं होती। यह मनुष्य की बुद्धि के चिन्तन का परिणाम और वैयक्तिक स्वार्थ से रहित होने के कारण व्यक्ति की वास्तविक इच्छा होती है। संक्षेप में, दृष्टिकोण, की व्यापकता, दूरदर्शिता, स्थायित्व, व्यक्ति व समाज के हित का सामंजस्य, पूर्णता व विवेकशीलता व्यक्ति की आदर्श इच्छा की विशेषताएँ होती हैं। डॉ. आर्शीवादम्

के शब्दों में, "यह जीवन के समस्त पहलुओं पर व्यापक रूप से दृष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है। यह शक्ति तथा समाज के सामंजस्य में प्रदर्शित होती है।"

सामान्य इच्छा—समाज के विभिन्न व्यक्तियों की आदर्श इच्छा का सर्वयोग ही सामान्य इच्छा है। रूसो की मान्यता है कि सब नागरिकों की वह इच्छा जिसका उद्देश्य सामान्य हित हो, सामान्य इच्छा कहलाती है। "यह सब व्यक्तियों में से आनी चाहिए तथा सब व्यक्तियों पर लागू होनी चाहिए। सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए बोसांके ने कहा कि "सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज की सामूहिक अथवा सभी व्यक्तियों की ऐसी इच्छाओं का समूह होता है जिनका लक्ष्य सामान्य हित हो।" ग्रीन के अनुसार यह "सामान्य हित की सामान्य चेतना है।" वेपर के अनुसार "सामान्य इच्छा नागरिकों की वह इच्छा है जिसका लक्ष्य सबकी भलाई है, व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं। यह सबकी भलाई के लिए सबी आवाज है।"

अतः सामान्य इच्छा की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। यह एक भाव है जो समझा जा सकता है, किन्तु व्यवहार नहीं लाया जा सकता। किसी इच्छा को सामान्य इच्छा होने के लिए यह आवश्यक है कि वह सामान्य व्यक्तियों की इच्छा हो और उसका आधार सामान्य हित हो। अर्थात् सामान्य इच्छा के दो अंग हैं—प्रथम, सामान्य व्यक्तियों की इच्छा, और द्वितीय, सामान्य हित पर आधारित विवेकशील इच्छा।

सामान्य इच्छा का निर्माण—प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार की यथार्थ और आदर्श इच्छाएँ होती हैं। समाज का प्रत्येक व्यक्ति हर सार्वजनिक प्रश्न पर अपने ढंग से विचार करता है, परन्तु यदि समाज सभ्य है और उसमें नागरिकता की भावना मौजूद है तो व्यक्तियों की इच्छाओं के स्वार्थपूर्ण तत्व एक—दूसरे को नष्ट कर देते हैं और ऐसा हो जाने पर सामान्य इच्छा बन जाती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति में स्वार्थी और सामाजिक इच्छाओं में प्रायः विरोध होता रहता है। जब स्वार्थी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं तो सामाजिक इच्छाएँ शेष रहती हैं। सभी व्यक्तियों की इन सामाजिक इच्छाओं के मिश्रण से सामान्य इच्छा का निर्माण होता है।

सामान्य इच्छा तीन दृष्टियों से सामान्य होनी चाहिए—

1. उद्गम की दृष्टि से इसमें सब नागरिकों की सहमति होनी चाहिए।
2. क्षेत्र की दृष्टि से यह राज्य की समस्त जनता से सम्बन्धित होनी चाहिए।
3. ध्येय की दृष्टि से यह समाज के हित के अनुकूल होनी चाहिए।

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ—रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी धारणा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

1. **अखण्डता**—सामान्य इच्छा एक संगठित इकाई होती है और उसके कोई खण्ड नहीं हो सकते। यह अखण्ड है क्योंकि सामान्य होने के कारण यह कई अंशों में विभाजित नहीं की जा सकती है। यह एकत्व वाली होती है तथा राज्य को एकता के सूत्र में पिरोती है। रूसो ने कहा है—"सामान्य इच्छा राष्ट्रीय चरित्र में एकता उत्पन्न करती है और उसे स्थिर रखती है।"
2. **सम्प्रभुता**—सामान्य इच्छा सर्वोच्च और सम्प्रभु होती है। इस पर किसी प्रकार के दैवी और प्राकृतिक नियमों का प्रतिबन्ध नहीं होता। यही कानून का निर्माण करती है, धर्म का निरूपण करती है एवं नैतिक और सामाजिक जीवन को संचालित करती है। रूसो के शब्दों में "जो कोई सामान्य इच्छा का पालन नहीं करता, वह आज्ञा पालन के लिए समस्त समाज द्वारा बाध्य किया जा सकता है। इसका अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं है कि उसे स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जाए।"
3. **अदेयता**—सामान्य इच्छा अदेय है अर्थात् यह इच्छा किन्हीं व्यक्तियों को हस्तांतरित नहीं की जा सकती है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर से उसके प्राण को पृथक् नहीं किया जा सकता है, उसे किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता, वैसे ही प्रमुसत्ता को सामान्य इच्छा से अलग करना सम्भव नहीं है।
4. **अप्रतिनिधित्व**—सामान्य इच्छा प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त किए जाने योग्य नहीं है। रूसो ने कहा है कि जब कोई राष्ट्र प्रतिनिधियों को नियुक्त करता है तब वह स्वतन्त्र नहीं रह जाता, अपना अस्तित्व कायम नहीं कर सकता। उसके अनुसार तो संसद के सदस्यों के केवल निर्वाचन के समय ही इंग्लैण्ड की जनता स्वतन्त्र होती है, निर्वाचनों के बाद जनता दास और नगण्य बन जाती है। वस्तुतः रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का उपासक है, इसमें सब व्यक्ति अपनी इच्छा को स्वयमेव अभिव्यक्त करते हैं।
5. **अचूक**—सामान्य इच्छा अचूक है, क्योंकि यह सभी व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का सामूहिक रूप है इसलिए वह सदा न्यायसंगत है और उचित है।
6. **स्थायी**—सामान्य इच्छा किसी प्रकार से भावात्मक आवेगों, आवेगों या सनक का परिणाम नहीं होती अपितु मानव के जनकल्याण की स्थायी प्रवृत्ति और विवेक का परिणाम होती है। व्यक्तियों के विवेक पर आधारित होने के कारण उसमें परिवर्तन नहीं होता।

7. **लोक कल्याणकारी**–सामान्य इच्छा की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता उसका लोक कल्याणकारी होना है। सामान्य इच्छा का ध्येय समाज के किसी अंग का कल्याण न होकर सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता है।
8. **विवेक पर आधारित**–सामान्य इच्छा किसी प्रकार की भावनाओं पर नहीं वरन् तर्क तथा विवेक पर आधारित होती है। यह हमेशा उचित और सही होती है क्योंकि हमेशा पूरे समाज के कल्याण से प्रेरित होती है।
9. **कानून द्वारा अभिव्यक्त**–रूसो की सामान्य इच्छा सामान्य कानून द्वारा अपने को व्यक्त करती है, किसी अन्य माध्यम द्वारा नहीं।
10. **निरंकुश**–सामान्य इच्छा सर्वोच्च व निरंकुश होती है। इसके ऊपर समाज की कोई अन्य शक्ति नहीं हो सकती। इसकी आज्ञा का पालन सबके लिए अनिवार्य है।

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा की उपर्युक्त विशेषताओं से 'सामान्य इच्छा' अवधारणा की प्रकृति को समझने में सहायता मिलती है। इन विशेषताओं के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचते हैं–

1. राजनीतिक संगठन या राज्य को एक संगठित शरीर या विराट् पुरुष मानना चाहिए। इसमें अन्य सावयवों की भांति सावयवी एकता होती है।
2. यह राजनीतिक संगठन या विराट् पुरुष नैतिक प्राणी होता है, इसकी अपनी इच्छा होती है।
3. यह सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहती है।
4. यह सब कानूनों और विधियों का मूल स्रोत है।
5. यह अपने राज्य के सब सदस्यों के लिए न्याय और अन्याय का निर्धारण करती है।
6. यह सदैव सही और सार्वजनिक हित का पोषण करने वाली होती है।
7. सामान्य इच्छा ही उस समाज या राज्य की सम्प्रभु है। सम्प्रभु होने के कारण सामान्य इच्छा की सभी आज्ञाओं का पालन करना समाज के सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक है।

सामान्य इच्छा और बहुमत–रूसो की सामान्य इच्छा बहुमत से भिन्न है। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति में संख्या का कोई मूल्य नहीं है। वह किसी एक या कुछ व्यक्तियों की इच्छा भी हो सकती है। यदि समाज का एक बहुसंख्यक वर्ग अपने अनुचित निर्णयों को अल्पसंख्यक वर्ग पर थोपने का प्रयत्न करे तो उसके इस कार्य को समाज की सामान्य इच्छा का प्रतीक नहीं माना जा सकता।

सामान्य इच्छा और सर्वसम्मति–सामान्य इच्छा व सर्वसम्मति में अन्तर करते हुए रूसो ने लिखा है कि प्रथम का लक्ष्य सार्वजनिक होता है जबकि द्वितीय का लक्ष्य वैयक्तिक हित होता है। सर्वसम्मति समाज के सब व्यक्तियों की इच्छा होती है, जबकि सामान्य इच्छा एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों या सब व्यक्तियों द्वारा व्यक्त इच्छा भी हो सकती है। सर्वसम्मति व्यक्तियों के हितों से भी सम्बन्धित हो सकती है, पर सामान्य इच्छा अनिवार्यतः समस्त समाज के कल्याण से ही सम्बन्धित होती है।

सामान्य इच्छा और लोकमत–सामान्य इच्छा व लोकमत को भी एक नहीं समझना चाहिए। लोकमत का रूप कभी–कभी ऐसा भी हो सकता है जिसका सम्बन्ध समाज के हित से नहीं हो, पर सामान्य इच्छा सदा समाज के स्थायी हित का ही प्रतिनिधित्व करती है। समाचार पत्र, रेडियो आदि प्रचार साधनों द्वारा लोकमत को भ्रष्ट किया जा सकता है पर सामान्य इच्छा कभी विकृत नहीं होती।

सामान्य इच्छा सिद्धान्त की आलोचना–रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन के सर्वाधिक विवादास्पद विषयों में से एक है। इस सिद्धान्त में कतिपय गम्भीर दोष हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. **सिद्धान्त की अस्पष्टता**–सामान्य इच्छा का सिद्धान्त अस्पष्ट है। कभी रूसो कहता है कि सामान्य इच्छा और सभी की इच्छा में महान् अन्तर है; कहीं–कहीं पर उसने बहुमत की इच्छा को ही सामान्य मान लिया है। बहुत कुछ तो रूसो ने भावावेश में आकर लिख दिया जो तर्क की दृष्टि से युक्ति–संगत नहीं। उसकी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में पग–पग पर अस्पष्टता, विरोधाभास तथा अन्तर्विरोध भरा पड़ा है। वेपर के अनुसार "जब रूसो ही हमको सामान्य इच्छा का पता नहीं दे सका तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ? रूसो ने हमें एक ऐसे अन्धकार में छोड़ दिया है जहां हम सामान्य इच्छा के बारे में अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।"
2. **सामान्य इच्छा अनैतिहासिक तथा काल्पनिक है**–रूसो की 'सामान्य इच्छा' उसकी काल्पनिक उड़ान है। इतिहास में इस प्रकार के समझौते का वर्णन नहीं मिलता जैसा रूसो ने चित्रित किया है।

3. **यथार्थ और आदर्श इच्छा का काल्पनिक भेद**–रूसो ने व्यक्ति की इच्छाओं को दो भागों में बांटा है–यथार्थ इच्छा तथा आदर्श इच्छा। वास्तव में इच्छाओं का इस प्रकार का विभाजन सम्भव नहीं। व्यक्ति की इच्छा ऐसी जटिल, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि है कि उसका यह विभाजन सम्भव नहीं है।
4. **सामान्य इच्छा निरंकुशता को प्रोत्साहन देती है**–सामान्य इच्छा अधिनायकवाद तथा सर्वाधिकारवाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। रूसो कहता है कि कानून इस सामान्य इच्छा के द्वारा ही बनाए जाते हैं। सामान्य इच्छा का कोई भी व्यक्ति उल्लंघन नहीं कर सकता। सामान्य इच्छा के नाम पर शासक द्वारा व्यक्ति पर मनमाने अत्याचार किए जा सकते हैं। जोन्स ने लिखा है कि "रूसो के सामान्य इच्छा विषयक सिद्धान्त में कुछ ऐसे अस्थिर तत्व हैं जो उसे जनतन्त्र के समर्थन से हटकर निरंकुश शासन के समर्थन की ओर ले जाते हैं।" डाइड के शब्दों में, "रूसो सामान्य इच्छा की आड़ में बहुमत की निरंकुशता का प्रतिपादन तथा समर्थन करता है।" वाहन के अनुसार "रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त हॉब्स का सिरविहीन लेवियाथन है।"
5. **सार्वजनिक हित की परिभाषा करना कठिन**–सामान्य इच्छा का विचार सार्वजनिक हित के विचार पर आधारित है, लेकिन सार्वजनिक हित की परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है। एक निरंकुश तानाशाह भी अपने कार्यों को सार्वजनिक हित के नाम पर उचित ठहरा सकता है।
6. **सामान्य इच्छा व्यक्ति की महत्ता को नष्ट कर देती है**– सामान्य इच्छा से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता है। सामान्य इच्छा के सामने व्यक्ति की इच्छा को कोई महत्व नहीं दिया गया है। रूसो सामान्य इच्छा की अवज्ञा करने वाले को इसके पालन के लिए बाध्य करता है। स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य करना एक विचित्र तर्क है। इसी प्रकार का तर्क, जैसा सेबाइन ने लिखा है, "रूसो के दर्शन में और उसके बाद हीगल के दर्शन में सन्दिग्ध शब्दजाल के साथ एक खतरनाक परीक्षण है...।"
7. **छोटे राज्यों के लिए ही उपयुक्त**–सामान्य इच्छा का सिद्धान्त केवल छोटे राज्यों में ही सफल हो सकता है क्योंकि यहां पर जनसंख्या के कम होने पर सामान्य इच्छा का पता आसानी से लगाया जा सकता है। आधुनिक युग के बड़े राज्यों में जिनमें बड़ी संख्या में विभिन्न प्रकार के जनसमूह निवास करते हैं, सामान्य हित पर आधारित इच्छा का पता लगाना कठिन ही नहीं असम्भव है। अतः यह बड़े राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं है।
8. **प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में सम्भव नहीं**–रूसो का विचार है कि सामान्य इच्छा की सिद्ध के लिए सभी व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रभुसत्ता के प्रयोग में सक्रिय भाग लिया जाना चाहिए। इस शर्त का पालन प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में भले ही सम्भव हो, आधुनिक समय के प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्रं में कतई सम्भव नहीं हो सकता। रूसो द्वारा प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का यह तिरस्कार अन्तिम रूप मे लोकतन्त्र का ही तिरस्कार हो जाता है क्योंकि वर्तमान समय में प्रतिनिध्यात्मक शासन ही लोकतन्त्र का एकमात्र व्यावहारिक रूप है।

सामान्य इच्छा सिद्धान्त का महत्व–विभिन्न दोषों के उपरान्त भी रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में असाधारण महत्व रखता है।

1. सामान्य इच्छा का विचार लोकतन्त्र का पोषक है क्योंकि यह प्रभुसत्ता का आधार जनस्वीकृति मानता है।
2. इसने यह प्रतिपादित किया कि राज्य का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष का नहीं, किन्तु समूचे समाज का कल्याण और जनता का हित सम्पादन करना होना चाहिए, सामाजिक और सामान्य हित वैकल्पिक हितों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ट एवं उत्कृष्ट हैं।
3. रूसो के सिद्धान्त ने आदर्शवादी विचारधारा को प्रेरणा प्रदान की है क्योंकि इसने यह प्रतिपादित किया है कि 'शक्ति नहीं वरन् इच्छा राज्य का आधार है।'
4. यह सिद्धान्त व्यक्ति तथा सामाज में शरीर तथा उसके अंगों के समान सम्बन्ध स्थापित करके सामाजिक स्वरूप को सुदृढ़ करता है।
5. यह सिद्धान्त यह भी घोषित करता है कि राज्य कृत्रिम न होकर एक स्वाभाविक संस्था है। कोल के अनुसार यह हमें सिखाता है कि राज्य मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकताओं और इच्छाओं पर आधारित है, इसलिए राज्य के प्रति हमें आज्ञाकारी होना चाहिए क्योंकि यह हमारे व्यक्तित्व का ही स्वाभाविक विस्तार है।

संक्षेप में, रूसो का सामान्य इच्छा सिद्धान्त राज्य के आंगिक स्वरूप का बोध कराता है और सार्वजनिक हितों को वैयक्तिक हितों की अपेक्षा उत्कृष्ट मानता है। रूसो ने सामान्य इच्छा द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि लोकतान्त्रिक संरचना ही लोकतन्त्र की आत्मा नहीं होती। नैतिकता, न्याय और सद्गुण के अभाव में लोकतान्त्रिक संस्थाएँ महत्वहीन हैं। राजनीतिक चिन्तन के सैद्धान्तिक इतिहास में ही नहीं बल्कि व्यावहारिक राजनीति पर भी रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का गम्भीर प्रभाव पड़ा है। यदि किसी व्यक्ति को फ्रेन्च क्रान्ति के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है तो वह

रूसो ही है। उसके ग्रन्थ न केवल फ्रेन्च क्रान्तिकारियों के लिए, अपितु उसके बाद यूरोप के अन्य देशों में होने वाली क्रान्तियों के लिए प्रबल प्रेरणा का स्रोत रहे हैं।

9.9 अन्य राजनैतिक विचार

9.9.1 सम्प्रभूता सम्बन्धी विचार

रूसो ने सम्प्रभुता को सामान्य इच्छा में निहित माना है। बोदां तथा हॉब्स ने प्रभुसत्ता के विचार से राजा की निरंकुश सत्ता को पुष्ट किया था, रूसो की यह विशेषता है कि उसने इससे जनता की सत्ता का समर्थन किया। रूसो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति सम्प्रभुता का भागीदार है, अतः सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज में निहित है।, वह सर्वोच्च शक्ति है। उसके विरुद्ध किसी को भी विद्रोह करने का अधिकार नहीं है। वस्तुतः रूसो ने जनता की सत्ता का प्रतिपादन करके 'लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया।

रूसों की प्रभुसत्ता की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—पहली विशेषता अविच्छेद्यता है। चूंकि सामान्य इच्छा के रूप में यह जनता में रहती है, अतः यह कभी उससे पृथक् नहीं हो सकती है। दूसरी विशेषता इसका प्रतिनिधित्व न हो सकना है। चूंकि यह जनता में सामूहिक रूप से निवास करती है, अतः कोई भी व्यक्ति इसका समूचे रूप में कभी प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। तीसरी विशेषता इसका असीम और अमर्यादित होना है अर्थात् इस पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाए जा सकते हैं। चौथी विशेषता इसका सब कानूनों का मल स्रोत होना है अर्थात् राज्य के सब कानून इससे ही उत्पन्न होते हैं। पंचम विशेषता अविभाज्यता है—अर्थात् समूची जनता में इसका निवास होने के कारण इसका विभाजन सम्भव नहीं है।

इस प्रकार रूसो ने जनता की असीम, मर्यादित अनन्यक्राम्य और अविभाज्य प्रभुसत्ता का प्रतिपादन किया। उसके सम्प्रभुता के सिद्धान्त में हॉब्स और लॉक दोनों के विचारों का समन्वय है। अरनेस्ट रीज के शब्दों में "रूसो हॉब्स की निरंकुश प्रभुसत्ता के विचार को लॉक के जन सहमति के विचार से समन्वित करके जनप्रभुसत्ता के दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण करता है।"

9.9.2 शासन सम्बन्धी विचार

रूसो ने राज्य और शासन (सरकार) में स्पष्ट अन्तर किया है। सामाजिक समझौते से जो निकाय बनता है उसे वह राज्य कहकर पुकारता है। इस सम्प्रभु निकाय की इच्छा को क्रियात्मक रूप देने के लिए सरकार का निर्माण किया जाता है। सरकार का निर्माण सामाजिक समझौते द्वारा नहीं अपितु सम्प्रभुता सम्पन्न समुदाय के प्रत्यादेश द्वारा होता है। अतः सरकार सम्प्रभु का एजेन्ट मात्र होती है जिसे जन समुदाय अपनी इच्छा के अनुसार सीमित, नियन्त्रित और परिवर्तित कर सकता है। रूसो के शब्दों में "राज्य प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न और सर्वोच्च है जबकि सरकार सम्प्रभु राज्य तथा प्रजाजनों के मध्य निर्मित वह संगठन है जो उनके पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता है, सम्प्रभु द्वारा निर्मित कानून को लागू करता है तथा राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रता को बनाए रखता है।"

रूसो के अनुसार सरकार का काम केवल शासन करना है, कानून बानाने का कार्य सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न विधायिका का है। सरकार सम्प्रभु जनता की सेवक मात्र है और वह सम्प्रभु द्वारा दी गई शक्तियों का प्रयोग कर सकती है। जनता अपनी इच्छानुसार उसकी शक्ति को मर्यादित या संशोधित कर सकती है या चाहने पर उसे वापस भी ले सकती है।

9.9.3 शासन प्रणालियों का वर्गीकरण—रूसो ने चार प्रकार की शासन प्रणालियाँ मानी हैं राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, प्रजातन्त्र और मिश्रित शासन। उसने व्यावहारिक कारणों से लोकतन्त्र की आलोचना की है। वह प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र का घोर विरोधी था। उसका झुकाव प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की और है और इसलिए वह प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र को सच्चा लोकतन्त्र नहीं मानता। इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में उसकी राय थी कि उसकी जनता निर्वाचन के समय ही स्वतन्त्र होती है, शेष अवधि में वह दासता की स्थिति में रहती है। रूसो जनतन्त्र की भी आलोचना करता है क्योंकि उसमें उत्तराधिकार की समस्या बन रहती है। वह कुलीनतन्त्र को श्रेष्ठ शासन प्रणाली मानता है। उसने कुलीनतन्त्र के तीन प्रकार माने हैं। प्राकृतिक, वंशानुगत तथा निर्वाचनात्मक। निर्वाचित कुलीनतन्त्र को वह सर्वोत्तम शासन व्यवस्था कहता है।

माण्टेस्क्यू की भांति रूसो का मत था कि भौगोलिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ किसी देश की शासन प्रणाली पर गहरा प्रभाव डालती हैं। कृषिप्रधान तथा औद्योगिक देशों की शासन प्रणालियाँ सर्वथा भिन्न होंगी।

रूसो शासन की सफलता की कसौटी जनसंख्या में वृद्धि मानता है। उसके अनुसार जनसंख्या की वृद्धि राष्ट्र की प्रगति की परिचायक है। वह शासन की शक्तियों की वृद्धि के खिलाफ था। उसकी इस धारणा से कि निश्चित अवधि के बाद संविधान पर पुनर्विचार करने के लिए लोकसभाएँ बुलाई जाएँ, संविधान सभाएँ बुलाने की प्रथा प्रारम्भ हुई।

9.9.4 कानून सम्बन्धी विचार

रूसो के अनुसार सम्प्रभु कानून का निर्माता है। रूसो के अनुसार सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निहित है इसलिए 'सामान्य इच्छा' ही कानून का स्रोत है। रूसो कानून को सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति मानता है। सम्बन्ध सबसे कहता है—"एक कानन सम्पर्ण जनता के लिए प्रस्ताव है, जिसका सम्बन्ध ऐसे विषयों से होता है जिनका सम्बन्ध सबसे होता है। इस

तरह रूसो के अनुसार कानून के लिए दो बातें आवश्यक हैं। प्रथम, कानून सामान्य हित से सम्बन्धित होना चाहिए और द्वितीय, उसका स्रोत सम्पूर्ण जनता होनी चाहिए।

रूसो ने कानूनों के चार प्रकार बतलाए हैं–(1) संवैधानिक कानून, (2) दीवानी कानून, (3) फौजदारी कानून, तथा (4) परम्परागत कानून। संवैधानिक कानून वे कानून हैं जो सम्प्रभु और राज्य के साथ सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं। नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाले कानून दीवानी कानून कहे जाते हैं। जो कानून आदेशोलंधन के लिए दण्ड की व्यवस्था करते हैं वे फौजदारी कानून हैं। रूसो ने परम्परागत कानून उन कानूनों को कहा है जो प्रथा या परम्परा के रूप में मनुष्यों के आचार–विचार को प्रभावित करते हैं।

रूसो ने कानून निर्माण के लिए एक विधि निर्माता की आवश्यकता प्रतिपादित की है। चूंकि कानून निर्माण की प्रक्रिया बड़ी जटिल होती है और साधारण जनता इतनी प्रबद्ध नहीं होती कि वह कानून बना सके और इसलिए कानून निर्माण की प्रक्रिया में मार्गदर्शन करने के लिए एक विधि निर्माता की आवश्यकता होती है। विधि निर्माता में असाधारण प्रतिभा होती है जिससे वह विधिनिर्माण में जनता का मार्ग प्रशस्त करता है।

रूसो के अनुसार कानून का सभी व्यक्तियों द्वारा पालन किया जाना चाहिए क्योंकि वह हमारे आन्तरिक संकल्प की अभिव्यक्ति करता है। अतः स्वतन्त्रता और कानून की आज्ञाकारिता में कोई विरोध नहीं है। इस ओर संकेत करते हुए वह कहता है कि, "सच्ची स्वतन्त्रता उन कानूनों का पालन करने में है जिन्हें हम स्वयं अपने लिए निर्धारित करते हैं।"

9.9.5 स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

रूसो स्वतन्त्रता का मसीहा है। उसने बड़ी ओजस्वी भाषा में स्वतन्त्रता का गुणगान किया है। उसने कहा कि स्वतन्त्रता मनुष्य का परम आन्तरिक तत्व है। अर्थात् वह स्वतन्त्रता को मानव का आवश्यक गुण मानता है। स्वतन्त्रता मनुष्य को नैतिक बनाती है और उसमें उत्तरदायित्व की भावना जागृत करती है।

रूसो के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ मनमाना कार्य करना नहीं है। सामान्य इच्छा द्वारा निर्मित कानूनों का पालन ही स्वतन्त्रता है। सामान्य इच्छा के अधीनस्थ रहकर ही मनुष्य स्वतन्त्र रह सकता है। सामान्य इच्छा द्वारा निर्मित कानून का अर्थ है स्वनिहित कानून और इसी स्वनिहित कानून के पालन में स्वतन्त्रता निहित है। संक्षेप में, रूसो ने स्वतन्त्रता का सकारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। रूसो इस बात में विश्वास करता है कि कानून के अनुसार जीवन व्यतीत करना ही सच्ची स्वतन्त्रता है क्योंकि ऐसा करके व्यक्ति अपनी इच्छा का ही पालन करता है।

रूसो के दर्शन में स्वतन्त्रता का विशिष्ट महत्व है। 'सोशल कान्ट्रेक्ट' का आरम्भ इस प्रसिद्ध वाक्य के साथ होता है–'मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है और वह सर्वत्र शृंखलाओं में जकड़ा हुआ है।' इसका अर्थ है मनुष्य को स्वतन्त्र होना चाहिए। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य स्वतन्त्र था; आज मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि अधिकांश राज्य सामान्य इच्छा पर आधारित न होकर शक्ति पर आधारित हैं।

स्वतन्त्रता का पुजारी होने के कारण ही उसने प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का समर्थन किया। रूसो के अभिमत में जैसे ही कोई राष्ट्र अपने प्रतिनिधियों को नियुक्त करता है, वह अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उसने सत्ता पर बल दिया है।

9.10 रूसो के राजदर्शन में निरंकुशतावाद के तत्व

राजदर्शन में रूसो को स्वतन्त्रता, व्यक्तिवाद, जन सम्प्रभुता और लोकतन्त्र का प्रतिनिधि विचारक माना जाता है, किन्तु यह एक आश्चर्य की बात है कि अपनी 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त द्वारा जन सम्प्रभुता का समर्थन करते–करते उसका चिन्तन निरंकुशतावाद में परिवर्तित हो जाता है।

रूसो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल कान्ट्रेक्ट' में मानव स्वभाव का चित्रण करते हुए आदिम मनुष्य को पशुतुल्य, निष्पाप और आदर्श बर्बर बताया है। उसे नैतिकता के विचारों से रहित सहज भावना से काम करने वाला बुद्धिहीन प्राणी कहा है।

रूसो के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था वर्तमान मनुष्य की सभ्य सामाजिक अवस्था से कहीं अधिक अच्छी थी। इस अवस्था में मनुष्य एकाकी, स्वतन्त्र, सम्पत्ति और परिवार से रहित स्वर्गीय अवस्था में रहता था। उसका जीवन उदात्त वनचर जैसा था, किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही। सम्पत्ति रूपी सर्प ने इसमें प्रवेश किया और प्राकृतिक अवस्था की सुख–शान्ति को नष्ट कर दिया। धनी व निर्धन का भेद उत्पन्न हुआ। अमीरों ने निर्धनों पर अत्याचार और निर्धनों ने अमीरों के विरुद्ध षड्यन्त्र करने प्रारम्भ कर दिए। अन्त में इस दुर्व्यवस्था से छुटकारा पाने के लिए व्यक्तियों ने अनुबन्ध के आधार पर राज्य की स्थापना की। सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा अपने समस्त अधिकारों का समर्पण किया गया, किन्तु अधिकारों का यह समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं वरन् मानव समाज के लिए किया गया है। समझौते के परिणामस्वरूप वे सम्पूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा के अन्तर्गत रहते हुए कार्य करते हैं। रूसो के शब्दों में–"प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए, सामान्य इच्छा के सर्वोच्च

निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में हम में से प्रत्येक व्यक्ति समूह के अविभाज्य अंग के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है।"

रूसो के सामाजिक समझौते से सामान्य इच्छा पर आधारित प्रभुत्व सम्पन्न समाज की स्थापना होती है। रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएँ हैं–अखण्डता, अदेयता, सर्वोच्चता, स्थायित्व, निरंकुशता आदि। रूसो के सिद्धान्त में जनता द्वारा अपने समस्त अधिकारों का समर्पण सामान्य इच्छा को कर दिया जाता है और जनता को किसी भी परिस्थिति में सामान्य इच्छा (राज्य) के विरोध का अधिकार नहीं है। इसीलिए जोन्स ने कहा है कि "रूसो के सामान्य इच्छा विषयक सिद्धान्त में कुछ ऐसे अस्थिर तत्व हैं जो उसे जनतन्त्र के समर्थन की ओर से हटाकर निरंकुश शासन के समर्थन की ओर ले जाते हैं।" डाइड के अनुसार, "रूसो सामान्य इच्छा की आड़ में बहुमत की निरंकुशता का प्रतिपादन तथा समर्थन करता है।"

9.10.1 रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का शीश विहीन लेवियाथन

वाहन के अनुसार "रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का लेवियाथन है जिसका मस्तक काट दिया गया है।" स्वयं रूसो ने अपनी पुस्तक 'सोशल कान्ट्रेक्ट' के प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ पर कटे सिर वाले लेवियाथन का चित्र दिया था। इसका तात्पर्य है कि हॉब्स ने जो निरंकुश सत्ता राजा को प्रदान की, रूसो ने वही समस्त जनता अथवा सामान्य इच्छा को प्रदान की है।

9.10.2 हॉब्स और रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा में समानताएँ–हॉब्स तथा रूसो के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार बहुत कुछ सीमा तक एक से हैं। सामान्य इच्छा के जो लक्षण रूसो ने बताए हैं, वे लगभग वैसे ही हैं जिनका वर्णन हॉब्स अपने सम्प्रभु में किया है। अन्तर केवल यह है कि हॉब्स का सम्प्रभु एक मानव देव है और रूसो सम्प्रभु का निवास 'सामान्य इच्छा' में मानता है। इसलिए वाहन का यह कथन ठीक है कि 'यदि हॉब्स के मानव देव (लेवियाथन) का शीश काट दिया जाए तो वह रूसो की सामान्य इच्छा ही होगी।'

हॉब्स तथा रूसो के प्रभुसत्ताधारी की समानताएँ इस प्रकार हैं–

1. हॉब्स की भांति रूसो भी राज्य (सामान्य इच्छा) को निरंकुश मानता है।
2. हॉब्स के लेवियाथन की भांति रूसो की सामान्य इच्छा सर्वोच्च और सम्प्रभु है।
3. हॉब्स के लेवियाथन की भांति सामान्य इच्छा अखण्ड है, संगठित इकाई है।
4. लेवियाथन की भांति सामान्य इच्छा सदैव न्यायसंगत है और उचित है।
5. लेवियाथन की भांति सामान्य इच्छा के ऊपर समाज की कोई अन्य शक्ति नहीं हो सकती। इसकी आज्ञा का पालन सबके लिए अनिवार्य है।
6. लेवियाथन की भांति सामान्य इच्छा कानूनों और विधियों का मूल स्रोत है।
7. हॉब्स की भांति रूसो भी इस बात का प्रतिपादन करता है कि राज्य का व्यक्तियों के सम्पूर्ण जीवन पर अधिकार होता है और व्यक्ति का मूल कर्तव्य राज्य की आज्ञाओं का पालन करना है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा द्वारा निर्मित कानून के अनुसार आचरण करके ही मनुष्य पूर्णतः स्वतन्त्र हो सकता है। इसीलिए कहा गया है कि "वह अति निरंकुशतावादी है, 19वीं शताब्दी के जर्मन आदर्शवाद का अग्रदूत है'। कांस्टेन्ट ने लिखा है कि वह सभी प्रकार के निरंकुश–तन्त्रों का सबसे भयंकर मित्र है'। ड्यूगिट के शब्दों "रूसो जेकोबियन निरंकुशवाद और सीजरवादी तानाशाही का जनक और कान्ट व हीगल के निरंकुशतावादी सिद्धान्तों का प्रेरक है"

एक दृष्टि से तो रूसो का सम्प्रभु हॉब्स से भी अधिक निरंकुश है। हॉब्स राज्य को असीमित शक्ति प्रदान करते हुए व्यक्ति को आत्म रक्षा के अधिकार के हित में राज्य का विरोध करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देता है, लेकिन रूसो किसी भी स्थिति में व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान नहीं करता। उसकी दृष्टि में सामान्य इच्छा व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है और इसलिए वह किसी भी स्थिति में गलत नहीं हो सकती है। स्वयं रूसो के अनुसार "जिस प्रकार प्रकृति ने मनुष्य के शरीर के विभिन्न अवयवों पर पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार प्रदान किया है उसी प्रकार सामाजिक समझौते ने राजनीतिक सावयव (सामान्य इच्छा) को शरीर के विभिन्न अवयवों (व्यक्तियों) के ऊपर पूर्ण निरंकुश अधिकार प्रदान किए हैं।"

9.10.3 हॉब्स और रूसो के निरंकुशतावादी चिन्तन में अन्तर–हॉब्स और रूसो के निरंकुशतावादी चिन्तन मे निम्नलिखित अन्तर हैं–

1. हॉब्स के समझौते से एक यान्त्रिक राज्य की स्थापना होती है जबकि रूसो के समझौते से एक आंगिक राज्य की।
2. हॉब्स का राज्य केवल शक्ति पर आधारित है जबकि रूसो का राज्य न्याय और नैतिकता पर।
3. हॉब्स का सम्प्रभु एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का समूह होता है जबकि रूसो का समस्त जन समुदाय।

4. हॉब्स का सम्प्रभु विधि निति, कार्यपालक और न्याधीश सभी स्वयं होता है, परन्तु रूसो का सम्प्रभु सिर्फ विधि निर्माता होता है।
5. हॉब्स का व्यक्ति सामाजिक समझौते के द्वारा अपने सब अधिकार सम्प्रभु को सौंप देता है और इसके बदले में उसे आत्मसुरक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त होता। इसके विपरीत, रूसो का व्यक्ति सब कुछ खोने पर भी कुछ नहीं खोता है क्योंकि वह भी सम्प्रभुता में भागीदार होता है और जो अधिकार अपने ऊपर वह अन्य की देता है, वही अधिकार वह स्वयं दूसरो के ऊपर पा लेता है।
6. हॉब्स के सम्प्रभु पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं होता, परन्तु रूसो की सामान्य इच्छा के लिए उसका न्यायपूर्ण और नैतिक होना आवश्यक है और वह तभी सम्भव है जब वह सार्वजनिक कल्याण की भावना से कार्य करे।

संक्षेप में, हॉब्स और रूसो दोनों की संविदा के अन्तर्गत यद्यपि व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का समर्पण करते हैं, लेकिन अन्तर यह है कि रूसो इस समर्पण के बाद भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षण्ण रखता है, हॉब्स ही संविदा के अन्तर्गत व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। रूसो का राज्य भी निरंकुशता की दृष्टि से हॉब्स जैसा है, किन्तु हॉब्स की निरंकुशता प्रभुसत्ता सम्पन्न राजा की स्वेच्छाचारिता का पोषण करती है, वहां रूसो की सामान्य इच्छा की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त जनता की प्रभुसत्ता का प्रतीक है।

9.11 रूसो के विचारों की आलोचना

राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत रूसो की विचारधारा बहुत अधिक आलोचना का विषय रही है। रूसो का दर्शन उसके पाठकों के लिए एक पहेली है। एक और तो उसे महान् दार्शनिक समझा जाता है जिसका राज्य के स्वरूप के विषय में ज्ञान अन्य किसी भी विचारक की अपेक्षा अधिक था तो दूसरी और उसे मिथ्याचारी तथा 'उलूकवाणी' विशेषणों से पुकारा गया है। वाल्टेयर जो रूसो का समकालीन था, रूसो के दर्शन पर व्यंग करते हुए लिखता है कि 'सोशल कान्ट्रेक्ट' को पढ़ने से मुझे दोनों हाथों और पैरों पर चलने की इच्छा होती है। लेमीटर के अनुसार उसकी पुस्तक में असंगतियों की भरमार है। रूसो की विचारधारा में प्रमुख रूप से निम्न दोष बताए जाते हैं।

9.11.1 उसकी विचाराधारा में असंगतियाँ एवं विरोधाभास—रूसो की विचारधारा असंगतियों और विरोधाभासों से भरी पड़ी है। वह अपने सामाजिक समझौते का आरम्भ व्यक्ति के अधिकारों पर बल देने वाले व्यक्तिवाद से करता है, किन्तु इसकी समाप्ति व्यक्ति पर प्रभुता रखने वाली निरंकुश और समष्टिवादी विचारधारा के साथ करता है। वाहन ने ठीक ही लिखा है कि एक और तो वह राज्य प्रबल पोषक था, दूसरी और व्यक्ति का उग्र समर्थक था और वह इन दोनों विरोधी आदर्शों को नहीं छोड़ सका। एक और वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करता है, दूसरी और उसे राज्य का दास बनाता है। एक और सहिष्णुता की नीति का उपदेश देता है, दूसरी और अपने गणराज्य से नास्तिकों को निष्कासित करता।" इन विरोधाभासों के कारण ही मार्ले ने उसके बारे में लिखा है कि यद्यपि रूसो एक महान् विचारक कहा जाता है, किन्तु वह नहीं जानता कि विचार किस प्रकार किया जाता है।

9.11.2 निरंकुशतावाद का समर्थक—रूसो दार्शनिक आधार पर निरंकुशतावाद का समर्थक बन गया। उसने असीमित, अविभाज्य एवं अनियन्त्रित सम्प्रभुता का प्रतिपादन किया। उसने राज्य को ही अधिकारों का सृष्टा बतलया। उसने कहा कि 'जो व्यक्ति सामान्य इच्छा का पालन नहीं करेगा उसे सारा समाज आज्ञापालन के लिए मजबूर करेगा, 'इसका अर्थ यह है कि उसे स्वतन्त्र होने के लिए मजबूर किया जाएगा। यह स्थिति रूसो के दर्शन में 'स्वतन्त्रता की दुविधा' के नाम से जानी जाती है। रूसो व्यक्ति को सामान्य इच्छा या प्रभुसत्ता के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं देता। वह सामान्य हित की बलिवेदी पर व्यक्तिगत अधिकार की भेंट चढ़ा देता है। वह सामान्य इच्छा के समुद्र में व्यक्ति की इच्छा को डुबो देता है, वह एक को अनेक की भीड़ में खो देता है। इस प्रकार लोकतन्त्र का यह महान् पुजारी निरंकुश राज्यसत्ता की स्थापन करता है। इसीलिए डुग्वी ने उसे जेकोबिन निरंकुशवाद का जन्मदाता तथा काण्ट और हीगल के निरंकुशवादी सिद्धान्तों को प्रेरणा देने वाला कहा है।

9.11.3 मानव स्वभाव सम्बन्धी आदर्शात्मक विचार—रूसो का मानव स्वभाव सम्बन्धी विचार काल्पनिक व आदर्शात्मक है। वह मनुष्य को भला, शान्त एवं भोला–भाला मानता है जबकि मनुष्य के स्वभाव में अच्छाई व बुराई दोनों ही पायी जाती हैं।

9.11.4 बुद्धिवाद और प्रगति का विरोधी—रूसो बुद्धिवाद, विज्ञान और कला का विरोधी है। भावुकतावाद के प्रति अत्यधिक विश्वास रखने के कारण वह यह मानता था कि जीवन–यापन विवेक के अनुसार नहीं वरन् भावना के अनुसार किया जाना चाहिए। "उसकी अपील भावनाओं की अपील थी, तर्क की नहीं।" उसकी यह मान्यता थी कि विवेक, कला और विज्ञान ने मनुष्य का पतन कर दिया है और इसलिए उसका कल्याण तभी सम्भव है जबकि वह इनसे मुक्त होकर पुनः प्रकृति की और लौटे। इसलिए आलोचकों ने रूसो को प्रगति विरोधी कहा है। वाल्टेयर ने जब रूसो से 'सोशल कान्ट्रेक्ट' की प्रति प्राप्त की तो अपने धन्यवाद पत्र में लिखा, "श्रीमानजी, मैंने मानव जाति विरोधी आपकी नवीन पुस्तक

प्राप्त की जिसके लिए आपको धन्यवाद। हमें पशु बनाने के प्रयत्न में जितना परिहास आपने किया है, उतना कभी भी किसी ने नहीं किया। आपकी पुस्तक को पढ़ने से यही जी चाहता है कि चारों हाथों तथा पैरों से चलने लगू, परन्तु इस अभ्यास को छोड़ हुए मुझे लगभग 60 साल हो चुके हैं, अतः अब इसे अपना सकना असम्भव है।" वाल्टेयर ने अपने एक अन्य पत्र में यहां तक लिखा कि "रूसो में और दर्शनिक में उतना ही साम्य है, जितना बन्दर और आदमी में है।"

9.12 रूसो के विचारों की उपादेयता

राजनीतिक विचारों के इतिहास में रूसो का नाम अमर है। वह आम आदमी का भावुक दार्शनिक था; उसे क्रान्ति का अग्रदूत तथा प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का आवारा मसीहा कहा जाता है। डनिंग के शब्दों में "रूसो का दर्शन निश्चयमूलक की अपेक्षा व्यंजनात्मक अधिक है, परन्तु रूसो की कल्पनाओं व मिथ्या उक्तियों ने जनता को जितना अधिक प्रभावित किया उतना माण्टेस्क्यू की सन्तुलित तर्कना तथा गम्भीर पर्यवेक्षण तक ने नहीं।" जी. डी. एच. कोल ने रूसो को राजदर्शन का पिता कहा है। उसके अनुसार 'सोशल कान्ट्रेक्ट राजदर्शन की दृष्टि से महानतम् ग्रन्थ है।" "यह कहना भूल है कि राजनीतिक विचारों पर रूसो का प्रभाव मृतप्राय है, उसके विपरीत वह बढ़ता जा रहा है।" राजनीतिक दर्शन को रूसो का योगदान इस प्रकार है।

9.12.1 सामान्य इच्छा का सिद्धान्त–रूसो के राजदर्शन का सबसे महत्वपूर्ण योगदान है उसके सामान्य इच्छा सम्बन्धी विचार। सामान्य इच्छा सिद्धान्त ने राजनीतिक जीवन में 'समुदाय' के महत्व की और लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। डनिंग के अनुसार–"इन्हीं विचारों के द्वारा रूसो ने राष्ट्र–राज्य सम्बन्धी विचारों को बल दिया।"

9.12.2 लोकप्रिय सम्प्रभुता की धारणा–सामान्य इच्छा के सिद्धान्त से भी अधिक महत्वपूर्ण देन रूसो की 'लोकप्रिय सम्प्रभुता' की धारणा है। रूसो ने बताया कि राजनीतिक संस्था का स्वरूप कुछ भी हो उसमें जनता की सम्प्रभुता एक तथ्य है। उसने कहा प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित है, सरकार सर्वोच्च सत्ता रखने वाली जनता की सेवक मात्र है। जनवाणी देव वाणी है, शासन का आधार जनता की सहमति है।

9.12.3 राष्ट्रवाद का उद्घोषक–रूसो यद्यपि राष्ट्रवाद का समर्थक नहीं था, किन्तु समूह की एकता और दृढ़ता की भावनाओं पर बल देकर उसने राष्ट्रभक्ति को एक आदर्श रूप दिया। रूसो ने सामान्य इच्छा के अपने सिद्धान्त द्वारा राष्ट्रवाद के नैतिक पक्ष को पुष्ट किया। रूसो की सामान्य इच्छा को राष्ट्र की आत्मा के रूप में मानकर हीगल ने एक ऐसे आदर्शवाद का प्रतिपादन किया जो उग्र राष्ट्रवाद में परिणत हुआ।

9.13 रूसो के राजदर्शन में व्यक्तिवाद, निरंकुशतावाद, समाजवाद और लोकतन्त्र

रूसो के राजदर्शन में समाजवाद, निरंकुशतावाद और लोकतन्त्र की विचारधाराओं का अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है, जो इस प्रकार है–

9.13.1 रूसो के दर्शन में व्यक्तिवाद–रूसो के दर्शन में व्यक्तिवाद के बीच दिखलायी देते हैं। वेपर के अनुसार 'वह अति व्यक्तिवादी है, समस्त व्यक्तिवादियों में आधुनिक और महानतम् व्यक्तिवादी है। उसने स्वतन्त्रता और समानता को मनुष्य का स्वभाविक सद्गुण माना और उसके सिद्धान्त में व्यक्ति की स्वतन्त्रता लॉक से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

9.13.2 रूसो के राजदर्शन में निरंकुशतावाद–रूसो के दर्शन में निरंकुशतावाद के तत्व भी मौजूद हैं। रूसो के अनुसार सम्प्रभुता सामान्य इच्छा की कार्यान्वित है। सामान्य इच्छा को सम्प्रभु मानने का आधार सामाजिक समझौता है। सामान्य इच्छा पर दैवी और प्राकृतिक नियमों का प्रतिबन्ध नहीं होता। यही कानून का निर्माण करती है, धर्म का निरूपण करती है, नैतिक और सामाजिक जीवन को संचालित करती है। इसकी कोई अवहेलना नहीं कर सकता। जो इसकी अवज्ञा करता है, उसे इसका पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। रूसो की सामान्य इच्छा उन सभी लक्षणों–सर्वोच्चता, अखण्डता, निरंकुशता आदि से पूर्ण है जो निरंकुशता के आधार समझे जाते हैं और इसी आधार पर डाइड ने लिखा है कि 'रूसो सामान्य इच्छा की आड़ में बहुमत की निरंकुशता का प्रतिपादन तथा समर्थन करता है।'

रूसो के सामाजिक समझौते में निरंकुशतावाद का एक प्रमुख तत्व यह है कि समझौते में व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियों का समपर्ण कर देता है और समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न सामान्य इच्छा पूर्ण तथा निरंकुश है।

रूसो के समझौते सिद्धान्त के आधार पर जिस राजनीतिक समाज की रचना होती है वह पृथक् व्यक्तियों का समूह मात्र है जिसका उद्देश्य उन व्यक्तियों के हितों का साधन करना मात्र हो, अपितु समाज एक सावयव है और व्यक्ति उसके अभिन्न अंग हैं। सामान्य इच्छा इस सावयव को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती है और समाज रूपी इस सावयव को अपने अंगों (व्यक्तियों) पर निरंकुश सत्ता प्राप्त है। रूसो की इस धारणा को जर्मन आदर्शवादी हीगल ने अपनाया। हीगल को प्रशिया के निरंकुश राज्य का समर्थन करने की प्रेरणा रूसो से मिली। रसेल के अनुसार रोबोस्पियर का आतंक राज्य और बोल्शेविक रूस तथा नाजी जर्मनी के अधिनायकवाद भी रूसो की शिक्षाओं का परिणाम है।

9.13.3 रूसो लोकतन्त्र का अग्रदूत–रूसो को लोकतन्त्र का पुजारी कहा जाता है। उसने 'जनता की प्रभुसत्ता' के विचार को फ्रेन्च राज्य क्रान्ति के माध्यम से आधुनिक काल का सबसे प्रभावशाली विचार बनाया। उसके मतानुसार

सर्वोच्च शक्ति जनता में निहित रहती है, सामान्य इच्छा जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति है और यह इच्छा सदैव जनता के सामान्य हित के पोषण और वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहती है। रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थक है। रूसो के सामाजिक अनुबन्ध से व्यक्तियों को स्वतन्त्रता और समानता के वे महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं जो लोकतन्त्र का आवश्यक तत्व समझे जाते हैं। उसकी स्वतन्त्रता पर लगाए गए कानूनी बन्धन वस्तुतः बन्धन नहीं है क्योंकि कानून सामान्य इच्छा द्वारा बनाया जाता है और सामान्य इच्छा में उसकी अपनी इच्छा सम्मिलित होती है, अतः यदि उसकी स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं तो वे उसकी अपनी इच्छा से प्रादुर्भूत होने के कारण प्रतिबन्ध नहीं रखते हैं और स्वतन्त्रता में बाधक नहीं बनते हैं। रूसो की व्यवस्था में व्यक्तियों को समानता का अधिकार भी प्राप्त होता है क्योंकि व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के समान सर्वोच्च अधिकार और कर्तव्य रखता है। लोकतन्त्र का एक महत्वपूर्ण तत्व शासन के कार्य में जनता की सहमति और सहयोग तथा भागीदारी है। रूसो सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा शासन में जनता के सहयोग और भागीदारी पर बहुत बल देता है। इस तरह वह लोकतन्त्र के सभी आधारभूत तत्वों और मौलिक विचारों का प्रबल पोषक है।

9.13.4 रूसो के दर्शन में समाजवाद—रूसो के विचारों में समाजवाद के कई तत्व दिखलायी देते हैं। समाजवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज का अधिक महत्व देता है। रूसो की सामान्य इच्छा भी शक्ति के हित की अपेक्षा समाज के हित को अधिक महत्व देती है। रूसो ने समानता पर काफी जोर दिया। उसकी यह दृढ़ मान्यता है कि समानता के अभाव में स्वतन्त्रता नहीं टिक सकती। वह आर्थिक विषमता को समाप्त करना चाहता है। उसने निजी सम्पत्ति पर प्रबल प्रहार किए हैं। उसके अनुसार राज्य को विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं पर भारी कर लगाना चाहिए। समस्त भौतिक का स्वामी राज्य है। रूसो ने वस्तुतः समाज में आर्थिक विषमता को ही सभी बुराइयों की जड़ माना है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. रूसों के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. रूसो के राजनीतिक विचारों का विवेचन कीजिए।
3. हॉब्स, लॉक तथा रूसों के सामाजिक समझौता सम्बन्धी विचारों तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा क्या है।
2. रूसो की मानव स्वभाव की धारणा क्या है?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. रूसो की सामान्य इच्छा क्या है?
2. "Social Contract" रचना के लेखक कौन है?

इकाई–10
एडमण्ड बर्क

संरचना

10.0 उद्देश्य
10.1 जीवन परिचय
10.2. प्रस्तावना
10.3 प्रमुख रचनाएं
10.4 बर्क की समकालीन परिस्थितियां और उनका प्रभाव
10.5 बर्क के राज्य अथवा समाज और सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचार
10.6 राज्य का उदय, उसका सावयव स्वरूप, संविदा–सिद्धान्त की आलोचना
10.7 संविधान, संसदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दल
10.8 अधिकार, सम्पत्ति, क्रान्ति के बारे में बर्क के विचार
10.9 बर्क का मूल्यांकन एवं योगदान

10.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का अवलोकन करने के पश्चात् छात्र–

- बर्क की जीवनी जान सकेंगे।
- बर्क राज्य की धारणा जान सकेंगे।
- बर्क के क्रांति सम्बन्धी विचार समझ सकेंगे।

एडमण्ड बर्क अपने समय के बिटिश राजनीति में भाग लेने वाला एक महान विचारक था। उसके महत्त्व को इंगित करते हुए सेबाइन ने लिखा है, दर्शन की भारी भरकम किन्तु भव्य अट्टालिका जो हीगल के आदर्शवाद में परिणति को पहुँची और जिसने 18वीं शताब्दी में प्राकृतिक विधि का स्थान ग्रहण किया, बर्क की महत्त्वपूर्ण देन है। "18वीं शताब्दी का वही एकमात्र ऐसा विचारक था जिसने राजनीतिक परम्पराओं को धर्म की आस्था से ग्रहण किया तथा उसे (राजनीतिक परम्परा को) एक ऐसी देव–वाणी माना जिससे राजमर्मज्ञों को अवश्य ही परामर्श करना चाहिए।"

10.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन में एडमंड बर्क को आदर्शवाद एवं समन्वय के परिचायक के रूप में माना जाता है। इनके दर्शन में राज्य के कार्य शासक के दायित्व एवं विभिन्न शासन प्रणालियों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया। बर्क ने व्यक्ति एवं राज्य के आपसी संबंधों के साथ–साथ समाज में शिष्टाचार की आवश्यकता पर बल दिया तथा राज्य की सफलता एवं प्रगति के लिए धार्मिक संस्थानों की भूमिका को स्वीकार किया। बर्क ने करों के प्रकार एवं उचित कर व्यवस्था पर बल देते हुए ब्रिटिश सरकार की दमनकारी एवं शोषणकारी नीतियों की भी आलोचना की। संसद एवं कार्यपालिका की शक्तियों एवं आपसी संबंधों की विवेचना करते हुए शासकी प्रभावशाली भूमिका को स्वीकार किया। अतः इनके राजनीतिक दर्शन का विश्लेषण करना आवश्यक है।

10.2 जीवन परिचय

बर्क का जन्म आयरलैंड में 12 जनवरी, 1729 को डबलिन में हुआ माना जाता है। बर्क का पिता प्रोटेस्टेन्ट था और माँ कैथोलिक। उस पर माँ का ही स्पष्ट प्रभाव पड़ा। पारिवारिक सहिष्णुता और सुधारवादी गुण बर्क को अपने माता–पिता से विरासत में मिले। ट्रिनिटी कॉलेज से स्नातक होने के बाद उसे वकालत की शिक्षा पाने के लिए 1750 ई. में लन्दन भेजा गया किन्त बर्क की रुचि साहित्य में थी। अतः नाराज होकर पिता ने उसे आर्थिक सहायता बन्द कर दी और बर्क लेखन तथा पत्रकारिता से अपनी आजीविका चलाने लगा। सन् 1756 ई. में उसने दो निबन्ध'। Vindication of Natural Society 741 Philosophical Inquiry into the origin of our Ideas on the SublimeAnd Beautiful गुमनाम प्रकाशित हुए। उसने राजनीतिक और आर्थिक घटनाओं का संक्षिप्त वार्षिक विवरण देने वाले 'Annual Register' नामक शब्दकोष का प्रकाशन आरम्भ किया। इससे बर्क को आजीविका तथा साहित्यिक ख्याति प्राप्त हुई और साथ ही राजनीतिक क्षेत्र में उसका सम्पर्क बढ़ा।

सन् 1759 के आस–पास वह आयरलैण्ड के मन्त्री विलियम हेमिल्टन का और सन 1765 में प्रधानमन्त्री लॉर्ड राकिंघम का निजी सचिव बना। 1765 ई. में ही वह ब्रिटिश लोकसभा का सदस्य चुन लिया गया और अगले 30 वर्षों तक बिग पार्टी का नेतृत्व करता रहा। जबरदस्त भाषण–कर्ता और अपने दल के मस्तिष्क' के रूप में उसने भारी ख्याति अर्जित की। पुत्र की मृत्यु और पारिवारिक अशान्ति के कारण उसने 1794 ई. में संसद् की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। जीवन के शेष तीन वर्ष उसने शान्तिपूर्वक व्यतीत किए, किन्तु फ्रेंच राज्य–क्रान्ति की घटनाओं से वह अप्रभावित न रह सका और 8 जुलाई सन् 1797 को मृत्यु तक उसकी लेखनी क्रान्ति के विरुद्ध लिखती रही।

10.3 प्रमुख रचनाएं

बर्क एक लेखक के रूप में उतना सफल नहीं हुआ जितना व्याख्यान–दाता के रूप में। उसने जो कुछ भी लिखा, उसमें अधिकाँश उसके भाषण ही हैं। इन्हीं से हमें उसके राजनीतिक विचारों का आभास होता है। उसके भाषणों और कृतियों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं

1. Speech on Conciliation withAmerica, 1775
2. Speech onAmerican TaÛation.
3. Vindication on Natural Society, 1756
4. Causes of our Present Discontents, 1770
5. Reflection on the Revolution in France, 1790
6. Appeal from Old to New Whig, 1791
7. Thoughts on FrenchAffairs, 1791

बर्क ने ऐतिहासिक एवं आगमनात्मक अध्ययन पद्धतियों का आश्रय लिया। अनेक समस्याओं के समाधान के लिए उसने इतिहास के पृष्ठों का निरीक्षण किया। उसका विश्वास था कि ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा सम्पूर्ण समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। बर्क अनुभूतिवाद में भी विश्वास करता था और इस तरह . वह उपयोगितावादी भी था।

10.4 बर्क की समकालीन परिस्थितियों और उनका प्रभाव

बर्क के राजनीतिक चिन्तन पर मुख्य रूप से निम्नलिखित समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा–

प्रथम, जिस समय बर्क ब्रिटिश लोकसभा का सदस्य बना, संसद् और राजा के सम्बन्ध मधुर नहीं थे। राजा संसद् को प्रभावशून्य बनाना चाहता था और विरोधी संसद् सदस्य राजा की इस प्रवृत्ति से क्षुब्ध थे। उनकी माँग थी कि मताधिकार विस्तृत किया जाए और राजा आने समर्थकों को पद–लाभ पहुँचाने के अधिकार का दुरुपयोग न करे। दुर्भाग्यवश इस समय ह्विग दल की नई पीढ़ी के युवकों में पुरानी पीढ़ी की–सी नैतिकता नहीं रही थी। राजा ने घूस और लालच देकर संसद् में अपने समर्थकों का बहुमत स्थापित कर लिया था। बर्क इस सम्म वातावरण से बहुत ही दुःखी हुआ। एक ओर उसके लिए राजा का आचरण आपत्तिजनक था तो दूसरी ओर उसे यह भी विश्वास था कि संसद् सदस्य देश और जनता के प्रति हृदय से अपना कर्तव्य नहीं निभा रहे है। बर्क का विचार था कि विरोधी पक्ष की माँगें भी बहुत–कुछ उतनी ही घातक थीं जितनी राजा की इच्छाएँ। वह राजतन्त्र और लोकतन्त्र दोनों के अतिवादी विचार के खिलाफ था और मध्यम मार्ग का समर्थक था।

द्वितीय, तत्कालीन ब्रिटिश नीति अमेरिकन उपनिवेशों के प्रति बड़ी अन्यायपूर्ण थी। बिटिश शासन के अत्याचार एवं अनाचार के कारण ही उपनिवेशों में विद्रोह भड़क उठा था। बर्क को अन्याय और अत्याचार से घृणा थी, अतः उसने उपनिवेशों का पक्ष लिया तथा बिटिश सरकार की नीति की आलोचना की।

तृतीय, भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी निरंकुश आचरण पर चल रही थी। बर्क की अन्तरात्मा कम्पनी के काले कारनामों के विरुद्ध विद्रोह कर बैठी। उसने ब्रिटिश संसद् में कम्पनी की भी कठोर आलोचना की और भारत के तत्कालीन गवर्नर वारेन हेस्टिंग्ज के ब्रिटेन लौटने पर उसके विरुद्ध संसद् में चलाए गए अभियोग में उसने प्रमुख रूप से भाग लिया।

अन्त में, फ्रांसीसी क्रान्ति के आतंक और हत्याकाण्ड ने बर्क के धर्म–प्राण हृदय को जबरदस्त टेस पहुँचाई। उसे इस बात से और भी अधिक आघात पहुँचा कि ब्रिटिश ह्विग पार्टी के कुछ सदस्य क्रान्तिकारियों से सहानुभूति रखने लगे थे। बर्क ने बड़े प्रभावपूर्ण शब्दों में फ्रांस की हिंसक क्रान्ति का विरोध किया और घोषणा की कि फ्राँसीसी जिस स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए पागल हैं, वह स्वतन्त्रता नहीं बल्कि स्वच्छन्दता और अराजकता है।

10.5 बर्क के राज्य अथवा समाज और सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचार

बर्क के राजनीतिक चिन्तन पर टिप्पणी करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि "वस्तुतः बर्क का अपना कोई राजनीतिक दर्शन नहीं था। उसके अपने विचार विभिन्न भाषणों और पैम्फलेटों में बिखरे मिलते है। इन विचारों को उसने कुछ विशिष्ट घटनाओं के प्रसंग में व्यक्त किया था। तथापि, इन विचारों में एक संगति है। यह संगति इस बात का परिचय देती है कि

बर्क की निष्ठा बड़ी प्रबल थी और उसके कुछ निश्चित नैतिक विश्वास थे। बर्क के दर्शन का आधार सिर्फ यह था कि उसने अपने समय की कुछ प्रमुख घटनाओं में भाग लिया था और इनके बारे में उसके अपने कुछ विचार थे।"

10.6 राज्य का उदय, उसका सावयव स्वरूप, संविदा–सिद्धान्त की आलोचना

अपने ऐतिहासिक अध्ययन से बर्क ने यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य की उत्पत्ति किसी आकस्मिक घटनावश अथवा समझौते द्वारा नहीं हुई बल्कि उसका क्रमिक विकास हुआ है। राज्य सावयविक रूप से विकास करते हुए अपने वर्तमान स्तर को पहुँचा है। चूँकि राज्य की उत्पत्ति क्रमिक विकास द्वारा ठीक उसी प्रकार हुई है जिस प्रकार मानव–शरीर का विकास होता है, अतः राज्य का सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों – से है। मनुष्य स्वभाव से सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है। अति प्राचीन काल में भी वह समाज और राज्य में संगठित रहा। हम राज्य अथवा समाज के बाहर उसके अस्तित्व की सम्भावना स्वीकार नहीं कर सकते। बर्क ने राज्य और समाज के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची। व्यक्ति समाज में रहकर ही अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। "समाज अथवा राज्य एक साझेदारी है जो सभी विज्ञानों में, सभी कलाओं में, प्रत्येक सद्‌गुण में और समस्त पूर्णत्व में होती है।

बर्क राज्य और व्यक्ति अथवा समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध को अति प्राचीन काल से चलता आ रहा मानता है। समाज अथवा राज्य एक शाश्वत संस्था है तथा व्यक्ति की समस्त आध्यात्मिक सम्पदाएँ संगठित समाज की सदस्यता से ही प्राप्त होती हैं। जाति ने अब तक जो कुछ अर्जित किया है, चाहे वह नैतिक आदर्श हो या कला हो या ज्ञान–विज्ञान हो, उस सबका रक्षण समाज और सामाजिक परम्परा द्वारा होता है। समाज की सदस्यता का आशय है कि "मनुष्य संस्कृति के समस्त कोषों तक पहुँच जाए। यही सभ्यता और बर्बरता के बीच का अन्तर है। यह कोई भार या बोझ नहीं है वरन् मानव–मुक्ति का खुला द्वार है।"

बर्क के राज्य के सावयविक विकास की धारणा उसे संविदा सिद्धान्त से मेल नहीं खाती थी जिसे हिग दल राजा के दैविक अधिकार की टोरी–धारणा के उत्तर में प्रस्तुत करते थे। लिग होने के नाते बर्क ने यद्यपि संविदा सिद्धान्त को पूरी तरह नहीं ठुकराया तथापि अपने विचार इस ढंग से प्रस्तुत किए कि वह सिद्धान्त निरर्थक और महत्त्वहीन हो गया। इस सम्बन्ध में स्वयं बर्क के ही शब्द उल्लेखनीय हैं–

"समाज वास्तव में एक समझौता है। सामाजिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए किए जाने वाले छोटे–मोटे समझौतों को इच्छानुसार भंग किया जा सकता है। लेकिन, राज्य को काली मिर्च और कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसे ही अन्य घटिया कारोबार के हिस्सेदारी को समझौते के समान नहीं समझना चाहिए जिसे लोग अस्थाई स्वार्थ के लिए कर लेते हैं और जब दोनों पक्षों में से कोई चाहता है तो भंग कर देते हैं। इसे पवित्रता की दृष्टि से देखना चाहिए। इसका कारण यह है कि यह अस्थाई और अस्थिर पशु जीवन के लिए अधीन रहने वाली वस्तुओं में हिस्सेदारी नहीं है। यह हिस्सेदारी पूर्ण वैज्ञानिक है। यह हिस्सेदारी पूर्ण कलात्मक है। यह हर प्रकार से और हर उपाय से पूर्ण हिस्सेदारी है। चूँकि इस प्रकार की हिस्सेदारी का लक्ष्य कई पीढ़ियों में भी प्राप्त नहीं किया जा सकता इसलिए यह हिस्सेदारी न केवल उन लोगों में ही की जाती है जो जी रहे हों बल्कि उनमें भी की जाती है जो मर चुके हैं अथवा जिन्हें जन्म लेना है। प्रत्येक विशिष्ट राज्य का प्रत्येक समझौता शाश्वत समाज के महान् आदिकालीन समझौते में एक धारा–मात्र है। एक स्थिर समझौते के अनुसार यह निम्न प्रकृति को उच्च प्रकृति से, दृश्यमान जगत को अदृश्मान जगत से जोड़ देता है। यह स्थिर समझौता एक ऐसी अलंघ्य शपथ द्वारा स्वीकृत होता है जो समस्त भौतिक तथा समस्त नैतिक प्रकृति को अपने–अपने नियत स्थान पर रखती है।"

उक्त अवतरण में बर्क संविदा के विचार को नाममात्र के लिए ही और वह भी ऊपरी तौर पर मानता है अन्यथा वास्तव में तो वह उसका खण्डन ही करता है और राज्य के सावयविक स्वरूप की धारणा का प्रतिष्ठापन करता है।

बर्क राज्य को एक अवयव की भाँति मानता है। उसके अनुसार राज्य का विकास भी अवयव की भाँति ही होता है और उसमें एक प्रकार का जीवन होता है जो समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप विकसित एवं परिवर्तित होता रहता है। प्राचीनकाल की संस्थाएँ तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल थीं। वर्तमान काल की संस्थाओं को वर्तमानकालीन परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। उनमें नवीन वातावरण, नवीन समस्याओं एवं नवीन परिस्थितियों के अनुसार सुधार और परिवर्तन हो जाना आवश्यक है। सभी संस्थाओं, कानूनों और मनुष्यों के अधिकारों में वर्तमान काल की परिस्थितियों के ही अनुरूप परिवर्तन किए जाने चाहिए। किन्तु ये परिवर्तन अकस्मात् क्रान्तिकारी ढंग से न होकर, धीरे–धीरे होने चाहिए। बर्क आमूल परिवर्तन से सहमति प्रकट नहीं करता। वह आवश्यकतानुसार थोड़े बहुत हेर–फेर का पक्षपाती है क्योंकि पूर्ववर्ती विचारों में कुछ न कुछ तथ्य अवश्य हुआ करता है, चाहे वे विकृत भले ही हो जाएँ। इसी दृष्टि से उनमें आमूल एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन करना दैवी आचरणों के विरोध में जाना है। पुरातन मर्यादाओं एवं प्रथाओं को एकदम तिरस्कृत कर देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। उनमें तो आवश्यकतानुसार धीरे–धीरे सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए। बर्क के इन विचारों से हम उसे अनुदारवादी सुधारकों की श्रेणी में रख सकते हैं। इन विचारों के कारण ही उसने जॉर्ज तृतीय द्वारा की गई संसदीय शासन के स्वाभाविक विकास को रद्द करने की नीति का विरोध किया और

फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों के उन प्रयत्नों को असंगत बतलाया जिनके द्वारा वे प्राचीन व्यवस्था को नष्ट करके एक सर्वथा नवीन सरकार और समाज का निर्माण करना चाहते थे। बर्क के अनुसार राजनीतिक कला तो इस बात् में है कि एक संस्था में परिवर्तन करके उसे कायम रखा जाए और लोग परिवर्तनों की योजना बनाते हैं तथा उनका निर्देशन करते हैं, वे अपने सिद्धान्त भूतकाल के अनुभव से लें।

बर्क ने समाज अथवा शासन को एक दिव्य नैतिक व्यवस्था का भाग माना और इस प्रकार इतिहास की दैवी योजना' प्रस्तुत की। इस सम्बन्ध में बर्क के विचारों का स्पष्टीकरण करते हए सेबाइन ने लिखा है कि–

"बर्क राज्य के प्रति श्रद्धापूर्ण दृष्टिकोण के कारण हम तथा उपयोगितावादियों से बिलकुल अलग श्रेणी में था। उसके होठों पर कार्य–साधकता शब्द अवश्य रहता था लेकिन इसका अर्थ उपयोगिता नहीं था। बर्क ने व्यवहारतः राजनीति का धर्म के साथ समन्वय कर दिया था। यह बात केवल इसी अर्थ में सही नहीं थी कि वह खुद एक धार्मिक व्यक्ति था, उसका विश्वास था कि श्रेष्ठ नागरिकता धार्मिक पवित्रता से अभिन्न है। उसने अंग्रेजी चर्च की स्थापना को राष्ट्र के लिए अत्यन्त हितकारी माना था। यह बात इस अर्थ में ज्यादा सही थी कि वह सामाजिक संगठन, उसके इतिहास, उसकी संस्थाओं, उसके बहुमुखी कर्तव्यों और निष्ठाओं को धार्मिक श्रद्धा के भाव से देखता था। उसमें यह भावना केवल इंग्लैण्ड के प्रति सही नहीं थी. प्रत्यत नि प्राचीन सभ्यता के प्रति थी। उसने इसी विश्वास के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी और वारेन हेस्टिन आलोचना की। बर्क के मन में भारत की प्राचीन सभ्यता के प्रति आदर का भाव था और वह चाहता भारतीयों का शासन उनके अपने सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिए, अंग्रेजों के सिद्धान्तों के अनुसार बर्क का यह भी विश्वास था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने केवल शोषण किया है और प्राचीन संस्थाओं किया है। फ्रांस की संस्कृति के प्रति भी बर्क में यह आस्था का भाव था। यद्यपि फ्रांस कैथोलिक प्रति था और बर्क ने यह कभी नहीं माना कि कोई भी समाज अथवा शासन केवल मानवीय चिन्ता का ही नि है। वह उसे एक ऐसी दिव्य नैतिक व्यवस्था का भाग मानता था जिसका अधिष्ठाता ईश्वर है। वह यह नहीं समझता था कि प्रत्येक राष्ट्र पूरी तरह स्वतन्त्र है। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का अपने राष्ट्र की स्थायी और अनवरत अवस्था में स्थान होना चाहिए, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का उस विश्व–व्यापी सभ्यता में एक स्थान होना चाहिए जो 'दैवी योजना' के अनुसार अपना उद्घाटन करती है। इतिहास की इस दैवी योजना में कई की यह आस्था बड़ी गहरी थी। जब वह फ्राँसीसी क्रान्ति की आलोचना करते–करते थक गया, तब एक स्थान पर इतिहास की दैवी योजना में उसकी यह आस्था क्रान्ति के प्रति उसके अदम्य घृणा–भाव से भी आगे बत गई और उसने बड़ी विरक्ति के साथ लिखा, "यदि कोई महान् परिवर्तन आने को ही है तो लोग मानव कार्य व्यापारों की इस शक्तिशाली धारा को रोकने की चेष्टा करते हैं, वे केवल मनुष्य की योजनाओं का ही नहीं. प्रत्युत भाग्य की आज्ञप्तियों का भी विरोध करते हैं। सामाजिक व्यवस्था और उसके विकास में दैवी भूमिका के बारे में बर्क के विचार हीगल के विचारों से बहुत मिलते–जुलते थे।"

वास्तव में बर्क ऐसा उदार रूढ़िवादी विचारक था जिसके हृदय में भूतकाल के प्रति श्रद्धा के भाव थे और जो उस ब्रिटिश शासन प्रणाली का समर्थक था जिसमें शक्ति, अभिजात्य कुलों के बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथों में निहित थी लेकिन जो साथ ही जनता की स्वतन्त्रता का पक्षधर था और पाप, अनाचार तथा भ्रष्टाचार का शत्रु था। बर्क ने हिंसक और विनाशक फ्रेंच क्रान्तिकारियों की जिन कठोर शब्दों में भर्त्सना की, उनमें हमें उसके रूढ़िवाद के सुन्दरतम दर्शन होते हैं और ब्रिटिश अनाचारी नीति के प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुए अमेरिकन औपनिवेशिक विद्रोह का जो उसने समर्थन किया तथा भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काले कारनामों पर जो उसने करारे प्रहार किए, उनमें हम उसके उदारवाद को साकार स्वरूप में पाते हैं। इस प्रकार बर्क के विचारों में अनुदारवाद और उदारवाद का एक सुन्दर सम्मिश्रण दिखाई देता है।

10.7 संविधान, संसदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दल

बर्क ने संविधान के स्वरूप, संसदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दलों के महत्त्व के बारे में भी विचार प्रकट किए हैं। उसका कहना था कि संविधान तथा समाज की परम्परा को धर्म–भावना से देखना चाहिए क्योंकि उनमें सामुदायिक बुद्धि और सभ्यता निहित है। बिटिश संविधान के विषय में वह लॉक से सहमत था कि वह संविधान क्राउन, लॉर्ड सभा और लोकसभा का सन्तुलन है। उसी के शब्दों में, 'हमारा संविधान प्रयोग–सिद्ध है। यह ऐसा संविधान है जिसका एकमात्र प्रमाण यह है कि यह चिरकाल से हमारे मस्तिष्क में रहा है। आपके नरेश, लॉर्ड, न्यायाधीश, ज्यूरी–छोटे और बड़े ये सब परम्परा पर आधारित है। विर–भोगाधिकार समस्त अधिकारों में महत्त्वपूर्ण है। यह बात केवल सम्पत्ति के सम्बन्ध में ही नहीं है बल्कि शासन के सम्बन्ध में भी सही है। यदि कोई शासन–प्रणाली स्थिर है तो उसके सम्बन्ध में यह धारणा की जा सकती है कि उसके अधीन राष्ट्र काफी दीर्घकाल से रहा है और उसने उन्नति की है। यह बात उस शासन–प्रणाला के विरोध में विशेष रूप से लागू होती है जिसकी आजमाइश न की गई हो। आकस्मिक निर्वाचनों द्वारा केवल स्थायी शासनों का निर्माण होता है। अतः राष्ट्र भी प्रयोग–सिद्ध संविधान को ही पसन्द करता है। इसका कारण यह है कि राष्ट्र केवल स्थानीय महत्त्व का ही विचार नहीं है। उसमें व्यक्तियों के अल्पकालिक समुच्चय का भाव नहीं है। राष्ट्र में

निरन्तरता का भाव होता है। राष्ट्र समय, संख्या और स्थान इन तीनों में फैला होता है। वह एक दिन अथवा एक तरह के लोगों की पसन्द नहीं है। वह किसी अनुशासनहीन और चंचल पर के परिणामस्वरूप नहीं बनता। संविधान ऐसी चीजों से मिलकर बनता है जो पसन्द से 10 हजार गुनी बेहतर होती है। वह कुछ विशिष्ट परिस्थितियों, अवसरों, स्वभावों, प्रवृत्तियों और जनता की नैतिक, नागरिक तथा सामाजिक आदतों के फलस्वरूप बनता है। ये सारी चीजें दीर्घकालावधि में ही अपने विचार व्यक्त कर पाती है। जब व्यक्ति और समुदाय दोनों ही बिना सोच–विचार के कार्य करते हैं तो मूर्ख होते हैं। लेकिन जाति सदैव बुद्धिमान होती है। जब उसे समय मिल जाता है और वह जाति के रूप में कार्य करती है तो सदैव ही सही होती है।" बर्क के संविधान सम्बन्धी विचार, उस परम्परा में थे जो लॉक ने हूकर से ग्रहण की थी।

बर्क सांविधानिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया को अवरुद्ध करने का पक्षपाती नहीं था। इसलिए उसने जॉर्ड तृतीय के ऐसा करने के प्रयासों का विरोध किया। अपने प्रतिरोध में बर्क ने जो शब्द कहे वे निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैंकृ"हमारा संविधान एक ऐसे सूक्ष्म सन्तुलन पर खड़ा हुआ है जिसके चारों ओर ढालू चट्टानें हैं और अगाध सागर हैं। यदि हम इसे एक ओर कुछ अधिक झुकने के खतरे से बचाते हैं तो इसके दूसरी ओर झुक जाने का खतरा पैदा हो जाता है। हमारी जैसी जटिल शासन–व्यवस्था में कोई आधारभूत परिवर्तन करना ऐसी कठिनाइयों से परिपूर्ण है जिनमें कोई विचारशील व्यक्ति उसका निर्णय करने को और कोई दूरदर्शी व्यक्ति उसे क्रियान्वित करने को और कोई ईमानदार व्यक्ति उसका वचन देने को एकदम तैयार नहीं हो सकता था।" मुरे का कहना है कि "इन शब्दों में बर्क ने अपने इस मौलिक विश्वास को प्रस्तुत किया है कि राज्य में कोई मानव–कृत यत्र न होकर एक अति जटिल ऐसा सावयव है जि को निर्धारित करने में व्यक्तियों के प्रयलों ने निश्चय ही सहायता पहुंचाई है किन्त जिसके विकास एवं लक्ष्य को कोई व्यक्ति पूर्णतः नहीं समझ सकता। बर्क का विश्वास था कि राज्य के विकास का ढंग एक बड़ी सीमा तक ऐसी शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है जिसे कोई भी व्यक्ति पूर्णरूपेण नहीं समझ सकता और जब व्यक्ति किसी परिवर्तन के इच्छुक होते हैं तो उन्हें चाहिए कि वे ऐसा कार्य बड़े सोच–विचार कर तथा संयम के साथ करें क्योंकि यह कोई नहीं कह सकता कि उनके कार्यों के क्या परिणाम होंगे–हो सकता है कि उनके परिणाम सम्पूर्ण समाज के अत्यन्त आधारभूत हितों के विरुद्ध हों।"

जनहित का अनुमोदन करने के बावजूद भी बर्क मानता था कि निर्वाचक मण्डल का विस्तार नहीं होना चाहिए। उसका विचार था कि संसद् में मौलिक सुधारों की आवश्यकता नहीं है। उसने बिटिश संविधान में मौलिक परिवर्तन करने वाले ऐसे सभी प्रस्तावों का विरोध किया जिनमें मताधिकार को व्यापक बनाने, ग्रामीण क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व बढ़ाने और उजड़ी बस्तियों में संसद् में दो प्रतिनिधिव भेजने की व्यवस्था को समाप्त करने पर बल दिया गया था। संसद् में एक भाषण देते हुए उसने ये शब्द कहे थे–"न तो इस समय और न किसी समय में यह बात दूरदर्शितापूर्ण होगी कि हम अपने संविधान के मौलिक सिद्धान्तों और प्राचीनकाल से सुपरीक्षित परम्पराओं में कोई हस्तक्षेप करें। हमारे प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लगभग उतनी ही पूर्ण है जितनी मानवीय मामलों में आवश्यक अपूर्णता के साथ सम्भव है। बर्क के अनुसार "प्रतिनिधित्व का अर्थ का यह कभी नहीं होता कि जनता के अधिकांश भाग को प्रतिनिधियों का निर्वाचन करने के लिए मतदान का अधिकार प्राप्त हो।" व्यक्तिगत नागरिकों का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता और देश के परिपक्व लोकमत में संख्या सम्बन्धी बहुमत का कोई स्थान नहीं होता। उसका कहना था कि "वास्तविक प्रतिनिधित्व वह है जिसमें हितों की एकता हो और भावनाओं तथा इच्छाओं की सहानुभूति हो। संक्षेप में बर्क ने एक ऐसी संसदीय शासन की कल्पना की थी जो एक सुसंगठित लेकिन सार्वजनिक भावना से अनुप्राणित अल्पसंख्यक वर्ग के नेतृत्व में संचालित हो। बर्क ने बिस्टल के निर्वाचकों के सामने जो भाषण दिया था उसमें उसने बतलाया कि निर्वाचित सदस्य अपने निर्णय तथा कार्य में आजाद होता है। जब प्रतिनिधि एक बार निर्वाचित हो जाता है तो वह सम्पूर्ण राष्ट्र और साम्राज्य के हितों के प्रति उत्तरदायी होता है। उसका यह अधिकार होता है कि वह अपनी बुद्धि का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करे, चाहे यह उसके निर्वाचकों की इच्छा के अनुकूल हो या न हो। सदस्य अपने निर्वाचकों के पास विधि तथा शासन के सिद्धान्तों को सीखने के लिए नहीं जाता। सदस्य का निर्वाचन क्षेत्र उसके लिए पाठशाला नहीं है।" बर्क के ये विचार उसके अनुदारवादी चिन्तन की पुष्टि करते हैं।

राजनीतिक दलों के बारे में बर्क के विचारों का इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त है कि उसने संसदीय शासन–प्रणाली में राजनीतिक दलों के महत्त्व को पहचाना और जॉर्ज तृतीय की उन योजनाओं का डट कर विरोध किया जिनसे वह दल–प्रणाली पर घातक चोट करना चाहता था। वह बिग दल का शीर्षस्थ नेता था जिसने दल को समुचित रूप से संगठित किया। बर्क ने दलीय सरकार का ध्येय सम्पूर्ण राष्ट्र का कल्याण बतलाया। उसने राजनीतिक दल की यह सुविख्यात परिभाषा दी–"दल उन व्यक्तियों का एक समुदाय है जो अपने संयुक्त प्रयत्नों में किसी विशिष्ट सिद्धान्त पर एकमत होकर राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का प्रयास करते हैं।"

बर्क ने दलीय प्रणाली के इस आधारभूत सिद्धान्त को प्रस्थापित किया कि दल के सभी सदस्यों को एक इकाई के रूप में कार्य करना चाहिए तथा ऐसे किसी गठबन्धन एवं नेतृत्व को स्वीकार नहीं करना चाहिए जो दलीय सिद्धान्तों के विपरीत हो। दल के प्रति अपनी निष्ठा के मार्ग में व्यक्तिगत विचारों को बाधक नहीं बनने देना चाहिए। राजनीतिक दलों

की आवश्यकता पर बल देते हुए बर्क ने कहा कि व्यवस्थापिका के सदस्य अपने संगठित प्रयासों से ही राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि कर सकते हैं। यदि समान विचार वाले व्यक्ति परस्पर मिल जाते हैं तो वे राष्ट्रीय समस्याओं पर प्रभावपूर्ण ढंग से विचार व्यक्त कर सकते हैं। अपने को समान विचार वालों से पृथक् रखकर तो व्यक्ति अपनी प्रतिभा और अवसर का व्यर्थ विनाश ही करते हैं। बर्क ने चेतावनी दी कि दलों का निर्माण स्वार्थ सिद्धि के लिए किया जाना घातक होगा। सदैव यही वांछित है कि सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर और उन सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने के लिए ही दल संगठित किए जाएँ बर्क ने गुटों का विरोध किया क्योंकि उनका आधार सिद्धान्त–प्रेम नहीं बल्कि व्यक्ति–भक्ति होता है। बर्क को सिद्धान्तहीनता से चिढ़ थी। अतः उसने संयुक्त सरकारों का भी विरोध किया। उसने कहा कि संयोजन में प्रायः सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया जाता है। "सिद्धान्त छोड़ बैठने पर संयोजन प्रभावशून्य और शक्तिहीन हो जाता है। दुर्भाग्यवश यदि उनका ध्येय शोषण करना हो जाए तो वह राष्ट्र और समाज के लिए खतरनाक बन जाता है।"

10.8 अधिकार, धर्म, क्रान्ति आदि पर वर्क के विचार

अधिकार

बर्क के अनुसार मानव स्वभाव से राजनीतिक होता है और राज्य से बाहर रहकर अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। इस स्थिति में उसके सभी अधिकार राज्य द्वारा सीमित है। हम ऐसे किन्हीं प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना नहीं कर सकते हैं जो राज्य की परिधि से बाहर हो। अधिकार वे ही वैध है जो राज्य की ओर से प्राप्त होते हों केवल शर्त यह है कि राजकीय नियम ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध नहीं होने चाहिए क्योंकि ईश्वरीय नियम सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च होते है।

बर्क ने कहा है कि व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार और सभ्य राज्य के अधिकार दोनों प्राप्त नहीं हो सकते क्योंकि प्राकृतिक अधिकारों का आधार तो राज्य का अभाव था। वह राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों की चर्चा आधारहीन मानता है। मनुष्य के जो कोई भी प्राकृतिक अधिकार हैं वे राज्य में ही निहित हैं। वह इस विचार को भी स्वीकार नहीं करता कि राज्य के निर्माण से पूर्व मनुष्य को जा प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे उन्हें राज्य की रचना द्वारा आगे बनाए रखने की स्वीकृति प्रदान की गई। राज्य प्राकृतिक अधिकार जैसे किसी भी अधिकार का व्यक्ति को आश्वासन नहीं देता और समाज के बाहर व्यक्ति के अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं होता। प्राकृतिक अधिकार राज्य–विरोधी हैं जिन्हें पूर्ण स्वीकृति देने का अभिप्राय अराजकता क्रान्ति और अव्यवस्था को निमन्त्रण देना है।

बर्क व्यक्ति के अधिकारों का सम्बन्ध परिस्थितियों से मानता है। परिस्थितियों के अनुकूल ही व्यक्ति को अधिकार प्रदान किए जाते हैं। राजकीय विधियों पर निर्भर रहने वाले अधिकार ही वैध है। राजकीय विधियों, दैवी विधियों के अनुरूप है।

बर्क ने दो प्रकार के अधिकारों की चर्चा की है–(1) नागरिक अधिकार तथा (2) राजनीतिक अधिकार। नागरिक अधिकार सभी व्यक्तियों को समान रूप से मिलने चाहिए। राज्य को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसमें प्रत्येक व्यक्ति इन अधिकारों का उपभोग कर सके। राज्य को यह भी देखना चाहिए कि व्यक्ति इन अधिकारों के उपभोग के प्रति उदासीन तो नहीं है। राजनीतिक अधिकार बहुत ही प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण होते हैं। अतः ये कुछ ही व्यक्तियों को दिए जाने चाहिए। अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में इन अधिकारों के चले जाने से समाज और राज्य को हानि पहुँचने का डर है। बर्क ने अधिकारों के स्थायित्व का भी विरोध किया है। अधिकार समय और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित तथा संशोधित होते रहने चाहिए।

धर्म

बर्क धर्म–प्राण व्यक्ति था जिसका इंग्लैण्ड के चर्च में पूर्ण विश्वास था। बर्क प्रत्येक क्षेत्र में धार्मिक भावना का महत्त्व स्वीकार करता था। राजनीति को भी वह धर्म से मिलाता था। उसकी मान्यता थी कि धार्मिक भावना से ही कोई व्यक्ति अच्छा नागरिक नहीं बन सकता। धर्म–भावना समाज के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार न्याय और व्यवहार–कुशलता। धर्म का भावनात्मक अनुराग मानवीय व्यापारों को सौम्यता और स्थिरता प्रदान करता है। समाज, सामाजिक संस्थानों, सामाजिक क्रियाकलापों आदि के प्रति हमें धार्मिक श्रद्धा रखनी चाहिए। दीर्घकाल से चली आ रही सामाजिक संस्थाओं और परम्पराओं का उन्मूलन करने की चेष्टा अधार्मिक वृत्ति है। बर्क ने कहा कि प्रत्येक सरकार और समाज विश्व की दैविक एवं नैतिक व्यवस्था का अंग है। अपने धार्मिक दृष्टिकोण के कारण ही बर्क उपयोगितावादियों से बहुत भिन्न हो गया।

क्रान्ति

बर्क के क्रान्ति सम्बन्धी विचार 1790 में प्रकाशित उसके ग्रन्थ 'Reflection on the Revolution in France' में मिलते हैं। इसमें उसने फ्रैंच क्रान्ति का विरोध किया है और क्रान्ति विरोधी विचारों के कारण ही बर्क को उसके साथी प्रतिक्रियावादी समझने लगे थे।

बर्क का विश्वास था कि प्रभुत्व–प्राप्ति की उद्दाम लालसा और अनियन्त्रित प्रयोग पर रोक लगाना अनिवार्य है। फ्रांस की राज्य–क्रान्ति उसे एक विनाशकारी दानव के समान प्रतीत हुई जो चारों ओर अराजकता तथा अमानवीयता का प्रसार

कर रही थी। यह क्रान्ति राजतन्त्र और अभिजाततन्त्र के नाश पर तुली हुई थी और इस प्रकार समस्त भूतकालीन संस्कृति से संघर्ष कर रही थी। ध्वंस, न कि निर्माण ही, इसका मूल उद्देश्य हो गया था। चर्च के साथ भी क्रान्ति ने छेड़–छाड़ की थी। इस प्रकार क्रान्ति अनीश्वरवाद की ओर बढ़ रही थी। बर्क को क्रान्तिकारियों के सभी कार्य बड़े कष्टकर लगे। उसका कोमल हृदय, फ्रांसीसी आतंकवादियों के कारनामों से काँप उठा। उसने फ्रैंच क्रान्तिकारियों को आक्रमणकारी, हिंसक, दस्यु, दुष्ट और आचरणहीन तक कह डाला। उसने कहा कि ये क्रान्तिकारी अपने कुकृत्यों को छिपाने के लिए नीति और आचार का गीत गा रहे थे। तर्क, विशुद्ध बुद्धि और रेखागणित का आश्रय लेकर वे नए सिरे से फ्रैंच समाज का निर्माण करने में लगे थे, जो विनाशकारी कदम था। बर्क ने यह दृढमत प्रकट किया कि एक सदन में बैठकर पूर्व–निर्दिष्ट बौद्धिक ढांचे पर नूतन समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। कोरे गगनचुम्बी सैद्धान्तिक आदर्शों पर समाज की रचना का प्रयास दुस्साहस है जो कभी सफल नहीं हो सकता।

यदि हम गहराई से बर्क के विचारों का अध्ययन करें तो स्पष्ट है कि उसे क्रान्तिकारी विचारों से घृणा , नहीं थी बल्कि हिंसात्मक अस्त्र–शस्त्रों के प्रयोग से घृणा थी। वह आमूल परिवर्तन का विरोधी था। वह नहीं चाहता था कि किसी भी परिस्थिति अथवा अवस्था का समूल नाश करके नए सिरे से प्रारम्भ किया जाए। पुरातन को एकदम उखाड़ फेंकने के प्रयत्न न्यायोचित नहीं कहे जा सकते। अमेरिकन क्रान्ति का समर्थन उसने केवल इसलिए किया था कि उपनिवेशवासियों की माँगें न्यायोचित और आवश्यक थी तथा उस क्रान्ति में वैसा निर्मम हत्याकाण्ड नहीं हुआ था जैसा फ्रैंच क्रान्ति में।

10.9 बर्क का मूल्यांकन एवं योगदान

आलोचकों के अनुसार बर्क के राजनीतिक विचार यह बताते हैं कि उसमें राजदर्शन को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने की कमी थी। सेबाइन ने लिखा है कि "बर्क के राजनीतिक दर्शन को सुसम्बद्धता के बारे में काफी वाद–विवाद हुआ है। बर्क हिग सिद्धान्तों को मानने वाला था लेकिन इसके साथ ही उसने फ्रांस की क्रान्ति का विरोध किया था। उसकी इन दो प्रवृत्तियों में क्या संगति थी, इस प्रश्न को लेकर भो काफी वाद–विवाद हुआ है। बर्क के फ्रांसीसी क्रान्ति के सम्बन्ध में इस प्रतिक्रिया ने उसके जिन्दगी भर के सम्बन्धों और मित्रताओं को समाप्त कर दिया। उसके समसामयिक यह न समझ सके कि जिस व्यक्ति ने अमेरिकन स्वतन्त्रता का समर्थन किया था, संसद् के ऊपर राजा के नियन्त्रण की आलोचना की थी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विहित अधिकारों को समाप्त करने की कोशिश की थी, वही व्यक्ति अब फ्रांसीसी क्रान्ति के कैसे विरुद्ध हो गया। किन्तु वास्तव में यह गलत धारणा है। बर्क का दर्शन कोई क्रमबद्ध दर्शन न था। उसके कुछ रूढ़िवादी सिद्धान्त थे। उसने जिन सिद्धान्तों से प्रेरित होकर क्रान्ति पर आक्षेप किया था, उन्हीं सिद्धान्तों से प्रेरित होकर उसने फ्रांस की क्रान्ति से पहले सारे कार्य किए थे। यह सही है कि फ्रांस की घटनाओं ने उसे डरा दिया था, उसकी बुद्धि को असंतुलित कर दिया था, ऐसी घृणा को प्रकट किया था जो अब तक बड़ी सुन्दरता से छिपी हुई थी और इसके कारण उसकी लेखनी में ऐसा अनावश्यक अलंकार आ गया था जिसने निष्पक्षता, इतिहास बोध और तथ्यों पर अधिकार को नष्टप्राय कर दिया था, लेकिन क्रान्ति ने उसे न तो कुछ नए विचार दिए और न ही उसके पुराने विचारों को बदला। उसके मुख्य राजनीतिक विचार हमेशा एक से रहे।"

बर्क के विरुद्ध एक गम्भीर आरोप यह लगाया जाता है कि वह परम्पराओं का पुजारी था और ऐसे परिवर्तनों का समर्थक न था जिनसे पुरातन परम्पराओं एवं मान्यताओं को ठेस पहुंचे। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें उसके ये शब्द नहीं भूलने चाहिए कि "मेरे मापदण्ड से पूरे उतरने वाले राजनीतिज्ञ में प्राचीन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति तथा साथ ही सुधार करने की योग्यता होनी चाहिए।" पुनश्च, उसने यह भी कहा था कि यदि किसी प्राचीन संस्था का विवेक नष्ट हो जाता है तो उसे शवमात्र को बनाए रखना मूर्खता है। वास्तव में बर्क ठेठ रूदिवादी नहीं था बल्कि उदार रूदिवादी था। उसकी पुस्तक झाँसीसी राज्य क्रान्ति पर विचार' को अनेक विद्वान 'अनुदारवाद की बाइबिल' की संज्ञा देते हैं।

बर्क ने राजनीतिक और साम्पत्तिक अधिकारों का जो विभाजन किया वह न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता पर साथ ही यह भी है कि सम्पत्ति सम्बन्धी उसके विचार यथार्थ की भूमि पर टिके थे। सम्पत्ति के क्षेत्र में समानता का इतिहास मनुष्य ने अभी तक दुर्भाग्यवश साकार रूप में नहीं देखा है। बर्क ने प्रजातन्त्रीय शासन को अस्वीकार करके अपने सम्मान को ठेस पहुंचाई है। अपने इन विचारों से उसने वर्तमान जनतन्त्रीय युग के लोगों को अपना विरोधी बना लिया है। बर्क ने अपने इन विचारों से वर्तमान जनतन्त्रीय युग के लोगों को अपना विरोधी बना लिया है। बर्क ने अपने विचारों से यह प्रकट कर दिया कि उसने इस बात को कभी नहीं समझा कि वह किस युग में रहता है। बर्क के युग में प्रजातन्त्रीय विचार दिन–प्रतिदिन तीव्र होते जा रहे थे किन्त वह फिर भी राजतन्त्र और अभिजात्यतन्त्र का समर्थन करता रहा। बर्क की इस बात की भी आलोचना की जाती है कि उसने समाज, राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं किया।

यदि बर्क में ये कमियाँ न होतीं तो निस्संदेह उसका स्थान अत्यन्त ही श्रेष्ठ होता। बर्क में यद्यपि दोषों की कमी न थी किन्तु राजदर्शन के क्षेत्र में उसका अनुदाय और प्रभाव कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसकी कृतियों और उसके विचारों से प्रभावित होकर ही केनिंग ने इंग्लैण्ड के शासन में व्यवस्था लाने का प्रयास किया और डिजरैली ने उसके अनुदारवादी विचारों से प्रेरणा ग्रहण की। बर्क ने ऐतिहासिक पद्धति को अपने उचित स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित करके राजनीतिक

इतिहास और आधुनिक काल की महान् सेवा की। उसने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का खण्डन करके राज्य के स्वरूप की सावयविक विवेचना की। उसने विकासवादी और उपयोगितावादी विचारधारा का मार्ग प्रशस्त किया। उसने मध्यम मार्ग और सहिष्णुता एवं संयम का प्रतिपादन किया और बताया कि सुधार करते समय कट्टरता की तथा उदारता की दोनों अतियों से बचते हुए मध्यवर्ती मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। बर्क का अन्य प्रशंसनीय कार्य प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन करना था। उसने कहा कि उन्हीं अधिकारों का महत्त्व है जो ठोस हों और समाज के अभिसमयों या परम्पराओं से उत्पन्न हुए हों। सेबाइन ने बर्क की एक अन्य देन की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि "फ्राँस की क्रान्ति के विरुद्ध उसने जिस प्रतिक्रिया का झण्डा खड़ा किया उससे एक नवीन परिवर्तन का सूत्रपात हुआ जिसके कारण तत्कालीन प्रचलित सामाजिक दर्शन को आक्रमण छोड़कर अपना बचाव करने के लिए विवश होना पड़ा और इसीलिए स्थिरता के मूल्य तथा परम्परा की शक्ति पर, जिसके ऊपर स्थिरता निर्भर करती है, एक नया बल दिया गया।"

बर्क के सुधारवादी विचारों से जिस नवीन सुधारवादी भावना का श्रीगणेश हुआ, उसका प्रभाव जॉनसन पर भी पड़ा। वर्डस्वर्थ और कॉलरिज जैसे साहित्यकार बर्क से प्रभावित हुए। फलस्वरूप साहित्य में 'त्वउंदजपब त्मंबजपवद' की धारा का अभ्युदय हुआ। जॉनसन ने तो यहाँ तक कह दिया है कि, "उसकी मानसिक धारा शाश्वत है।" बर्क से प्रभावित होकर लॉर्ड मैकाले ने कहा था–"मिल्टन के बाद वही हमारे देश का महानतम पुरुष है और लॉर्ड मोर्ले के पश्चात् वही हमारे देश का प्रथम श्रेणी का निर्माता है।" मैक्सी ने लिखा हैकृ"यह उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के अनुदारवादी तथा ऐतिहासिक सम्प्रदाय का मुख्य प्रेरणा–स्रोत है। मेन, फ्रीमैन, सीले, सिजविक, नीत्शे जैसे अनुदारवादी विचारकों की कृतियों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। लॉस्की ने बर्क के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त किया हैकृ"बर्क की प्रशंसा करना सरल है और उसके प्रयास के महत्त्व . को समझ पाना और भी सरल है। उसके पूर्ण मूल्यांकन को छोड़ भी दिया जाए तो भी इतना निश्चित है कि एक विचार–पद्धति के जनक की अपेक्षा उसे कुछ ऐसी लोकशक्तियों के रचयिता के रूप में अधिक याद किया जाएगा जिन्हें भुला देने का साहस बहुत कम राजनीतिज्ञों को होगा। उसकी विचार–पद्धति अपनी अपूर्ण अभिव्यंजनाओं में भी हॉब्स एवं बेन्थम की प्रणालियों से कुछ कम महाकाव्य नहीं है।" लॉस्की ने ही आगे लिखा है–"बर्क के दोष भी हमें सबक सिखाते हैं। उसका यह न देख पाना कि सम्पत्ति का कुछ हाथों में केन्द्रीकरण इतना खतरनाक होता है, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वह मनुष्य संसद् का निर्णय अपनी निजी इच्छाओं के मापदण्ड के करने के लिए कितना उत्सुक रहता है। "जन–इच्छा का जो उसने निरादर किया है वह उस घातक उपेक्षा की ओर संकेत करता है जिसके साथ हम उन लोगों की इच्छा की अवहेलना कर देते है जो राजनीतिक संघर्ष के सक्रिय केन्द्र से बाहर खड़े हैं।" लॉस्की की मान्यता है कि इन सब कमियों के बावजूद समकालीन राजदर्शन को उसने ऐसी दिशा, भावना तथा ओजस्विता प्रदान की जैसी किसी भी राजनीतिज्ञ ने नहीं की। शक्तिवाद पर नैतिक प्रतिबन्ध लगाने का आजीवन समर्थन करते रह कर बर्क ने उदारवाद के नैतिक अधिकार को बहुत संबल प्रदान किया है। यह अनुदारवादी बर्क की बहुत बड़ी देन है। बर्क के राजनीतिक चिन्तन के अनुदाय के संबंध में डनिंग ने कहा है" बर्क की भावना एकान्त कोने में चिन्तन करने वाले दार्शनिक की नहीं वरन् एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ की थी।"

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक चिंतन में बर्क के योगदान का परीक्षण कीजिए।
2. बर्क के प्रमुख राजनीतिक विचारों का विवेचन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. बर्क के क्रांति सम्बन्धी विचारों का विवेचन कीजिए।
2. अधिकारों के बारे में बर्क की क्या धारणा है?

अतिलघुत्तरात्म्क प्रश्न

1. दलीय व्यवस्था के बारे में बर्क का क्या दृष्टिकोण है?
2. Reflection on the Revolution in France किस की रचना है?

इकाई–11
इमेनुअल कॉण्ट

संरचना

11.0 उद्देश्य

11.2 जीवन परिचय

11.3 प्रमुख रचनाएँ

11.4 आदर्शवाद का अभिप्राय और उसकी ऐतिहासिक परम्परा

11.5 आदर्शवाद का सिद्धान्त

- 11.5.1 राज्य एक नैतिक संस्था है
- 11.5.2 राज्य एक अनिवार्य संस्था है
- 11.5.3 राज्य सर्वशक्तिमान है
- 11.5.4 राज्य और व्यक्ति में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है
- 11.5.5 राज्य का अपना उद्देश्य तथा व्यक्तित्व है
- 11.5.6 राज्य मनुष्य की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है
- 11.5.7 राज्य की आपार शक्ति नहीं, इच्छा है
- 11.5.8 राज्य की आज्ञा–पालन करना ही स्वतन्त्रता है
- 11.5.9 राज्य अधिकारों का जन्मदाता है
- 11.5.10 राज्य साध्य है, साबन नहीं है
- 11.5.11 राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं है

11.6 जर्मन आदर्शवादी कॉण्ट

- 11.6.1 कॉण्ट से पूर्ववर्ती विचारधारा
- 11.6.2 कॉण्ट के दार्शनिक विचार
- 11.6.3 कॉण्ट की नैतिक इच्छा तथा नैतिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

11.7 कॉण्ट के राजनीतिक विचार

- 11.7.1 कॉण्ट का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण
- 11.7.2 राज्य की आवश्यकता के बारे में कॉण्ट के विचार
- 11.7.3 कॉण्ट और सामाजिक समझौता
- 11.7.4 सम्पत्ति पर कॉण्ट के विचार
- 11.7.5 कॉण्ट का दण्ड सम्बधी विचार
- 11.7.6 काण्ट के अधिकार और कर्तव्य सम्बधी
- 11.7.7 राज्य के कार्य–क्षेत्र के बारे में कॉण्ट के विचार

11.8 कॉण्ट के दर्शन की आलोचना और उसका मूल्यांकन

11.0 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन करने कें पश्चात् विधार्थी–

- काण्ट के राजनीतिक दर्शन को समझ सकेंगे।
- काण्ट जीवन परिचय को जान सकेंगे।
- काण्ट के आदर्शवादी दृष्टिकोण को समझ सकेंगे।
- काण्ट के राज्य सम्बन्धी विचारों को समझ सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन में काण्ट को महान् आदर्शवादी विचारक के रूप में जाना जाता है। इन्होंने अपने विचारों में प्लेटो तथा हीगल की भांति आदर्शवादी विचारधारा का पक्षपोषण किया। इन्होंने राज्य को सर्वोच्च संस्था स्वीकार करते हुए इसे व्यक्ति के जीवन में अतिआवश्यक माना है। काण्ट ने व्यक्ति की इच्छा को सर्वोपरि मानते हुए राज्य को व्यक्ति की इच्छाओं पूरा करने वाला माध्यम माना है। काण्ट ने राज्य को सकारात्मक रूप से व्यक्ति जीवन लोक कल्याणकारी दृष्टिकोण से स्पष्ट किया है।

11.2 जीवन–परिचय

जर्मन आदर्शवादी दर्शन के पिता इमेनुअल कॉण्ट का जन्म 1724 ई. में जर्मनी के कोनिंग्सबर्ग प्रदेश में हुआ था और सन् 1804 में उसका देहान्त हो गया। जीवन–पर्यन्त अविवाहित रहकर उसने अपना सारा समय दर्शन, गणित और नीति–शास्त्र के गहन अनुसंधान में व्यतीत किया। उसका जीवन ऋषियों के पास था। वह प्रत्येक कार्य को निश्चित समय पर करने का अभ्यस्त था।

बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि कॉण्ट केवल एक सैद्धान्तिक राजनीतिज्ञ था जिसने राजनीति में कमी नहीं लिया। अपनी शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त कोनिंग्सबर्ग विश्वविद्यालय में काण्ट की प्राध्यापक के पट नियुक्ति हुई और वहीं पर बाद में उसने आचार्य का पद सम्भाला। उसने अपने जन्म–स्थान से बाहर भ्रमण नहीं किया। वह 30 वर्ष से भी अधिक समय तक कोंनिग्सबर्ग के विश्वविद्यालय में ही न्याय–शास्त्र और आध्यात्म–शास्त्र का शिक्षक रहा। फ्रांस की राज्य–क्रान्ति तथा अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम ने काण्ट की विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित किया था। तत्कालीन इंग्लैण्ड की स्थिति का भी उसे प्रचुर ज्ञान था। कॉट ने मौलिकता के नाम पर अपने दर्शन में कोई नवीनता व्यक्त नहीं की। रूसो एवं मॉण्टेस्क्य के राजनीतिक दर्शन से ही उसने प्रेरणा ग्रहण की और उनके विचारों को ही उसने अपने ढंग से क्रमबद्ध किया। प्रमित इतिहासकार डनिंग के शब्दों में–"राज्य के उद्भव और स्वरूप के सम्बन्ध में कॉण्ट का सिद्धान्त ठीक नही था जो रूसो का था और उसी को उसने अपनी तर्कपूर्ण शैली से अपने शब्दों में व्यक्त किया है। इसी प्रकार सरकार का विवेचन करने में उसने मॉण्टेस्क्यू का अनुसरण किया है।" उसने मानव को सर्वथा साध्य मानकर प्रजातान्त्रिक आदर्शवाद की आधारशिला रखी।

11.3 प्रमुख रचनाएँ

कॉण्ट ने सन् 1745 से अपनी मृत्यु–पर्यन्त 40 से भी अधिक ग्रन्थ और निबन्ध लिखे। यद्यपि कॉण्ट की वैधानिक रचनाएँ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो चुकी हैं तथापि उसकी दार्शनिक कृतियों को अब भी बड़े सम्मान के साथ पढ़ा जाता है।

कॉण्ट की वे महान् कृतियाँ जिनके कारण उसे इतनी ख्याति प्राप्त हुई, तीन है–

1. शुद्ध–बुद्धि की मीमांसा
2. व्यावहारिक बुद्धि–मीमांसा
3. निर्णय मीमांसा
4. कानून के सिद्धान्त की प्रथम तात्त्विक मीमांसा
5. अनन्त शान्ति
6. फिलोसॉफी ऑफ लॉ

11.4 आदर्शवाद का अभिप्राय और उसकी ऐतिहासिक परम्परा

राजनीति के इतिहास में आदर्शवाद का सिद्धान्त अनेक नामों से विख्यात है। चरमतावादी सिद्धान्त, दार्शनिक सिद्धान्त, तात्त्विक सिद्धान्त और मैकाइवर के शब्दों में 'रहस्यवादी सिद्धान्त' आदि एक ही आदर्शवादी सिद्धान्त के विभिन्न नाम हैं। यथार्थ में ये अनेक नाम आदर्शवादी विचार के धरातल के नीचे बहने वाली उन धाराओं की ओर संकेत करते हैं जो जर्मन तथा अंग्रेजी विचारक हीगल, कॉण्ट, ग्रीन, बोसाँके आदि राजनीतिक दर्शनों से प्रवाहित होकर आदर्शवाद रूपी सरिता को जन्म देती हैं। राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य तथा समाज का एक आदर्श चित्र प्रस्तुत करता है जो व्यावहारिक दृष्टि से कुछ कठिनाइयों से पूर्ण होते हुए भी दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सिद्धान्त अत्यन्त भावात्मक तथा तर्कपूर्ण है। राज्य को एक वास्तविक तथ्य न मानकर यह उसे एक आदर्श अथवा पूर्ण वस्तु मानकर चलता है जिससे इसके परिणामों का आधार अनुभव तथा निरीक्षण न होकर शुष्क तर्क है और आध्यात्मिक बन जाता है। आदर्शवादियों को इस बात की चिन्ता नहीं है कि वर्तमान राज्य का स्वरूप क्या है ? वे उसे उसकी यथार्थताओं से अलग रख कर केवल इस बात पर विचार करते हैं कि आदर्श राज्य को कैसा होना चाहिए। इसीलिए उनके दर्शन में राज्य का स्थान दैविक महत्ता तक पहुंच गया है और व्यक्ति एवं उसकी स्वतन्त्रता की निर्मम उपेक्षा कर दी गई है।

राजनीति में आदर्शवादी परम्परा का इतिहास कहीं–कहीं पर खण्डित होते हुए भी बहुत प्राचीन और लम्बा है जो यूनानियों से लेकर आज तक श्रृंखलाबद्ध रूप में ढूंढा जा सकता है। राजनीतिक आदर्शवाद के अनेक तत्त्व अरस्तू और प्लेटो के दर्शन में उपलब्ध है। अरस्तू का यह सूत्र कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' आदर्शवादी परम्परा का आधारभूत सिद्धान्त है। अरस्तू ने राज्य की उपयोगिता व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए स्वीकार की है। अरस्तु की भाँति ही प्लेटो ने भी नैतिक प्रणाली में विश्वास प्रकट किया है।

प्राचीन यूनानी दार्शनिकों की राज्य के सम्बन्ध में नैतिक पुरुष की धारणा मध्य–युग में चर्च और राज्य के संघर्ष के फलस्वरूप लम्बे अर्से तक लुप्त रही। 17वीं शताब्दी के पुनर्जागरण काल में एक बार फिर यूनानी दर्शन के प्रति विद्वानों ने जिज्ञासा उत्पन्न की। टॉमस मूर ने प्लेटो के आदर्शवादी राज्य की कल्पना से प्रभावित होकर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक की रचना की।

आधुनिक युग में यूनानी विचारधारा का पनरुत्थान रूसो द्वारा हआ। उसकी 'सामान्य इच्छा' इसी दर्शन अर्थात् आदर्शवाद पर आधारित है। रूसो के उपरान्त जर्मनी आदर्शवाद का गढ़ बन गया और इस दर्शन का विकास मुख्यतः 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। वास्तव में "फ्रांस की राज्य–क्रान्ति से प्रभावित जर्मन जनता के केन्द्रीय व्यवस्था सम्बन्धी विचारों को केवल आदर्शवादी दार्शनिकों के विचार ही सन्तुष्ट कर सकते थे।" जर्मनी के आदर्शवादी लेखकों में कॉण्ट, फिक्टे तथा हीगल के नाम उल्लेखनीय हैं। कॉण्ट को इस दर्शन का वर्तमानयुगीन जनक कहा जा सकता है। उसका आदर्शवाद उदारवादी था। आदर्शवादी जर्मन स्कूल के साथ इंग्लैण्ड में भी आदर्शवादी विचारधारा विकसित हुई। इंग्लैण्ड के आदर्शवादी लेखकों में ग्रीन, ब्रेडले, बोसाँके आदि के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। यदि जर्मनी का आदर्शवाद उग्रवादी था तो इंग्लैण्ड का उदारवादी।

11.5 आदर्शवाद का सिद्धान्त

11.5.1 राज्य एक नैतिक संस्था है

आदर्शवादियों के अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था है और राजकीय संगठन द्वारा ही व्यक्ति को योग्य, विवेकशील तथा नैतिक बनने के अवसर प्राप्त होते हैं। अरस्तू के इस मत से आदर्शवादी सहमत हैं कि "राज्य सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है और केवल पशुओं अथवा देवताओं को ही राज्य की आवश्यकता नहीं होती।" आदर्शवादियों के अनुसार राज्य का उद्देश्य सुख–वृद्धि न होकर उन परिस्थितियों को कायम रखना है जो नागरिकों के श्रेष्ठतम जीवन के लिए आवश्यक हैं। बोसाँके राज्य को 'नैतिक विचारक का मूर्तरूप' मानता है। वह कहता है "राज्य विश्वव्यापी संगठन का अंग न होकर समस्त नैतिक संसार का अभिभावक है।" आदर्शवादियों की मान्यता है कि राज्य का जन्म कहीं बाहर से नहीं हुआ है अपितु वह हमारे नैतिक विचार की ही अनुभूति है जो हमारे पूर्ण विकास के लिए परमावश्यक है। कॉण्ट के विचारों को विकसित करते हुए हीगल भी इसी परिणाम पर पहुँचा कि राज्य सामाजिक सदाचार की वृद्धि के लिए कायम है। हीगल के ही शब्दों में, "सामाजिक आचरण की उच्चतम कला राज्य में व्यक्त होती है। राज्य विवेक का सर्वोच्च रूप है और वही यथार्थ का संरक्षक है।"

11.5.2 राज्य एक अनिवार्य संस्था है

आदर्शवादियों के अनुसार नैतिक संस्था होने के कारण राज्य का समाज में अस्तित्व आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" इसलिए वह समाज अथवा राज्य से पृथक् रहकर कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। हॉब्स, लॉक आदि की भाँति आदर्शवादी यह नहीं मानते कि समाज के विकास में कोई प्राकृतिक दशा जैसा राज्यविहीन काल भी रहा होगा, राज्य से पृथक् मनुष्य स्वयं अपने में एक विरोध है। राज्यविहीन अवस्था में अथवा राज्य की अनुपस्थिति में न केवल समाज अव्यवस्थित एवं कानून रहित होगा बल्कि राज्यविहीन समुदाय के लोग अत्यन्त चरित्रहीन एवं जघन्य आचरण करने वाले होंगे। अतः आदर्शवादियों की निश्चित धारणा है कि – "एक सभ्य, सुसंस्कृत, नैतिक एवं परिपूर्ण रूप से विकसित समाज की सद्भावना के बिना राज्य एक विचारशून्य कल्पना है।"

11.5.3 राज्य सर्वशक्तिमान है

राज्य के सम्बन्ध में आदर्शवादियों की कल्पना सर्वसत्तावादी है। हीगल के शब्दों में, "राज्य स्वयं ईश्वर है, वह पृथ्वी पर स्थित दैवी विचार है।" पुनः हीगल के ही कथनानुसार "राज्य पृथ्वी पर साक्षात् ईश्वर का आगमन है। वह एक ऐसी दैवी इच्छा है जो विश्वव्यापी व्यवस्था में वास्तविक रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार राजसत्ता की चरम सीमा की निरंकुशता तथा असीमितता का समर्थक होने के कारण आदर्शवादी राज्य की कल्पना पूर्णतः एक सर्वाधिकारवादी राज्य की कल्पना है जिसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार किसी को नहीं हो सकता। ग्रीन जैसे उदार आदर्शवादी ने व्यक्ति को कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार प्रदान किया है।

11.5.4 राज्य और व्यक्ति में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है

आदर्शवाद व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध नहीं मानता। राज्य बनाम व्यक्ति जैसे किसी भी सम्भावित विवाद को वह एक प्रान्त धारणा मानता है। राज्य का उद्देश्य मानव–व्यक्तित्व का पूर्ण तथा स्वतन्त्र विकास करना है, अतः राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक राज्य की शक्ति के सम्पूर्ण विचार को ही त्याग देना चाहिए। आदर्शवादियों की मान्यता है कि राज्य की सच्ची जड़ें व्यक्ति के हृदय में हैं और एक असभ्य, बर्बर एवं मूर्ख पशुवत् आचरण करने वाले मनुष्य को सुसंस्कृत मानव एवं दिव्य बनाने वाली यह संस्था निश्चय ही व्यक्ति की सच्ची मित्र है। व्यक्ति का सदाचार भी इसी बात में निहित है कि वह अपने सामाजिक कर्तव्य. के पालन से विमुख न हो। इसमें सन्देह नहीं कि दो आदर्शवादी धारणाएँ विचार जगत में क्रान्ति की द्योतक हैं। बार्कर के कथनानुसारदृ"एक ऐसे केन्द्रीय व्यक्ति से आरम्भ करने के स्थान में, जिसके लिए सामाजिक संगठन दाला हुआ माना जाता है, आदर्शवादी एक केन्द्रीय सामाजिक संगठन से आरम्भ करता है जिसमें व्यक्ति को अपना निर्धारित कार्यक्षेत्र खोजना चाहिए।

11.5.5 राज्य का अपना उद्देश्य तथा व्यक्तित्व है

व्यक्तिवादियों के विपरीत आदर्शवादियों की मान्यता है ऋऋ कि राज्य का अपना पृथक् एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व तथा अस्तित्व होता है। राज्य के सदस्यों से पृथक् राज्य की 'अपनी एक इच्छा होती है जो नागरिकों की सामूहिक इच्छा से स्वतन्त्र होते हुए भी उससे भिन्न नहीं होती। राज्य के व्यक्तित्व की धारणा की पूर्ण अभिव्यक्ति हीगल में हुई है जो राज्य को "एक आत्म–चेतन नैतिक तत्त्व, आत्मज्ञानी और आत्मानुभवी व्यक्ति मानता है। राज्य अपने घटकों के योग से कुछ अधिक है और उसकी अपनी आत्मा है।" आदर्शवादी विचार की यह एक आधारभूत विशेषता है।

11.5.6 राज्य मनुष्य की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है

रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त आदर्शवादी दर्शन का केन्द्र–बिन्दु है। आदर्शवादियों के अनुसार विभिन्न संघ, संस्थान एवं संस्थाएँ, जिनका निर्माण सामान्य रुचियों की पूर्ति हेतु किया जाता है, सामूहिक मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु इन संबके बीच सामंजस्य राज्य द्वारा ही स्थापित किया जाता है। राज्य हमारी अन्तःचेतना अथवा वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति होने के कारण सामान्य इच्छा का प्रतीक है। राज्य वही कार्य करता है जो हमारा शुद्ध अन्तःकरण चाहता है अथवा जो हमें सामाजिक प्राणी होने के नाते करना चाहिए। व्यक्तिगत विकास की परिपक्वता एवं परिपूर्णता का दूसरा नाम ही राज्य है।

11.5.7 राज्य की आधार शक्ति नहीं, इच्छा है

आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं। इसका अभिप्राय राज्य द्वारा बल–प्रयोग का पूर्ण निषेध नहीं है। इसका अर्थ यह है कि शक्ति प्रयोग करने का अधिकार राज्य का मौलिक गुण है जैसी कि बेन्थम, ऑस्टिन आदि की मान्यता थी। आदर्शवादी टी. एच. ग्रीन के अनुसार राज्य के विशाल ढाँचे को स्थिर रखने वाला स्तम्भ तथा राज्य के जीव का सच्चा और वास्तविक आधार बल या शक्ति न होकर इच्छा है। यदि राज्य भय उत्पन्न करके अपनी आशाओं का पालन कराता है तो वह राज्य कभी भी स्थायी नहीं हो सकता। हम राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते है क्योंकि हम जानते है कि राज्य हमारी सच्ची और उच्चतर आत्मा का प्रतिनिधि है और इसके वाराही वह सामान्य हित प्राप्त किया जा सकता है, हमारा स्वयं का हित जिसका एक अभिन्न अंग है।

11.5.8 राज्य की आज्ञा–पालन करना ही स्वतन्त्रता है

आदर्शवादी स्वतन्त्रता का रूप सकारात्मक है। राज्य के सभी कानून व्यक्ति की पूर्णता के लिए एक वातावरण का सृजन करते हैं जिसके अन्तर्गत वह स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है इसलिए राज्य के किसी भी कानून की अवज्ञा करना ही अपनी स्वतन्त्रता के मार्ग को अवरुद्ध करना है। आदर्शवादी पूर्ण स्वतन्त्रता के उपासक नहीं हैं। वे पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वाधीनता का निषेध मानते हैं। बन्धनों की अनुपस्थिति में स्वतन्त्रता केवल शक्तिशाली व्यक्तियों का ही विशेषाधिकार रह जाती है। आदर्शवादियों का कहना है कि राजकीय आज्ञाओं का पालन करते समय हम किसी बाह्य का नहीं अपितु स्वयं की ही मूर्तिमान इच्छा के आदेश का पालन करते हैं। जॉजफ बेडले के शब्दों में, "मनुष्य की स्वतन्त्रता से हमारा अभिप्राय उस समाज के प्रति कर्तव्यों के पालन से है जिनके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकता है।" आदर्शवाद के अनुसार स्वतन्त्रता एक निश्चित वस्तु है। स्वयं बार्कर के मत में, "चेतना से स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है, स्वतन्त्रता अपने उपभोग के लिए कुछ अधिकार चाहती है और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।"

11.5.9 राज्य अधिकारों का जन्मदाता है

आदर्शवादी व्यक्तिवादियों एवं सामाजिक समझौतावादियों की भाँति किन्हीं प्राकृतिक प्राक् राजनीतिक अधिकारों में विश्वास नहीं करते। उनकी परिभाषा के अनुसार, "अधिकार कुछ ऐसी बाह्य परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक है।" राज्य ही व्यक्ति के अधिकारों का नैतिक अभिभावक और संरक्षक है।

11.5.10 राज्य साध्य है, साधन नहीं है

जहाँ व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनों ही में राज्य को व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का साधन माना गया है. वहाँ आदर्शवादी राज्य को साध्य मानते हैं वयवी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए वे व्यक्ति और राज्य की परस्पर निर्भरता पर बल देते हैं। वे राज्य को व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं मानते। आदर्शवादियों के अनुसार, "व्यक्ति राज्य के लिए है, न कि राज्य व्यक्ति के लिए।" राज्य व्यक्ति की नैतिक संस्था है। व्यक्ति के नैतिक जीवन का राज्य न केवल माध्यम है बल्कि संरक्षक भी है। राज्य से पृथक् व्यक्ति केवल भावनात्मक वस्तु है।

11.5.11 राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं है

आदर्शवादी राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं मानते। वे मानवीय कर्तव्यों को सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र के अन्तर्गत विभाजित नहीं करते। राज्य एवं समाज के कार्य क्षेत्रों में अनुरूपता स्वीकार करते हुए उनका मत है कि राज्य सामाजिक अस्तित्व का आधार है। सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ अभिन्न हैं। राज्य एवं समाज दोनों का लक्ष्य एक है—मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करना। कि आदर्शवादी अंग्रेज विचारक मानते हैं कि नैतिकता एक आन्तरिक वस्तु है जिसे राज्य न लागू करता है और न कभी लागू की जानी चाहिए।

आदर्शवादी राज्य में व्यक्ति के साथ ही अधिपति भी है और प्रजा भी। इसलिए यदि राज्य सामान्य इच्छा की अवहेलना पर परिपूर्ण जीवन के मार्ग की बाधाओं को दूर नहीं करता तो व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपने व्यक्तिगत क्षेत्र का अतिक्रमण होने पर उसके विरुद्ध विद्रोह करे। जर्मन दार्शनिक हीगल आदि व्यक्ति को यह अधिकार नहीं देते। जो भी हो, इस विषय में सभी आदर्शवादी एकमत हैं कि राज्य का सच्चा कर्तव्य नागरिक के जीवन को विकसित कर उसे परिपूर्ण बनाना है।

प्रचलित राजनीतिक विचारधाराओं में आदर्शवाद की कटु आलोचना की गई है। राजनीति—शास्त्र के लगभग सभी लेखक प्रत्यक्ष रूप से हीगल के विचार और विशेषतः उसके राज्य के निरंकुश सिद्धान्त का तथा राज्य के अन्धानुकरण सम्बन्धी विचार का तिरस्कार करते हैं। वे इस बात से सहमत है कि राज्य स्वयं में एक साध्य है, एक सर्वोत्तम संस्था और ईश्वर की देन है, जिसके अधिकार और उद्देश्य नागरिकों के अधिकार और उद्देश्यों से भिन्न है।

11.6 जर्मन आदर्शवादी कॉण्ट

11.6.1 कॉण्ट से पूर्ववर्ती विचारधारा

कॉण्ट के दार्शनिक और राजनीतिक विचारों के विवेचन से पूर्व उन परस्पर विरोधी विचारधाराओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना उपयुक्त होगा जो कॉण्ट से पूर्व प्रचलित थीं। इन विचारधाराओं में ये पाँच प्रमुख थीं—(i) लॉक का अनुभववाद, (ii) बर्कले का आदर्शवाद या आध्यात्मवाद, (iii) राम का भौतिकवाद, (iv) वाल्टेयर का बुद्धिवाद एवं (v) रूसो का भावप्रवणतावाद।

लॉक (1632—1704) अनभववाद का समर्थक था। उसकी मान्यता थी कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले अनुभवों पर आश्रित है। प्रारम्भ में हमारा मन बिलकुल कोरी स्लेट की भाँति होता है। इन्द्रियजन्य अनुभवों से हम इस स्लेट पर हजारों बातें लिखते चले जाते हैं। इस प्रक्रिया से स्मृति का उदय होता है और स्मृति विचारों का सूत्रपात करती है। चूँकि हमारा इन्द्रियों पर ये प्रभाव प्रकृति के पदार्थों से पड़ते हैं, अतः मन की पट्टी अथवा स्लेट' पर अंकित होने वाले सभी विचारों का मूल भौतिक पदार्थ होते हैं ! लॉक के अनुसार इस प्रकृति द्वारा मन के भावों को विविध रूप प्राप्त होते हैं, अतः अनुभववाद के स्थान पर इसी को वास्तविकता समझा जाना चाहिए।

आयरलैण्ड के बिशप जॉर्ज बर्कले (1684—1753) ने आदर्शवाद या आध्यात्मवाद का प्रतिपादन किया। उसने लॉक के अनुभववाद को अस्वीकार करते हुए उससे भिन्न और विरोधी दार्शनिक मत। प्रकट किया। बर्कले ने कहा कि ज्ञान का स्रोत बाहर का जड़—जगत नहीं है वरन् हमारा आन्तरिक मन है। मन के बिना हम किसी भी पदार्थ को नहीं समझ सकते, अतः वास्तविक सत्ता बाह्य पदार्थ का नहीं। है, बल्कि मन है।

स्कॉटिश विचारक डैविस ह्यम (1711—76) ने भौतिकवाद का प्रतिपादन किया। बर्कले ने जड़—प्रकृति का खण्डन करके मन का समर्थन किया था। राम ने बर्कले की खण्डन प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए मन का भी खण्डन किया। हम ने कहा कि मन हमारे विचारों, स्मृतियों और अनुभवों से पृथक् कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसके विपरीत मन तो विचारवान काल्पनिक सत्ता है। वास्तव में हमारे विचार, हमारी स्मृतियों और हमारे अनुभवं ही मन हैं। इनसे पृथक् सत्ता रखने वाली कोई आत्मा नहीं है। हम ने केवल मन का ही खण्डन नहीं किया बल्कि विज्ञान पर भी कुठाराघात किया। उसने कहा कि हम कारणों अथवा नियमों को कभी नहीं देखते। हम तो केवल घटनाओं और उनके क्रम को देखते हैं और उससे कारण का अनुमान कर लेते हैं, अतः वैज्ञानिक नियम कोई शाश्वत सत्य नहीं है। केवल गणितशास्त्रीय नियम और सूत्र ही शाश्वत सत्य है। ह्यूम के इन विचारों ने दार्शनिक जगत में भारी हलचल मचा दी। उसने धर्म और विज्ञान के मालिक आधारों पर कुठाराघात कर उग्र संशयवाद का प्रतिपादन किया। कॉण्ट ने जब राम की पुस्तक 'Treatise on Human

Nature' का जर्मन अनुवाद पढ़ा तो उसने बड़ी उत्कण्ठा से यह अनुभव किया कि हम द्वारा ध्वस्त किए गए धर्म और विज्ञान की पुनर्स्थापना की जानी चाहिए।

वाल्टेयर ने बुद्धिवाद और नास्तिकता की विचारधारा प्रतिपादित की। उसने धर्म का उपहास करते हुए नास्तिकता का प्रचार किया। उसने बतलाया कि मनुष्य बुद्धि और विज्ञान द्वारा सभी समस्याओं का समाधान कर अनन्त प्रगति कर सकता है।

पाँचवीं विचारधारा रूसो के भावप्रवणतावाद की थी। रूसो ने बुद्धिवाद के प्रबल प्रवाह का तीव्र विरोध कर यह प्रतिपादित किया कि केवल बुद्धि को ही अन्तिम प्रमाण एवं पथ–प्रदर्शक मान लेना अनुचित है। मानव–जीवन में ऐसे अनेक संकट उपस्थित होते हैं जब बुद्धि कुछ नहीं कर पाती, वह किंकर्तव्यविमूद हो जाती है। ऐसे संकटों के समय मनुष्य अपनी भावनाओं से ही पथ–प्रदर्शन प्राप्त करता है। रूसो ने बुद्धिवाद और नास्तिकता का प्रबल खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि विद्या और बुद्धि की उन्नति के साथ मनुष्य का पतन होने लगता है। शिक्षा मनुष्य को नैतिक दृष्टि से उत्तम न बना कर धूर्त और चालाक बना देती है। बुद्धिवाद के आधार पर धर्म का विरोध करने वालों को चुनौती देते हुए रूसो ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'Emile' में लिखा "चाहे बुद्धि ईश्वर और अमरता के विचारों का खण्डन करे, लेकिन अनुभूति इनका समर्थन करती है। हमें इस विषय में बुद्धि पर नहीं वरन् अपनी अनुभूति पर अधिक विश्वास करना चाहिए।"

रूसो के विचारों ने कॉण्ट को प्रभावित किया। 'Emile' ग्रन्थ में उसे अपनी आशंकाओं का उत्तर मिला कि बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति को अधिक महत्त्व देकर नास्तिकता के प्रवाह से धर्म की रक्षा किस प्रकार की जाए। बुद्धिवाद से धर्म को बचाने के लिए, संशयवाद से विज्ञान की रक्षा करने के लिए और बर्कले तथा ह्यूम के विचारों का रूसो के विचारों से समन्वय करने के लिए कॉण्ट ने अपने क्रान्तिकारी दार्शनिक विचार प्रकट किए।

11.6.2 कॉण्ट के दार्शनिक विचार

कॉण्ट ने लॉक और राम के विचारों को अपने ग्रन्थ 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' में अमान्य ठहराया है। लॉक ने सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत इन्द्रियजन्य अनुभवों को बताया और हम ने मन, आत्मा तथा विज्ञान का खण्डन किया था। काण्ट ने इन धारणाओं को प्रान्त कल्पनाओं पर आधारित बतलाते हुए कहा कि हमें ज्ञान प्राप्ति के साधनों तथा स्वरूप का यथार्थ परिचय प्राप्त करना चाहिए। शुद्ध बद्धि का परिचय उस ज्ञान से है जो मन की स्वाभाविक प्रकृति के कारण प्राप्त होता है, इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले अनुभवों से नहीं। अनुभवों से दूषित न होने के कारण ही इसे शुद्ध बुद्धि कहा जाता है। अपने ग्रन्थ में कॉण्ट ने ज्ञान प्राप्ति के दो साधनों का उल्लेख किया है–(i) इन्द्रियाँ, एवं (ii) मन या बुद्धि। कॉण्ट के अनुसार इन्द्रियों का कार्य है विभिन्न प्रकार के संवेदन प्रस्तुत करना। मन का कार्य है इन संवेदनों में सम्बन्ध स्थापित करना और उन्हें व्यवस्थित करना। उसने अपनी बात को एक सेनापति के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। युद्ध–क्षेत्र में सेनापति के पास विभिन्न स्थानों से विभिन्न प्रकार के समाचार पहुँचते रहते है। सेनापति इन सब समाचारों को एकत्र कर इनमें समन्वय स्थापित करता है और अपने आदेश प्रसारित करता है। ठीक यही बात इन्द्रियों और मन के साथ है। इन्द्रियाँ विभिन्न अनुभवों को प्रस्तुत करती है जिनमें मन समन्वय स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में विभिन्न अनुभवों को विशेष उद्देश्य के साथ व्यवस्थित किया जाता है और इसी उद्देश्य के कारण अनन्त अनुभवों में व्यवस्था स्थापित होती है।

कॉण्ट की मान्यता है कि मानव–बुद्धि की कुछ मर्यादाएँ है। उस पर देश काल तथा कारण कार्य सम्बन्ध का प्रभाव पड़ता है। इन तत्त्वों की मर्यादाओं में रहते हुए ही हमको वस्तु का ज्ञान होता है। अतः ये तत्त्व हमारे लिए नित्य सत्य है। इन्द्रियजन्य ज्ञान से इनकी पुष्टि होना आवश्यक नहीं है।' जिस प्रकार लोटे में भरे पानी का लोटे का आकार धारण कर लेना नितान्त स्वाभाविक है, उसी प्रकार हमारे बुद्धिजन्य विचारों में उपयुक्त तत्त्वों का समावेश अवश्यम्भावी है। इन तत्वों के आधार पर हमारा ज्ञान हर प्रकार के सन्देह और अस्थिरता से मुक्त होता है। वह सत्य और नित्य बन जाता है। इन्द्रियजन्य अनुभवों के आधार पर वस्तुसत्ता का जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह 'अनुभव–निरपेक्ष' कहलाता है, पर दूसरे प्रकार का ज्ञान 'अनुभव–सापेक्ष' होता है जिसमें किसी प्रकार के अनुभव की आवश्यकता नहीं होती।

काण्ट के अनुसार इस दृश्य जगत के दृष्टिगोचर बाह्यरूप को ही जानना सम्भव है। हम मूल अथवा वास्तविक रूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि यह अनुभव–निरपेक्ष है और इसलिए यह हमारे अनुभव का विषय नहीं बन सकता। उदाहरणार्थ, हम यह नहीं जानते कि मनुष्य वास्तव में क्या है। हम मनुष्य के बारे में केवल इतना ही जानते हैं कि उसके सम्बन्ध में हमारी इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले अनुभवों के आधार पर हमारे मन ने क्या कल्पना की है। कॉण्ट ह्यूम की तरह बाह्य जगत की सत्ता को अमान्य नहीं ठहराता, वरन् यह कहता है कि हम बाह्य जगत के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ नहीं जानते कि उसकी सत्ता है। कॉण्ट के आदर्शवाद या आध्यात्मवाद का आशय यह है कि बाह्य जगत की वास्तविक सत्ता से सब परिचित हैं। हमें तो उसका केवल वही रूप ज्ञात है जो उसके द्वारा अनुभवों से हमारे मन पर अंकित हुआ है। उदाहरणार्थ एक पुस्तक का ज्ञान हमको उसकी वास्तविक बनावट से नहीं हो सकता, बल्कि उस विचार से होता है जो हमारे मन में उस पुस्तक को देखकर बनता है।

कॉण्ट के अनुसार बुद्धि में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह इस बाह्य जगत के मूल तत्त्व को प्रकट कर सके। बुद्धि तो केवल उसी बात को प्रकट करती है जिसका उसे अनुभव होता है। लेकिन ईश्वर, आत्मा, भावी जीवन आदि कुछ बातें ऐसी भी हैं जो अनुभवातीत हैं। बुद्धि केवल अनुभवजन्य ज्ञान तक सीमित है, अतः वह है जो अनुभवातीत पदार्थों के बारे में कुछ नहीं कर सकती। वास्तव में वाल्टेयर जैसे बुद्धिवादियों को कॉण्ट का यह अकाट्य उत्तर था। वाल्टेयर ने बुद्धिवाद के आधार पर धर्म और ईश्वर का खण्डन किया था जबकि कॉण्ट का मुंह तोड़ जवाब यह था कि ईश्वर का खण्डन बुद्धि से नहीं किया जा सकता क्योंकि ईश्वर तो बुद्धि से परे है। ईश्वर बुद्धिगम्य नहीं है, अपितु श्रद्धागम्य है।

यद्यपि कॉण्ट ईश्वर को बुद्धिगम्य नहीं मानता, तथापि वह ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में सुदृढ आधार प्रस्तुत करता है। कॉण्ट का यह आधार उन नैतिक नियमों पर आश्रित है जो उसके अनुसार गणितशास्त्रीय नियमों की भाँति पूर्ण एवं शाश्वत सत्य है। कॉण्ट का कहना है कि नैतिक कर्तव्यों की भावना मानव अन्तःकरण में जन्म से ही इतनी सुदृढ़ होती है कि इसे सिद्ध करने के लिए तर्क अथवा बुद्धि का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। सभी व्यक्तियों को इस नैतिक भावना का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही नैतिक भावना मनुष्यों को सदैव कर्तव्य–पालन के लिए प्रेरित करती है और उन्हें अच्छे–बुरे तथा सत–असत् का बोध कराती है। यदि कोई व्यक्ति अन्तःकरण के आदेश की अवहेलना कर बुरा काम करता है तो उसकी अन्तरात्मा उसे धिक्कारती है और कहती है कि वह कार्य अनुचित था और उसे नहीं करना चाहिए था। नैतिक भावना तो सदैव सद्–कर्तव्य और सत्कार्य को प्रेरित करती है। नैतिक भावना का मानव अन्तःकरण के लिए आदेश, निरपेक्ष या परम होता है। मनुष्य नैतिक भावनाओं का पालन इसलिए करता है कि ये उसके अन्तःकरण की आवाजें होती है। नैतिक भावना का आदेश सब परिस्थितियों में समान होता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक परिस्थितियों में नैतिक भावना निरपवाद रूप से सत्य बोलने का आदेश देती है। हो सकता है कि व्यक्ति झूठ बोलने की इच्छा करे अथवा झूठ बोले, लेकिन वह यह कभी नहीं चाहता कि झूठ बोलना एक सार्वभौम नियम बन जाय। इसीलिए ये नैतिक नियम निरपवाद नैतिक कर्तव्यादेश या 'परमादेश' कहे जाते हैं। कॉण्ट का कहना है कि इस आदेश को और इस नैतिक भावना को मानव अन्तःकरण में उत्पन्न करने वाला ईश्वर है। यह आदेश ईश्वर और धर्म की सत्ता का अकाटय प्रमाण एवं सुदृढ आधार है जिसमें व्यक्ति को अटूट आस्था रखनी चाहिए।

कॉण्ट ने नैतिक भावनापरक आदेशों और कर्तव्यों की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया। सर्वोपरि विशेषता यह है कि कर्तव्य–बुद्धि से किए जाने वाले कार्य इसलिए श्रेष्ठ नहीं होते कि इनके अच्छे परिणाम निकलेंगे वरन् इसलिए कि अन्तःकरण की नैतिक भावना के आदेशानुसार किए जाते हैं। इस प्रकार की नैतिक भावना किसी वैज्ञानिक अनुभव का परिणाम नहीं होती। यह तो अनुभव–सापेक्ष है जो सभी कालों में समान रूप से हमें आदेश प्रदान करती है और हमें हमारे कर्तव्यों का बोध कराती है। संसार में उत्तम बात यही है कि हम हानि अथवा लाभ की चिन्ता किए बिना सदैव नैतिक भावना का अनुसरण करें। नैतिक भावना की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह सिद्ध करने में है कि मनुष्य में स्वतन्त्र इच्छा की सत्ता है। यदि हम में स्वतन्त्र इच्छा की सत्ता न होती तो हम कर्तव्य–भावना की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। स्वतन्त्र इच्छा की सत्ता को बुद्धि अथवा तर्क से नहीं वरन् व्यावहारिक अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है। जब मनुष्य किसी कार्य में किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और यह नहीं समझ पाता कि उसे क्या करना चाहिए तो उसके सामने विभिन्न मार्ग खुले होते है और उसे किसी भी मार्ग को चुनने की स्वतन्त्रता होती है। ऐसे समय उसे कर्तव्य का ज्ञान बुद्धि अथवा मस्तिष्क द्वारा नहीं बल्कि अन्तःकरण में निहित नैतिक भावना से अर्थात् हृदय से प्राप्त होता है। सष्ट है कि कॉण्ट के अनुसार, 'हृदय मस्तिष्क से ऊंचा है और वही मनुष्य का सच्चा मार्गदर्शक है।"

कॉण्ट के मतानुसार राजनीति का अध्ययन नैतिक दृष्टिकोण से ही किया जाना चाहिए। इसलिए राजनीति का नैतिकतापूर्ण अध्ययन ही कॉण्ट–प्रणाली' कही जाती है। कॉण्ट के अनुसार नैतिकता मनुष्य की पूर्णता का . मापदण्ड है, नैतिकता से पृथक् राजनीति सर्वथा मूल्यहीन रहती है जबकि नैतिक आदेशों के आधार पर ही राजनीति का अध्ययन पूर्णतया उपयोगी एवं सार्थक होता है।

11.6.3 कॉण्ट की नैतिक इच्छा तथा नैतिक स्वतन्त्रता सम्अन्धी विचार

कॉण्ट की विचारधारा में उसकी नैतिक इच्छा तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इन्हीं के आधार पर उसने अपने सभी विचारों को निरूपित किया है। वह रूसो के नैतिक इच्छा' तथा 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त में पूर्ण विश्वास रखकर आगे बढ़ता है। ये सिद्धान्त ही उसके समूचे दर्शन की आधारशिला ' है। कॉण्ट के अनुसार सच्चे अर्थों में केवल वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जो नैतिक रूप से स्वाधीन है। स्वतन्त्रता का अर्थ वह मनमानी तथा अनियन्त्रित कार्य करने की स्वच्छन्दता नहीं मानता। एक व्यक्ति के उपभोग योग्य सच्ची स्वतन्त्रता वही है जो दूसरों के समान त्या सार्वदेशिक कानून द्वारा मदित है। स्वतन्त्रता अधिकारों के साथ सम्बद है। स्वतन्त्रता व्यक्ति की इच्छा का अधिकार है जिसे स्व–आरोपित आदेशात्मक कर्तव्य भी कहा जा सकता है। इस प्रकार अधिकार और स्वतन्त्रता के मध्य एक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित कर कॉण्ट नैतिक इच्छा की स्वतन्त्रता पर बल देता है।

कॉण्ट मानवीयों को दो भागों में विभाजित करता है–(1) वे इच्छाएं जिनके द्वारा मनुष्य वासना की प्रवृत्ति की ओर झुकता है। वे वासनापूर्ण इच्छाएं अनैतिक होती है और मनुष्य की यथार्य इच्छाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती, एवं (2) वे इच्छाएं जो विवेक पर आधारित होती है। इनका आधार नैतिकता होती है और ये मनुष्य की क्वार्य इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है। कॉण्ट का कहना है कि स्वतन्त्रता इसी नैतिक वा स्वार्थ इछा का गुण है। रूसो ने नैतिक इच्छा को शुभ इच्छा' के नाम से पुकारा है। काष्ट ने शुभ इच्छा' का प्रयोग नैतिक आचार के रूप में किया है और बतलाया है कि नैतिक स्वतन्त्रता इसी बात में निहित है कि मनुष्य अपनी शुभ इच्छा' के ही अनुकूल कार्य करे।

काण्ट नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा को स्पष्ट करते हुए बतलाता है कि मनुष्य कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है जो बुद्धि–प्रधान और सदाचरण से सम्बन्धित है। ये स्वतन्त्र इसलिए है कि इनके पालन में व्यक्ति किसी बाहरी नियम का पालन न कर उन नियमों का पालन करता है जो स्वयं उसके अन्तःकरण की आवाज है। कॉण्ट ने इस प्रकार के नियमों को कर्तव्य के अटल आदेश की संज्ञा दी है। कर्तव्य के अटल आदेश की व्याख्या से कॉण्ट की नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा और स्पष्ट हो जाती है क्योंकि इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कॉण्ट का कथन है कि कर्त्तव्य भी एक आदेश है जो एक विशेष प्रकार के कार्य की माँग करता है. लेकिन 'सशर्त' की अपेक्षा यह 'निरपेक्ष' है। वास्तव में हमारे कर्तव्य–पालन का कर्तव्य न तो किसी विशेष वस्त की इच्छा पर निर्भर करता है और न किसी 'यदि' की शर्त से ही प्रतिबन्धित होता है। मनष्य को चाहिए कि वह अपने कर्तव्य का नैतिक नियम के अनुसार पालन करे। ऐसा उसे इसलिए नहीं करना चाहिए कि वह स्वास्थ्य, धन, यश अथवा शक्ति आदि की कामना करता है बल्कि केवल इसलिए कि यह उसके वास्तविक स्वरूप का नियम है और ऐसा करके ही वह शाश्वत सत्य को प्राप्त कर सकता है। हमारी इच्छा उस हद तक शुभ है जहाँ तक हमारे कर्तव्य के सापेक्ष आदेश' से निर्धारित होती है, इसलिए नहीं कि वह क्या करती है या क्या प्राप्त करती है। कॉण्ट के शब्दों में, "संसार में या संसार के बाहर भी हम किसी ऐसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते जो निरपेक्ष रूप की अपेक्षा अच्छी हो। निरपेक्ष रूप की अपेक्षा केवल सदभावना ही शभ होती है। बद्धि, चातर्य, निर्णय–शक्ति तथा मस्तिष्क के अन्य गण निश्चित रूप से बहुत–सी बातों से शुभ और वांछनीय होते हैं, परन्तु यदि इनका प्रयोग करने वाली इच्छा अथवा चरित्र शुभ नहीं है तो प्रकृति के ये उपहार अत्यन्त अशुभ और आपत्तिजनक हो जाते हैं।"

स्पष्ट है कि कॉण्ट के अनुसार, "मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता का आशय यह है कि नैतिकतापूर्ण आचरण से ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है क्योंकि नैतिकता व्यक्ति पर बाहर से थोपी गई वस्तु न होकर उसके स्वयं के अन्तःकरण का ही आदेश है।"

कॉण्ट की सम्पूर्ण धारणा का बल इस बात पर है कि मानव–जीवन का मूल तथ्य नैतिक स्वतन्त्रता है जो नैतिक नियम का पालन करने में निहित है। अतः प्रश्न उठता है कि "इस नैतिक नियम के अनुसार हमें क्या करना चाहिए।" कॉण्ट की मान्यतानुसार हम बिना किन्हीं बाहरी बातों पर विचार किए सदैव अपने कर्तव्य पालन में संलग्न रहे। हम स्वयं में एक ऐसी इच्छा उत्पन्न करें जो अपने आप में स्वयं शुभ हो। कॉण्ट ने नैतिक नियम के पालनार्थ कुछ सूक्तियाँ निगमित की है जो एक बड़ी सीमा तक हमारे आचरण का पथ–प्रदर्शन कर सकती हैं। ये इस प्रकार है–

1. व्यवहार सार्वभौमिक होना चाहिए। मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जिसे सब कर सकें जो सबके लिए उचित हो।
2. अपने में अथवा किसी भी दूसरे व्यक्ति में जो मानवता है, उसे सदैव साध्य समझते हुए आचरण करना चाहिए। उसे साधन कभी नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह साधन कभी नहीं बनती। इस प्रकार के आचरण से मानवता उच्चर बनती जाती है।
3. आचरण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे मनुष्य साध्यों के राज्य का सदस्य बना रहे। आचरण के समय हमें मानव–जाति के प्रति भातृत्व की भावना रखनी चाहिए।

इन सूक्तियों का सम्मिलित भाव यही है कि वही कार्य पूर्ण शुभ है जिसका कर्ता यह इच्छा प्रकट कर सके कि समस्त मनुष्य उसी सिद्धान्त पर चलें जिस पर वह आधारित है। साथ ही सभी मनुष्य इच्छाओं की तृप्ति के लिए साधन बनाने की कामना का परित्याग कर सम्पूर्ण मानव–जाति को एक महान् भ्रातृत्व के रूप में स्वीकार करें।

11.7 कॉण्ट के राजनीतिक विचार

11.7.1 कॉण्ट का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

आदर्शवादी होने के साथ ही कॉण्ट व्यक्तिवादी भी था। उसने व्यक्ति के नैतिक स्वशासन पर बार–बार बल दिया। हीगल के सर्वथा विपरीत उसने व्यक्ति की गरिमा एवं महत्ता को पर्याप्त सम्मान प्रदान किया। वस्तुतः व्यक्ति की स्वतन्त्र हुलाकी दर्शन का केन्द्र–बिन्द्र तथा आरम्भ–स्थल है। कॉण्ट के अनुसार व्यक्ति अपना उद्देश्य स्वयं है और कभी भी किसी अन्य साध्य का साधन नहीं माना जा सकता। काण्ट ने यहाँ परम्परागत आदर्शवादी दर्शन से कुछ असहमति प्रकट की है,

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ–साधन तक ही सीमित रहे। कॉण्ट ने व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ सार्वजनिक हित का भी ध्यान रखा है। वह नहीं वाहन कि व्यक्ति समाज की सर्वथा उपेक्षा कर केवल निजी स्वार्थ के लिए ही कार्य करे अथवा निजी स्वार्थ ही उसका एक मात्र लक्ष्य हो। उसके अपने शब्दों मेंकृ"सदेच्छा के अतिरिक्त संसार में या उससे बाहर किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती जिसे निर्बाध इच्छा कहा जा सके।"

कॉण्ट उस युग का प्रतिनिधित्व करता है जब व्यक्तिवाद पूर्णतः लुप्त नहीं हो पाया था। वह स्वतन्त्रता को इतना बहुमूल्य समझता है कि राज्य की वेदी पर उसका बलिदान नहीं करना चाहता। व्यक्ति पर राज्य का नियन्त्रण उसे पसन्द नहीं, यद्यपि वह मानता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामूहिक अथवा सार्वजनिक हित के अधीन माननी चाहिए किन्तु बगल की भाँति वह उसे निर्दयतापूर्वक कुचलने को तैयार नहीं है। वाहन के अनुसार, "न्याय तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता के बीच उसके मस्तिष्क में स्पष्टतः एक मानसिक संघर्ष चल रहा है और उसे दोनों में समन्वय स्थापित करने का कोई मार्ग नहीं सूझता। वह इतना अधिक ईमानदार है कि दोनों में से किसी एक का भी बलिदान करने को प्रस्तुत नहीं है।"

11.7.2 राज्य की आवश्यकता के बारे में कॉण्ट के विचार

कॉण्ट ने व्यक्ति के स्वशासन पर जो इतना बल दिया है, उसका व्यक्ति की राज्य की सदस्यता के साथ सामंजस्य स्थापित करना प्रथम दृष्टि में विचित्र लगता है क्योंकि यदि नैतिक नियम के अनुसार आचरण करके ही व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है तो उसके जीवन में स्पष्ट ही राज्य के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता, तो फिर राज्य की आवश्यकता क्यों है ? कॉण्ट का उत्तर है कि मनुष्य में स्वार्थ की प्रवृत्ति पाई जाती है वह सदैव स्वयं को अधिकाधिक सुखी बनाना चाहता है चाहे इससे दूसरों को हानि ही क्यों न हो ? बाह्य रूप से मनुष्य समान है किन्तु उनकी प्रवृत्तियों में बहुत अधिक असमानता है। राज्य ही एकमात्र संस्था है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन्नति करने की अवस्थाएं प्रदान करती है। इसके लिए राज्य प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार प्रदान करता है।

कॉण्ट के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा के प्रफुटन एवं कार्यरूप में परिणत होने के लिए कुछ विशेष अवस्थाओं की आवश्यकता होती है। यह आवश्यक है कि दूसरे नागरिकों के कार्यों के कुप्रभाव से मनुष्य की रक्षा की जाए। राज्य इस मांग की पूर्ति करता है। राज्य स्वतन्त्रता का पोषक है–उस स्वतन्त्रता का जो नैतिकता और कर्तव्य–पालन के लिए आवश्यक है। कॉण्ट राज्य के अस्तित्व में जन–इच्छा को महत्त्व देता है। जनता द्वारा राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह उसे नियन्त्रित और व्यवस्थित रखे। पर जनता को विद्रोह या विरोध करने का अधिकार नहीं है क्योंकि जनता की कोई एकीकृत इच्छा नहीं होती, बल्कि विभिन्न और विरोधी इच्छाएँ होती है। राज्य ही वह सर्वोच्च इच्छा है जिसके समक्ष जनता को अपना समर्पण करना चाहिए।

कॉण्ट की मान्यता है कि व्यक्ति जिस वस्तु की कामना करे वह यथासम्भव ऐसी होनी चाहिए जिसे सार्वभौमिक नियम का रूप दिया जा सके।

सष्ट है कि कॉण्ट के अनुसार राज्य नैतिक जीवन के लिए एक आवश्यक शर्त है। नैतिक नियम से नियमित किए जा सकने वाले सर्वव्यापक कानूनों को राज्य ही भली प्रकार कार्यान्वित कर सकता है और इसलिए वह निश्चित रूप से एक सकारात्मक अच्छाई है न कि एक आवश्यक बुराई। कॉण्ट ने व्यक्ति और राज्य दोनों को ही महत्त्व दिया है।

11.7.3 कॉण्ट और सामाजिक समझौता

व्यक्तिवादी धारणा से प्रभार कॉण्ट ने राज्य के सावयवी रूप पर अधिक बल नहीं दिया है। उसने राज्य की उत्पत्ति की विवेचना न कर उसका स्वरूप संविदात्मक माना है। संविदा अथवा सामान्य समझौते का यह विचार उसने रूसो से लिया है, क्योंकि उसके अनुसार, "न्याय की दृष्टि से राज्य किसी भी व्यक्ति को कोई भी ऐसा कानून मानने के लिए बाध्य नही कर सकता जिसके लिए उसने पहले सहमति न दे दी हो।" रूसो की भाँति कॉण्ट भी संविदा की धारणा को एक विवेक सम्मत विचार के रूप में स्वीकार करता है। उसके अनुसार संविदा द्वारा ही "यह समझा जा सकता है कि मनुष्य बाह्य स्वतन्त्रता का समर्पण कर देते है. लेकिन राज्य के घटक अथवा सदस्य के रूप में वे उसे तुरन्त ही वापस भी कर लेते है। पूर्ण स्वतत्रता एक ऐसी स्वतन्त्रता है जिसे प्राप्त करने के लिए वे अपनी जंगली कानून हीन स्वतन्त्रता का परित्याग कर देते है। ऐसा करने से उनकी स्वतन्त्रता कम नहीं होती क्योंकि यह परिवर्तन उनकी स्वयं की इच्छानुसार होता है, वरन् यह स्वतन्त्रता एक वैधानिक परतन्त्रता का रूप ले लेती है क्योंकि यह अधिकारों तथा कानूनों के दायरे में आ जाता है।" कॉण्ट के अनुसार, "राज्य व्यक्तियों का समूह है जो कुछ कानूनों द्वारा एकता के सूत्र में बंध जाता है। राज्य एक प्राकृतिक अनुबन्ध है जिसमें उसका प्रत्येक सदस्य अपनी बाह्य स्वतन्त्रता त्याग देता है और तरन्त ही सम्पूर्ण सावयवी रूप से सामूहिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है। ऐसा समुदाय 'राज्य' कहलाता है।"

कॉण्ट संविदा सिद्धान्त को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में न मानकर दार्शनिक रूप में स्वीकार करता है। उनका विश्वास है कि समझौते की धारणा ही व्यक्ति और राज्य को एकता के सूत्र में बाँध सकती है। कॉण्ट की सामाजिक संविदा एक साँविधानिक प्रक्रिया है जिसके अनुसार शासन का स्वरूप और शासन एवं जनता के मध्य सम्बन्ध स्थापित होते हैं। यह

संविदा प्राकृतिक अवस्था को संगठित राज्य में परिवर्तित नहीं करती। सामाजिक संविदा एक ऐसा नैतिक समझौता है जिससे राज्य का निर्माण नहीं होता अपितु 'सामाजिक जीवन की एक कम संगठित स्थिति से अधिक संगठित स्थिति में विकसित होना प्रकट होता है।" दूसरे शब्दों में व्यक्ति एक कानूनहीन स्वाधीनता को छोड़कर एक उच्चतर स्वाधीनता को प्राप्त करते हैं। जिस मौलिक राजनीतिक प्रश्न ने कॉण्ट को आकर्षित किया, वह यह था कि, "व्यक्तिगत इच्छाओं को एक सामान्य इच्छा में किस प्रकार संगठित किया जाए, ताकि पृथक् इच्छाओं की स्वाधीनता नष्ट न होकर उसका प्रभाव पूवपिक्षा अधिक बढ़ जाए तथा उसे एक नए रूप में मान्यता प्राप्त हो जाए। कॉण्ट के अनुसार, "समस्त व्यक्तियों की इच्छा पूर्ण न्याय का स्रोत है और न्याय का अर्थ सब व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर इस सीमा तक प्रतिबन्ध है कि वह स्वतन्त्रता सामान्य नियमों के अन्तर्गत आ सके।"।

11.7.4 सम्पत्ति पर कॉण्ट के विचार

सामान्य आदर्शवादियों की भांति कॉण्ट भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था स्वीकार करता है। सम्पत्ति के विषय में उसके विचार पूर्ण व्यक्तिवादी है। उसकी मान्यता है "कि सम्पत्ति के बिना मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं हो सकता क्योंकि सम्पत्ति उसकी इच्छा की ही अभिव्यक्ति है।" फिर भी वह सम्पत्ति का अधिकार देते समय व्यक्ति पर अपने पड़ौसी के अधिकारों के सम्मान का बन्धन अवश्य लगाता है। इस विचार के मूल में उसकी यह मान्यता है कि सम्पत्ति का अधिकार वस्तुतः प्राकृतिक न होकर समाज–प्रदत्त है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए किसी व्यक्ति को दूसरे के अधिकारों का हनन नहीं करना चाहिए। सम्पत्ति के अधिकार के प्रयोग के लिए उन समस्त व्यक्तियों की आवश्यकता होनी चाहिए जिनकी उसमें रुचि हो सकती है।

11.7.5 कॉण्ट का दण्ड सम्बधी विचार

कॉण्ट समाज में शान्ति व्यवस्था स्थापित रखने और कानून के समुचित पालन के लिए दण्ड–व्यवस्था को आवश्यक मानता है। कानून तभी भली प्रकार से लागू किए जा सकते हैं जब उनके पीछे एक बाध्यकारी शक्ति हो। साँविधानिक व्यवस्था की स्थापना के लिए स्वतन्त्रता और कानून के साथ, जो विधायन के दो साधन है, शक्ति का सम्मिश्रण होना चाहिए। यदि कानून और शक्ति न हों तो इसका स्वाभाविक परिणाम होगा अराजकता और स्वतन्त्रता के अभाव में शक्ति का फल होगा बर्बरता। इसलिए शक्ति, स्वतन्त्रता और कानून का सम्मिश्रण ही समाज का आधार बन सकता है। कॉण्ट शक्ति को राज्य का आवश्यक तत्त्व मानते हुए राज्य द्वारा अपराधियों को टाल उचित समझता है। उसके लिए दण्ड का उद्देश्य केवल दण्ड है। दण्ड अपराधी को डराने और मसाल लिए नहीं बल्कि अपराधी को दण्डित करने के लिए दिया जाता है ताकि समाज में न्याय की महत्ता बनी रहे और नियम तथा मर्यादाओं को भंग करने वालों को अपने किए का फल मिल जाए। दण्ड का औचित बात में नहीं है कि दण्ड से अपराधी में कोई सुधार हो जाएगा अथवा भविष्य में अपराधों की संख्या में कोई कमी आ जाएगी या अपराध की पुनरावृत्ति नहीं होगी। दण्ड तो अपराध करने वाले व्यक्ति के पाप का फल है। स्पष्ट है कि दण्ड सम्बन्धी सुधारवादी तथा निरोधात्मक दोनों ही सिद्धान्त कॉण्ट को अस्वीकार है। उसके अनुसार तो दण्ड न्याय की रक्षा के लिए आवश्यक है। उसका विश्वास दण्ड के प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त में है।

11.7.6 काण्ट के अधिकार और कर्तव्य सम्बधी

विचार कॉण्ट के अनुसार अधिकार और नैतिक स्वाधीनता दो पर्यायवाची शब्द हैं। उसके ही शब्दों में, "मानवता के नाते जो एकमात्र मौलिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है, वह है स्वाधीनता।" इसी स्वाधीनता की परिभाषा करते हुए एक अन्य स्थल पर उसने लिखा है– "स्वाधीनता का अर्थ है ऐसा कोई भी कार्य करने का अधिकार जिससे पड़ोसी को किसी प्रकार की हानि न पहँचे।"

इस तरह कॉण्ट अधिकारों को उसके अनुरूप कर्तव्यों से संयुक्त मानता है। अधिकारों और कर्तव्यों के बिना एक सुव्यवस्थित राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अधिकार व्यक्ति के विकास का एक साधन है और मूल अधिकार स्वतन्त्रता है। अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि व्यक्ति यदि अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे तो अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो जाएँगे। अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू है। कर्तव्य एक आत्मारोपित वस्तु है जिसे स्वीकार करने के लिए मनुष्य की आन्तरिक चेतना उसे विवश करती है। दूसरे शब्दों में,कर्तव्य उसकी आन्तरिक चेतना के फलस्वरूप अपने आप मनुष्य पर लागू होता है। कॉण्ट ने व्यक्ति के कर्तव्यों को तीन भागों में विभाजित किया है स्वयं के प्रति कर्तव्य, अन्य नागरिकों के प्रति कर्तव्य एवं राज्य के प्रति कर्त्तव्य।

कॉण्ट ने विशेष अवस्थाओं में उपलब्ब कुछ निश्चित कर्तव्यों का निर्देश नहीं किया है, अतः आलोचकों ने उसकी धारणा को 'एक आधारहीन धारणा' बताया है। कॉण्ट ने व्यक्ति को कर्तव्यों के साथ अधिकार प्रदान नहीं किए हैं। केवल स्वतन्त्रता के स्वाभाविक अधिकार के अलावा उसने व्यक्ति को शासन के प्रति विद्रोह करने का अधिकार नहीं दिया है चाहे शासनतव कितना ही अत्याचारी क्यों न हो।' विधान में परिवर्तन का एकमात्र अधिकार शासक को है। जनता को नहीं। वह जन–क्रान्ति द्वारा विधान परिवर्तन के प्रयास को वांछनीय नहीं मानता। व्यक्ति को राज्य का दास न बनाने का विचार प्रकट करके और व्यक्ति के स्वशासन पर बल देकर एक ओर उसने स्वयं को व्यक्तिवादियों की श्रेणी में ला खड़ा

किया है और दूसरी ओर राज्य को सर्वशक्तिमान भी बना दिया है। हॉब्स एवं रूसो के इस विचार से वह सहमत है कि राज्य का निर्माण करते समय मनुष्यों ने समस्त अधिकार राज्य को समर्पित कर दिए थे जिससे राज्य के अधिकार निरपेक्ष एवं निरंकुश बन गए थे। अपने ग्रन्थ 'Philosophy of Law' में कॉण्ट ने लिखा है कि "जनता की इच्छा स्वाभाविक रूप से अनेकीकृत होती है, अतः परिणामस्वरूप यह कानून–सम्मत नहीं होती।"

एक अन्य स्थल पर कॉण्ट ने यह भी घोषित किया है कि नैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए राज्य परमावश्यक है और इसलिए उसके विरुद्ध क्रान्ति का कोई अधिकार मान्य नहीं हो सकता। राज्य के आदेशो का पालन करना ही उचित है क्योंकि ऐसा करने में व्यक्ति किन्हीं दूसरे आदेशों का पालन न कर अपना स्वेच्छाओं का ही पालन करते हैं।

11.7.7 राज्य के कार्य–क्षेत्र के बारे में कॉण्ट के विचार

राज्य को सर्वशक्तिमान एवं अपरिहार्य बतलाते हुए और राज्य के विरुद्ध क्रान्ति के अधिकार का निषेध करते हुए भी काण्ट राज्य का कार्य क्षेत्र बहुत असीमित नहीं करता। अपने विचारों में कुछ व्यक्तिवादी होने के कारण वह राज्य को अधिक कार्य सौंपना नहीं चाहता। उसके अनुसार राज्य का कार्य–क्षेत्र बहुत संकुचित तथा निषेधात्मक है। राज्य प्रत्यक्ष रूप से 'नैतिक स्वाधीनता के विकास तथा प्रसार' के लिए कुछ नहीं कर सकता। यह काम तो व्यक्तियों को स्वयं ही करना होगा। राज्य का कर्तव्य तो इतना ही है कि वह व्यक्ति की स्वाधीनता के मार्ग की बाधाओं पर रोक लगाए तथा ऐसी बाह्य सामाजिक परिस्थितियों की स्थापना करे जिनमें नैतिक विकास सम्भव हो सके। नैतिकता कर्तव्य–भावना से प्रेरित कर्म करने एवं नीति का पालन करने में निहित है, अतः प्रत्यक्ष रूप से उसकी वृद्धि राज्य द्वारा नहीं की जा सकती। इस विचार को कि राज्य का प्रमुख कार्य शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है, ग्रीन एवं बोसाँके ने ही अपनाया, हीगल ने नहीं।

शासनतन्त्र के विवेचन में मॉण्टेस्क्यू का अनुसरण करते हुए कॉण्ट ने शासन कार्यों को तीन भागों में विभक्त किया है–विधायी, कार्यकारी एवं न्यायिक। व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह बहुत आवश्यक है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका विभाग एक–दूसरे से पृथक् और स्वतन्त्र रहें। लॉक और मॉण्टेस्क्यू की भाँति कॉण्ट भी शक्ति–विभाजन के सिद्धान्त में विश्वास करता था। कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीन रखने का समर्थक था। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को वह तीन स्वतंत्र इकाइयाँ मानते हुए कहता था कि तीनों में कोई भी एक दूसरे की शक्ति नहीं हड़प सकता।

शासन के विभेद–कॉण्ट ने राज्य के तीन प्रकार बतलाए हैं–(1) राजतंत्र, (2) कुलीनतंत्र एवं (3) प्रजातंत्र। इसी प्रकार वह सरकार को भी दो भागों में विभाजित करता है–(1) गणतंत्रात्मक, और (2) निरंकुश।

कॉण्ट ने सरकार के दो विभेद इस आधार पर किए थे कि सरकार में विधायिका तथा कार्यपालिका अलग–अलग हैं या नहीं। शासन के स्वरूपों के विषय में कॉण्ट के विचारों में कोई नवीनता नहीं थी। शासन के इस वर्गीकरण को अरस्तू भी बहुत पहले से ही प्रकट कर चुका था।

वस्तुतः कॉण्ट को शासनतन्त्र के किसी भी स्वरूप से प्रेम नहीं था। उसका कहना था कि शासनतंत्र का चाहे कोई भी स्वरूप हो, उसके द्वारा जनता की. इच्छाओं का प्रतिनिधित्व किया जाना चाहिए। जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व राजा, सामन्त या प्रजा के प्रतिनिधि कोई भी कर सकते हैं। प्रकट है कि शासनतंत्र से अपने अभीष्ट की पूर्ति चाहता था, उसे उसके स्वरूप से कोई सरोकार नहीं था। शासन का अभीष्ट यही था कि वह व्यक्ति को राज्य में नैतिक स्वतंत्रता प्रदान करे। कॉण्ट ने प्रतिनिध्यात्मक सरकार का समर्थन करते हुए राजा को भी जनता का प्रतिनिधि माना है। इससे उसके राजतंत्रवादी होने का स्पष्ट आभास मिलता है।

क्रान्ति पर कॉण्ट के विचार–क्रान्ति के बारे में कॉण्ट के विचारों पर प्रकाश अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रसंग में डाला जा चुका है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि क्रान्ति से उसे घृणा थी। अतः "उसने एक ऐसी परिवर्तनशीलता का उपदेश दिया जिसे बर्क भी घृणा की दृष्टि से देखता था।" नैतिक विकास के लिए राज्य की अनिवार्यता होने के कारण उसके प्रति विद्रोह को वह 'धर्मशास्त्र पर आधारित पवित्र कार्य के प्रति विश्वासघात' के समान समझता था जिसके लिए इहलोक तथा परलोक दोनों में क्षमा नहीं मिल सकती। यहाँ कॉण्ट जर्मन आदर्शवादी परम्पराओं का अनसरण करते हुए कहता है कि "यदि विधान में कोई परिवर्तन होना है तो वह केवल शासन द्वारा ही हो सकता है, जन–क्रान्तियों द्वारा नहीं।"

वास्तव में यह आश्चर्यजनक बात है कि फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति का उग्र समर्थक कॉण्ट जनता द्वारा विद्रोह के अधिकार का इतना तीव्र विरोध करता था। प्रो. डनिंग के मतानुसार जर्मनी की तत्कालीन परिस्थितियों, उपद्रवों एवं अव्यवस्था के प्रति घृणा ने उसे क्रान्ति विरोधी बना दिया।

सम्प्रभुता और कानून पर कॉण्ट के दियार–राज्य का अस्तित्व प्रभुसत्ता के बिना सम्भव नही है–इसे कॉण्ट स्वीकार करता था। वह सामान्य इच्छा द्वारा अभिव्यक्त होने वाली जनता की इच्छा को सम्प्रभुता की मान्यता देता है, पर यूँकि सामान्य इच्छा काल्पनिक होती है, अतः उसका कोई न कोई भौतिक स्वरूप अवश्य होना चाहिए। कॉण्ट के मतानुसार, "सामान्य

इच्छा को एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के समूह या बहुत से व्यक्तियों द्वारा प्रकट किया जा सकता है। सामान्य इच्छा–जन्य सम्प्रभुता को वह किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं मानता।

कॉण्ट की कानून सम्बन्धी धारणा मध्यकाल की नैसर्गिक विधि की धारणा के अनुरूप है। वह इस विचार का तिरस्कार करता था कि कानून सम्प्रभु का आदेशमात्र है। वह कानून को राज्य से ऊपर मानता था, किन्तु दैवी इच्छा की अभिव्यक्ति न मानकार विशुद्ध बुद्धि की उपज समझता था। उसके अनुसार केवल वही कानून सच्चे हैं और नागरिकों की भक्ति का दावा कर सकते हैं जो विशुद्ध बुद्धि के अनुकूल हो। यहाँ काण्ट अरस्तू के निकट आ जाता है। विधियों अथवा कानूनों का स्रोत जनता को मानते हुए वह कहता है कि जनता ही वस्तुतः सम्प्रभु होती है, इसलिए वही सर्वोच्च विधायिका–शक्ति का भी प्रयोग कर सकती है। सामान्यतया व्यक्तियों के किसी एक संगठन का समूहों से अधिक मूल्य नहीं होता, लेकिन संविधान व्यक्ति समूह को राष्ट की संज्ञा देता है। राज्य की सदस्यता प्रत्येक व्यक्ति को संविधान द्वारा ही प्राप्त होती है। कॉण्ट के अनुसार विषि का लक्ष्य राज्य के प्रत्येक सदस्य की स्वतन्त्रता के बीच समन्वय स्थापित करना है। व्यक्ति को सदैव विधि के अनुकूल ही कार्य करना चाहिए क्योंकि विधि मनुष्य की स्वतन्त्रता में सहायक होती है।

विश्व–शान्ति और प्रगति के विषय में कॉण्ट के विचार–कॉण्ट ने स्थाई शान्ति और प्रगति को राजनीतिक रूप देते हुए उस पर विशेष प्रकाश डाला है। स्थाई शान्ति एवं प्रगति के सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले बोदों ने किया था। उसने कहा था कि "मानव जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, पतन का नहीं।" 18वीं सदी में टों एवं कांडोरे नामक दो नसीसी लेखकों ने भी इस विषय पर बल दिया था, किन्तु इसे एक निश्चित बुद्धि–सम्मत रूप देने एवं राजनीतिक विचार के इतिहास में इसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने का श्रेय कॉण्ट को ही है। हीगल से विकसित होकर यह विचार बाद में मार्क्स की शिक्षाओं की आधाशिला बन गया।

कॉण्ट के अनुसार स्वतन्त्रता का विश्लेषण करने से उसके प्रवाह में एक नियमित धारा दृष्टिगोचर होती है। प्रगति का नियम एक ऐसी शक्ति है जो इस विश्व की समस्त घटनाओं को नियन्त्रित करता है। यह शक्ति मानव की उत्तरोत्तर प्रगति में सहायक होती है। प्राकृतिक अविकसित अवस्था में मनुष्य संघर्षरत रहता था। उस स्थिति से त्रस्त होकर उनके मानस में विवेक का विकास हुआ जिसने नैतिकता को जन्म दिया। इस विवेक और नैतिकता के कारण मनुष्य ने कानून बनाए थे और उसके अनुपालन में ही सुख–शान्ति के दर्शन किए।

कॉण्ट के प्रगति के नियम का सार रूप में अर्थ यह है कि एक ऐसी अदृश्य शक्ति विद्यमान है, चाहे उसे हम परमात्मा कहें या प्रकृति, जो इस संसार के घटना–चक्र को नियन्त्रित करती है और यह देखती है कि व्यक्तियों की विभिन्न शक्तियों का निरन्तर विकास होता रहे तथा मानव–जाति उन्नति द्वारा उच्चतर–स्तर पर पहुँचती जाए। सम्पूर्ण प्रकृति मानव–शक्तियों के प्रस्फुटन की दिशा में ही अग्रसर है।

कॉण्ट का विश्वास था कि "प्रकृति द्वारा मानव में अन्तर्निहित समस्त शक्तियों कालान्तर में अपने उद्देश्य के अनुसार अपना पूर्ण विकास कर लेंगी। मानव विवेकशील प्राणी है और समष्टि में ही उसका पूर्णतम विकास सम्भव है। समाज में स्वाभाविक संघर्ष की प्रतिक्रिया विद्यमान रहती है किन्तु इस संघर्ष का अन्तिम परिणाम शुभ ही होता है क्योंकि इस कारण मानव अपनी शक्तियों का विकास करता है और अन्ततोगत्वा इस संघर्ष का दमन करने के लिए विधि दारा नियन्त्रित व्यवस्था की रचना होती है। मानव–जाति के सामने सबस बड़ा और सबसे कठिन प्रश्न यही है कि ऐसे नागरिक समाज की व्यवस्था किस प्रकार हो जिसमें विश्वस्त रूप से विधि–सम्मत अधिकारों का प्रशासन हो। किन्त आन्तरिक दृष्टि से पूर्ण नागरिक समाज की व्यवस्था हो ही नहीं सकती जब तक राष्ट्रों के बाह्य सम्बन्ध विधि–सम्मत नहीं होते। मानव–जाति के इतिहास पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति आन्तरिक और बाह्य दृष्टियों से पूर्ण एक राजनीतिक संविधान के निर्माण के लिए प्रयत्नशील है जिससे मनुष्य की समस्त शक्तियों का विशेष रूप से विकास हो सके !"

कॉण्ट के अनुसार व्यक्ति अकेला ठीक तरह नहीं रह सकता। यह प्रकृति के विरुद्ध है। अकेले में वह झूठ बोलता है और धोखा देने की कोशिश करता है। किन्तु समाज में रहकर वह ऐसा नहीं करता क्योंकि उसे सामाजिक निन्दा का भय बना रहता है। मनुष्य स्वभावतः बुरा नहीं है, फिर भी एकाकीपन में वह बुराई की ओर उन्मुख होता है। सबके बीच वह भलाई के पथ पर अग्रसर होता है। इस तरह समाज में रहकर उसमें नैतिकता का विकास हो जाता है।

कॉण्ट ने विश्व–शान्ति और उसके मार्ग की बाधाओं पर भी प्रकाश डाला है। अपने इतिहास–दर्शन द्वारा उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि विश्व का विकास शान्ति की दिशा में ही हो रहा है। कॉण्ट का विचार था कि यूरोपीय राज्य–व्यवस्था शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त पर आधारित है, अतः इससे स्थायी शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती।

कॉण्ट विश्व–बन्धुत्व के सिद्धान्त का उपासक था और समूची मानवता को एक इकाई के रूप में देखता था। उसने बहुत पहले से ही एक संघात्मक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की कल्पना की थी जिसे वह 'ईश्वरीय इच्छा' का नाम देता था और यह कामना करता था कि समस्त मानव–जाति इस संयुक्त विश्व–राज्य के अन्तर्गत सुख–शान्ति से रहे। कॉण्ट की मान्यता थी कि जिस प्रकार अनियन्त्रित स्वतन्त्रता से व्यक्तिगत जीवन में बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार राज्य के लिए भी

अनियन्त्रित स्वतन्त्रता बुराई की जड़ है। जिस प्रकार व्यक्ति में स्वार्थी प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी प्रकर यह भावना राज्यों में छिपी रहती है। किसी राज्य के नागरिकों का भाग्य उसके आन्तरिक संगठन पर ही निर्भर नहीं रहता, वरन् दूसरे राज्यों के साथ पारस्परिक सम्बन्धों पर भी निर्भर करता है। जो राज्य सदैव अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करने में लगा रहता है, वहाँ नैतिकता का अभाव रहता है। राज्य एक अलग सावयव संस्थान नहीं है अपितु उसका सम्बन्ध अन्य राज्यों के साथ भी है, जो उसकी आन्तरिक और बाह्य नीति पर प्रभाव डालते हैं। कॉण्ट के अनुसार वही सबसे शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रात्मक राज्य है। इन देशों में युद्ध तभी हो सकता है, जब जनता उसके लिए उद्यत हो। बिना जनता की राय के युद्ध नहीं किया जा सकता। कॉण्ट के अनुसार विश्व–शान्ति तीन प्रकार से प्राप्त की जा सकती है–

(1) किसी आकस्मिक घटना से, किन्तु इस प्रकार की आशा दुराशा मात्र है,

(2) प्रकृति के स्वाभाविक विकास–उद्देश्य के व्यावहारिक क्रियान्वयन से, एवं

(3) यदि वर्तमान झगड़ों के कारण समस्त राष्ट्र एक विश्व–व्यापक निरंकुश बर्बर शासन के अधीन हो जाएँ।

चिरस्थायी शान्ति की स्थापना के मूल स्रोतों की विवेचना करते हुए कॉण्ट का कथन है कि कोई सन्धि वैध नहीं मानी जानी चाहिए यदि उसमें भावी युद्ध छेड़ने की मामी भी गप्त रूप से सुरक्षित की जा रही हो। विश्व–शान्ति की स्थापना के लिए ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिए कि किसी स्वतन्त्र राज्य को कोई अन्य राज्य दायभाग, विनिमय अथवा दान के रूप में प्राप्त न कर सके क्योंकि ऐसा होने से अन्य राज्यों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी। विश्व–शान्ति को स्थाई बनाने की दिशा में यह भी आवश्यक होगा कि स्थिर सेना को हटा दिया जाए। स्थिर सेना से व्यापक यद्ध को उत्तेजना मिलती है। राज्यों द्वारा बाह्य सम्बन्धों के सम्बन्ध में बाहरी शक्तियों से राष्ट्रीय ऋण लेना भी कॉण्ट के अनुसार चिरस्थायी शान्ति के लिए घातक है। यह संसार सुख और शान्ति की नींद ले सके, इसके लिए आवश्यक है कि कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के मामलों में हस्तक्षेप न करे और प्रत्येक राष्ट्र के संविधान एवं शासन में हिंसात्मक हस्तक्षेप सर्वथा वर्जित कर दिया जाए। शान्ति की दिशा में यह भी एक सहयोगी कदम होगा कि युद्ध–काल में भी नृशंसता और विश्वासघात का प्रयोग न हो। ये बातें शान्ति की स्थापना में बाधा डालती हैं। शाश्वत शान्ति का एक अन्य मूल सूत्र यह है कि प्रत्येक देश का संविधान गणतन्त्रात्मक हो और स्वतन्त्र राज्यों का एक विशाल संघ बने जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानन कार्यान्वित हो।

स्पष्ट है कि कॉण्ट ने शाश्वत शान्ति के साँविधानिक और भावनात्मक आधारों की अति सूक्ष्म और मार्मिक विवेचना प्रस्तुत की है।

11.8 कॉण्ट के दर्शन की आलोचना और उसका मूल्यांकन

कॉण्ट के राजदर्शन की कटु आलोचना हुई है। आलोचक कॉण्ट के आदर्श को काल्पनिक तथा अव्यावहारिक मानते हैं। केवल काल्पनिक अधिकारों और कर्तव्यों का जीवन में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उनसे समाज का कोई विकास नहीं होता। कॉण्ट इस बारे में कोई निश्चय नहीं कर सका कि साधारण रूप से व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान की जाए अथवा मानव को उच्च प्रवृत्तियों के विकास के लिए सुविधाएँ प्रदान की जाएँ।

कॉण्ट के विचारों में व्यक्तिवाद और आदर्शवाद दोनों का ही पुट है, अतः उसके चिन्तन में अनेक विरोधाभास प्रवेश कर गए हैं और अनेक असंगतियों उत्पन्न हो गई हैं। काण्ट के दर्शन में स्थान स्थान पर ऐसी मान्यताएँ प्रकट हुई है जो परस्पर विरोधी है और जिनमें सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, 'स्वाधीनता' की परिभाषा करते समय कभी वह व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित होता है तो कभी उसे उच्चतर व्यक्तियों के नैतिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों, कहने लगता है। इसी तरह एक ओर तो वह जनता की सम्प्रभुता पर विशेष बल देता है और दूसरी ओर ऐसे शासक को उचित मानता है कि जिस पर किसी भी प्रकार का वैधानिक नियन्त्रण न हो। सम्पत्ति, दण्ड, राज्य का कार्य क्षेत्र आदि सभी विषयों पर उसके विचार परस्पर टकराते हैं। वाहन ने ठीक लिखा है कि "कॉण्ट इसलिए असफल हुआ क्योंकि वह राज्य सम्बन्धी दो पृथक् धारणाओं के बीच चक्कर काटता रहा। राज्य को एक नैतिक संस्था समझते हुए कॉण्ट का दृष्टिकोण उसके प्रति ईर्ष्या पूर्ण ही रहा। वह राज्य के सावयवी रूप पर पूरी तरह स्थिर नहीं हो सका।

कॉण्ट के शासन सम्बन्धी विचारों में कोई नवीनता नहीं है। उसकी सामान्य और शुभ इच्छा का वर्णन भी भ्रमपूर्ण है। विशेष रूप से उसका यह कहना कि सामान्य इच्छा एक स्थान पर केन्द्रित हो सकती है, गलत है। कॉण्ट अनुबन्ध की कल्पना को स्पष्ट करने में भी असफल रहा।

आलोचकों के अनुसार कॉण्ट का दर्शन एक अनुभवहीन तर्कवादी दार्शनिक का दर्शन है जिसने व्यावहारिक राजनीति का न तो अध्ययन किया है और न ही उससे कोई लाभ उठाया। उसके दर्शन में अव्यावहारिकता है जो उसे यथार्थ से दूर कर देती है।

अन्य जर्मन दार्शनिकों की भांति कॉण्ट भी राज्य को एक ऐसी संस्था मानता है जिससे जन भावना मूर्त होती है। आगे चलकर हीगल आदि के दर्शन में राज्य की यह परिभाषा उसे सर्वशक्तिमान बना देती है, अतः यह एक घातक परिभाषा

है। पुनश्च, जो आदर्शवादी विचारधारा यूरोप में फैली वह व्यक्तिवादी दर्शन की प्रतिक्रिया थी, लेकिन 'सामहिक जीवन' का अनुभव होने तथा स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक जोर दिए जाने के कारण कॉण्ट का दर्शन व्यक्तिवाद की तरफ ही झुक गया था।

कॉण्ट की बहुत अधिक आलोचना की गई है, पर उसके सिद्धान्तों में अच्छे तत्त्व भी विद्यमान है। कॉण्ट जैसे तार्किक विचारक के दर्शन में कुछ दुर्बलताओं का होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि जिस युग का वह प्रतिनिधित्व करता है वह राजनीति के युग में एक संक्रान्ति काल था। सल जैसे विचारक कॉण्ट के उदय को चाहे 'एक दुर्भाग्य' माने, किन्तु राजना का कोई भी गम्भीर विद्यार्थी यह स्वीकार नहीं कर सकता कि वह आदर्शवाद का एक सच्चा संस्थापक था।

कॉण्ट के विचार मौलिक नहीं थे, परन्तु उसने जो कुछ भी किया उसके कारण उसका दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। डॉ. क्लिक का मत है कि "कॉण्ट ने एक नए दर्शन–शास्त्र का प्रारम्भ किया। दर्शन के इतिहास में उनकी दार्शनिक रचनाओं ने मील का पत्थर रखा। वह उन महान् एवं गम्भीर विचारकों में से था जिन्होंने न केवल अपनी रचनाओं से ही बल्कि अपने जीवन से भी समकालीन बुद्धिजीवियों और भावी पीढ़ियों को प्रभावित किया।" उसकी विशुद्ध बुद्धि मीमांसा दर्शन–शास्त्र के क्षेत्र में एक महान् देन है।

कॉण्ट के दार्शनिक और नैतिक विचारों का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। अनुभववाद और संशयवाद का निराकरण करके उसने समीक्षावाद की पुष्टि की। दृश्य–जगत और वस्तु–तत्त्व में जिस द्वैत की कॉण्ट ने कल्पना की थी उसका परिहास कर हीगल ने विज्ञानवादी अद्वैतवाद का खण्डन किया। कॉण्ट द्वारा प्रतिपादित विश्लेषण और संश्लेषण में पार्थक्य का फिक्टे की दर्शन–पद्धति पर भी प्रभाव पड़ा। शॉपनहोवर के संकल्पवाद और लाट्स के प्रयोजनमूलक विज्ञानवाद पर भी कॉण्ट के विचारों का प्रभाव है। फ्रीस जॉर्ज सिमेल भी कुछ मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के लिए कॉण्ट का ऋणी है। सीमित अर्थ में यद्यपि कॉण्ट राजनीतिशास्त्री नहीं था, तथापि उसके व्यापक दार्शनिक सिद्धान्तों का यूरोपीय सामाजिक विज्ञान पर गहरा प्रभाव पड़ा।

कॉण्ट ने ही सर्वप्रथम व्यक्तिवादी विचारधारा प्रसारित नैतिकवाद का विरोध किया और भौतिक शक्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया। उसने विवेक को अनुभूति से उच्च बतलाया और विशुद्ध विवेक को सत्य तथा असत्य अनुभूतियों को पहचानने का साधन माना। कॉण्ट ने सार्वभौमिक नैतिक विधि एवं स्वतन्त्रता की कल्पना की। आधुनिक युग का वही पहला विचारक था जिसने विश्व–राज्य की कल्पना की। कॉण्ट के राजनीतिक विचारों के कारण जर्मनी में उदारवादी विचारों की उन्नति हुई, सामन्तवाद को आघात पहँचा और राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहन मिला। राइट के इस कथन में कोई अतिशयोक्ति दिखाई नहीं देती कि "सन् 1781 से अब तक प्रत्येक महत्वपूर्ण दार्शनिक किसी न किसी प्रकार स्वीकारात्मक रूप से अथवा नकारात्मक रूप से, बाने–अनजाने कॉण्ट और उसके उत्तराधिकारियों के ऋणी रहे हैं।"

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. काण्ट के राजनीतिक दर्शन को स्पष्ट कीजिए।
2. "राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा है।" कथन की समीक्षा कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. काण्ट के नैतिक इच्छा की धारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. काण्ट की राज्य की धारणा को स्पष्ट कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. काण्ट के दण्ड व्यवस्था के बारे में क्या विचार है?
2. निजी सम्पत्ति के बारे में काण्ट का क्या दृष्टिकोण है?

इकाई–12
जेरेमी बेन्थम

संरचना

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 जीवन परिचय

12.3 प्रमुख रचनाएं

12.4 बेन्थम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त

- 12.4.1 नैतिकता की परम्परागत धारणाओं का खण्डन
- 12.4.2 प्रकृति ने मनुष्य को दो सत्ताधारी स्वामियों के अधीन रखा है
- 12.4.3 उपयोगिता का सिद्धांत सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण का सिद्धांत है

12.5 बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत के निष्कर्ष

12.6 बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत की आलोचना

12.7 राजनीति दर्शन में बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत का महत्व

12.8 बेन्थम के राजनीतिक विचार

- 12.8.1 राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार
- 12.8.2 सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार
- 12.8.3 प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन
- 12.8.4 शासन संबंधी विचार
- 12.8.5 राज्य के कार्य
- 12.8.6 कानून तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

12.9 बेन्थमः एक महान् सुधारक के रूप में

- 12.9.1 शासन प्रणाली में सुधार
- 12.9.2 विधि निर्माण के क्षेत्र में सुधार
- 12.9.3 न्याय व्यवस्था में सुधार
- 12.9.4 दण्ड–व्यवस्था एवं जेल सुधार
- 12.9.5 आर्थिक विचार

12.10 राजनीतिक दर्शन के इतिहास में बेन्थम का योगदान

- 12.10.1 उपयोगितावादी सिद्धांत को दार्शनिक आधार प्रदान करना
- 12.10.2 राज्य एवं शासन के कल्याणकारी लक्ष्य की घोषणा
- 12.10.3 शासन एवं संवैधानिक व्यवस्था में सुधार
- 12.10.4 रूढ़िवादी संकल्पनाओं पर प्रहार करना
- 12.10.5 न्यायिक प्रक्रिया में सुधार का मार्ग प्रशस्त करना
- 12.10.6 कानूनों का संहिताकरण
- 12.10.7 राजनीति विज्ञान में अनुसन्धान और शोध की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन
- 12.10.8 सामाजिक विधिशास्त्र का जन्मदाता
- 12.10.9 विधि में प्रत्यक्षवादी सिद्धांत का प्रवर्तक
- 12.10.10 लोकतन्त्र के आधार स्तम्भ को सुदृढ़ करना

12.11 निष्कर्ष

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् छात्र–

- बेन्थम की जीवनी को समझ सकेंगे।
- बेन्थम के उपयोगितावाद को समझ सकेंगे।
- राजनीतिक दर्शन और एक महान सुधारक के रूप में बेन्थम के योगदान का मूल्याँकन एवं विश्लेषण कर सकेंगे।
- कानून सम्बन्धी विचारों के बारे में जान सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

उपयोगितावाद एक आचार विषयक सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार, जिस कार्य को करने में हमें लाभ हो, वह अच्छा है और जिस कार्य को करने से हानि हो वह बुरा है। राजनीतिक क्षेत्र में इस सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि राज्य को केवल वही कार्य करने चाहिए जिनसे कि अधिकतम लोगों को अधिकतम लाभ पहुंचे। एक दृष्टि से इसे भौतिक सुखवाद का ही परिमार्जित संस्करण कह सकते हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकना' के अनुसार, "उपयोगितावाद आचारशास्त्र का सिद्धांत या नीति है जो इस बात को प्रतिपादन करता है कि जो कुछ उपयोगी है वही सर्वोत्तम है और उपयोगिता विवेकपूर्वक निर्धारित की जा सकती है तथा सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सिद्धांत और नीतियाँ उपयोगिता के सिद्धांत पर ही आधारित होनी चाहिए।" हैलोवेल के अनुसार, "उपयोगितावाद का आधार उन्नीसवीं सदी का उदारवाद था जिसमें स्वतन्त्रता की कल्पना प्राकृतिक अधिकार की अपेक्षा सामाजिक उपयोगिता के रूप में अधिकाधिक की जाती थी।"

उपयोगितावाद मुख्यतः एक नैतिक सिद्धांत है जिसका आधार वह मनोवैज्ञानिक मत है जिसे सुखवाद कहा जाता है। सुखवादी सिद्धांत के अनुसार हर व्यक्ति सुख की खोज करता है और दुख से बचना चाहता है। मनुष्य के काम और भी प्रेरकों से प्रभावित रहते हैं पर अन्तिम प्रेरक सुख बनाम दुख ही होता है।

सुखवादी विचारधार किन्हीं भी अर्थों में आधुनिक युग की मौलिक देन नहीं है। इसका प्रारम्भ यूनानी युग में, विशेषतया सेरेनायक विचारधारा के संस्थापक एरिस्टिपस की शिक्षाओं से और कुछ–कुछ एपीक्यूरस की शिक्षाओं से हुआ था। यद्यपि आधुनिक सुखवाद प्राचीन सुखवाद से बहुत भिन्न है फिर भी सुख की प्राप्ति ही दोनों का मुख्य उद्देश्य है। प्राचीन सुखवाद का स्वरूप स्वार्थवादी था जबकि आधुनिक सुखवाद परोपकारवादी है। आधुनिक युग में हॉब्स को उपयोगितावाद का प्रथम दार्शनिक माना जा सकता है क्योंकि उसके विचार से राज्य के उद्भव का एक प्रधान कारण उसकी उपयोगिता ही है। इस सिद्धांत को व्यवस्थित और आद्योपान्त बनाने में जेरेमी बेन्थम और जॉन स्टुअर्ट मिल का नाम उल्लेखनीय है।

12.2 जीवन परिचय

जेरेमी बेन्थम का जन्म 1748 ई. में लन्दन के एक प्रतिष्ठित वकील परिवार में हुआ था। उसके पिता और पितामह उस समय के श्रेष्ठ कानूनविद् थे। उसके पिता जिरमिह बेन्थम की आकांक्षा थी कि उनका पुत्र भी एक नामी वकील बने। चूंकि बेन्थम अलौकिक प्रतिभा का धनी बालक था इसलिए वह तीन वर्ष की आयु में लैटिन तथा चार वर्ष की आयु में फ्रेन्च पढ़ने लग गया। उसने तेरह वर्ष की आयु में मैट्रिक तथा पन्द्रह वर्ष की आयु में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा पास कर ली। इसके बाद उसने 'लिंकन्स इन' में कानूनशास्त्र का अध्ययन करने के लिए प्रवेश लिया। सन् 1768 में उसे किताबों की एक दुकान में प्रीस्टले की एक पुस्तिका 'शासन पर निबन्ध' मिली जिसमें उसे एक पृष्ठ पर हचेसन की पुस्तक से उद्धृत वाक्यांश 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' मिला। इसे पढ़कर वह आनन्द विभोर हो उठा मानो उसे कोई मणि मिल गयी हो। "बेन्थम खुशी से नाच उठा, मानो उसे ईश्वर का सन्देश मिल गया या उसने कोई महान खोज कर ली। इस वाक्याँश में जो अर्थ छिपा था वह बेन्थम की सम्पूर्ण राजनीतिक विचारधारा का आधार एवं आदर्श बना।"

लिंकन्स इन में बेन्थम ने अपना अधिकांश समय विधिशास्त्र के ग्रन्थों के अध्ययन में लगाया। इन्हीं दिनों वह किंग्स बैंच के प्रधान न्यायाधीश लार्ड मैन्सीफील्ड के न्यायालय में विधि का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने जाया करता था। इसी दौरान उसे प्रचलित कानूनों की दुर्बोधता, अपूर्णता और अनिश्चितता का पता लगा। उसने देखा कि प्रचलित कानून बड़ा क्रूर और पाशविक था। कानून भंग करने वाले दण्ड पाने से बच जाते थे और निरपराध दण्ड पाते थे। बेन्थम को प्रचलित कानून के खोखलेपन का जितना अधिक ज्ञान हुआ वह उतनी ही अधिक दृढ़ता से इनके सुधार के लिए संकल्प करने लगा। वकालत करने की अपेक्षा उसने विधियों में संशोधन करने का बीड़ा उठा लिया। जब इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विधिशास्त्री ब्लेकस्टोन ने इंगलिश कानून की टीकाएँ प्रकाशित की तो ब्लेकस्टोन द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की धज्जियाँ उड़ाते हुए सन् 1776 में बेन्थम ने 'शासन पर कुछ विचार' ग्रन्थ प्रकाशित किया जिस पर लेखक का नाम मुद्रित नहीं

था। बेनाम प्रकाशित बेन्थम की इस रचना ने विधिशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान ब्लेकस्टोन की आलोचना करके न्यायिक क्षेत्रों में हलचल मचा दी। यह कल्पना की जाने लगी कि शायद यह आलोचनात्मक कृति डनिंग, मैन्सफील्ड अथवा लार्ड कैम्डन में से किसी की हो सकती है जो उस समय विधिशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। मैक्सी के शब्दों में, "इंगलैण्ड की राजनीति का शक्तिशाली व्यक्ति लॉर्ड शैलबर्न बेन्थम की फ्रेगमेण्ट ऑन गवर्नमेण्ट से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने बेन्थम का संरक्षण स्वीकार कर लिया और उसे बार–बार अपने यहां मेहमान के रूप में आमन्त्रित किया और समाज के अभिजात्य वर्ग से उसका परिचय करवाया।" इस पुस्तक का प्रकाशन बिना लेखकीय नाम के हुआ था, परन्तु इस पुस्तक की ख्याति के कारण बेन्थम का पिता अपने आपको रोक नहीं सका और उसने घूम–घूम कर बड़े गर्व के साथ इस सत्य का प्रचार किया कि यह पुस्तक उसके पुत्र द्वारा लिखी गयी थी।

बेन्थम के पिता को अपने पुत्र के अगाध कानूनी ज्ञान पर गर्व हुआ और उन्होंने यह समझ लिया कि पुत्र को वकालत के पेशे से बांधना व्यर्थ है। उन्होंने उसके लिए एक सौ पौण्ड की वार्षिक आय की व्यवस्था कर दी ताकि वह आजीविका की चिन्ता से मुक्त होकर चिन्तन, सुधार और लेखन के कार्यों में अपने लगा सके। बेन्थम प्रतिदिन नियमित रूप से लिखने वाला असाधारण व्यक्ति था और ज्ञान–विज्ञान के सभी क्षेत्रों में उसकी निर्बाध गति थी। उसके लेखों की पाण्डुलिपियाँ जो 148 सन्दूकों में बन्द हैं, लन्दन विश्वविद्यालय और ब्रिटिश म्यूजियम में आज भी सुरक्षित रूप से रखी हुई हैं। उसके लेखन का क्षेत्र बड़ा व्यापक था, किन्तु लेखन के प्रति वह बड़ा लापरवाह भी था। उसने नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिक शास्त्र, आदि विषयों पर ग्रन्थों की रचना की। उसकी कृतियों और सेवाओं से प्रभावित होकर सन् 1792 में फ्रांस की राष्ट्रीय सभा द्वारा उसे 'फ्रेन्च नागरिक' की सम्मानजनक उपाधि से विभूषित किया गया, किन्तु इंगलैण्ड ने उसके विचारों को कोई महत्व प्रदान नहीं किया। फलतः प्रतिक्रियास्वरूप वह उग्र सुधारवादी बना गया और राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए वह अपने सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्न करने लगा। 6 जून, 1832 को 84 वर्ष की आयु में लन्दन में उसका निधन हो गया। डॉयल के शब्दों में, "अपनी मृत्यु के पश्चात एक (उसके) शिष्य समूह के द्वारा वह एक पितामह और आध्यात्मिक नेता के रूप में सम्मानित किया गया। उसकी प्रतिष्ठा एक देवता की भांति की गयी जिसका सेण्ट पाल (शिष्य) था।"

12.3 प्रमुख रचनाएं

बेन्थम की प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं–

1. फ्रेगमेण्ट्स ऑन गवर्नमेण्ट, 1776
2. एन इन्ट्रोडक्शन टू दि प्रिन्सिपल्स ऑफ एण्ड लेजिस्लेशन, 1789
3. एमिनसिपेट योर कॉलोनीज, 1783
4. प्रिन्सिपल्स ऑफ इन्टरनेशनल लॉ
5. डिसकोर्सेज आन सिविल एण्ड पेनल लेजिस्लेशन, 1802
6. ए थ्योरी ऑफ पनिशमेण्ट एण्ड रिवार्ड्स, 1811
7. केसिज्म ऑफ पार्लियामेन्टरी रिफार्स, 1809

उपयोगितावादी चिन्तन की सामान्य रूपरेखा उसकी प्रारम्भिक रचना 'फ्रेगमेण्ट्स आनॅ गवर्नमेण्ट' में मिलती है। इसमें ब्लेकस्टोन की 'कमेंट्रीज' की आलोचना की गयी है और इस आलोचन के माध्यम से सम्पूर्ण विधिक व्यवसाय तथा इंग्लैण्ड के शासन के सम्बन्ध में ह्विग विचारधारा की आलोचना की गयी है।

'फ्रेगमेण्ट्स ऑन गवर्नमेण्ट' ग्रन्थ मुख्य रूप से आलोचनात्मक था, लेकिन बेन्थम ने एक अन्य प्रमुख ग्रन्थ 'इण्ट्रोडक्शन टू दि प्रिंसिपल्स ऑफ मारेल्स एण्ड लेजिस्लेशन' में पुनर्निर्माण की भी कोशिश की है। इस ग्रन्थ में हैल्वेटियस द्वारा प्रतिपादित शैली पर मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र और न्यायशास्त्र को संयुक्त किया गया। बेन्थम का कहना था कि सुख और दुःख न केवल आलोचनात्मक न्यायशास्त्र के लिए आवश्यक मूल्य का मानक प्रदान करते हैं बल्कि वे मानव आचरण के उन कारणों को भी निर्धारित करते हैं जिनके द्वारा कुशल विधायक मानवीय व्यवहार पर नियन्त्रण रख सकता है और उसे दिशा दे सकता है।

12.4 बेन्थम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त

उपयोगितावाद बेन्थम की समूची विचारधारा तथा चिन्तन की आधारशिला है। यह सुखवाद पर आधारित एक मनोवैज्ञानिक तथा सुधारवादी विचारधारा है जिसका प्रमुख केन्द्र इंग्लैण्ड था।

बेन्थम के उपयोगितावादी विचारों का निम्नलिखित शीर्षकों में समझा जा सकता है:

उपयोगिता का अर्थ–बेन्थम के अनुसार उपयोगिता के सिद्धांत का अर्थ उस सिद्धांत से है जो प्रत्येक कार्यवाही को, चाहे वह जो भी क्यों न हो ऐसी धारणा के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार करता है जिससे ऐसा लगता है कि वैचारिक

पक्ष के हित में या तो अभिवृद्धि कर रहा है या ह्रास का सिद्धांत कह सकते हैं। यह प्रत्येक कृत्य पर लागू होता है, केवल व्यक्ति के निजी कृत्यों पर ही नहीं सरकार के क्रियाकलापों पर भी समान रूप से लागू होता है।

उपयोगिता की परिभाषा करते हुए बेन्थम ने लिखा है–"उपयोगिता किसी वस्तु का वह गुण है जिसके द्वारा वह किसी ऐसे पक्ष के लिए लाभ, सुविधा, सुख, अच्छाई या कल्याण का सृजन करती है अथवा ऐसे पक्ष के विरुद्ध होने वाले छल, पीड़ा, बुराई या अहित को रोकने का कार्य करती है जिसके हित के बारे में विचार किया जा रहा है।" यहां यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि यदि पक्ष कोई व्यक्ति है तो उपयोगिता का सम्बन्ध व्यक्तिगत हित होगा और यदि वह कोई समूदाय है तो उपयोगिता सामुदायिक हित से सम्बन्धित होगी।

12.4.1 नैतिकता की परम्परागत धारणाओं का खण्डन–बेन्थम ने तत्कालीन समय में प्रचलित नैतिकता की सभी धारणाओं का खण्डन किया और उपयोगिता को नैतिकता तथा मानवीय जीवन का आधार बनाया। बेन्थम के समय में नैतिकता के विषय में विभिन्न विचार प्रचलित थे। प्रायः लोग ईश्वर की इच्छा को नैतिकता का आधार मानते थे और उनका कहना था कि धर्मशास्त्रों से ईश्वर की इच्छा का ज्ञान होता है। इसलिए उनका कहना था कि जो कुछ ईश्वर की इच्छा अर्थात् धर्मशास्त्रों के अनुकूल है, वह नैतिक है और जसे कुछ उसके विपरीत है, वह अनैतिक और पापमूलक है। इसके अतिरिक्त नैतिकता के सम्बन्ध में प्राकृतिक विधि की धारणा प्रचलित थी और दार्शनिक मनुष्य के अन्तःकरण को नैतिकता का स्त्रोत मानते थे। बेन्थम इन सभी को अस्वीकार करते हुए कहता है कि "ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि और अन्तः करण ये कुछ वैयक्तिक या आत्मगत कल्पनाएँ मात्र हैं और मनुष्य को जो कुछ अच्छा लगता है, उसी को ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि या अन्तरात्मा के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से हमारे द्वारा कुछ भी नहीं कहा जा सकता, इसलिए धारणाएँ निरर्थक हैं।" नैतिकता की परम्परागत धारणाओं के स्थान पर बेन्थम सुखवाद में विश्वास करता है और यह मानता है कि सुख तथा दुःख अथवा प्रसन्नता और पीड़ा मनुष्य के दो सवसार्वभौम शासक हैं।

12.4.2 प्रकृति ने मनुष्य को दो सत्ताधारी स्वामियों के अधीन रखा है–बेन्थम के अनुसार प्रकृति ने मनुष्य को आनन्द और पीड़ा नामक दो सर्वोच्च प्रभुओं के शासन में रखा है। हम जो कुछ भी करते हैं, जो कुछ भी कहते हैं और जो कुछ भी सोचते हैं सबमें हमें इनके अधीन हैं।

12.4.3 उपयोगिता का सिद्धांत सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण का सिद्धांत है– बेन्थम के उपयोगितावाद की आधारशिला सुख और दुःख की मात्रा के ऊपर है। बेन्थम के मत में जो वस्तु सुख की अनुभूति देती है वह अच्छी है, ठीक और उपयोगी है। जिस कार्य में मानव सुख में वृद्धि होती है वही कार्य उपयोगी और उचित है और जिस कार्य से मानव को दुःख प्राप्त होता है वह कार्य अनुपयोगी और अनुचित है। मानव के समस्त कार्यों की कसौटी उपयोगिता है। बेन्थम के शब्दों में, "उपयोगिता के सिद्धांत से हमारा आशय उस सिद्धांत से है जिससे सम्बन्धित व्यक्ति की प्रसन्नता में वृद्धि या कमी होती है और जिसके आधार पर वह प्रत्येक कार्य को या तो उचित ठहराता है या अनुचित या दूसरे शब्दों में जिससे सुख मिलता है या सुख नष्ट होता है। मैं यह बात हर कार्य के लिए कहता हूं और इसलिए मेरी यह बात किसी एक व्यक्ति पर नहीं बल्कि हर सरकारी कार्य पर लागू होती है।" इस प्रकार बेन्थम के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता का एकमात्र मापदण्ड यह है कि वह कहां तक सुख की वृद्धि करती है और कहां तक दुःख को कम करती है।

सुख–दुःख का वर्गीकरण–सुख दुःख के स्वरूप को समझाने के लिए बेन्थम उन्हें दो भागों–सामान्य और जटिल में विभाजित करता है। उसने सामान्य सुख के 14 और सामान्य दुःख के 12 भेद बताये हैं, जो इस प्रकार हैं–

सामान्य सुख–1. इन्द्रिय सुख, 2. वैभव सुख, 3. कौशल का सुख, 4. मित्रता का सुख, 5. यश का सुख, 6. शक्ति या सत्ता का सुख, 7. कल्पना का सुख, 8. धार्मिक सुख, 9. दया का सुख, 10. निर्दयता का सुख, 11. स्मृति सुख, 12. आशा का सुख, 13. सम्पर्क या मिलन सुख व 14. सहायता का सुख।

सामान्य दुःख–1. दरिद्रता, 2. भावना, 3. हिचकिचाहट, 4. शत्रुता, 5. अपयश, 6. धार्मिकता, 7. दया, 8. निर्दयता, 9. स्मृति, 10. कल्पना, 11. आशा व 12. सम्पर्क।

सामान्य सुख–दुःखों के इस वर्गीकरण की प्रस्तुत करने के पश्चात् बेन्थम यह भी कहता है कि इनके सम्मिश्रण से विविध प्रकर के जटिल सुख–दुःख पैदा होते हैं।

सुख–दुःख के निर्धारक तत्व–बेन्थम के अनुसार मनुष्य एक भावनात्मक प्राणी होता है। अतः प्रत्येक मनुष्य की भावना जितनी सघन होती है उतनी ही सुख या दुःख को ग्रहण तथा अनुभव करने की उसकी क्षमता होती है अर्थात् हर मनुष्य की सुख–दुःख अनुभव करने की सामर्थ्य भिन्न–भिन्न प्रकार की होती है। वस्तुतः किसी व्यक्ति समूह द्वारा अनुभव की जाने वाली सुख–दुःख की मात्रा इनके ग्रहण या अनुभव करने की सामर्थ्य को निश्चित करने वाले तत्वों पर निर्भर है। ये 32 तत्व हैं, इनमें प्रमुख हैं–स्वास्थ्य, शक्ति, कठोरता, शारीरिक कमजोरी, मन की चंचलता, मनोवृत्ति, अनुभव ग्रहण

करने की शक्ति, नैतिक पक्षपात, धार्मिक पक्षपात, लिंग, शिक्षा जलवायु, वंश आदि। बेन्थम के अनुसार सुख–दुःख की मात्रा की गणना करते हुए इन्हें ध्यान में रखना चाहिए।

सुख–दुःख के स्त्रोत–बेन्थम सुख–दुःख प्राप्ति के चार स्त्रोत बतलाता है। ये चार स्त्रोत हैं–भौतिक, नैतिक राजनीतिक तथा धार्मिक। प्रकृति से प्राप्त होने वाले सुख भौतिक सुख कहलाते हैं। जब कोई सुख या दुःख नैतिक दृष्टि राज्य के सम्पर्क अथवा कानून के कारण मिलता है तो यह राजनीतिक सुख–दुःख कहलाता है धार्मिक मान्यताओं के अनुसार या विरुद्ध काम करने पर जो सुख–दुःख मिलता है उसका स्त्रोत धर्म होता है सुख–दुःख के इन चार स्त्रोतों का मकान का उदाहरण देते हुए बेन्थम इस प्रकार समझाता है–"अगर किर्स मनुष्य का मकान अपनी असावधानी से जलता है तो वह राजनीतिक दण्ड है। अगर वह आग लगने पर सहायता न देने वाले साथियों और पड़ोसियों की दुर्भावना से जलता है तो यह जनमत का दण्ड है और अगर वह किसी दैवी प्रकोप से भस्म हुआ है तो इसे धार्मिक दण्ड माना जायेगा।"

सुख की गणना–सुखवादी मापक यन्त्र–उपयोगिता का निर्धारण करने में बेन्थम सुख–दुःख की मात्रा पर बल देता है। यदि एक कार्य से सुख की अधिक मात्रा उत्पन्न होती है तो वह अधिक अच्छा सुख है, किन्तु समस्या यह है कि सुख–दुःख का निश्चय कैसे किया जाये? इनकी मात्रा का निर्धारण करने के लिए बेन्थम ने 'सुखवादी मापक यन्त्र' का आविष्कार किया जिसके अनुसार सुखों और दुः,खों को तुलनात्मक ढंग से कुछ कसौटियों पर कसा जाता है और उनकी मात्रा को नापा जाता है। इसके आधार विभिन्न प्रकार के कार्यों या वस्तुओं से प्राप्त होने वाले सुखों का मूल्य ज्ञात किया जा सकता है। इसके निमित्त बेन्थम ने किसी कार्य के सम्बन्ध में अनेक परिस्थितियों या तत्वों का उल्लेख किया है जिनके आधार पर सुख या दुःख के कम या अधिक होने का ज्ञान किया जा सकता है। ये कसौटियाँ 7 हैं–1. तीव्रता, 2. स्थिरता, 3. निश्चितता, 4. निकपटता अथवा दूरता, 5. जनन–शक्ति, 6. विशुद्धता तथा 7. विस्तार। बेन्थम के विचारों को स्पष्ट करते हुए वेपर ने लिखा है, "जब हम सुखों की गणना करते हैं तो हमें उनकी तीव्रता और स्थिरता को ध्यान में रखना चाहिए, हमें उनकी निश्चितता और अनिश्चितता का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि वह सुख जो अधिक निश्चित होता है उसे सुख की तुलना में अधिक होता है जो सुख कम निश्चित होता है। उनकी निकटता एवं दूरी भी हमारी गणना में आनी चाहिए, वह सुख जो अधिक निकट होता है अथवा अधिक सरलता से प्राप्य होता है उस सुख से अधिक होता है जो दूर होता है और जिसे पाने में अधिक कठिनाई होता है। हमें उनकी जनन–शक्ति और उनकी विशुद्धता पर भी विचार करना चाहिए क्योंकि ऐसा सुख अधिक आनन्ददायक होता है जिसके पीछे उसी प्रकार के अन्य सुख भी जुड़े हो.....।"

बेन्थम के अनुसार, सुखवादी मापक यन्त्र से किसी प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले सुखों और दुःखों का मूल्याँकन करते हुए उन्हें दो पलड़ों में तोलें। यदि इनमें से सुखों वाला पलड़ा भारी हो तो वह प्रवृत्ति उपयोगी है और यदि दुःखों वाला पलड़ा भारी हा तो वह प्रवृत्ति अनुपयोगी होगी। बेन्थम के शब्दों में, "समस्त सुख के समस्त मूल्यों को एक ओर तथा समस्त दुःखों के समस्त मूल्यों को दूसरी ओर एकत्रित कर लेना चाहिए यदि एक को दूसरे में से घटाकर सुख शेष रह जाता है तो अमुक कार्य ठीक है, लकिन यदि शेष दुःख रहे तो यह समझ लेना चाहिए कि अमुक कार्य ठीक नहीं है।"

सुख की मात्रा समान हो तो बच्चों का खेल हो या कविता, एक ही बात है–बेन्थम दो सुखों में केवल संख्यात्मक (मात्रात्मक) श्रेष्ठता का विधान करता है अर्थात् गुण की दृष्टि से सभी सुख समान हैं। यदि उनमें कोई अन्तर है तो वह अधिक और कम का अन्तर है। उसके अनुसार, गणना करने से जो भी सुख मात्रा में अधिक हो, उसे अपनाना चाहिए। सुखों की मात्रा समान होती है खेलने, पढ़ने और मनोरंजन से समान सुख मिलते हैं। बेन्थम के शब्दों में, "सुख की मात्रा समान होने पर पुशपिन (बच्चों का खेल) और कविता का रसास्वादन दोनों एक ही कोटि के आनन्द हैं।" दुःखों में भी बेन्थम गुणात्मक भेद नहीं करता है। उसी के शब्दों में, "एक कील के चुभने से उतनी ही पीड़ा होती है जितनी कि एक कर्कश कविता सुनने से।" वह यह भी कहता है, "अधिकतम सुख की गणना करने में प्रत्येक व्यक्ति को एक माना जायेगा और किसी को भी एक से अधिक नहीं माना जायेगा।"

राज्य का उद्देश्य अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख–बेन्थम के अनुसार राज्य के आदेशों का पाल इसलिए होता है कि यह उपयोगी है और सामान्य हित तथा सुख को बढ़ने वाला है। राज्य के नियमों के आज्ञा–पालन से होने वाले लाभ आज्ञा भंग के दुष्परिणामों से अधिक है। बेन्थम की दृष्टि में राज्य का आधार उपयोगिता से उत्पन्न होने वाली आज्ञा–पालन की आदत है। इस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में उपयोगिता का सिद्धांत कानूने प्रदान करने वालों का तथा शासन का मार्गदर्शन करता है।

कानून का ध्येय अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख–बेन्थम के अनुसार, शासन और कानून की उत्पत्ति और अस्तित्व उनकी सामान्य उपयोगिता पर निर्भर है और उनका पालन भी लोग इसलिए करते हैं कि वे उपयोगी हैं। अतः वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि कानून निर्माण भी उपयोगिता के सिद्धांत के अनुकूल होना चाहिए। यदि राज्य के कानून उपयोगिता की कसौटी पर खरे न उतरें तो उन्हें बदल देना चाहिए। अच्छा कानून वही है जिससे अधिकतम व्यक्तियों की अधिकतम भलाई होती हो।

12.5 बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत के निष्कर्ष

बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत से अग्रलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं–

1. **सुख ही एकमात्र इच्छित वस्तु**–बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत का निष्कर्ष है कि मनुष्य के लिए सुख ही एकमात्र अच्छी और इच्छित वस्तु है। धन, पद, स्वास्थ्य और यहां तक कि सद्गुण भी मानव–जीवन में द्वितीय स्थान पर आते हैं और ये सब मनुष्य के अन्तिम उद्देश्य और सुख प्राप्ति के साधन मात्र हैं।
2. **सुख–दुःख का गणितीय मापना**–बेन्थम का विश्वास है कि सुखों और दुःखों को तुलनात्मक आधार पर मापा जा सकता है। इस प्रकार सुख–दुःख मापने की पद्धति को वह सुखवादी गणना पद्धति के नाम से पुकारता है।
3. **सुख का आलिंगन और दुःख का बहिष्कार**–बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति सुख का आलिंगन करता है और दुःख का बहिष्कार करता है।
4. **सार्वभौम सिद्धांत**–बेन्थम के अनुसार उपयोगिता का सिद्धांत सार्वभौम रूप से लागू होने वाला सिद्धांत है। मानव के समस्थ व्यापारों में यह लागू होता है। यहां तक कि तपस्वियों के सम्बन्ध में भी यह लागू होता है। तपस्वियों को जिस रूप में सुख की अनुभूति होती है वह सुख का ही विकृत रूप है क्योंकि तपस्या भौतिक सुख भले ही न दे तथापि उसका परिणाम भी तपस्वी के लिए सुख का ही द्योतक है जो आत्मिक सुख है।
5. **राज्य का उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख**–बेन्थम की सबसे महत्वपूर्ण धारणा यह है कि वह राज्य को एक ऐसा समूह समझता है जिसे मनुष्यों ने अपनी सुख–वृद्धि के लिए संगठित किया है। राज्य की आज्ञा का पालन हम इसलिए करते हैं क्योंकि ऐसा करना हमारे लिए लाभदाय एवं उपयोगी है। कोई भी सरकार तभी तक कायम रहती है और नागरिकों की निष्ठा की हकदार होती है जब तक कि वह समाज के सामान्य सुख का ध्यान रखती है।
6. **कानून का मूल्याँकन–उपयोगिता**–बेन्थम ने उपयोगिता के सिद्धांत का सबसे अधिक प्रयोग कानून निर्माण में करना चाहा और उसका मत था कि विधायक के हाथ मे 'अधिकतम लोगों का अधिकतम हित' जैसा यन्त्र पकड़ा देने से कानून की सही आत्मा का निर्माण किया जा सकता है।

12.6 बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत की आलोचना

बेन्थम को उपयोगितावाद का जनक कहा जाता है, किन्तु उसके उपयोगितावादी विचार विराधाभास एवं भ्रम का पिटारा है। उसके उपयोगितावादी विचारों की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है:

1. **सुखवादी मान्यता**–सुखवादी मान्यता, जो कि बेन्थम के विचारों का आधार है, उसके दर्शन की सबसे बड़ी कमजोरी है। यह धारणा कि सुख तथा दुःख हमारे सम्पूर्ण आचार तथा विचार को निर्धारित करते हैं, भ्रमपूर्ण है। यह तो जीवन की एक बहुत ही अधूरी व्याख्या है और उन जटिल प्रेरणाओं की, जो हमारे आचरण को प्रभावित करती हैं, अवहेलना करना है। सुख और दुःख का यदि हम प्रेरक तत्व मान लें, जैसा कि बेन्थम चाहता है, तो समाज का या तो विकास अवरुद्ध हो जायेगा या फिर समाज में सुख प्राप्ति की ऐसी होड़ लग जायेगी कि एक प्रकार के समाजिक संघर्ष से विप्लव आने की सम्भावना हो जोयगी। वास्तव में मानव–जीवन आदर्शों पर आधारित है। उसकी कुछ मान्यताएँ है और उन्हीं मान्यताओं को आधार मानकर मनुष्य आगे बढ़ता है चाहे उसे उसमें कितने ही कष्ट क्यों न सहन करने पड़ें।
2. **अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख असंगत**–बेन्थम के अनुसार उपयोगिता का अर्थ है अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख, किन्तु यह अव्यावहारिक और असंगत है। मान लीजिए 'अ' कार्य से तथा 'ब' कार्य से यह तय करना है कि कौनसा कार्य करें तो निर्णय लेना कठिन हो जोयेगा। क्योंकि 'अ' कार्य से दस व्यक्तियों का भला होता है और 'ब' कार्य से सौ व्यक्तियों का लाभ होता है जबकि 'अ' और 'ब' कार्य के सुख की मात्रा समान है। बेन्थम अधिकतम सुख + अधिकतम संख्या दोनों को चाहता है, परन्तु यह स्पष्ट करने में असफल रहा है कि इनका निर्धारण कैसे किया जाये। अधिकतम सुख पर बल दिया जाये अथवा अधिकतम संख्या पर। असली समस्या यह है कि दोनों में सन्तुलन कैसे स्थापित किया जाये?
3. **सुख भौतिक न होकर मानसिक होता है**–बेन्थम सुख का आधार भौतिकता मानता है जबकि देशभक्ति, त्याग, सेवा, परोपकार, आदि गतिविधियों में दुःख उठाकर भी लोगों को मानसिक सुख मिलता है और जो भौतिक सुख से उत्कृष्ट होता है। भगवान महावीर और गौतम बुद्ध को भौतिक सुख ही प्राप्त करना होता तो राजसी ठाठ–बाट त्यागकर भीषण कष्ट उठाते हुए जंगलों में न भटकते। देशभक्त क्रान्तिकारी भगतसिंह जैसे व्यक्ति फांसी के तख्ते पर झूलने में अपूर्व आनन्द और गर्व अनुभव करते हैं। सुभाष बोस को भौतिक सुख ही प्राप्त करना होता तो आई. सी. एस. से त्यागपत्र न देते। वस्तुतः देशभक्ति हेतु कष्ट उठाकर भी उन्हें आनन्द मिल रहा था।

4. **सुखों के गुणात्मक भेद की उपेक्षा**–बेन्थम सुख को मात्रात्मक मानता है जबकि असली सुख गुणात्मक होता है। हमें स्वादिष्ट भोजन करने तथा काव्य का रसास्वादन करने में जो आनन्द मिलता है, वह एक जैसा नहीं है। सुखों में मात्रा तथा गुण की दृष्टि से अन्तर होता है। कुछ सुख मात्रा में कम होने पर भी गुणों की दृष्टि से ऊंचे होते हैं। जैसा कि सोर्ले ने लिखा है, यदि विभिन्न सुखों में गुणात्मक भेद को स्वीकार कर लिया जाये तो उसकी सारी विचार प्रणाली अस्त–व्यस्त हो जायेगी।

5. **सुखों को मापा नहीं जा सकता**–बेन्थम ने सुखवादी मापक यन्त्र द्वारा सुख–दुःख को मापने की व्यवस्था की है, किन्तु व्यवहार में सुख–दुःख का मापा नहीं जा सकता। हमारे पास ऐसा कोई मापदण्ड नहीं हैं जिसके द्वारा हम किसी भावना की तीव्रता की निश्चित मात्रा की किसी अन्य भावना की तीव्रता से तुलना कर सकें। तीव्रता को महत्व दिया जाये या अवधि कोदृबेन्थम इस बारे में कुछ नहीं बताता। डेविडसन के अनुसार आठ दुःखों में से चार सुखों को घटाने की बात मूर्खता के सिवाय और कुछ भी नहीं हो सकती। मेक्कून भी इस सन्दर्भ में आलोचना करते हुए लिखता है कि राजनीति में गणित वैसे ही सहायक नहीं हो सकती जैसे गणित में राजनीति सहायक नहीं हो सकती।

6. **नैतिकता की उपेक्षा**–बेन्थम के दर्शन का एक बहुत बड़ा दोष नैतिकता की उपेक्षा करना है। बेन्थम भारतीय चारवाक विचारकों की भांति आनन्द को ही जीवन का एक चरम लक्ष्य मान बैठा है और उसकी दृष्टि में धर्म, नैतिकता और अन्तःकरण का कोई स्थान नहीं है। बेन्थमवादी दर्शन को स्वीकार करने का परिणाम यह होगा कि व्यक्ति अत्यन्त अवांछनीय और हानिकार प्रवृत्तियाँ अपना लेंगे जिसके परिणामस्वरूप समाज में घोर अव्यवस्था और अनैतिकता उत्पन्न हो जायेगी। इस सम्बन्ध में मुरै ने लिखा है, "यदि बेन्थम के मतानुसार हम अन्तःकरण को स्वीकार नहीं करते तो नैतिक और अनैतिक कार्य का कोई भेद नहीं रहेगा, केवल उपयोगी और अनुपयोगी कार्य ही रहेंगे.....।"

7. **व्यक्ति और समाज की उपयोगिता के बीच सामंजस्य का अभाव**–आलोचकों के अनुसार बैंन्थम अपने उपयोगिता सिद्धांत द्वारा व्यक्ति और समाज की उपयोगिता के बीच सामंजस्य प्रस्तुत नहीं कर पाये। बेन्थम यह नहीं समझ सके कि व्यक्ति और राज्य के हितों के बीच भी संघर्ष हो सकता है। बेन्थम ने यद्यपि यह माना है कि अलग–अलग व्यक्तियों के योग से राज्य या समा के हितों का योग प्राप्त किया जा सकता है पर यथार्थता यह है कि राज्य का हित अक्सर व्यक्ति के हित का विरोधी होता है और वह व्यक्गित हितों का वुल योग कभी नहीं होता। यदि व्यक्तिगत हितों को प्रधानता दी जायेगी तो व सत्तारूढ़ बहुतमत के ही सुखों का अल्पमत पर लादना होगा। मैक्सी के अनुसार बेन्थम ने, जहां कहीं भी उन्हें दोनों के बीच चयन का अवसर मिला है, व्यक्तिवादी हित को ही प्रधानता दी है। वे दोनों के मध्य सन्तुलन स्थापित नहीं कर सके।

8. **बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहन**–बेन्थम प्रत्येक मनुष्य के सुख पर नहीं वरन् अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख पर ध्यान देता है। इसका अप्रत्यक्ष अर्थ है कि समाज की बहुसंख्या को अल्पसंख्यकों को कुचलने तथा उन पर अत्याचार करने का अधिकार है। इसका मतलब हुआ बहुसंख्यक जैसा चाहें वैसा करें। यदि इस बात को मान लिया जाये तो अत्याचारी शासक को प्रजा पर तब तक अन्याय और अत्याचार करने का अधिकार मिल जायेगा जब तक वह अपने इस कार्य को बहुसंख्या को अधिकतम आनन्द देने वाला सिद्ध कर सके। हैलोवेल के अनुसार, बेन्थम का सिद्धांत बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहित करने वाला सिद्धांत है।

9. **साध्य से साधन का मूल्यांकन करने वाला सिद्धांत**–बेन्थम का उपयोगिता सिद्धांत साधन की पूर्ण उपेक्षा करता है, वह सुखी रूपी साध्य की ओर दौड़ता है चाहे वह कैसे ही, क्यों न प्राप्त हो। प्रो. मुरै के अनुसार यदि परिणाम लाभदायक हुआ तो बेन्थमवादी सिद्धांत के आधार पर साधनों को भी उपयोगी कहा जायेगा, जबकि घटिया साधनों से उत्तम साध्य कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता।

10. **अमनोवैज्ञानिक सिद्धांत**–बेन्थम का सिद्धांत मनोविज्ञान की भ्रान्त धारणा पर आधारित है। बेन्थम मानव प्रकृति को कोरा सुखवादी मानते हुए उसकी दुर्बोध मानसिक रचना का सही रूप प्रस्तुत नहीं करता। वह मनुष्य को घोर स्वार्थी तथा केवल अपने सुख के लिए प्रयत्न करने वाला मानता है, किन्तु मनुष्य स्वार्थी ही नहीं है अपितु परोपकारी भी है, वह दूसरों के लिए बड़े–से–बड़ा त्याग करने के लिए तत्पर रहता है। एक कवि भूखा रहकर कविता का निर्माण क्यों करता है? एक मां स्वयं भूखी रहकर भी बच्चे को क्यों खिलाती है? सुकरात विषपान के लिए क्यों तैयार हो गया? राम राजसी वैभव छोड़कर वन में क्यों चले गये?

11. **मानव प्रकृति का अत्यधिक सरलीकरण**–मानव प्रकृति को बेन्थम ने इतना सरल कर दिया है कि वह उसको गणितीय संख्या–जोड़, बाकी, गुणा और भाग द्वारा परखने का प्रयत्न करता है, वह हित, लाभ, सुख अच्छा और प्रसन्नता शब्दों को पर्यायवाची मान लेता है जबकि मानव प्रकृति इतनी सरल नहीं है।

12. **उपयोगिता सिद्धांत राजनीति दर्शन न होकर शासन का दर्शन है**—बेन्थम का उपयोगिता सिद्धांत राजनीति का दर्शन न होकर शासन का दर्शन है। उपयोगिता सिद्धांत के आधार पर उसके द्वारा जिस दर्शन का प्रतिपादन किया गया है वह शासन के कार्यों का मार्ग निर्देशन करता है, लेकिन राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन नहीं करता।

13. **मौलिकता का अभाव**—अलोचकों का कहना है कि बेन्थम का उपयोगिता सिद्धांत मौलिक नहीं था। वह फ्रांसिस हचेसन, कम्बरलैण्ड और प्रीस्टले के विचारों को अपने सांचे में ढालने का प्रयत्न करता है। यहां तक कि उसके दर्शन का आधार वाक्य "अधिकतम लागों का अधिकतम सुख" भी फ्रांसिस हचेसन से ग्रहण किया था वेपर के शब्दों में, "वह अपने पूर्ववर्ती सिद्धांतों को पूरी तरह गले के नीचे उतार तो गया था, परन्तु उनको पचा नहीं पाया। उसने ज्ञान का सिद्धांत लॉक तथा ह्यूम से, सुख—दुःख का सिद्धांत हैलवेटिस से, सहानुभूति तथा विरोध का विचार अनेक दूसरे विद्वानों से उधार लिया, अतः उसमें मौलिकता का अभाव है।"

12.7 राजनीति दर्शन में बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत का महत्व

आलोचकों ने बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धांत को बड़ा अस्पष्ट, भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला तथा अभौतिक तक बतलाया है। उसके सुखवादी मापक यन्त्र को दोषपूर्ण तथा सुखवाद की मान्यता को नैतिकता की अपेक्षा करने वाला बतलाया है। कुछ आलोचकों ने तो यहां तक कह डाला कि बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत से बहुमत को अल्पमत पर अत्याचार करने की छूट मिल जाती है, इससे व्यक्ति स्वार्थी हो जाता है और समाज का विकास असरुद्ध हो जाता है, किन्तु ये सारी आलोचनाएँ तर्कसंगत नहीं हैं। सच्चाई यह है कि उसका सिद्धांत बड़ा स्पष्ट, लोकतान्त्रिक और लोककल्याणकारी राज्य की उदात्त भावना से अभिप्रेरित है। आधुनिक लोकतन्त्र प्रणाली वस्तुतः व्यवहार में बहुसंख्यकों का शासन होता है और फिर यदि बेन्थम ने 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' कह भी दिया तो कौनसी गलती कर दी। हारमोन ने ठीक ही लिखा है, "प्रत्येक लोकतान्त्रिक सरकार बेन्थम के अधिकतम व्यक्तियों के सुख की वृद्धि और दुःख के निवारण के विचार को अस्वीकार नहीं कर सकती।"

बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत के महत्व का प्रतिपादन करते हुए मैक्सी ने लिखा है, "इस सिद्धांत ने समस्त माने हुए सिद्धांतों को जड़ों से हिला दिया। अपने तर्क द्वारा बेन्थम ने रूढ़िवादी विचारों की प्राचीन धारणाओं को एक दम काट दिया।" मुरै के शब्दों में, "राजनीतिक सुधारक के लिए इतना सरल प्रयोग करने वाला और इतनी सत्य बातों को साथ लेने वाला अन्य कोइ सिद्धांत नहीं है।" डनिंग के शब्दों में, "समस्त संस्थाएँ, परिपाटियाँ, रीति—रिवाज और उत्सव चाहे कितने ही अच्छे, सम्मानित और प्राचीनता पर आधारित क्यों न हों, यदि वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख की वृद्धि नहीं करते तो बेकार हैं।" विलियम एबेन्सटीन के अनुसार, "उपयोगिता सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहा जा सकता है कि मात्र मशीनी है और प्रेरणा एवं कल्पनाविहीन है.....इस आलोचना के बावजूद भी बेन्थम ने 18वीं सदी के किसी भी अन्य व्यक्ति से अधिक अंग्रेजी संस्थाओं के स्वरूप को बदलने का कार्य किया।" जोन्स के शब्दों में, "हम कई दृष्टियों से आज भी बेन्थम के अधिक निकट हैं।" हारमोन के अनुसार, "उपयोगितावादी विचारों के कारण ही उसे (बेन्थम) सर्वोच्च बुद्धिवाला व्यक्ति स्वीकार जाने लगा और विश्व के विभिन्न देशों के राजनेताओं द्वारा उससे सलाह ली जाने लगी।"

12.8 बेन्थम के राजनीतिक विचार

यह एक विवादस्पद प्रश्न है कि बेन्थम एक राजनीतिक दार्शनिक था। उसका प्रमुख ध्येय राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन न होकर वैधानिक एवं राजनीतिक सुधारों पर विचार प्रकट करना था। एक महान् राजनीतिक दार्शनिक की अपेक्षा उसे एक व्यावहारिक शासन—सुधारक कहना अधिक उपयुक्त है। फिर भी अपने सुधार सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन करने के लिए उसने राज्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण मुद्दों पर कुछ स्फुट दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं जिनसे उसके राजनीतिक चिन्तन की झलक मिलती है। बेन्थम के राजनीतिक विचार उसकी प्रमुख कृति 'फ्रेगमेण्ट्स ऑन गवर्नमेण्ट' में मिलते हैं। अपने विद्यार्थी जीवन में उसने ब्लैकस्टोन के व्याख्यानों के खिलाफ विद्रोह किया था और जब वे व्याख्यान प्रकाशित हुए तो उसने उनकी कटु आलोचना की। ब्लैकस्टोन ने इंगलैण्ड के संविधान की गरिमा और इंगलैण्ड की विधि के सम्बन्ध में जो सामान्यीकरण प्रस्तुत किये थे उन पर बेन्थम ने भयंकर प्रहार किया और इंगलैण्ड की परिस्थितियों के सम्बन्ध में ब्लैकस्टोन ने जो भावुकतापूर्ण आशावाद जगाया था उनकी धज्जियाँ उडायीं। ब्लैकस्टोन के सिद्धांतों को ध्वस्त करते हुए बेन्थम ने जिस राजदर्शन का प्रतिपादन किया उसे निम्नलिखित शीर्षकों में देखा जा सकता है:

12.8.1 राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार—राज्य की उत्पत्ति के बारे में बेन्थम ने विचार किया था। बेन्थम से पूर्व राज्य की उत्पत्ति के बारे में सामाजिक संविदा सिद्धांत का बोलबाला था। बेन्थम ने संविदा सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए उसका उग्र विरोध किया। उसने कहा कि ऐसा कोई भी संविदा नहीं हुआ था और यदि कोई ऐसा हुआ भी हो तो वर्तमान पीढ़ी उसे मानने के लिए बाध्य नहीं की जा सकती। संविदा सिद्धांत से अलविदा मांगते हुए स्वयं बेन्थम ने लिखा है, "मैंने प्राथमिक संविदा छोड़ दी है और इस मिथ्या प्रलाप को आवश्यकता वाले उन व्यक्तियों के मनोरंजन के

लिए छोड़ दिया है।" इस प्रकार उसने ब्लैकस्टोन के इस सिद्धांत को ध्वस्त कर दिया कि विधि का मूल स्त्रोत सामाजिक संविदा है।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में संविदा सिद्धांत का खण्डन करने के बाद बेन्थम ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई? बेन्थम आदर्शवादियों के इस मत से भी सहमत नहीं हैं कि हम राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि राज्य नैतिक एवं श्रेष्ठतम संस्था है तथा राज्य के आदेशों का पालन करना हम अपना नैतिक कर्तव्य मानते हैं अथवा ऐसा करने से हमारा नैतिक विकास होता है। बेन्थम के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का कारण संविदा नहीं, अपितु आज्ञा पालन की आदत है। लोगों में आज्ञा पालन की आदत इसलिए आती है क्योंकि वह उपयोगी है और सामान्य सुख तथा हित को बढ़ाने वाली है। बेन्थम के शब्दों में, "राज्य की आज्ञा–पालन से होने वाली हानि अवज्ञा से होने वाली हानि से कम है।"

इस प्रकार बेन्थम का उपयोगिता सिद्धांत ही उसके राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों का आधार है। जब व्यक्तियों की एक संख्या आदतन एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह की आज्ञा–पालन करती है तो वे व्यक्ति राजनीतिक समाज (राज्य) की रचना करते हैं। दूसरे शब्दों में, राज्य व्यक्तियों का एक योगमात्र है और उसका हित उसके घटकों के हितों के योग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। संक्षेप में, बेन्थम के लिए राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए है। राज्य व्यक्तियों के हित साधन के लिए एक साधन मात्र है। राज्य का कोई भी ऐसा हित नहीं हो सकता जो उसके घटकों (व्यक्तियों) के हितों से ऊपर हो।

12.8.2 सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार–बेन्थम राज्य की सम्प्रभुता का समर्थक है। चूंकि कानून आदेश होता है, अतः यह सर्वोच्च शक्ति का ही आदेश हो सकता है। बेन्थम की धारणा है कि राज्य का अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक सर्वोच्च सत्ता का आज्ञा का पालन लोग स्वभावतः करते हैं। विधिक दृष्टि से बेन्थम का सम्प्रभु निरपेक्ष एवं असीमित होता है। राज्य की सम्प्रभुता पर प्राकृतिक कानून एवं प्राकृतिक अधिकार द्वारा कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता। तथापि बेन्थम का सम्प्रभु निरंकुश नहीं है। बेन्थम के अनुसार व्यक्ति उसी सीमा तक सम्प्रभु की आज्ञा का पालन और कानून की आज्ञा का पालन कर सकते हैं जिस सीमा तक वैसा करना उनके हित में लाभदायक और उपयोगी होता है। यदि सम्प्रभु के आदेश व्यक्तियों के लिए उपयोगी न हों तो उनका यह दायित्व हो जाता है कि वे उसका प्रतिरोध करें। बेन्थम के शब्दों में, "यदि अवज्ञा के सम्भावित अनिष्ट अभीष्ट से कम हों तो व्यक्ति सम्प्रभु का प्रतिरोध कर सकता है।"

12.8.3 प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन–जिस समय बेन्थम एक विचारक के रूप में उभर रहे थे उस समय प्राकृतिक अधिकार (नैसर्गिक अधिकार) सिद्धांत का बोलबाला था। थामस पेन तथा गॉडविन जैसे विचारकों ने प्राकृतिक अधिकारों पर बहुत बल दिया था। यह कहा जाता था कि मनुष्य को स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार प्रकृति के नियम से मिले हुए हैं। बेन्थम ने इस धारणा की खिल्ली उड़ाई। स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों की खिल्ली उड़ाते हुए उसने लिखा था, "पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से असम्भव है.....पूर्ण स्वतन्त्रता प्रत्येक प्रकार की सरकार की सत्ता की प्रत्यक्ष विरोधी है। क्या सब मनुष्य स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होते हैं.....एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है इसके विपरीत सब मनुष्य पराधीन पैदा होते हैं।" प्राकृतिक अधिकारों को उसने केवल एक प्रलाप और मूर्खता का नंगा नाच बताया। उसका कहना था कि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का विचार सामाजिक जीवन में अराजकता को, राज्य सत्ता के प्रतिरोध को स्थान दिलाता है। बेन्थम के शब्दों में, "प्राकृतिक अधिकार बकवास मात्र है, प्राकृतिक और अहस्तान्तरणीय अधिकार आलंकारिक बकवास है.....शब्दाडम्बरों के ऊपर की बकवास है।"

प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन करते हुए बेन्थम ने अधिकारों के सम्बन्ध में अत्यन्त सरल मान्यता का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार अधिकारों का निर्माण सामाजिक परिस्थितियों से होता है। वे ही अधिकार मान्य एवं उचित हैं जो समाज के अधिकाधिक व्यक्तियों को अधिकाधिक सुख उपलब्ध करायें। बेन्थम के शब्दों में, "अधिकार मानव के सुखमय जीवन के नियम हैं जिन्हें राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है।"

अधिकारो के प्राकृतिक स्वरूप को अस्वीकार करते हुए बेन्थम ने उनके सामाजिक और वैधानिक स्वरूप पर बल दिया। उसने अधिकारों के दो प्रकार बतलाये–(1)कानूनी अधिकार और (2) नैतिक अधिकार। कानूनी अधिकार मानव के बाह्य आचरण को और नैतिक अधिकार उसके आन्तरिक आचरण को नियन्त्रित करते हैं।

बेन्थम सिर्फ अधिकारों की ही चर्चा नहीं करता, वह कर्तव्यों पर भी बल देता है। क्योंकि बेन्थम के अनुसार कर्तव्य रहित अधिकार निष्प्राण और महत्वहीन हैं।

संक्षेप में, बेन्थम के अनुसार प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत कोरी मूर्खता है। अधिकारों का मूल आधार उपयोगिता है। अधिकार कानून की देन है न कि प्रकृति की। डेविडसन के अनुसार बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत का खण्डन करते हुए उसकी जगह उपयोगिता के सिद्धानत को प्रतिष्ठित किया। गेटेल के शब्दों में, "उसे (बेन्थम) फ्रांसीसी तथा अमरीकी क्रान्तियों की लोकतान्त्रिक भावना में पूर्ण सहानुभूति थी, किन्तु उनमें निहित प्राकृतिक विधि दर्शन से वह घृणा करता था। उसने प्राकृतिक और अलंघनीय अधिकारों के सिद्धांत का डटकर विरोध किया और उसे बकवास कहकर

पुकारा। उसने कहा कि मनुष्य उन्हीं अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं जो उन्हें कानून द्वारा प्रदान किये जाते हैं और अच्छे कानून की कसौटी यही है कि उससे किस सीमा तक अधिकतम संख्या को अधिकतम सुख उपलब्ध होता है।"

12.8.4 शासन संबंधी विचार–बेन्थम राज्य और शासन (सरकार) के मध्य अन्तर करता है। उसके अनुसार राज्य सम्पूर्ण जन समुदाय है, राज्य की सत्ता कानून निर्माण की अन्तिम शक्ति रखती है। सरकार राज्य के अन्तर्गत वह छोटा–सा संगठन है जो राज्य की इच्छा (कानून) तथा उद्देश्य (अधिकतम सुख) को कार्यान्वित करता है।

बेन्थम शासन प्रणाली के प्रकार के सम्बन्ध में विशेष चिन्तित नहीं है। उसका विचार है कि शासन का कोई भी प्रकार हो, उसका आधार सिद्धांत 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' होना चाहिए। उसने उपयोगिता की कसौटी पर विभिन्न शासन प्रणालियों की जांच करते हुए गणतन्त्रीय शासन प्रणाली का समर्थन किया है। उसके अनुसार राजतन्त्र शक्तिशाली शासन है, किन्तु उसमें राजा का हित सर्वोपरि हो जाता है कुलीनतन्त्र गुणी और अनुभवी लोगों का शासन तो है, किन्तु इसमें भी 'सर्वाधिक व्यक्तियों के सर्वाधिक सुख' के सिद्धांत की पालना नहीं होती। गणतन्त्र में ही 'अधिकतम सुख' का सिद्धांत साकार हो सकता है। अतः वह 'इस कुटिल संसार को गणतन्त्रों का जाल बिछाकर' अच्छा बनाने की आशा करता था। उसके अनुसार गणतन्त्रीय व्यवस्था इसलिए अच्छी है क्योंकि यह कुशलता, मितव्ययता और जनता की महत्ता की पोषक है। गणतन्त्र व्यवस्था में कानून बनाने का अधिकार जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में होता है, किसी एक वर्ग के हाथ में नहीं, अतः कानून जनता के हित में बनते हैं। उसके विचार में न तो पूर्ण राजतन्त्र और सीमित राजतन्त्र ही जनता को सर्वाधिक सुख प्रदान कर सकता है। "जब लोकतन्त्रात्मक (गणतन्त्र) शासन होता है तभी शासक और शासितों के हित एक हो जाते हैं क्योंकि तब अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख ही चरम लक्ष्य होता है।"

12.8.5 राज्य के कार्य–बेन्थम राज्य को सामान्य सुख की वृद्धि का माध्यम समझता है तथापि उसका राज्य एक नकारात्मक राज्य है। वह नकारात्मक इसलिए है क्योंकि यह लोगों को दण्ड–विधान द्वारा ही समाज विरोधी कार्य करने से रोकता है, जनता के नैतिक चरित्र को ऊंचा उठाना इसका कोई उद्देश्य व्यक्ति के श्रेष्ठतम गुणों का विकास करना नहीं है। दूसरे शब्दों में, बेन्थम राज्य को सकारात्मक कार्य नहीं सौंपता अतः उसका राज्य व्यक्तिवादी है। इसीलिए केटलिन उसके दर्शन को व्यक्तिवादी और लेसेज–फेरे का सिद्धांत कहकर पुकारता है।

12.8.6 कानून तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार–बेन्थम के अनुसार राज्य एक विधि निर्माता निकाय है और कानून सम्प्रभु के आदेश हैं। सम्प्रभु की इच्छा कानून के रूप में प्रकट होती है इसलिए उसका पालन होता है। वह यह भी कहता है कि कानूनों का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है क्योंकि इस आज्ञा–पालन मे ही उसकी और भलाई (हित) निहित है।

कानून की परिभाषा करते हुए बेन्थम कहता है, "कानून सम्प्रभु का इच्छा के आदेशों की तरह अभिव्यक्तिकरण है जिससे राजनीतिक समाज के सदस्य उसका स्वाभाविक पालन करते हैं।" प्राकृतिक कानूनों को अस्वीकार करते हुए उसने कानूनों के दो प्रकार बतलाये हैं–दैवी तथा मानवी। दैवी कानून रहस्यमय और ज्ञानातीत होते हैं, उनका स्वरूप भी निश्चित नहीं है। अतः मानवी कानूनों का निश्चित रूप राज्य के लिए आवश्यक है। उसने यह भी प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक कानून का आधार उपयोगिता है। यदि कोई कानून समाज का हित साधन करने में असफल रहता है तो वह कानून नहीं रहता। बेन्थम के शब्दों में, "किसी कानून को समाप्त करने से समाज का लाभ हो और फिर भी उसे समाप्त नहीं किया गया हो तो वह कानून नहीं रह जाता।"

बेन्थम ने अपने उपयोगिता के सिद्धांत को विधि निर्माण के लिए प्रयोग करने की सलाह दी। उसने कहा कि प्रत्येक विधि अथवा कानून को 'अधिकतम लोगों के अधिकतम हित' के उद्देश्य से ही बनाना चाहिए। उसने राजसत्ता द्वारा बनायी गयी प्रत्येक विधि की कसौटी उपयोगिता को माना है।

उसने यह भी मत प्रकट किया कि लोकतन्त्रात्मक राज्यों में विधि या कानून को सरल होना चाहिए ताकि लोग उसे समझ सकें। उसके मत में कानून का वंप्रमुख एवं महान् कार्य है सर्वहित की भावना; विधायक को हमेशा अपने हित की तरह राज्य हित को देखना चाहिए। इसके लिए उसे विधि निर्माण में चारों बातों पर ध्यान देना चाहिए–(1) आजीविका (2) पर्याप्त, (3) समानता और (4) सुरक्षा। इन चारों में संघर्ष की अवस्था में यह निर्णय करना विधायक का काम है कि प्रधानता किसे दी जाये। बेन्थम ने श्रेष्ठ कानून के छः लक्षण बतलाये हैं–(1) कानून जनता की आशा–आकांक्षा या विवेक बुद्धि के अनुकूल हों; (2) कानूनों का जनता का ज्ञान–इसके लिए प्रचार, जनमत निर्माण, आदि का आश्रय लेना चाहिए; (3) कानून विरोधाभासी न हों; (4) कानून सरल, स्पष्ट एवं सुबोध हों (5) कानून व्यावहारिक हों; तथा (6) कानूनों का पूर्ण रीति से पालन हो और कानून भंग के लिए दण्ड की व्यवस्था हो।

बेन्थम के अनुसार कानून सम्प्रभु के आदेश हैं, प्रतिबन्ध है इसलिए यह स्वतन्त्रता का विरोधी है। उसका विचार था कि व्यक्ति सुरक्षा चाहते हैं, स्वतन्त्रता नहीं। सुरक्षा के लिए कानून की आवश्यकता है और कानून सम्प्रभु के आदेश हैं। "यदि स्वतन्त्रता और सुरक्षा के मध्य हमें अस्पष्टता को मिटाना है तो स्वतन्त्रता को सुरक्षा की एक शाखा ही स्वीकार कर लेना चाहिए।"

बेन्थम फ्रेन्च क्रान्तिकारियों द्वारा प्रतिपादित 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व' के नारे का भ्रामक मानता था। उसका स्पष्ट मत था, "सुख ही अन्तिम उद्देश्य है और स्वतन्त्रता को उसी कसौटी पर कसा जाना चाहिए। राज्य का ध्येय अधिकतम सुख है न कि अधिकतम स्वतन्त्रता।" संक्षेप में, बेन्थम स्वतन्त्रता की अपेक्षा सुख को अधिकतम महत्व देता था। राज्य का उद्देश्य अधिकतम सुख की अभिवृद्धि करना है न कि अधिकतम स्वतन्त्रता की।

गेटेल के शब्दों में, "जीवन की एक उपयोगितावादी योजना में स्वतन्त्रता को कोई विशेष स्थान नहीं हो सकता, यह सुख की कोई आवश्यक तत्व नहीं है इसलिए इसे सुख के सामने समर्पण कर देना चाहिए।"

12.9 बेन्थमः एक महान् सुधारक के रूप में

बेन्थम एक महान् सुधारवादी विचारक था। वह एक विधि–सुधारक था न कि राजनीतिक दार्शनिक। पोलक के अनुसार 19वीं शताब्दी में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैधानिक जितने भी सुधार हुए, उनमें से शायद ही ऐसा कोई सुधार हो जिस पर बेन्थम का प्रभाव न पड़ा हो। बेन्थम ने बहुत सारे सुधारों की सिफारिश की थी। डेविडसन के अनुसार उन सुधारों में से मुख्य ये हैं–भ्रष्ट और सीमित संसदीय पद्धति का सुधार, नगरपालिकाओं का व्यापक सुधार, तत्कालीन अत्यन्त कठोर दण्ड विधि को नरम करना, जेल और जेल प्रबन्ध में सुधार, ऋण के लिए कारवास दण्ड का अन्त, सूदखोरी सम्बन्धी कानूनों की समाप्ति, धार्मिक परीक्षण का अन्त, दरिद्र रक्षा विधि में सुधार, स्वस्थ भिखमंगों की भिक्षावृत्ति को रोकना, राष्ट्रीय शिक्षा की एक व्यापक योजना बनाना, स्थानीय न्यायालयों को प्रोत्साहन देना, गरीबों के लिए सरकारी अधिवक्ताओं और वकीलों की नियुक्ति करना, वंशानुगत अधिकारों का व्यापक संशोधन और जन–पदाधिकारियों का प्रत्यावर्तन।" मैक्सी के शब्दों में, "यह कहने की जरूरत नहीं है कि जिन सुधारों का बेन्थम ने इतनी तत्परता और लगन के साथ समर्थन किया था उनमें से अनेक सुधार आज विभिन्न देशों में विधि का रूप पा चुके हैं।" केटलिन के अनुसार, "उपयोगितावाद एक राजनीतिक विचारधारा ही नहीं है प्रत्युत् यह प्रधानतः एक सुधारवादी विचारधारा है। इसके प्रतिपादक बेन्थम को एक राजनीतिक दार्शनिक मानने की अपेक्षा एक समाज–सुधारक मानना अधिक उपयुक्त होगा।"

बेन्थम द्वारा प्रतिपादित प्रमुख सुधार निम्नलिखित हैं:

12.9.1 शासन प्रणाली में सुधार–राजनीतिक विचारों की दृष्टि से बेन्थम जनतंत्रवादी था। उपयोगिता के सिद्धांतानुसार लोकसत्ता और जनतन्त्र ही उपयोगी सिद्ध होते हैं। जनतन्त्र में ही सबकी स्वार्थ–सिद्धि का सिद्धांत लागू हो सकता है, राजतन्त्र इस दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपयोगितावादी सिद्धांत के अनुसार अल्पतन्त्र भी ठीक नहीं बैठता। वास्तव में जनतन्त्र ही 'अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख' का साधन बन सकता है। अपने समकालीन विचारकों की भांति ब्रिटिश शासन प्रणाली की अत्यधिक प्रशंसा करने के बजाय बेन्थम ने दृढ़ता और ईमानदारी के साथ उसकी आलोचना की। उसने जनतन्त्र की सफलता के लिए सार्वभौम वयस्क मताधिकार, वार्षिक संसद, एक सदनीय व्यवस्थापिका और गुप्त मतदान पर विशेष बल दिया। बेन्थम ने सार्वभौमिक पुरुष मताधिकार का पुरजोर समर्थन किया। इसके लिए उसने केवल यह शर्त रखी कि मताधिकार का प्रयोग करने वाला थोड़ा पढ़ा–लिखा (साक्षर) हो। उसने महिला मताधिकार पर इसलिए जोर नहीं दिया क्योंकि उसकी दृष्टि में अभी इंगलैण्ड में इस अधिकार के उपभोग का समय नहीं आया था।

उसने कॉमन सभी के वार्षिक चुनाव आयोजित करने पर जोर दिया। उसका यह भी मत था कि संसद के सत्र अल्पकालीन हों ताकि सदस्यों को अधिक समय तक अपने निर्वाचन क्षेत्रों में रहने तथा मतदाताओं से सम्पर्क स्थापित करने में सुविधा हो सके। उसका आरोप था कि प्रचलित व्यवस्था के अन्तर्गत एक बार निर्वाचन हो जाने के बाद सांसदों का अपने निर्वाचन क्षेत्र से सम्पर्क टूट जाता है और तब सांसद जनता का प्रतिनिधित्व ने करके अपने न्यस्त स्वार्थों के प्रतिनिधि बन जाते हैं।

बेन्थम के युग में मतदाता स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मत का प्रयोग करने में डरते थे क्योंकि हाथ उठाकर खुले मतदान की व्यवस्था प्रचलित थी। अतः बेन्थम गुप्त मतदान के पक्ष में था। इसके अतिरिक्त लॉर्ड सभा को जो सार्वजनिक हितों के प्रति उदासीन सदन था, भंग कर देने का सुझाव भी बेन्थम ने दिया। वस्तुतः वह लार्ड सभा का समर्थक नहीं था। इसे वह धनिक वर्ग की संस्था मानता था। वह राजपद के भी विरुद्ध था और अपने समय के अंगेजी संविधान को धनिक वर्ग द्वारा प्रभावित राजतन्त्र कहा करता था। उसने स्वतन्त्र प्रेस की अवधारणा का भी समर्थन किया। उसके मत में बिना प्रेस की स्वतन्त्रता के सच्चे लोकमत की अभिव्यक्ति असम्भव थी।

संक्षेप में, बेन्थम का स्पष्ट मत था कि वयस्क मताधिकार द्वारा प्रतिनिधियों के ऊपर अधिकाधिक जन नियन्त्रण बना रहेगा और वार्षिक संसदीय चुनावों की व्यवस्था द्वारा वह नियन्त्रण और अधिक प्रभावी होगा, साथ ही प्रतिनिधियों में जनहित के निमित्त कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न होगी। उसके सभी सुधारों का उद्देश्य जनता का वास्तविक और प्रभावपूर्ण प्रतिनिधित्व कायम करना और राजनीतिक भ्रष्टाचार को रोकना था इंगलैण्ड की शासन व्यवस्था में संसद के वार्षिक चुनावों के अतिरिक्त उक्त सभी सुधार लागू हो चूके हैं और अधिकांश लोकतन्त्रात्मक देशों में भी उनका

क्रियान्वयन किया जा रहा है। लॉर्ड सभा का भले ही विघटन नहीं किया गया है तथापि आज लॉर्ड सभा की स्थिति ऐसी हो चुकी है कि उसे द्वितीय श्रेणी (गौण) का सदन ही माना जा सकता है।

12.9.2 विधि निर्माण के क्षेत्र में सुधार–बेन्थम एक महान् विधि सुधारक थे। अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स ऑफ मॉरल्स एण्ड लेजिस्लेशन' के प्रकाशित होने पर वह विधि निर्माण एवं विधि सुधार के नये पैगम्बर बन गये। संसार के विभिन्न देशों के राजनेता व्यावहारिक पथ–प्रदर्शन के लिए उनकी ओर देखने लगे।

ब्लैकस्टोन ने अंग्रेजी संविधान को दैवी इच्छा के अनुसार एक क्रमिक स्वाभाविक विकास बताते हुए इसकी बड़ी प्रशंसा की थी। बेन्थम ने सिद्ध किया कि "अंग्रेजी विधि व्यवस्था केवल दुर्बल और गरीबों को सताने वाली एक निर्लज्ज निरंकुशता थी। यह शिक्षित और शक्ति सम्पन्न लोगों को सहायता देने की व्यापक योजना थी ताकि ये लोग अज्ञानी और दलित लोगों को दबाये रख सकें।"

बेन्थम के अनुसार विधि निर्माण का उद्देश्य है–आजीविका, पर्याप्तता, समानता और सुरक्षा। सामान्य अर्थों में जनता का हित संवर्द्धन ही विधि का उद्देश्य है। बेन्थम का कथन है कि यदि विधियों का पालन कराना है तो यह आवश्यक है कि विधि को जनता का समर्थन प्राप्त हो। बलपूर्वक कानून मनवाने और सार्वजनिक असन्तोष का परिणाम अन्ततोगत्वा क्रान्ति ही होता है। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि जनता प्रसन्नतापूर्वक कानूनों का पालन करे तो जनता को विधि निर्माण की आवश्यकता सरल और स्पष्ट शब्दों में समझायी जानी चाहिए।

बेन्थम ने यह अनुभव किया कि तत्कालीन विधियाँ बहुत अस्त–व्यस्त अवस्था में थीं, अतः उनका संहिताकरण किया जाना चाहिए। विधियों के संहिताबद्ध करने के अलावा उसने अपना ध्यान उनके स्वरूप संगठन की ओर भी दिया। बेन्थम उस अनावश्यक पारिभाषिकता और प्राविधिकता, व्यर्थ के शब्दजाल और अप्रचलित शब्दावली से चिढ़ते थे जो विधि निर्माताओं को बहुत प्रिय थी। उनका कहना था कि विधियों को सीधे–सादे, आसानी से समझ में आने वाले छोटे–छोटे वाक्यों में व्यक्त किया जाना चाहिए। विधियाँ उन लोगों के लिए सुलभ और सुगम होनी चाहिए, जिन पर उनके पालन करने का उत्तरदायित्व है।

संक्षेप में, बेन्थम ने तत्कालीन विधियों की और उन विधियों को लागू करने वाली व्यवस्था की आलोचना की, परन्तु वह केवल विध्वंसक आलोचक नहीं थे। उनका उद्देश्य मौलिक रूप में रचनात्मक था और आलोचना तो इन लक्ष्य की प्राप्ति का साधन थी। उन्होंने न केवल विभिन्न यूरोपीय देशों की विधियों की बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की भी विवेचना की और बड़े महत्वपूर्ण सिद्धांत प्रतिष्ठित किये। उसने अमरीका, फ्रांस तथा भारत, आदि के लिए विधि संहिताओं के संकलन सम्बन्धी सुझाव दिये। उसने रूस के लिए भी एक विधि संग्रह तैयार किया जिससे प्रसन्न होकर जार अलेक्जेण्डर ने उसे एक हीरा भेंट किया था। सर हेनरीमेन उनके योगदान की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "बेन्थम के समय से लेकर आज तक ऐसा कोई भी विधि सुधार मेरी दृष्टि में नहीं आता जिस पर उनका प्रभाव न हो।"

12.9.3 न्याय व्यवस्था में सुधार–इंग्लैण्ड की तत्कालीन न्याय व्यवस्था भी अत्यंत दोषपूर्ण थी जिसकी बेन्थम ने कटु आलोचना की। उसके अनुसार वहां की न्याय व्यवस्था अत्यन्त जटिल एवं अनिश्चित थी। उसने पाया कि न्यायाधीश जिन विलम्बकारी तरीकों का उपयोग करते हैं, उनसे मुकदमों से सम्बंधित पक्षों का खर्च अनावश्यक रूप से बढ़ जाता है और कानून की प्राविधिकता के कारण न्याय ही नहीं हो पाता हैं। न्याय व्यवस्था में होने वाले अनावश्यक खर्च, असाधारण देरी, अव्यवस्था और दुश्चिन्ता के कारण बेन्थम ने अंग्रेजी न्याय प्रणाली के बारे में लिखा कि "इस देश में न्याय बेचा जाता है, बहुत महंगा बेचा जाता है और वह व्यक्ति जो इसका दाम नहीं चुका सकता न्याय से वंचित रह जाता है।" न्यायाधीशों के प्रति बेन्थम के हृदय में बहुत कम श्रद्धा थी और उनकी निरंकुशता की रोकथाम के लिए वह जूरियों का बहुत समर्थन करता था। जनमत की अभिव्यक्ति हेतु न्यायिक प्रक्रिया के प्रेक्षक नियुक्त करने का प्रस्ताव भी बेन्थम ने रखा। उन्होंने ऐसा कानून स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा, जिससे न्यायिक कार्यवाही के दौरान निश्चित संख्या में नागरिकों की उपस्थिति अनिवार्य हो। इससे इस कार्यवाही की सार्वजनिकता प्रत्याभूत होती, जबकि न्यायाधीश आवश्यक समझने पर इन नागरिकों को जिरह में तथा प्रमाणों की जांच में भाग लेने की अनुमति देता। उसकी यह भी मानयता थी कि विवादों का निर्णय अनेक जजों के बजाय एक जज द्वारा किया जाना चाहिए, क्योंकि इससे जज में उत्तरदायित्व की भावना पनपती है तथा न्याय के सम्मान की रक्षा की जा सकती है।

बेन्थम वकीलों की भी आलोचना करता था। उसका मत था कि वकीलों में प्रायः सत् असत् को पहचानने का ज्ञान नहीं होता तथा ये लोग अपेन स्वार्थ के लिए अपेन पक्षकारों का शोषण करते हैं और जनता को न्याय दिलाने की अपेक्षा उसे मूर्ख बनाते रहते हैं। वह कहता था कि ये लोग आलसी, सत् असत् का भेद करने में असमर्थ, अदूरदर्शी, जिद्दी, सार्वजनिक उपयोगिता के सिद्धांत की परवाह न करने वाले, स्वार्थी तथा अधिकारियों के इशारों पर नाचने वाले होते हैं। अतः बेन्थम सरल, सुस्पष्ट एवं व्यावहारिक कानूनों के निर्माण किये जाने के पक्ष में था जिससे कि जनता उन्हें सरलता से समझ सके तथा वकील एवं न्यायाधीशों की निरंकुशता एवं स्वार्थपरता से अपनी रक्षा कर सके।

12.9.4 दण्ड–व्यवस्था एवं जेल सुधार

बेन्थम के काल में फौजदारी कानून अत्यन्त कठोर था। छोटे–छोटे अपराधों के लिए मृत्यु–दण्ड की सजा दी जाती थी। बेन्थम ने इसका विरोध किया। उसने कहा कि फौजदारी कानून मनुष्योचित हो तथा अपराध से अधिक कभी भी दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। अपराध का निर्णय आनन्द और पीड़ा के मापदण्ड से करना चाहिए। उसका कहना था कि दण्ड स्वयं एक बुराई है और पीड़ा का कारण है। दण्ड केवल उसी समय देना चाहिए जबकि उससे भी अधिक बड़े कष्ट का निवारण करना हो। अधिक दण्ड से लाभ के बदले हानि होती है। उसने दण्ड के 12 नियम और 12 ही लक्षण बतलाए।

बेन्थम के अनुसार दण्ड देते समय चार बातों का ध्यान रखना चाहिए–

1. अपराध किस प्रकार का है?
2. परिस्थितियाँ जिनमें अपराध किया गया है।
3. अपराधी का उद्देश्य क्या है?
4. अपराध से किस प्रकार के व्यक्ति को हानि पहुंची है?

बेन्थम के मतानुसार दण्ड निष्पक्ष होना चाहिए तथा उसके द्वारा अपराधियों को चेतावनी मिलनी चाहिए अर्थात् दण्ड को सार्वजनिक रूप से दिया जाना चाहिए। वह क्षमा के विरुद्ध था।

बेन्थम का मत था कि दण्ड से होने वाले परिणामों का अन्दाज लगाते समय अपराधी के सुधार का भी ध्यान रखना चाहिए। उसका विश्वास था कि दण्ड–व्यवस्था उचित होने पर अपराधी को सुधारा जा सकता है और उसे पुनः समाज का उपयोगी एवं सम्मानित सदस्य बनाया जा सकता है। इसी आधार पर बेन्थम ने अपराधियों के पुनर्वास के लिए अनेक महत्वपूर्ण सुधारों का समर्थन किया था, जैसे कारावास में अपराधियों को औद्योगिक शिक्षा देना। अपराधियों के दैनिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिए भी बेन्थम ने एक योजना बनायी जिसको उसने 'पैनोप्टिकन' नाम दिया था। इस योजना के अनुसार कारागार की इमारतें अर्द्ध–चन्द्राकर बनायी जायें जिससे कि जेल का अधिकारी अपने निवास स्थान से जेल की सभी कोठरियों पर भली–भांति दृष्टि रख सके। इस योजना की मुख्य बातें थीं सावधानीपूर्वक निरीक्षण, सहानूभूतिपूर्वक अनुशासन तथा उन्नत वातावरण। जेल के समय उपराधियों को प्रारम्भिक शिक्षा के साथ–साथ लाभप्रद व्यवसाय की भी शिक्षा देनी चाहिए। साथ ही अपराधियों के सुधार हेतु उन्हें नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए। इस प्रकार उनमें अच्छे चरित्र का निर्माण हो सकेगा और जेल से छुटने के पश्चात् वे पुनः समाज के स्वस्थ नागरिक बन सकेंगे। योजना के अनुसार कारावास से छूटने पर अपराधियों को कम–से–कम तब तक के लिए कोई काम भी दिया जाना चाहिए जब तक कि वे जनता का पुनः विश्वास प्राप्त न कर लें।

यद्यपि बेन्थम द्वारा दिये गये सभी सुझावों को उनके जीवनकाल में कार्यान्वित नहीं कि जा सका फिर भी उनके समय से अब तक जो भी कारागारों तथा अनुतापालयों में व्यापक सुधार किये गये हैं और औद्योगिक विद्यालयों तथा सुधारशालाओं की जो स्थापना हुई है उन सबकी प्रेरणा उन्हीं से प्राप्त हुई है और उन सबका आधार वे ही सिद्धांत हैं जिनको बेन्थम ने प्रतिष्ठित किया था।

शिक्षा योजना–विधियों, दण्ड–व्यवस्था तथा राज्य के विधान, आदि के लिए ही बेन्थम ने सुधारवादी योजनाएँ नहीं बनायीं, शिक्षा के क्षेत्र में भी उसने सुधारवादी योजनाएँ बनायीं थीं–एक गरीब और अनाथ बच्चों के लिए और दूसरी मध्य तथा उच्च वर्ग के बालकों के लिए। प्रथम योजना के अनुसार अनाथ बालको को चरित्र सम्बन्धी शिक्षा दी जानी चाहिए तथा इसके साथ ही उन्हें कोई उपयोगी कला–कौशल सिखाना चाहिए जिससे कि वे अपनी आजीविका कमाने में समर्थ हो सकें। इनके साथ ही उन्हें बौद्धिक विकास सम्बन्धी शिक्षा भी दी जानी चाहिए। मध्य और उच्च वर्ग के बालकों के लिए केवल बौद्धिक विकास सम्बन्धी शिक्षा ही दी जानी चाहिए, धार्मिक या नैतिक शिक्षा नहीं। बेन्थम के समय में ग्रीक, लैटिन, आदि का अध्ययन कराया जाता था, परन्तु उसने अन्य उपयोगी विषयों के अध्ययन पर भी जोर दिया। वह मॉनिटर पद्धति का समर्थक था। इस पद्धति के अनुसार ऊंची कक्षा के अथवा योग्य विद्यार्थी नीचे वाले अथवा कमजोर विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं।

बेन्थम के समय तक सर्वधारणा की शिक्षा की अवहेलना की जाती थी। बेन्थम ने सर्वप्रथम जनसाधरण की शिक्षा पर जोर दिया और राज्य द्वारा शिक्षा दी जाने की बात कही। बेन्थम के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का भारत की शिक्षा पद्धति पर भी प्रभाव पड़ा। शिक्षा धार्मिक और नैतिक न होकर केवल ज्ञानात्मक हो–यह बात हमारी शिक्षा पद्धति में बेन्थम के विचारों के फलस्वरूप ही आयी। वास्तव में बेन्थम ने ही शिक्षा सम्बन्धी इस आधुनिक सिद्धांत की नींव डाली कि "सबसे पहले वही चीज सिखाओ जो सबसे अधिक सुगमता से सीखी जा सकती है। अर्थात् विद्यार्थी की सामर्थ्य का ध्यान रखो और उसे उसकी रुझान और स्वभाविक प्रवृत्ति के विरुद्ध विवश मत करो।"

12.9.5 आर्थिक विचार–आर्थिक विचारों की दृष्टि से बेन्थम एडम स्मिथ का अनुयायी था, किन्तु अनेक बातों में उसका एडम स्मिथ से मतभेद भी था। वह इस बात से सहमत था कि सरकार को मांग और पूर्ति के नियम में यथासम्भव

कम–से–कम हस्तक्षेप करना चाहिए और वह अबाध व्यापार का कट्टर समर्थक था। उसने अनियन्त्रित प्रतियोगिता की प्रशंसा की और एकाधिकारों तथा अध्युपकारो का विरोध किया।

उसे उपनिवेशवाद से सहानुभूति नहीं थी उसका विश्वास था कि उपनिवेशों के साथ व्यापार करने के लिए उन पर आधिपत्य कायम रखना आवश्यक नहीं है और उसने बतलाया कि जो पूंजी औपनिवेशिक व्यापार में लगाई जाती है, यदि उसे अन्यत्र लगाया जाये तो भी उतना ही लाभ होगा। उसने माना कि कुछ देशों पर ब्रिटेन का शासन ऐसा है कि उससे मानव जाति के परमहित की पूर्णता में सहायता मिलती है, किन्तु वह इस बात को स्वीकार नहीं करता था कि उपनिवेश मातृदेश के लिए सम्पत्ति का स्रोत थे। 1828 में उसने कनाडावासियों की और से एक याचिका तैयार कि जिसमें पूर्ण पृथकत्व की मांग की गयी। सामान्य तौर पर कहा जा सकता है कि बेन्थम जैसे उपयोगितावादियों को उपनिवेशों के जाने से तनिक भी दुःख न होगा।

12.10 राजनीतिक दर्शन के इतिहास में बेन्थम का योगदान

राजनीति दर्शन के इतिहास में बेन्थम का विशिष्ट स्थान है। उसके दर्शन की मौलिकता के बारे में सन्देह किया जा सकता है, किन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसने अपने उपयोगितावादी सिद्धांत एवं सुधारवादी योजनाओं के माध्यम से अपने युग की राजनीति को नई दिशा प्रदान की। राजनीति दर्शन की दृष्टि से बेन्थम का प्रमुख योगदान इस प्रकार हैः–

12.10.1 उपयोगितावादी सिद्धांत को दार्शनिक आधार प्रदान करना–उपयोगितावादी सिद्धांत को दार्शनिक सांचे में ढालकर उसे वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का श्रेय बेन्थम को ही है। यद्यपि बेन्थम ने उपयोगितावाद के मूल सिद्धांत ह्यूम, हचेसन और प्रीस्टले, आदि से ग्रहण किये, किन्तु इसे व्यवस्थित रूप देने का और राजनीतिक क्षेत्र में लागू करने का श्रेय बेन्थम को ही है। सी. एल. वेपर के अनुसार, "उपयोगितावाद का जन्मदाता डेविड ह्यूम था। प्रीस्टले, हचेसन तथा पाले ने उसकी व्याख्या की और हेल्वेटियास तथा बेकरिया के विचारों ने उसका पोषण किया, लेकिन यह केवल बेन्थम ही था जिसने उपयोगितावादी सिद्धांत को परिष्कृत किया तथा जिसके विचारों को लेकर एक संस्था (सम्प्रदाय) का निर्माण किया गया।"

12.10.2 राज्य एवं शासन के कल्याणकारी लक्ष्य की घोषणा–बेन्थम के राज दर्शन का मूल सूत्र था 'अधिकतम लोगों का अधिकत सुख।' इस सिद्धांत को दृष्टि में रखते हुए उसने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि राज्य को प्रत्येक कार्य इसी आधा को ध्यान में रखकर करना चाहिए। राज्य एवं शासन के कार्यों की यही सिद्धांत एकमात्र कसौटी है। इसके अतिरिक्त राज्य का और कोई भिन्न नैतिक आदर्श नहीं। उसका कहना था कि राज्य एक कल्याणकारी संस्था है तथा राज्य को अपने सभी कानून व्यक्तियों के सुख को ध्यान में रखकर बनाने चाहिए। मैक्सी के शब्दों में, "बेन्थम द्वारा प्रतिपादित सुख–दुःख की कसौटी को अस्वीकार करने वाले तथा उसकी मजाक उड़ाने वाले व्यक्ति भी उसके इस सिद्धांत की उपेक्षा नहीं कर सकते कि शासन का औचित्य केवल इसी बात में है कि वह जनता को कितना प्रत्यक्ष और स्पष्ट सुख पंहुचा रहा है और उसकी कितनी सेवा कर रहा है।"

12.10.3 शासन एवं संवैधानिक व्यवस्था में सुधार–बेन्थम ने शासितों के सम्मुख शासकों को उत्तरदायी बनाने के लिए कई सुधार प्रस्ताविक किये, जैसे सार्वभौमिक मताधिकार (कुछ प्रतिबन्धों के साथ), प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का अधिकार, अधिकारियों–कर्मचारियों की न्यायिक उत्तरदायिता, संसद का वार्षिक पुनर्चुनाव, आदि।

12.10.4 रूढ़िवादी संकल्पनाओं पर प्रहार करना–रूढ़िवादी संवैधानिक–विधिक संकल्पनाओं पर भी बेन्थम ने उतना ही तीव्र प्रहार किया जितना कि आमूल जनवादी विचारों पर। उन्होंने सामाजिक संविदा और प्राकृतिक अधिकार की ब्लैकस्टोन द्वारा प्रस्तुत रूढ़िवादी परिभाषा की, सत्ताओं के पृथक्करण सिद्धांत के ब्रिटिश रूपान्तर तथा 'मिश्रित' पद्धति के नाते ब्रिटिश शासन पद्धति के धर्मशास्त्रीय औचित्यकरण की आलोचना की।

12.10.5 न्यायिक प्रक्रिया में सुधार का मार्ग प्रशस्त करना–ब्रिटिश न्यायिक प्रक्रिया की कटु आलोचना करते हुए बेन्थम ने न्यायिक सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। ठोस तथ्यों के आधार पर उसने यह दिखाया कि वास्तव में न्याय केवल अमीर ही पा सकते हैं, गरीबों के लिए यह पहुंच के बाहर है। बेन्थम ने 'प्राकृतिक न्यायिक कार्यविधि' की, न्यायिक कार्यवाहियों को सरल और सस्ता बनाने, न्यायालयों में राज्य द्वारा गरीबों की सहायता तथा न्यायाधीशों के कार्य पर सार्वजनिक नियन्त्रण स्थापित किये जाने सम्बन्धी योजनाएँ पेश की।

12.10.6 कानूनों का संहिताकरण–कानूनों के संहिताकरण पर बेन्थम द्वारा बल दिये जाने के कारण 19वीं शताब्दी में अनेक देशों में कानूनी संहिताएँ बनायी गयीं। बेन्थम ने अनेक देशों की कानूनी, संहिताओं के संशोधन में योग दिया। कुछ देशों ने तो उससे इस कार्य में सहायता देने के लिए प्रार्थना की, किन्तु अनेक बार तो उसने बिना प्रार्थना के ही अपनी सेवाओं से उन्हें अनुग्रहीत किया। 1811 में उसने संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए एक वैज्ञानिक विधि संहिता तैयार करने के हेतु राष्ट्रपति मैडीसन के समक्ष औपचारिक रूप से एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। आगे चलकर उसने रूस के जार और

पैनसिलवेनिया के राज्यपाल के समक्ष भी ऐसा ही प्रस्ताव रखा। 1822 में उसने उदार विचारों की दुहाई देने वाले सभी राष्ट्रों से इस प्रकार की अपील की। उसे अपनी विधि निर्माण सम्बन्धी योग्यता में अपरिमित विश्वास था और समझता था कि मैं एक ऐसी व्यवस्था की रचना कर सकता हूं जिससे अधिकतम संख्या का अधिकतम कल्याण निश्चित हो सके।

12.10.7 राजनीति विज्ञान में अनुसन्धान और शोध की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन–राजनीति दर्शन के इतिहास में बेन्थम सम्भवतः प्रथम चिन्तक है, जिसने तथ्य, निरीक्षण, अनुसन्धान और प्रमाण पर आधारित आगमनात्मक, अनुभवात्मक, विश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक पद्धति को अपनाया। उसने इस बात पर जोर दिया कि शासन संचालन के सिद्धांत और नियम पुरानी परम्पराओं, कल्पनावादी सिद्धांतों और अन्तःकरण प्रेरित आदर्शों के आधार पर निर्धारित नहीं किये जाने चाहिए वरन् सोच–विचारकर एवं विषय पर उपलब्ध सारी सामग्री एकत्र कर शोध एवं अनुसन्धान के माध्यम से ही निश्चित किये जाने चाहिए। बेन्थम की इस पद्धति को आगे चलकर फेबियन चिन्तक, मार्क्स और व्यवहारवादी विचारकों ने भी अपनाया।

12.10.8 सामाजिक विधिशास्त्र का जन्मदाता–डब्ल्यू. फ्रीडमैन लिखते हैं कि "बेन्थम ने विधिशास्त्र में एक नई प्रवृत्ति की नींव रखी जिसका नाम आगे चलकर समाज वैज्ञानिक विधिशास्त्र पड़ा और जो विधि का नाता निश्चित सामाजिक ध्येयों से जोड़ती है।" फ्रीडमैन बेन्थम को सीधे येरिंग से जोड़ते हैं ओर अन्तोक्त विधि के समाज वैज्ञानिक सम्प्रदायों से, जो पाउण्ड, जेनी, एलिख, इत्यादि के नामों से जुड़े हुए हैं।

12.10.9 विधि में प्रत्यक्षवादी सिद्धांत का प्रवर्तक–बेन्थम को विधि के न्यायशास्त्रीय प्रत्यक्षवादी सिद्धांत का प्रवर्तक भी माना जाता है जिन्होंने इस सिद्धांत के आगे के विकास का, होफेल्ड और कैलसन के विचारों सहित, पूर्वानुमान लगा लिया। विधि का न्यायशास्त्रीय प्रत्यक्षवादी सिद्धांत सोवियत संघ में भी बेन्थम के उपयोगितावाद से प्रभावित हुआ था। विधि में भ्रमों और 'रहस्यवादी सारों' के विरुद्ध बेन्थम के संघर्ष का विधिक प्रत्यक्षवाद के प्रमुख प्रतिनिधि, अंग्रेज विधिवेत्ता एच, एल, ए. हार्ट ने उच्च मूल्यांकन किया है। उनके मत में, विधि की भाषा और चिन्तन–तर्क के विश्लेषण द्वारा बेन्थम ने एल, बिट्हेनश्टाइन के कुछ महत्वपूर्ण विचारों का पूर्वानुमान लगा लिया, जिनका प्रयोग आधुनिक विश्लेषणात्मक विधिशास्त्र में होता है। 'विधि के विरहस्यीकरण' के लिए संघर्ष द्वारा उन्होंने विधिक अवधारणाओं तथा पारिभाषिक शब्दों के सरलीकरण तथा सही प्रयोग में योगदान दिया। अनेक दशकों तक यह माना जाता था कि विधि में प्रत्यक्षवाद के ब्रिटिश रूपान्तरदृविश्लेषणात्मक विधिशास्त्र की प्रमुख प्रस्थापनाएँ बेन्थम के शिष्य, 19वीं शताब्दी के प्रसिद्ध अंग्रेज जे. ऑस्टिन ने ही निरूपित की थीं, किन्तु 1945 में अमरीकी प्रोफेसर एस. एवरेस्ट द्वारा प्रत्यक्षवाद का अधिक गहन और मौलिक सिद्धांतकार माना गया। प्रो. जार्ज एच. सेबाइन ने तो यहां तक लिखा है कि "ऑस्टिन ने सिर्फ यही किया था कि बेन्थम के विशालयकाय और अपाठ्य ग्रन्थों में बिखरे हुए विचारों को व्यवस्थित रूप दे दिया।"

12.10.10 लोकतन्त्र के आधार स्तम्भ को सुदृढ़ करना–बेन्थम ने प्रेस की स्वतन्त्रता, गुप्त मतदान, वयस्क मताधिकार, धार्मिक सहिष्णुता, धर्म की स्वतन्त्रता, आदि का समर्थन करते हुए लोकतन्त्र को बल प्रदान किया।

12.11 निष्कर्ष

पश्चिमी राजनीतिक दर्शन में बेंथम को उपयोगितावाद के जनक के रूप में जाना जाता है। इन्होंने राज्य की उत्पत्ति एवं राज्य की आवश्यकता का आधार व्यक्ति के जीवन में उसकी उपयोगिता माना है। उसने उपयोगिता का आधार सुख–दुःख को माना है। इसके अलावा जेल व्यवस्था में सुधार करने व प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन करने पर भी बल दिया है। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन में बेंथम का भी विशिष्ट योगदान माना जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. बेंथम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. बेंथम के प्रमुख राजनीतिक विचारों का विवेचन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. बेंथम की प्राकृतिक अधिकारों के प्रति क्या धारणा है?
2. बेंथम ने जेल व्यवस्था में सुधार हेतु क्या सुझाव दिये?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. "Fragement on Government" रचना के लेखक का नाम लिखिए।
2. किस विचारक ने "मॉनिटर–पद्धति" का विचार दिया।
3. बेंथम ने सामान्य सुखों के कितने प्रकार माने है?

इकाई–13
एलेक्सिस डि टॉकविले

संरचना

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 जीवन परिचय
13.3 प्रमुख रचनाएं
13.4 प्रमुख राजनीतिक विचार
13.4.1 लोकतंत्र सम्बन्धी विचार
13.4.2 स्वतंत्रता एवं समानता विरोधी है
13.4.3 सम्पत्ति के विशेषाधिकार का विरोध
13.4.4 अभिजातंत्र का विरोध
13.4.5 शिक्षा सम्बन्धी विचार
13.4.6 राजनीतिक दलों की भूमिका पर बल
13.4.7 तुलनात्मक अध्ययनों पर बल

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी

- टॉकविले के जीवन परिचय को समझ सकेंगे।
- टॉकविले के प्रमुख राजनीतिक विचारों को समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन में डी. टॉकविले को महान कुटनीतिक राजनितिक विचारक के रूप में जाना जाता है। उसे अमेरिका में लोकतंत्र की स्थापना में इनका काफी महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है। उन्हें अमेरिकी जूरी प्रथा में काफी विश्वास था। टाकावले द्वारा स्व.शासन की अवधारणा व विधि के शासन पर भी अपने विचार व्यक्त किये गये। उन्होंने 19वीं शताब्दी के अमेरिका के लोकतंत्र व सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिए काफी सहयोग प्रदान किया।

13.2 जीवन परिचय

इनका जन्म 29 जुलाई 1805 के फ्रांस की राजधानी पेरिस में हुआ था। इतनी शिक्षा फेबर्ट विश्वविद्यालय पेरिस से हुई। इनका पाश्चात्य दर्शन के अनुकरणीय योगदान माना जाता है।

13.3 प्रमुख रचनाएं–

1. Democracy inAmerica (1835)
2. The old RegimeAnd Revoluation (1856)
3. American InstitutionsAnd their Influence (1851)
4. The Republic of the Unifed states ofAmerica (1849)

13.4 प्रमुख राजनीतिक विचार :

उन्नीसवीं शताब्दी में एलेक्सिस डि टॉकविले को तुलनात्मक ऐतिहासिक समाज विज्ञान का मूख्य प्रर्वतक के रूप में जाना जाता है। क्योंकि इन्होंने फ्रांस अमेरिका इंग्लैण्ड, आम्पीरिया जैसे देशों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन करके नये रूप में विचारों का प्रतिपादन किया। इनके राजनीतिक विचारों का विवेचन निम्न बिन्दुओं में स्पष्ट किया जा सकता है–

1. लोकतंत्र सम्बन्धी विचार

डि टॉकविले ने अपनी प्रमुख रचना Democracy inAmerica में लोकतंत्र सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन किया तथा अमेरिका में लोकतंत्र की स्थापना पर काफी बल दिया। लोकतंत्र की कुछ कमिंया भी इनके द्वारा मानी गई है लेकिन फिर भी इनका लोकतंत्र की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

2. स्वतंत्रता एवं समानता विरोधी है

डि टॉकविले ने स्वतंत्रता एवं समानता में पर्याप्त भेद माना है। उनका मानना था कि स्वतंत्रता अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है जबकि समानता का आशय सभी व्यक्तियों को समान समझने में है। अतः यह कहा जा सकता है कि इनके अनुसार स्वतंत्रता एवं समानता एक दूसरे की पुरक न होकर अलग एवं विरोधी है। समाज में यदि समानता स्थापित करने का प्रयास किया जायेगा तो कुछ लोगों की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाने होंगे। अतः उनका दृष्टिकोण समानता व स्वतंत्रता के प्रति अलग–अलग माना जा सकता है।

3. सम्पत्ति के विशेषाधिकार का विरोध

डि टॉकविले को एक समाजवादी विचारक के रूप में भी जाना जाता है क्योंकि उन्होंने समाज में सम्पत्ति के बारे में भी अपने विचार प्रस्तुत किये है। निजी सम्पत्ति को मूलतः समाप्त करने की बात तो उन्होंने नहीं स्वीकार की है लेकिन समाज में सम्पत्ति पर सार्वजनिक नियत्रंण जरूर होना चाहिए, इस बात को जरूर स्वीकार किया है।

4. अभिजातंत्र का विरोध

डि टॉकविले ने शासन के विविध रूसो का अध्ययन किया तथा यह निष्कर्ष निकाला कि इनमें अभिजाततंत्र सबसे निकृष्ट शासन प्रणाली है क्योंकि इसमें समाज के धनाढ़य एवं शक्तिशाली वर्ग को शासन में हिस्सा लेने का अवसर प्राप्त होता है। अन्य वर्ग इस प्रणाली में शासन में भागीदारी सुनिश्चित नहीं कर सकते।

5. शिक्षा सम्बन्धी विचार

समाज में शिक्षा के प्रचार–प्रसार को डी टॉकविले ने विकास का मुख्य आधार माना। उनके अनुसार बिना शिक्षा के समाज में जागृति व चेतना लाना सम्भव नहीं है। अतः लोगों को शिक्षा प्रदान करना राज्य का दायित्व होना चाहिए। उनका यह भी मानना था। शिक्षा में तर्क शक्ति के ज्ञान पर विशेष बल देना चाहिए। साथ ही समाचार पत्रों की निष्पक्ष एवं स्वतंत्र होनी चाहिए।

6. राजनीतिक दलों की भूमिका पर बल

लोकतंत्र की स्थापना में राजनीतिक दलों को मुख्य आधार के रूप में स्वीकार किया। इन्होंने यह माना की राजनीतिक दलों के राजनीतिक शिक्षा मिलती है तथा साथ ही समाजन में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ाने में भी इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अतः राजनीतिक दल लोकतंत्र की सफलता के लिए सहायक माने जा सकते है। राजनीतिक दल चुनावी प्रक्रिया को भी आसान बनाते हैं।

7. तुलनात्मक अध्ययनों पर बल

डि टॉकविले ने 19वीं शताब्दी में विभिन्न देशों की सामाजिक परिस्थितियों एवं समाज के विविध पहलुओं का तुलनात्मक अध्ययन करके उनकी समानताओं एवं असमानताओं का विश्लेषण किया है। अतः इन्होंने अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन तथा अन्य कई दशों की सामाजिक स्थितियों का अध्ययन एवं अवलोकन कर नये दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य दर्शन में डी. टाकविले को भी सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। इनका विशिष्ट योगदान लोकतंत्र की धारणा के बारे में माना जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. डी टाकविले का राजनीतिक दर्शन में योगदान स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. डी टाकविले का लोकतंत्र के बारे में क्या दृष्टिकोण है।

अतिलघुत्तरात्म्क प्रश्न

1. Democracy in America के लेखक का नाम लिखिए।
2. किसी विचारक के अनुसार समानता व स्वतंत्रता विरोधी है?

इकाई–14
जे.एस. मिल

संरचना

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 जीवन–परिचय
14.3 प्रमुख रचनाएं
14.4 मिल के चिन्तन को प्रभावित करने कारक
14.5 मिल के स्वतन्त्रता संबंधी विचार
14.6 जे.एस. मिल की प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी धारणा
14.7 मिल के आर्थिक एवं महिलाओं की स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार
14.8 राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मिल का योगदान एवं प्रभाव
14.9 निष्कर्ष

14.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् छात्र–

- जॉन स्टुअर्ट मिल के जीवनकाल को समझने में सहायक होंगे।
- मिल के स्वतंत्रता संबंधी विचारों की व्याख्या कर सकेंगे।
- मिल के प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी विचारों को जान सकेंगे।
- महिला स्वतंत्रता की धारणा को समझ सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

जॉन स्टुअर्ट मिल उपयोगितावाद का अन्तिम समर्थक और व्यक्तिवाद के अग्रणी विचारकों में से था। उसने उपयोगितावादी दर्शन को एक नयी दिशा प्रदान की। उसके विचारों में उपयोगितावाद व्यक्तिवाद और उदारवाद का अपूर्व सामंजस्य मिलता है। जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में आर्थिक मामलों में आंशिक अनुदार दृष्टि अपनाते हुए भी मिल आयु–वृद्धि के साथ समाजवादी धारा की ओर मुड़ने लगा। स्वतन्त्रता के लिए जो बेचैनी उसके हृदय में थी और उसके ग्रन्थों में साकार हुई वह शताब्दियों तक पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट करती रहेगी। विचार और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता का उसने जो गौरवपूर्ण समर्थन किया, वह राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में अधिकारपूर्ण वाणी मानी जाती है और मिल्टन तथा जेफरसन की श्रेणी में उसको स्थान मिलता है। राष्ट्रवाद का जो समर्थन मिल ने किया है, उसने एशियावासियों के हृदय के ऊपर अमिट छाप छोड़ी है।

यह सच है कि राजनीति दर्शन के इतिहास में जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–1873) की गणना अग्रिम पंक्ति के विचारकों में नहीं होती, फिर भी उसके विचारों के अध्ययन के बिना राजनीति दर्शन का हमारा ज्ञान अधूरा है। चाहे विद्वानों की आकाश गंगा में मिल का नाम हाशिए पर आता हो, लेकिन उसकी विख्यात कृति 'ऑन लिबर्टी' (स्वतन्त्रता पर निबन्ध) ने उसको विश्व के स्वतन्त्रता समर्थक करोड़ों लोगों के हृदय का सम्राट बना दिया है। वेबर के अनुसार विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लिखे इस अद्वितीय एवं ओजस्वी निबन्ध ने मिल को दुनिया के लोकतन्त्र समर्थकों के बीच सम्माननीय स्थान प्रदान कर दिया है।

राजनीति दर्शन के इतिहास में जॉन स्टुअर्ट मिल के स्थान के बारे में परस्पर विरोधी विचार मिलते हैं। उसे एक और महान् दर्शनिक, स्वतन्त्रता का पुजारी, व्यक्तिवादी चिन्तन का सिरमौर, महान न्यायविद एवं अर्थशास्त्री कहकर पुकारा गया है वहीं दूसरी ओर उसे प्रतिक्रियावादी, बुर्जुआ तथा लंगड़ा समाजवादी कहकर उसकी भर्त्सना भी की गयी है। एक आलोचक ने तो यहां तक कह डाला है कि "उसने उदारवाद और समाजवाद के मखमली वस्त्रों में जो विचार प्रस्तुत किये, वे नगण्य पूंजीवादी विचार थे।" यह सत्य है कि उसके विचारों में बहुत से परस्पर विरोधी तत्व पाये जाते हैं, किन्तु उसके बावजूद आधुनिक विश्व पर उसकी अमिट छाप दिखलायी देती है। ब्राउले के शब्दों में, "...और यदि लेखकों की योग्यता का निर्णय इस बात से होता है कि उनका नीति पर क्या प्रभाव पड़ा है तो मिल का स्थान निश्चित रूप से ऊंचा है। एक न्यायशास्त्री, अर्थशास्त्री तथा राजनीतिक दार्शनिक के रूप में उसे अपने युग में एक अवतार समझा जाता था।"

14.2 जीवन–परिचय

जॉन स्टुअर्ट मिल उपयोगितावाद का अन्तिम समर्थक और व्यक्तिवाद के अग्रणी समर्थकों में से था। उसका जन्म लन्दन में 20 मई, सन् 1806 को हुआ था। उसके पिता जेम्स मिल एक प्रसिद्ध इतिहासकार एवं उपयोगितावादी विचारक थे। अपने बच्चों की शिक्षा के बारे में उनके विचार कुछ विलक्षण ही थे। उनका कहना था कि स्कूल में बच्चों की पढ़ाई ठीक तरह नहीं हो सकती। यदि बच्चों को प्रतिभावन बनाना है तो उन्हें अपने ढंग से घर पर ही पढ़ाया जाये। जॉन को उसके पिता घर पर ही कठोर, किन्तु शुष्क वातावरण में पढ़ाया करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि तीन वर्ष की अवस्था में ही उसे ग्रीक भाषा की शिक्षा दी गयी और आठ वर्ष की आयु में उसे गणित और अंग्रेजी की उच्च शिक्षा मिलने लगी। बचपन में जब खेलने–कूदने के दिन होते हैं, मिल ने प्लेटो, हेरोडोटस, जेनोफन और ल्युशियन का अध्ययन पूरा कर लिया था। साथ–ही–साथ उसने लेटिन भाषा भी सीख ली। जॉन के पिता अपने पुत्र को एक तेजस्वी विद्वान बनाना चाहते थे। वे बार–बार आठ वर्ष के मिल के हाथों में प्लेटो के संवाद' थमा देते थे। कभी 'रिपब्लिक', कभी 'लॉज' और कभी अरस्तू की 'लॉजिक' उसके हाथ में देकर कहते, इन्हें पढ़ो। आठ वर्ष के जॉन को प्लेटो के संवादों के बहुत से अंश याद हो गये थे। उसने तर्कशास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान, रसायन विज्ञान और अर्थशास्त्र का गहरा अध्ययन किया। एकान्तप्रिय मिल अध्ययन में इस तरह निमग्न रहता कि यदि कोई उससे मिलने आता तो वह उसे या तो अपना शत्रु समझता या अपरिचित। सरस्वती की इस कठोर आराधना का मिल को मूल्य चुकाना पड़ा वह युवावस्था में ही बूढ़ा होने लगा। वह एक अजीब थकावट, उदासी और मानसिक तनाव का शिकार होने लगा।

उसका मन बहलाने के लिए उसके पिता ने उसे फ्रांस भेज दिया। जहां वह जेरेमी बेन्थम के भाई सर सेमुअल बेन्थम के पास रहा। फ्रांस में मिल नदियों के किनारों, सागर के तटों और पहाड़ों की वादियों में घूमता रहा। पहली बार उसने जीवन में प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा को निहारा, उसे वनस्पति शास्त्र और प्राणी शास्त्र के अध्ययन में दिलचस्पी उत्पन्न हुई। फ्रांस के प्राकृतिक सौन्दर्य और ताजी हवा के झोंकों ने उसके रुग्ण मन में एक नयी मस्ती बिखेर दी। इंगलैण्ड वापस लौटने पर मिल फिर किताबों की दुनिया में खो गया। उसे इन्हीं दिनों बेन्थम की पुस्तक 'कानून के सिद्धांत' पढ़ने को मिली। उसने इस पुस्तक के बारे में अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है, "इस पुस्तक के अध्ययन से मेरे जीवन में और मानसिक विकास में नवयुग का श्रीगणेश हुआ।"

इस समय दो घटनाओं ने मिल के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन ला दिया। संयोग से उसके हाथ एक फ्रेन्च उपन्यासकार एवं नाटककार ज्यां फ्रांस्वा मारमोन्तेल की पुस्तक 'संस्मरण' लग गयी। पुस्तक पढ़कर उसके जीवन में एक नयी स्फूर्ति का संचार होने लगा। उसके पिता ने उसे ललित साहित्य पढ़ने से विरक्त किया था। अब उसे ललित साहित्य में मजा आने लगा। उसके जीवन का दर्शन ही बदल गया। अब मिल महसूस करने लगा कि मनुष्य का भौतिक सुख, भौतिक उपलब्धियां ही सब कुछ नहीं होते। भौतिक एवं आत्मिक सुखों के समन्वय का नाम ही असली सुख है। दूसरी घटना थी, सन् 1830 में मिल का परिचय एक अत्यन्त प्रतिभाशालिनी एवं मेधावी सुन्दरी श्रीमती हेरियट टेलर नामक उच्च वर्गीय महिला से होना। श्रीमती टेलर के सम्पर्क से मिल के बौद्धिक संकट का अन्त हो गया। उसने टेलर से विवाह कर लिया। श्रीमती टेलर के कारण ही मिल के विचारों में मानवीयता की सवेंदनशीलता प्रस्फुटित होने लगी। वह उसे स्वयं से बड़ी विचारक और कार्लाइल से महान् कवियत्री जान पड़ी। अपनी पुस्तक 'स्वतन्त्रता' पत्नी को समर्पित करते हुए मिल ने लिखा, "मेरे विचारों में जो सर्वोत्तम है, वह उसकी प्रेरक है तथा आंशिक रूप से उसकी लेखिका भी।" मिल ने बौद्धिक संकट की अवस्था में यह अनुभव कर लिया था कि एक सुविकसित व्यक्तित्व के लिए भावनाओं की तृप्ति होना आवश्यक है। वास्तव में यह संकट मिल का अपने पिता के बौद्धिक शासन के विरुद्ध विद्रोह एवं बेन्थमवादी उपयोगितावादी सिद्धांत में संशोधन तथा परिवर्तन की प्रक्रिया का आरम्भ बिन्दु माना जा सकता है। उसकी सर्वाधिक सुन्दर रचना का प्रारम्भ तभी से हुआ जब से वह श्रीमती टेलर के सम्पर्क में आया।"

सन् 1852 में श्रीमती टेलर का निधन हो गया जो मिल के लिए बहुत बड़ा आघात था। वह पुनः किताबों की दुनिया में खो गया। एक विद्वान और विचारक के रूप में उसे अब अपूर्व यश प्राप्त हो चुका था। उसकी लोकप्रियता का लाभ उठाने में राजनीतिक दल भी पीछे नहीं थे। सन् 1866 में वेस्टमिंस्टर क्षेत्र से उसे कॉमन सभा का चुनाव लड़ाया गया। उसने संसद में महिला मताधिकार, अल्पमत प्रतिनिधित्व तथा खुले मतदान का प्रबल समर्थन किया। उसके भाषणों को सुनकर प्रधानमन्त्री ग्लेडस्टन ने कहा था, "जॉन मिल जब भाषण दे रहे थे, तो मेरे दिमाग में बार–बार यह भावना जागृत हो रही थी, जैसे मैं किसी सन्त की बात सुन रहा हूं।" रूढ़िवादी अंग्रेजों को उसके प्रगतिशील विचार पसन्द नहीं आये और जब तीन वर्ष बाद कॉमन सभा के पुनः चुनाव हुए तो वह हार गया। सन् 1873 में एविगनॉन में मिल का निधन हो गया और उसे अपनी पत्नी के निकट ही कब्र में लिटा दिया गया।

14.3 प्रमुख रचनाएं

1. सिस्टम ऑफ लॉजिक
2. दि प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी

3. ऑन लिबर्टी
4. कन्सीडेरेशन ऑफ रिप्रेजेटिव गवर्नमेण्ट
5. यूटिलिटेरियानिज्म
6. थॉट्स ऑन पार्लियामेण्टरी रिफॉर्स
7. दि सबजेक्शन ऑफ विमैन
8. ऑटोबायोग्राफी
9. एसेज ऑन रिलिजन

सन् 1843 में मिल की पुस्तक 'सिस्टम ऑफ लॉजिक' प्रकाशित हुई। चिन्तन के संसार में इसे एक महत्वपूर्ण घटना माना गया है। मिल ने इस पुस्तक में तर्क विज्ञान के अनेक बिखरे हुए तथ्यों को तो एकत्रित एवं संकलित किया है, उसने तर्कशास्त्र को एक नई आगमनात्मक पद्धति भी प्रदान की। सन् 1848 में उसकी पुस्तक 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकानॉमी का प्रकाशन हुआ। इसके प्रथम संस्करण का झुकाव तो स्पष्टतः पूंजीवाद की ओर था। बाद के संस्करणों में इसकी धारा समाजवादी होती गयी। मुख्य रूप से इसी पुस्तक के कारण मिल को उदारवाद का सशक्त प्रवक्ता माना जाता है। मिल की सर्वाधिक चर्चित और सर्वाधिक प्रशंसित पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' सन् 1959 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में मिल ने स्वतन्त्रता संबंधी विचारों का अत्यन्त सशक्त प्रतिपादन किया। पुस्तक मे विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का इतना सुन्दर और प्रभावी प्रतिपादन किया गया था कि उसकी तुलना मिल्टन की 'एरोपैगिटिका' से गयी थी। सन् 1860 में मिल की पुस्तक 'यूटिलिटेरियाजिज्म' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में मिल ने बेन्थम के उपयोगितावादी विचारों को आगे अवश्य बढ़ाया, किन्तु नये रूप में, नयी व्याख्या के साथ जिससे उपयोगितावाद के बेन्थमी मॉडल ने अपने आप दम तोड़ दिया। सन् 1863 में उसकी पुस्तक 'रिप्रेजेण्टेटिव गवर्नमेण्ट' प्रकाशित हुई। इसमें लोकतन्त्र की कमजोरियों और उन्हें दूर करने के उपायों का वर्णन था। सन् 1869 में 'दि सबजेक्शन ऑफ विमैन' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में महिलाओं के उत्थान का बहुत जोरदार प्रतिपादन किया गया था। इस पुस्तक पर मिल की पत्नी श्रीमती टेलर का प्रभाव बहुत स्पष्ट रूप में दिखाई देता है।

मिल की मृत्यु के बाद उसकी पाण्डुलिपियों को संकलित कर तीन अन्य रचनाओं का प्रकाशन हुआ। इनमें सर्वाधिक प्रमुख है, मिल की 'आत्मकथा' जो सन् 1873 में प्रकाशित हुई। मिल की 'आत्मकथा' वस्तुतः उसके जीवन की कहानी के बजाय, उसके चिन्तन की कहानी है। सन् 1874 में प्रकाशित 'थ्री ऐसेज ऑन रिलिजन' में मिल ने ईसाई धर्म की रूढ़िवादिता पर कड़े प्रहार किये हैं। एक संगठन के रूप में, एक संस्था के रूप में उसने चर्च को मानव स्वतन्त्रता का विरोधी कहा। सन् 1910 में 'लेटर्स' का प्रकाशन हुआ। इसमें मिल के पत्रों को संकलित कर दो खण्डो में प्रकाशित किया गया। इन पत्रों से मिल की बहुमुखी प्रतिभा एवं गहरी अनुभूति का भी आभास मिलता है।

14.4 मिल के चिन्तन को प्रभावित करने वाले कारक

जॉन स्टुअर्ट मिल के चिन्तन को प्रभावित करने वाले लोगों में उसके पिता जेम्स मिल, उपयोगितावादी विचारक बेन्थम तथा उसकी पत्नी श्रीमती टेलर प्रमुख थीं। वह विख्यात कवि वड्र्सवर्थ, कॉलरिज तथा गेटे की भावपूर्ण रचनाओं से भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ। फ्रांस के प्राकृतिक सौन्दर्य और सहित्यिक वातावरण ने भी उसकी चिन्तनधारा में सरसता का संचालन किया।

जॉन मिल का पिता जेम्स मिल का चरित्र कठोर एवं अंहकारपूर्ण था। उसमें रागात्मकता कम थी। वह अपने दृढ़ और सशक्त स्वरों से दूसरों की बात दबा देता था। उसका कहना था कि यदि बच्चों को किसी काबिल बनाना है तो उन्हें अपने ढंग से घर पर ही पढ़ाया जाये। उसने जॉन को घर पर ही कठोर अनुशासन में रहकर पढ़ने की आदत डाल दी थी। उन्होंने उसे शेक्सपियर और कॉलरिज पढ़ने के बजाय प्लेटो के संवाद और अरस्तू का तर्कशास्त्र पढ़ने को बाध्य किया। इन नीरस रचनाओं को पढ़कर वह थक सा गया, वह उदासी और मानसिक तनाव का शिकार होने लगा। वेबर के शब्दों में, "उसके दृष्टिकोण के गठन पर उसके पिता, सुप्रसिद्ध दार्शनिक, अर्थशास्त्री और इतिहासकार जेम्स मिल का, जो 1832 में बेन्थम की मृत्यु के पश्चात् बेन्थमी सम्प्रदाय के प्रधान बने, बहुत प्रभाव पड़ा।"

मिल ने राजनीति दर्शन की शिक्षा बेन्थम से पायी थी। बेन्थम उसके पिता के मित्र और गुरु थे। बेन्थम के उपयोगिता सिद्धांत से अभिभूत होकर उसने कहा था, "मुझे उपयोगितावाद में एक धर्म, एक दर्शन, एक विश्वास मिला है।" विधिशास्त्रवेत्ता जॉन ऑस्टिन और उसके भाई ने भी प्रारम्भिक अवस्था में मिल के बौद्धिक जीवन को प्रभावित किया। जर्मन महाकवि गेटे के विराट शक्तिशाली जीवन–दर्शन से भी मिल का परिचय हुआ। यह परिचय विल्हेल्म हम्बोल्ट के माध्यम से हुआ। हम्बोल्ट एक महान राजनीतिज्ञ और विचारक था और अपने ग्रन्थ 'लिबर्टी' के प्रारम्भ में मिल ने उसका नामोल्लेख नतमस्तक होकर किया है। श्रीमती हेरियट टेलर के सम्पर्क में आने से मिल के जीवन में प्रेम और सहृदयता

की सरिता बहने लगी, शुष्कता और नीरसता के बादल छंटने लगे। उनके विचारों से प्रभावित होकर ही मिल ने 'दि सबजेक्शन ऑफ विमैन' पुस्तक लिखी

जब जॉन स्टुअर्ट बीमार थे तो उन्हें रोमाण्टिक विचारधारा के कवि वड्र्सवर्थ और कॉलरिज की कविताओं को पढ़ने का अवसर मिला। इन कवियों के अध्ययन से उसे सत्य की वह झांकी मिली जिसकी और बेन्थम की दृष्टि भी कभी नहीं गयी थी। वड्र्सवर्थ और कॉलरिज की कविताओं के रससागर में डूबकर जॉन को यह भान हुआ कि बेन्थम का हृदय जीवन की अधिक मार्मिक वस्तुओं को स्पर्श न कर सका था। अपनी पहली फ्रांस यात्रा के समय उसने जीवन में प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा को निहारा। पहली बार संस्कृति प्रेमी समाज के साहित्य, कला और संगीत के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आया। उसकी आत्मा के तार झनझना उठे। डेविडसन के शब्दों में, "मिल के हृदय में एक नवीन मानव का आविर्भाव हुआ जिसमें अधिक गहरी सहृदयता थी, जिसका बौद्धिक दृष्टिकोण अधिक व्यापक था और जिसने बुद्धि के साथ–साथ भावनाओं की तृप्ति के महत्व का भी अनुभव किया था।"

संक्षेप में, जॉन स्टुअर्ट मिल पर उसके पिता जेम्स मिल तथा उपयोगितावादी सिद्धांत के जनक बेन्थम का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। जॉन ऑस्टिन से उसने कानून की शिक्षा ग्रहण की तथा अर्थशास्त्रियों में एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस, आदि के आर्थिक उदारवाद की व्यापक विचारधारा का भी उसे पर प्रभाव था। वड्र्सवर्थ और कॉलरिज को पढ़कर उसमें 'नवीन मानव' का उदय हुआ उसके विचारों में तथा मानसिक चिन्तन में एक महान् क्रान्ति हुई।

14.5 मिल के स्वतन्त्रता संबंधी विचार

जॉन स्टुअर्ट मिल का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक चिन्तन 'आन लिबर्टी' (1859) नामक ग्रन्थ में निहित है। राजनीति दर्शन को यह ग्रन्थ उसकी अनुपम देन है। मिल का स्वतन्त्रता संबंधी ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में स्वतन्त्रता के समर्थन में लिखा गया, सबसे महत्वपूर्ण वक्तव्य माना जाता है। इसकी तुलना में मिल्टन के ऐरियोपेजिटिका ग्रन्थ को ही रखा जा सकता है। मैक्सी के शब्दों में, "मिल के विचारों तथा वाद–विवादों की स्वतन्त्रता के विषय में निबन्ध राजनीतिक साहित्य में बहुत उच्च कोटि का अध्याय है। यह अध्याय मिल की गणना मिल्टन, स्पिनोजा, वाल्टेयर, रूसो, पेन, जेफर्सन तथा स्वतन्त्रता के अन्य महारथियों में करता है।"

स्वतन्त्रता संबंधी इस निबन्ध के कारण मिल की गणना स्वतन्त्रता के महानतम् पुजारियों में की जाती है। स्वतन्त्रता की अवधारणा को पूरी तरह समर्पित अपनी तरह की यह पहली रचना है। इसमें स्वतन्त्रता का प्रतिपादन–विश्लेषण एवं चित्रण धारा–प्रवाह भाषा में और तार्किक शैली में किया गया। इसके बारे में कहा जाता है कि यह सभी तरह के निरंकुशतावाद के विरुद्ध एक घोषण पत्र है। यह पुस्तक सामाजिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता पर सर्वाधिक तार्किक एवं मुखर रचना है, इसीलिए मिल की 'लिबर्टी' को विश्व के राजनीतिक साहित्य सर्वश्रेष्ठ कृतियों में माना जाता है।

मिल ने स्वयं कहा है कि उसके पिता की पीढ़ी के उपोगितावादी उदारवादी शासन को इसलिए पसन्द नहीं करते थे कि उससे स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, बल्कि इसलिए पसन्द करते थे कि वह एक सक्षम शासन होगा। जब बेन्थम ने प्रबुद्ध निरंकुशता को छोड़कर उदारवाद को अपनाया तब उसने विवरण की कुछ बातों को छोड़कर और कुछ नहीं बदला था। मिल के विचार और अनुसन्धान की स्वतन्त्रता, विवेचन की स्वतन्त्रता और स्वनियन्त्रित नैतिक निर्णय तथा कार्य की स्वतन्त्रता अपने आप में ही अच्छी चीजें थीं। इन आदर्शों ने उसके हृदय में ऐसा उत्साह तथा चैतन्य जागृत किया जो उसकी अन्य रचनाओं में नहीं दिखायी देता। इन गुणों के कारण ही मिल का स्वतन्त्रता संबंधी ग्रन्थ स्वतन्त्रता पर लिखा गया सर्वाधिक लोकप्रिय एवं चर्चित ग्रन्थ माना गया। एक सौ चालीस वर्ष उसने जिस तार्किक एवं सशक्त शैली में विचार एवं अभिव्यक्ति की आजादी का प्रतिपादन किया, उसकी अनुगूंज आज उन देशों में भी सुनाई देने लगी है, जो जाने–अनजाने में मिल का अपमान एवं तिरस्कार करने में मजा लेते थे।

स्वतन्त्रता की आव□यकता–जॉन स्टुअर्ट मिल के युग में राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों में काफी परिवर्तन आ गया था। राज्य की शक्तियां और कार्यक्षेत्र निरन्तर बढ़ता जा रहा था। बेन्थम के विचारों से प्रभावित राज्य जीवन के विविध क्षेत्रों में अधिकाधिक विधियों का निर्माण करने लगे थे। जनहित के नाम पर शासन जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के नियमन हेतु विधि निर्माण करने लग गये थे। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने बाल श्रम संबंधी विधियों की रचना की थी जिनसे बालकों की अपनी आजीविका कमाने की स्वतन्त्रता और माता–पिता की उन्हें काम पर भेजने की स्वतन्त्रता सीमित हो गयी थी। बेन्थमवाद के परिणामस्वरूप राज्य का कार्य क्षेत्र बढ़ा, सरकारी सेवाओं के विस्तार सरकार के आकार में वृद्धि हुई और विधियों की बढ़ती हुई संख्या से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर कई प्रतिबन्ध लगने लगे। इंग्लैण्ड में एक बहस चल पड़ी–व्यक्ति या राज्य। कौन साध्य है, कौन साधन? फिर विधि निर्माण के क्षेत्र में संसद सर्वोच्च थी, बहुमत की इच्छाओं के योग का प्रतिनिधित्व करने वाले उसके कार्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकते थे।

मिल को डर था कि स्वतन्त्रता के लिए सबसे बड़ा खतरा सरकार की और से नहीं आता बल्कि ऐसे बहुमत की ओर से आता है जो नये विचारों के प्रति असहिष्णु होता है, जो विरोधी अल्पसंख्यकों को सन्देह की दृष्टि से देखता है और जो अपने बहुमत के जोर से उनको दबा देना चाहता है। यह एक ऐसी सम्भावना थी जिसके बारे में पुरानी पीढ़ी के

उदारवादियों ने कभी विचार नहीं किया था। उनकी मुख्य समस्या यह रही थी कि सत्तारूढ़ अल्पसंख्यक वर्ग के हाथों से शासन सूत्र अपने हाथ में ले लेने से सारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा। जेम्स मिल का विचार था कि प्रतिनिधित्व के सुधार, मताधिकार के विस्तार और थोड़ी–सी सार्वजनिक शिक्षा के द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता की समस्त गम्भीर समस्याएँ सुलझ जायेंगी। 1859 तक यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि इन समस्त सुधारों के हो जाने के बाद भी वांछित परिणाम प्राप्त नहीं हुआ। राजनीतिक संगठन के चक्रव्यूह मे स्वतन्त्रता के अभिमन्यु की रक्षा करना बहुत बड़ी समस्या बना हुआ था। पुराने उदारवादी इस बात को नहीं समझ सके थे, लेकिन जे. एस. मिल ने बात को पूरी तरह से समझ लिया था कि उदारवादी शासन के पीछे उदारवादी समाज भी होना चाहिए।

संक्षेप में, राज्य एवं शासन के बढ़ते हुए कार्यों, प्रजातन्त्र के नाम पर बहुमत द्वारा अल्पमत पर मनचाहे प्रतिबन्ध लगाने की प्रवृत्ति अथवा जनमत के नाम पर अनावश्यक कानूनों को थोपने की प्रवृत्ति के विरुद्ध मिल ने व्यक्ति स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए उपयोगिता सिद्धांत को नकारते हुए स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी प्रतिमान का समर्थन किया।

स्वतन्त्रता के दार्शनिक आधार–मिल ने स्वतन्त्रता की अवधारणा का समर्थन दो प्रकार के दार्शनिक आधारों पर किया है पहला, व्यक्ति की दृष्टि से और दूसरा, समाज की दृष्टि से। मिल के अनुसार व्यक्ति का मूल उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है और यह विकास स्वतन्त्रता के उन्मुक्त वातावरण में ही निर्बाध गति से हो सकता है। समाज के विकास की दृष्टि से भी मिल स्वतन्त्रता के पर्यावरण को अपरिहार्य मानता है। उसकी दृष्टि में समाज का विकास कुछ विशेष प्रकार के व्यक्तियों से होता है। ये व्यक्ति कला, विज्ञान, साहित्य और अन्य क्षेत्रों में नवाचार लाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, परन्तु समाज का ढांचा रूढ़िवादी होता है और अधिकांश नासमझ व्यक्ति रूढ़िवादियों के छलावे में आकर सामाजिक परिवर्तन लाने वाले महान् व्यक्तियों के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं। इससे समाज की सहज उन्नति का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। अतः समाज के उन्नयन एवं विकास हेतु यह आवश्यक है कि उसके समस्त घटकों को स्वतन्त्रता प्रदान की जाये।

संक्षेप में, मिल ने जोरदार शब्दों में घोषणा की है कि स्वतन्त्रता व्यक्ति और समाज दोनों के विकास के लिए अपरिहार्य है।

स्वतन्त्रता के लक्षण–मिल ने स्वतन्त्रता के दो लक्षण बतलाये हैं–पहला, व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी है अर्थात् व्यक्ति अपने ऊपर सर्वोच्च सत्ता रखता है। मिल के अनुसार व्यक्ति अपने शरीर तथा मस्तिष्क का स्वामी है और इसलिए उसे अपने से सम्बन्धित प्रत्येक कार्य में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस क्षेत्र में समाज को व्यक्ति के आचरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए। उसे 'स्व' से सम्बन्धित समस्त कार्य करने की तब तक पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए जब तक वह दूसरों को हानि नहीं पहुंचाता। व्यक्ति को उस सीमा तक अपनी छड़ी घुमाने की स्वतन्त्रता है, जिस सीमा तक वह दूसरे व्यक्ति की नाक से या सिर से न टकराये। स्वतन्त्रता का दूसरा लक्षण है–"अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता" और ऐसी स्वतन्त्रता को नियन्त्रित किया जा सकता है। मिल कहता है कि यदि कोई व्यक्ति ऐसे पुल से गुजर रहा है जिसके टूट जाने का भय है तो उसे ऐसे पुल पर जाने से रोका जा सकता है, क्योंकि नदी में गिरने की किसी व्यक्ति की इच्छा नहीं हो सकती। उसकी इच्छा पुल पार करने की है, किन्तु इसका नियन्त्रण करना इसलिए उचित है कि उसकी इससे भी बड़ी–जीवित रहने की इच्छा को संरक्षण मिलता है।

स्वतन्त्रता के रूप–मिल ने स्वतन्त्रता को दो रूपों में बांटा है–

1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, तथा
2. कार्य करने की स्वतन्त्रत

1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता

मिल के अनुसार मानव समाज की उन्नति और प्रगति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। मिल का विश्वास है कि बौद्धिक अथवा वैचारिक स्वतन्त्रता न केवल उस समाज के लिए ही हितकर है जो उसकी स्वीकृति देता है, बल्कि उस व्यक्ति के लिए भी हितकर है जो उसका उपभोग करता है। समाज और राज्य को कोई ऐसा अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाये। मिल के मत में यदि सम्पूर्ण समाज एक ओर हो और यदि एक व्यक्ति अकेला दूसरी ओर हो तो भी उस व्यक्ति को विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए। मिल के शब्दों में, "यदि एक व्यक्ति को छोड़कर सम्पूर्ण मानव जाति का मत एक हो तो भी मानव जाति को उस एक व्यक्ति को बलपूर्वक चुप कराने का कोई अधिकार नहीं है। जैसा कि यदि उस एक व्यक्ति के पास शक्ति होती, तो उसे मानव जाति को चुप कराने का अधिकार नहीं होता।"

मिल ने निम्नलिखित तर्कों के आधार पर विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है–

1. **सत्य के दमन का भय**–मिल के अनुसार विचारों पर प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ सत्य पर प्रतिबन्ध लगाना है और सत्य पर प्रतिबन्ध का अर्थ समाज की उपयोगिता का दमन करना है। वस्तुतः प्रत्येक विचार या मत में सत्य का अंश विद्यमान रहता है।

2. **सत्य के विविध पहलू होते हैं**–सत्य का विराट रूप है और उसके विविध पक्ष हैं। सत्य की खोज में मनुष्य की स्थिति अंधों जैसी है। हम सच्चाई के समग्र रूप का दर्शन नहीं कर पाते, किन्तु अपने अनुभव के आधार पर आंशिक सत्य को ही पूर्ण समझने का आग्रह करते हैं। सत्य के पूर्ण एवं वास्तविक रूप को समझने के लिए उसे विविध दृष्टिकोणों से समझना आवश्यक है और इसके लिए व्यक्ति को विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।
3. **वादे–वादे जायते तत्व बोध**–वाद–विवाद एवं विचार–विमर्श द्वारा सत्य की खोज की जा सकती है। विचार–विमर्श, तर्क–वितर्क एवं वाद–विवाद से विचारों का स्पष्टीकरण होता है, विश्वास सुदृढ़ होता है, बुद्धि अनुप्राणित होती है एवं सत्य की झलक मिलती है।
4. **समाज के उत्थान के लिए**–मिल के अनुसार सामान्यतः समाज परम्परावादी एवं रूढ़िवादी होता है। वह नये विचार सुनना पसन्द ही नहीं करता, जबकि समाज सुधारक समाज में प्रचलित रूढ़िवादी विचारों, रीति–रिवाजों और परम्पराओं को बदल देना चाहते हैं। यह परिवर्तन मात्र विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से ही आ सकता है।
5. **उच्च स्तर के नैतिक चरित्र का विकास**–विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से उच्च स्तर के नैतिक चरित्र का जन्म एवं विकास होता है। सार्वजनिक प्रश्नों पर उन्मुक्त चर्चा होने से एवं राजनीतिक निर्णयों में जनसमुदाय का हाथ होने से लोगों में उनके प्रति नैतिक विश्वास की भावना जागृत होती है।
6. **इतिहास द्वारा समर्थन** मिल का कहना है कि इतिहास भी स्वतन्त्रता के पक्ष में अपना समर्थन प्रदान करता है। मिल सुकरात, ईसा मसीह और मार्टिन लूथर का उदाहरण देकर अपने तर्क की पुष्टि करता है। मिल के शब्दों में, "मानव जाति को बार–बार यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि किसी जमाने में यूनान में सुकरात नाम का एक व्यक्ति हुआ था, जिसके विचार समाज में अधिकांश व्यक्तियों के विचारों से भिन्न थे और समाज के ठेकेदारों ने सुकरात को उसके भिन्न विचारों के कारण विषपान का दण्ड दिया था, जबकि सच्चाई यह है कि उन व्यक्तियों के विचार गलत और सुकरात के विचार सही थे।' मिल ने धाराप्रवाह भाषा में इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए कहा, "मानव जाति को बार–बार यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि येरूशलम में जीसस क्राइस्ट को समाज ने सूली पर चढ़ा दिया था, क्योंकि वह समाज द्वारा मान्य विचारों के विरुद्ध विचार व्यक्त करता था, परन्तु इतिहास साक्षी है कि उस व्यक्ति (जीसस) के विचार उसे सूली पर चढ़ाने वाले लोगों के विचारों से अच्छे थे।"

इसीलिए मिल ने आग्रह कियादृ"विचार अभिव्यक्ति को रोकने का एक विलक्षण दोष यह है कि ऐसा करना मानव जाति की आने वाली तथा वर्तमान नस्लों को लूटना है।" कई बार समाज कुछ नवीन एवं विलक्षण विचार रखने वाले मनुष्यों को झक्की या सनकी समझता है, उनके विचारों एवं व्यक्तित्व का तिरस्कार एवं अपमान करता है। जबकि सत्य यह है कि हर मौलिक चिन्तक, समाज सुधारक पहले जो नई बात कहता है उसे सुकनर समाज चौंकता ही है। हर चिन्तक एवं समाज सुधारक को पहले सनकी एवं खब्ती समझा जाता है, परन्तु सत्य यह है कि इन्हीं सनकियों एवं खब्तियों ने मानव जाति के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसलिए मिल कहता है कि इन तथाकथित सनकियों को भी उनके विचार व्यक्त करने दो। मिल के शब्दों में, "कोई भी समाज जिसमें सनकीपन, मजाक एवं तिरस्कार का विषय न हो, पूर्ण समाज नहीं हो सकता।"

विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर मिल किसी प्रकार का अंकुश लगाने के पक्ष में नहीं है। उसकी स्पष्ट मान्यता है कि विचारों को खिलने दो, उन्हें अभिव्यक्त होने दो, उन्हें जंजीरों में मत बांधो। विचार मानव समाज के विकास, उसके उत्थान के आवश्यक प्रेरणा स्रोत हैं।

मिल ने समाज को एक प्रयोगशाला के रूप में कल्पित कर प्रत्येक प्रकार के विचारों एवं दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति का जोरदार समर्थन किया। बौद्धिक उत्कर्ष को इससे उत्तेजना मिलती है और नैतिक व्यक्तिवाद पुष्ट होता है। 2.

कार्य करने की स्वतन्त्रता

मिल के अनुसार स्वतन्त्रता का दूसरा पक्ष 'कार्यों की स्वतन्त्रता' है। मिल के शब्दों में "विचारों की स्वतन्त्रता अपूर्ण है यदि उन विचारों को क्रियान्वित करने की स्वतन्त्रता न हो।" स्वतन्त्र कार्य के अभाव में स्वतन्त्र चिन्तन वैसा ही है कि पक्षी उड़ना तो चाहता है पर पंख नहीं। पर विचारणीय मुद्दा यह है कि जिस तरह विचारों की स्वतन्त्रता पर कोई अंकुश नहीं होना चाहिए, उसी तरह क्या कार्यों की स्वतन्त्रता पर भी कोई बन्धन नहीं होना चाहिए? क्या व्यक्ति के कार्यों पर शासन और समाज का कोई बन्धन नहीं होना चाहिए?

इन प्रश्नों का उत्तर खोजने की दृष्टि से मिल ने कार्यगत स्वतन्त्रता के दो रूप बताये पहला, ऐसे कार्य जिनका सम्बन्ध व्यक्ति 'स्व' के साथ होता है, इन्हें वह 'स्व संबंधी कार्य' कहता है तथा दूसरा, वे कार्य जिनका प्रभाव अन्य लोगों पर पड़ता है, इन्हें वह पर–संबंधी कार्य कहता है।

मिल के अनुसार 'स्व संबंधी कार्य' व्यक्ति के वे कार्य हैं जिनसे अन्य व्यक्ति प्रभावित नहीं होते। इन कार्यों का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के नितान्त वैयक्तिक कार्यों से होता है, जैसे–सिगरेट पीना, पान खाना, कपड़े पहनना, शराब पीना, जुआ

खेलना, आदि। वह सिगरेट पीये या पान खाये, शाकाहारी हो या मांसाहारी, आलू खाये या प्याज इससे समाज को कोई फर्क नहीं पड़ता। स्व संबंधी ऐसे नितान्त निजी कार्यों को व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, इनमें राज्य को कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए। मिल की मान्यता है कि जब तक कोई व्यक्ति ऐसा कोई करता है जिसका प्रभाव केवल उसी पर पड़ता है, दूसरों पर नहीं, तब तक राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ऐसा होने से ही व्यक्ति अपनी नैसर्गिक क्षमता का सर्वोच्च विकास कर सकता है, अपने सुख और कल्याण की अभिवृद्धि कर सकता है। मिल के अनुसार 'पर–संबंधी कार्य' व्यक्ति के वे कार्य हैं जिनसे समाज तथा अन्य व्यक्ति प्रभावित होते हैं और ऐसे कार्यों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, शान्ति भंग करना, चोरी करना, सार्वजनिक स्थानों को गन्दा करना, आदि हमारे ऐसे कार्य हैं जिनका प्रभाव समाज के दूसरे व्यक्तियों पर पड़ता है। अतः दूसरों पर प्रभाव डालने वाले कार्यों के सम्बन्ध में व्यक्ति को स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। 'निश्चय ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है, किन्तु दूसरों की स्वतन्त्रता का बलिदान करके नहीं।' एक व्यक्ति को अपने घर में मदिरापान की स्वतन्त्रता है, किन्तु यदि वह मदिरापान करके सड़क पर हुड़दंग मचाता है और पड़ोसियों की नींद हराम करता है तो उसे इस कार्य के लिए खुली छूट नहीं दी जा सकती।

स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध : व्यक्ति की स्वतन्त्रता में पर प्रतिबन्ध लगाने वाली परिस्थितियां– मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता का महानतम् पुजारी था, परन्तु कुछ परिस्थितियों में वह स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने में भी नहीं हिचका। जिन परिस्थितियों का उसने उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं–

1. यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के खतरे में पड़ने की सम्भावना हो। इस सन्दर्भ में मिल ने गाड़ी चलाने के लाइसेन्स का उदाहरण दिया है। वह एक अनाड़ी चालक की स्वतन्त्रता द्वारा सड़क पर चलने वालों को मृत्यु का ग्रास नहीं बनाना चाहता। इसी प्रकार चोर–डकैतों को भी स्वतन्त्रता से वंचित करना चाहिए, क्योंकि उनके कार्य समाज के अन्य नागरिकों की स्वतन्त्रता में बाधक होते हैं।
2. मिल के अनुसार जब समाज अथवा राज्य की सुरक्षा संकट में हो तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य पर बाह्य आक्रमण के समय सभी नागरिकों से अनिवार्य सैनिक सेवा की आशा की जा सकती है।
3. तीसरी परिस्थिति वह है जब किसी व्यक्ति द्वारा अपनी स्वतन्त्रता का ऐसा दुरुपयोग हो जिससे उसके सामाजिक कर्तव्य के पालन में रुकावट आने की सम्भावना हो। उदाहरणार्थ, मिल यूं तो मदिरापान को स्व संबंधी कार्य मानता है, किन्तु पुलिस के सिपाही को ड्यूटी पर शराब पीने की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करता क्योंकि उसको यह आशंका है कि शराब पीया हुआ सिपाही शान्ति स्थापित करने के बजाय शान्ति भंग करने का कार्य करेगा।
4. चतुर्थ, वे व्यक्तिगतकार्य जिनके द्वारा व्यक्ति अपना पूर्ण अहित करता है, राज्य के द्वारा रोके जा सकते हैं जैसे आत्महत्या करना। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति नदी पार करने के लिए एक ऐसे पुल से होकर जाना चाहता है जो टूटने की स्थिति में है तो ऐसी स्थिति में उसे पुल से होकर जाने से रोका जा सकता है क्योंकि व्यक्ति नदी पार तो करना चाहता है, परन्तु नदी में गिरना नहीं चाहता। अतः उसकी पहली इच्छा (नदी पार करने की) की अपेक्षा दूसरी इच्छा (नदी में न गिरने की) गुरुतर है। अतः उस गुरुतर इच्छा की पूर्ति के निमित्त सकारात्मक हस्तक्षेप किया जा सकता है।

मिल की स्वतन्त्रता की धारणा की आलोचना

मिल की स्वतन्त्रता की अवधारणा निस्सन्देह काफी सशक्त अवधारणा थी। स्वतन्त्रता मिल के लिए सिर्फ राजनीतिशास्त्र का एक सिद्धांत नहीं है, अपितु सभ्यता का आधार स्तम्भ है। स्वतन्त्र, उदारचेतना परिष्कृत बुद्धि सम्पन्न मानवों से ही सभ्यता का विकास होता है। यूरोप के उत्थान का मूल रहस्य, मिल के अनुसार, विभिन्न विचारों (दृष्टिकोणों) के पारस्परिक संघर्ष के अवसर में ही है। यदि विरोधी विचारधाराओं में संघर्ष नहीं होता तब यूरोप भी दूसरा चीन हो जाता और गतिहीन होकर सिर्फ अनुसरणवादी रह जाता।

जोड ने मिल की स्वतन्त्रता की अवधारणा को 19वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद का आधार स्तम्भ माना। जोड के अभिमत में मिल ने उन विधिशास्त्रियों, हीगलवादियों और विज्ञानवादियों के विरुद्ध अपना सिद्धांत प्रतिपादित किया जिन्होंने राज्य को सार्वभौमिक सर्वोपरि तत्व मानकर व्यक्ति को केवल साधन बना दिया। जोड के शब्दों में मिल का स्वतन्त्रता पर लिखा गया निबन्ध विचारों की उन्मुक्ति का शायद सबसे सुन्दर दिग्दर्शन है और उन विचारों की सहिष्णुता का जिन्हें हम समझ नहीं पाते, समूचे साहित्य में सबसे शक्तिशाली तर्क है। सेबाइन के अनुसार राजनीति दर्शन को दी गई स्वतन्त्रता की भेंट अद्वितीय है। डनिंग के अनुसार मिल के स्वतन्त्रता संबंधी निबन्ध ने व्यक्तिवाद का मार्ग प्रशस्त किया। गैटेल के अनुसार मिल की स्वतन्त्रता की पुकार मानव व्यक्तित्व की रक्षा के लिए एक अमोघ अस्त्र प्रतीत होती है।

राजनीति दर्शन में स्वतन्त्रता संबंधी मिल का सिद्धांत अमूल्य देन होने के बावजूद अनेक दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण एवं असंगत माना जाता है। तार्किक दृष्टि से विश्लेषण करने पर इसमें निम्नलिखित त्रुटियां (दोष) दिखलायी देते हैं–

1. **खोखली और नकारात्मक स्वतन्त्रता**–प्रो. बार्कर के अनुसार, "मिल एक खोखली स्वाधीनता तथा काल्पनिक व्यक्ति का प्रतिपादन करने वाला पैगम्बर था। उसके पास अधिकारों के सम्बन्ध में कोई दर्शन नहीं था, इन्हीं अधिकारों से स्वतन्त्रता के विचार को एक ठोस अर्थ प्राप्त होता है। "चूंकि मिल बन्धनों के अभाव को स्वतन्त्रता की संज्ञा देता है, अतः स्वतन्त्रता की यह परिभाषा पूर्णतः नकारात्मक है। औद्योगिक सभ्यता को, जो कानूनों पर आधारित होती है, निषेधात्मक स्वतन्त्रता की नहीं, सकारात्मक स्वतन्त्रता की आवश्यकता है।"
2. **समानता की उपेक्षा**–मिल स्वतन्त्रता पर तो जोर देता है, किन्तु समानता को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। वह स्वतन्त्रता को अपने आप में पूर्ण मानता है, किन्तु स्वतन्त्रता की सार्थकता के लिए समानता भी आवश्यक है। स्वतन्त्रता समानता से अधिक उपयोगी हो सकती है, परन्तु समानता के अभाव में स्वयं स्वतन्त्रता भी अधिक दिनों तक टिक नहीं सकती।
3. **सनकी और झक्कियों को स्वतन्त्रता देना हास्यास्पद**–मिल सनकी और झक्की व्यक्तियों को भी विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। उसको ऐसा लगता है कि इन सनकियों में से ही कोई सुकरात निकल आये जो समाज में क्रान्ति का सूत्रपात करके परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर दे, परन्तु डेविडसन का कथन है कि सनकीपन चरित्र की निर्बलता का द्योतक है न कि उसकी उत्कृष्टता का। इसको प्रोत्साहन देने के बजाय हतोत्साहित करना आवश्यक है।
4. **कार्य स्वतन्त्रता का भ्रांतिपूर्ण विभाजन**–मिल द्वारा कार्य करने की स्वतन्त्रता को दो वर्गों–स्व संबंधी और पर–संबंधी में बांटना भ्रांतिपूर्ण है। वास्तव में व्यक्ति के कार्यों में ऐसा भेद नहीं किया जा सकता। मिल के अनुसार शराब पीना स्व संबंधी कार्य है, यह तभी सामाजिक (पर संबंधी) रूप धारण करता है जब शराब पीकर कोई व्यक्ति सड़ पर हुड़दंग मचाये, किन्तु ऐसे व्यक्ति का अपने घर में शराब पीना भी नितान्तस्व संबंधी कार्य नहीं है, इसका उसकी पत्नी और बच्चों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। शराबी के बच्चे उसकी देखा–देखी उस दुर्व्यसन में फंस सकते हैं और इससे समाज को हानि होगी। वस्तुतः व्यक्ति का कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसका समाज पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव न पड़ता हो। यहां तक कि आत्महत्या को भी व्यक्तिगत कार्य नहीं माना जा सकता।
5. **व्यक्ति और समाज के बीच का सम्बन्ध गलत ढंग से प्रस्तुत करना**–लिंडसे के अनुसार मिल के स्वतन्त्रता संबंधी विचारों से दो तथ्य उभरते हैं–एक तो यह कि मिल अपनी इस पूर्व धारणा से कभी मुक्त नहीं हो पाये कि राज्य व्यक्ति के हितों का सहायक न होकर एक बाधा है और उसका हस्तक्षेप वांछित कम है और अवांछित अधिक है। दूसरे वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य की कमी स्वीकार नहीं कर सके कि समाज व्यक्तियों के एक स्वाभाविक और ऐच्छिक विकास का परिणाम है; जब लोग केवल एक–दूसरे के साथ संघर्ष करने के लिए नहीं वरन् एक–दूसरे पर निर्भरता के लिए ही अधिक बसते हैं। मिल का राज्य एक ऐसा कृत्रिम राज्य है, जहां लिंडसे के शब्दों में मानो व्यक्ति एक–दूसरे से बिलकुल अलग रहकर सूनेपन का जीवन व्यतीत करते रहे हों और सर्वप्रथम ही राज्य में एकत्रित हुए हों।

14.6 जे.एस. मिल की प्रतिनिधि भाासन सम्बन्धी धारणा

जे.एस. मिल ने अपने ग्रन्थों 'ऑन लिबर्टी' तथा 'प्रतिनिधि शासन' में मिल यद्यपि लोकतन्त्रात्मक शासन को सन्देह की दृष्टि से देखता है तथापि वह एक लोकतान्त्रिक विचारक है और इंगलैण्ड के लोकतन्त्र के समर्थक लेखकों में सबसे महान् लेखक है। यह सत्य है कि किसी अन्य ने मिल के समान इस बात पर जोर नहीं दिया कि लोकतन्त्र सभी देशों के लिए उपयोगी नहीं हो सकता, फिर भी मिल के समान किसी को भी इतना विश्वास नहीं था कि जहां लोकतन्त्र उपयुक्त हो सकता है वहां वह सर्वोत्तम शासन प्रणाली है।

लोकतन्त्र सर्वोत्तम शासन प्रणाली–उपयोगितावादी होने के नाते, मिल विश्वास करता था कि मनुष्यों की स्वाभाविक स्वार्थ–प्रवृत्ति के रहते किसी मनुष्य के अधिकार और हित की सुरक्षा तभी सम्भव है जबकि वह स्वयं उनकी रक्षा करने के लिए तत्पर हो और किसी भी व्यक्ति को यह सुअवसर लोकतन्त्र में ही प्राप्त हो सकता है। मिल ने काण्ट की भांति, मानव व्यक्तित्व को मान्यता देकर भी लोकतन्त्र के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। उसका विश्वास था कि गुणी एवं सबल व्यक्ति से बना राज्य ही अच्छा राज्य हो सकता है। वह व्यक्तियों के चारित्रिक एवं बौद्धिक विकास पर अधिक बल देता था और उसका विश्वास था कि लोकतन्त्र में ही व्यक्तियों के बौद्धिक एवं नैतिक विकास की अधिक सम्भावना रहती है तथा उनका कल्याण सम्भव है। दूसरे शब्दों में सर्वोत्तम शासन वही है, जो मनुष्य की बहुमुखी प्रगति में, उसके सर्वांगीण विकास में सहायक हो। ऐसा शासन न तो राजतन्त्र हो सकता है, न कुलीनतन्त्र। वह तो केवल लोकतन्त्र ही हो सकता है।

प्रतिनिधि शासन क्यों?—लोकतन्त्र एक सर्वोत्तम शासन प्रणाली होने के उपरान्त भी मानवीय विकृतियों के कारण कई दुर्बलताओं की शिकार हो सकती है, जिससे लोकतन्त्र में कई कमियां उभरने लगती हैं। इन कमियों को दूर करना आवश्यक है। मिल के शब्दों में, "मनुष्य द्वारा बनाई हुई अन्य सभी वस्तुओं की भांति लोकतन्त्र को अच्छा भी बनाया जा सकता है और बुरा भी। तो फिर, क्यों न लोकतन्त्र को और अधिक अच्छा बनाया जाये?" मिल का यह भी कहना था कि वर्तमान में राज्यों का आकार बहुत बड़ा होता जा रहा है और जनसंख्या भी बढ़ रही है। इसलिए लोकतन्त्र तो सम्भव नहीं है, अतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था केवल 'प्रतिनिधि लोकतन्त्र' के रूप में ही कायम रह सकती है। इसीलिए लोकतन्त्र पर लिखी कृति को उसने 'प्रतिनिधि शासन' नाम दिया। मिल के अनुसार, "प्रतिनिधि शासन वह व्यवस्था है जिसमें सम्पूर्ण जनसमुदाय या उसका अधिकांश भाग अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा अन्तिम नियन्त्रण शक्ति का प्रयोग करता है।"

उपरोक्त परिभाषा के आधार पर मिल की प्रतिनिधि शासन प्रणाली के तीन प्रमुख तत्व उभरते हैं—

(1) सम्पूर्ण या अधिकांश लोगों का सहयोग,

(2) सम्पूर्ण या अधिकांश लोगों के हाथ में नियन्त्रण शक्ति तथा

(3) प्रतिनिधियों का नियतकालिक चुनाव।

प्रतिनिधि सभा का संगठन एवं कार्य—प्रतिनिधि सभा को मिल द्विसदनात्मक बनाना चाहता था। उसके मत में उच्च सदन निम्न सदन की निरंकुशता को हल्का करने के लिए आवश्यक है। वह दोनों सदनों में प्रतिनिधित्व का भिन्न आधार रखना चाहता था। उसकी मान्यता है कि यदि एक सदन साधारण लोगों का प्रतिनिधि सदन हो तो दूसरा सदन राजनीतिज्ञों और ऐसे व्यक्तियों का सदन हो जिन्होंने प्रशासकीय और राजनीतिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य किये हों। मिल के शब्दों में, "प्रतिनिधि सभा वह है जिसमें राष्ट्र की सामान्य राय के साथ उसके प्रत्येक अंग की राय का प्रतिनिधित्व हो। जहां तक हो राष्ट्र के प्रत्येक वरिष्ठ और योग्य व्यक्ति के विचारों का भी प्रतिनिधित्व हो.....।"

प्रतिनिधि सभा के कार्यों की चर्चा करते हुए मिल कहता है कि निर्वाचित प्रतिनिधि सभा का कार्य शासन का नियन्त्रण तथा निरीक्षण मात्र है। सक्रिय रूप से कानून निर्माण या शासकीय कार्य इस परिषद् को नहीं करना चाहिए। प्रतिनिधि शासन का निर्माण निर्वाचनों द्वारा ही होता है, इसलिए मिल ने निर्वाचन पद्धति के सुधार पर पर्याप्त ध्यान दिया। इस सम्बन्ध में उसके विचार निम्नलिखित हैं—

आनुपातिक प्रतिनिधित्व—मिल लोकतन्त्र में बहुमत की निरंकुशता को लेकर बहुत अधिक चिन्तित था। बहुमत की सरकार अल्पमत की उपेक्षा कर सकती है, अतः जनता को बहुमत की निरंकुशता से बचाने तथा अल्पमत को शासन में प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता थी। मिल का विचार था कि बहुमत के निरंकुशवाद को समाप्त करने के लिए निर्वाचन प्रणाली में सुधार किया जाये। एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र के स्थान पर, बहुसदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र बनाये जायें और 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' के आधार पर निर्वाचन कराये जायें। इस प्रणाली में जिस दल को जितने प्रतिशत मत मिलते हैं, उसी के अनुपात में उस दल के प्रत्याशियों को प्रतिनिधित्व मिलता है। इस पद्धति का लाभ यह होगा कि छोटे दलों को भी तथा अल्पमतों को भी उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। अल्पमत भी सार्वजनिक संस्थाओं में अपनी आवाज बुलन्द करके अपनी बात कह सकेगा। बहुमत की निरंकुशता उसका गला नहीं घोंट पायेगी। जब प्रतिनिधि संस्थाओं में अल्पमतों को भी समुचित स्थान मिलेगा, तो उनकी आवाज को दबाया नहीं जा सकेगा।

मतदाता के लिए शैक्षणिक एवं सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताएँ—मिल लोकतन्त्र की इस कमजोरी से भी चिन्तित था कि इसमें विधायिका के अधिकांश निर्वाचित सदस्य अशिक्षित, अनपढ़ और राष्ट्रीय समस्याओं से अनभिज्ञ होते हैं। मिल के शब्दों में, "विधायिका में बुद्धि का निम्न श्रेणी का होना तथा उस जनसमुदाय में बुद्धि की कमी होना, जो विधायिका का नियन्त्रण करती है, किसी भी समाज के लिए एक खतरा है।" उसकी दृष्टि में लोकतन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि जनता शिक्षित, बुद्धिमान तथा राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया जागरूक हो। अतः वह निरक्षर और अज्ञानी व्यक्तियों को मताधिकार प्रदान करने के पक्ष में नहीं था। केवल वयस्क हो जाने से ही कोई मत देने का अधिकारी नहीं हो सकता। वह लिखना—पढ़ना और गणित का सामान्य ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को ही मताधिकार प्रदान करना चाहता था। उसके शब्दों में, "मैं इस बात को पूर्णरूप से अस्वीकार करता हूं कि जो व्यक्ति पढ़ने—लिखने में और गणित के सामान्य सवाल निकालने में समर्थ नहीं है, उसे मतदान में भाग लेने दिया जाये।" उसके मत में मतदाता के लिए नाम दर्ज कराने से पहले मतदाता बनने के इच्छुक व्यक्ति को अपनी योग्यता का परिचय देने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना नाम मतदाता पंजीयक अधिकारी के सम्मुख अंग्रेजी पुस्तक से एक वाक्य की प्रतिलिपि करके तथा गणित का सवाल करके अपनी मतदाता बनने की योग्यता को प्रमाणित करे। मिल तो यहां तक कहता है कि उचित तो यह होगा कि लिखने—पढ़ने और साधारण गणित के ज्ञान के अतिरिक्त मतदाता को भूगोल, इतिहास और राजनीति का भी थोड़ा—बहुत ज्ञान अवश्य हो।

शैक्षणिक योग्यता के अतिरिक्त मिल मतदाता के लिए सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता भी आवश्यक मानता था। उसकी मान्यता थी कि जिनके पास सम्पत्ति होती है वे उन लोगों की तुलना में अधिक उत्तरदायित्व की भावना से कार्य करते हैं जिनके पास सम्पत्ति का अभाव होता है। वह यह भी मानता था कि जिनके पास सम्पत्ति होती है और जो कर अदा करते हैं वे निर्धनों और कर न देने वालों से अधिक बुद्धिमान भी होते हैं और राष्ट्रीय वित्त का सही उपयोग भी मितव्ययता के साथ कर सकते हैं। अतः मिल सम्पत्ति रखने वाले तथा कर देने वाले व्यक्तियों तक ही वोट का अधिकार सीमित रखना चाहता था।

सार्वजनिक एवं खुला मतदान–बेन्थम और जेम्स मिल जैसे विचारकों ने गुप्त मतदान प्रणाली का समर्थन किया था, किन्तु जॉन स्टुअर्ट मिल खुली मतदान प्रणाली का समर्थक था। उसके अनुसार मत देने का अधिकार एक पवित्र अधिकार है जिसका प्रयोग पूर्ण समझ और विवेक के साथ किया जाना चाहिए। बुद्धिमता और विवेक से किये गये सार्वजनिक कर्तव्य है, इसे अन्य सार्वजनिक कर्तव्यों की भांति जनता की देखरेख में और उसकी आलोचना को सहते हुए खुले रूप में करना चाहिए।

बहुल मतदान–मिल को लोकतन्त्र में एक बहुत बड़ी बुराई यह नजर आती थी कि शिक्षित एवं अशिक्षित, निर्धन एवं धनी, सामान्य एवं विशिष्ट योग्यता वाले (विशेषज्ञ) सभी व्यक्तियों को इसमें एक समान माना जाता है। इसका मतलब है ऐसा शासन स्थापित करना जो सबसे कम शिक्षित लोगों का तथा हाथ से काम करने वाले श्रमिकों का शासन होगा, क्योंकि उनकी संख्या अधिक है। संख्या के आधार पर मत के अधिकार को वह लोकतन्त्र का एक बहुत बड़ा दोष मानता था। इसे वह झूठा लोकतन्त्र कहता था। जबकि सच्चे लोकतन्त्र में सब व्यक्तियों के मत बराबर नहीं, किन्तु उनकी योग्यता के आधार पर होते हैं। लोकतन्त्र की इस दुर्बलता को दूर करने के लिए मिल ने बहुल मतदान की अवधारणा प्रस्तुत की। उसके अनुसार मूर्ख और अशिक्षित व्यक्तियों की तुलना में शिक्षित और बुद्धिमान व्यक्तियों को अधिक संख्या (बहुल मतदान) में मत का अधिकार होना चाहिए। मिल तो यहां तक कहता है कि जिसके पास अधिक सम्पत्ति हो उसे भी बहुल मत का अधिकार होना चाहिए। मिल के अनुसार बहुल मत की योजना निर्धन व्यक्ति के महत्व को भी स्वीकार करती है। यह योजना निर्धन व्यक्ति के लिए भी समान रूप से उपलब्ध है बशर्ते वह 'स्वेच्छापूर्वक दी जाने वाली परीक्षाओं' के आधार पर अपनी योग्यता प्रमाणित कर दे।

विधि आयोग–मिल के अनुसार प्रतिनिधि सभा का कार्य शासन करना नहीं है क्योंकि शासन करने की उसमें योग्यता नहीं है। उसका प्रमुख कार्य सरकार का निरीक्षण और नियन्त्रण करना है। चूंकि वह विधि निर्माण की योग्यता नहीं रखती इसलिए विधि निर्माण का कार्य एक विशिष्ट आयोग को करना चाहिए जिसके सदस्य लोक सेवा से सम्बन्धि त व्यक्ति थे। विधि आयोग द्वारा निर्मित विधियों को पारित करने का कार्य प्रतिनिधि सभा (संसद) को करना चाहिए। वस्तुतः इस सुझाव द्वारा मिल ने विधि निर्माण के कार्य में संख्या और योग्यता का सामंजस्य करने का प्रयत्न किया था।

प्रतिनिधियों (सांसदों) की स्थिति–मिल जन प्रतिनिधियों को मात्र जनता के अभिकर्ता नहीं मानता। उसके अनुसार प्रतिनिधि तो एक स्वतन्त्र पथ प्रदर्शक और शिक्षा देने वाली शक्ति होनी चाहिए। वह इस बात का विरोधी था कि संसद सदस्य दलगत अनुशासन में बंधे रहें। उसके अनुसार संसद सदस्यों को वेतन नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि वेतन की व्यवस्था से वे व्यावसायिक राजनीतिज्ञों की भांति हो जायेंगे।

मिल के प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी विचारों की आलोचना

मिल लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली एवं प्रतिनिधि शासन का प्रबल समर्थक था उसने प्रतिनिधि शासन के दोषों को दूर करने के लिए कई सुझाव दिये, जैसे–मताधिकार का आधार शैक्षणिक योग्यता हो, योग्य व्यक्तियों को एक से अधिक मत देने का अधिकार हो, व्यवस्थापिका द्विसदनात्मक हो, अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए आनुपातिक प्रणाली अपनायी जाये, आदि। मिल के बहुत सारे सुझावों का क्रियान्वयन हुआ है, तथापि आलोचकों के अनुसार उसके समस्त विचारों का क्रियान्वयन कर दिया जाये तो लोकतन्त्र के नाम पर 'अभिजात्यतन्त्र' की स्थापना हो जायेगी। मिल के विचारों का विश्लेषण करने से ऐसा लगता है कि वह एक विरक्त लोकतान्त्रिक है। उसने लोकतन्त्र में अविश्वास प्रकट किया है, उसे संदेह की दृष्टि से देखा है, लोकतन्त्र के प्रति अपनी निराशाओं और शंकाओं को व्यक्त किया है।

मिल ने सर्वप्रथम व्यवस्थापिका के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया है। उसके अनुसार विधायिका को सिर्फ शासन पर नियन्त्रण करना चाहिए, उसे न तो कर लगाना चाहिए, न आय–व्यय का प्रस्ताव पारित करना चाहिए, न विधि का निर्माण करना चाहिए। वह यह भी कहता है कि संसद के सदस्यों को मतदाताओं की भावनाओं के अनुसार नहीं अपितु अपने उच्च विवेक से स्वतन्त्र रूप से कार्य करना चाहिए। मिल द्वारा मतदाता की योग्यता का जो मापदण्ड प्रस्तुत किया गया है यदि उसे लागू किया जाये तो तीसरी दुनिया के देशों में मतदाताओं की संख्या गौण हो जायेगी। उसने 'प्रतिनिधि शासन' में असमानता के गीत गाते हुए कहा है कि धनी व्यक्तियों को अनेक मत का अधिकार होना चाहिए। इसी प्रकार वह शिक्षितों को मूर्ख की अपेक्षा अधिक मतदान का अधिकारी बनाता है। वह भूल जाता है कि लोकतन्त्र का आधार ही समानता है और वह इसी पर कुठाराघात कर रहा है।

अतः आलोचकों के अनुसार लोकतन्त्र की दुर्बलताओं का पर्दाफाश करते हुए मिल ने लोकतन्त्र में सुधार के लिए जो सुझाव पेश किये हैं उनसे ऐसा लगता है कि वह एक विरक्त (अनिच्छुक) प्रजातान्त्रिक है।

वेयर के इस विचार से कि मिल एक विरक्त (असन्तुष्ट) लोकतान्त्रिक विचारक था, यह निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत नहीं कि मिल लोकतन्त्र का विरोधी या शत्रु था। वस्तुतः मिल लोकतन्त्र का सशक्त समर्थक और वफादार सेवक था। लोकतन्त्र के ऊपर लिखने वाला वह एक महानतम् लेखक था। वह यह आग्रह जरूर करता था कि स्वतन्त्रता की भांति लोकतन्त्र सभी लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है तथापि उसका विश्वास था कि जहां तक भी सम्भव हो सके वह शासन का श्रेष्ठतम रूप है। उसने प्रतिनिधियों के व्यक्तिगत चरित्र पर बल देकर प्रजातन्त्र को आध्यात्मिक आधार देने का प्रयास किया। शिक्षित एवं चरित्रवान प्रतिनिधियों द्वारा संचालित एवं मानव कल्याण की भावना पर आधारित प्रजातन्त्र को ही मिल सच्चे प्रजातन्त्र की संज्ञा प्रदान करता है, किन्तु मिल ने प्रजातन्त्र की सफलता के लिए जो अनूठे सुझाव दिये हैं तथा उसे जो आध्यात्मिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया है, वह सब अत्यन्त आकर्षक एवं आदर्श होते हुए भी, आज की नवीन परिस्थितियों में ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। वेपर लिखता है कि "निःसन्देह मिल एक प्रजातान्त्रिक होने का अधिकारी समझा जा सकता है, किन्तु बीसवीं सदी की कसौटी पर वह एक विरक्त प्रजातान्त्रिक ही सिद्ध होता है।"

14.7 मिल के आर्थिक एवं महिलाओं की स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

मिल के समय इंग्लैण्ड में महिलाओं की दशा बड़ी दयनीय थी। उन्हें उच्च शिक्षा पाने, संसद का सदस्य बनने तथा सार्वजनिक पदों पर कार्य करने का अधिकार नहीं था। यहां तक कि उन्हें मताधिकार भी प्राप्त नहीं था। महिलाएँ दूसरे दर्जे की नागरिक थीं। सामाजिक रूढ़ियों और कानूनों ने उन्हें दासता के शिकंजे में बांध रखा था। अतः मिल ने 1869 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'महिलाओं की पराधीनता' में अकाट्य तर्कों के आधार पर महिलाओं को पुरुषों के समान अवसर देने का प्रबल समर्थन किया।

उस समय यह तर्क दिया जाता था कि नर–नारी में कुछ महत्वपूर्ण भेद हैं, इनके आधार पर महिलाओं की हीन स्थिति सर्वथा उपयुक्त है। मिल ने इस तर्क का खण्डन करते हुए कहा कि कुछ शारीरिक भेदों के अपवाद को छोड़कर नर–नारी की विषम स्थिति का समर्थन करने के पक्ष में बनाये जाने वाले सभी भेद कृत्रिम तथा बाह्य परिस्थितियों का परिणाम हैं, वे मौलिक तथा अनिवार्य नहीं हैं। मिल ने यह भी कहा कि किसी परम्परा के नाम पर स्त्री–पुरुष समानता का विरोध करना सरासर गलत है। यह तर्क कि प्राचीन काल से पुरुष स्त्री का स्वामी होता आया है, इसलिए स्त्री को अब भी उसकी अधीनता में रहना चाहिए और भी गलत है क्योंकि इतिहास के इन खण्डहरों का भविष्य के साथ कोई तालमेल नहीं है। मिल के अनुसार महिलाओं को राजकीय सेवा के उच्च पदों से वंचित किया जाना अन्यायपूर्ण था। वस्तुतः महिलाओं को कभी इस बात का अवसर ही नहीं दिया गया था कि वे इन पदों पर अपनी योग्यता प्रदर्शित करें। वर्तमान व्यवस्था अन्यायपूर्ण है तथा सामाजिक प्रगति में बाधक है क्योंकि यह जन्म के आधार पर नारियों के लिए प्रगति के द्वार बन्द कर देती है। मनुष्य स्वतन्त्र रूप में पैदा होता है, उसे सब पेशों और कार्यों के लिए योग्यता प्राप्त करने की और इन पेशों को करने की स्वतन्त्रता होती है। महिलाओं को भी यह स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, केवल महिला के रूप में जन्म लेने के कारण उन्हें उन्नति और प्रगति के अवसरों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए।

इस प्रकार महिला मुक्ति के सम्बन्ध में मिल के विचार, स्त्री–पुरुष समानता के सम्बन्ध में मिल के विचार, स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के बारे में मिल के विचार अपने जमाने के विचारों से बहुत आगे थे। वस्तुतः महिलाओं की मुक्ति के सम्बन्ध में मिल के ही विचारों को मिल के निधन के बाद समाज और शासन ने मान्यता प्रदान की। इंग्लैण्ड में धीरे–धीरे महिलाओं को वोट देने का अधिकार मिला, निर्वाचन लड़ने का अधिकार दिया गया, लार्ड सभा में मनोनीत होने का अधिकार दिया गया। इन सबमें कहीं न कहीं मिल का योगदान अवश्य है। डेविडसन के शब्दों में, "वर्तमान युग में जो सुविधाएँ महिलाओं को शिक्षा एवं समान अवसर के रूप में मिली हैं जिसके बल पर स्त्रियों को व्यावहारिक प्रतिभा प्रदर्शित करने का अवसर मिला है, यह सब केवल एक व्यक्ति मिल के गम्भीर प्रयत्न एवं नेतृत्व का परिणाम है।" वस्तुतः स्त्री–पुरुष समानता के सम्बन्ध में मिल के विचार अपने जमाने के विचारों से बहुत आगे थे।

मिल के आर्थिक विचार

मिल के आर्थिक विचारों में एक विरोधाभास पाया जाता है। इसका कारण यह है कि एक ओर तो वह व्यक्तिवादी था और दूसरी ओर वह समाजवादी विचारों से भी प्रभावित था। उसके बारे में कार्ल मार्क्स ने लिखा था कि मिल ने 'असंयोज्य का संयोजन' करने का प्रयत्न किया अर्थात् व्यक्तिवाद को समाजवाद के साथ मिलाने का असफल प्रयत्न किया।

मिल का पहला आर्थिक विचार है–'स्वहित का सिद्धांत।' इस सिद्धांत के माध्यम से मिल ने 'स्वहित' का प्रतिपादन तो किया ही, साथ ही उसका समाजीकरण भी कर डाला। उसने कहा कि व्यक्ति के हित और समाज के हित में एकरूपता होनी आवश्यक है। जबकि मिल से पूर्व सभी व्यक्तिवादी विचारक यह कहते थे कि व्यक्ति की तमाम आर्थिक गतिविधियों का संचालन स्वहित द्वारा ही होता है। मिल के अनुसार राज्य की सभी आर्थिक गतिविधियों व्यक्ति एवं समाज के व्यापक सुख के लिए संचालित होनी चाहिए। मिल का दूसरा प्रमुख आर्थिक सिद्धांत है, जनसंख्या का सिद्धांत। माल्थस की

भांति मिल भी यह मानता था कि अत्यधिक जनसंख्या किसी भी राज्य के विनाश को जन्म देती है। मिल इस मान्यता से सहमत नहीं था कि 'हर नया मुंह अपने साथ दो हाथ लेकर आता है।' मिल का तीसरा प्रमुख सिद्धांत है, मुक्त प्रतिस्पर्धा। स्वतन्त्रता के सिद्धांत का प्रतिपादक होने के कारण मिल जहां व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता में विश्वास करता था, वहीं वह व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता में भी विश्वास करता था। आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता का अर्थ था, उत्पादन के क्षेत्र में, पूर्ण प्रतिस्पर्धा। मिल मानता था कि उत्पादन के क्षेत्र में स्वतन्त्रता होने से मनुष्य की श्रेष्ठतम प्रतिष्ठाएँ प्रकट होती हैं। उसके अनुसार, 'मुक्त प्रतिस्पर्धा पर लगा प्रत्येक प्रतिबन्ध एक बुराई है।' मिल का चौथा आर्थिक सिद्धांत है, मूल्य सिद्धांत। रिकार्डो की तरह मिल भी यह मानता था कि वस्तुओं के उपयोगिता मूल्य एवं विनिमय मूल्य में अन्तर होता है। विनिमय मूल्य का निर्धारण उस वस्तु को उत्पन्न करने के लिए व्यय की गई श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है। उसका यह भी मानना था कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य केवल श्रम की मात्रा पर ही निर्भर नहीं करता, उस पर मांग व पूर्ति का भी असर पड़ता है। मिल ने कहा कि किसी भी समाज में मजदूरी की दर उस समाज में उपलब्ध मजदूरों की मांग और पूर्ति पर निर्भर करती है। यदि समाज में श्रमिकों की संख्या उनकी मांग अथवा आवश्यकता से अधिक है, तो मजदूरी कम हो जायेगी। मजदूरी बढ़े इसके लिए आवश्यक है कि बाजार में मजदूरों की संख्या कम हो।

आगे चलकर मिल ने महसूस किया कि उसके विचार यथास्थितिवादी हैं, यह पूंजीवाद का समर्थन करते हैं। इससे पूंजीपति पर कोई दबाव नहीं पड़ता कि वह मजदूरों को अधिक मजदूरी दे। इसलिए बाद में मिल ने अपने मजदूरी सिद्धांत को बदलना चाहा और मांग एवं पूर्ति के अतिरिक्त मजदूरी के निर्धारण पर अन्य तत्वों के महत्व को स्वीकार किया। उसे 'अधिकतम लोगों के अधिकतम हित' के सिद्धांत का भी स्मरण हो आया और उसने न्यूनतम मजदूरी तथा कार्य के न्यूनतम घण्टों के बारे में भी आग्रहपूर्वक लिखा। अब वह श्रमिकों के शोषण का समर्थक नहीं रह गया। अब वह कहने लगा कि श्रमिकों को पूर्ण वेतन देने के बाद जो बचता है, वही लाभ है। मिल के आर्थिक विचारों के बारे में आलोचक कहते हैं कि वह मौलिक नहीं थे। उसके विचार एडम स्मिथ, रिकार्डो और माल्थस के विचारों की पुनर्व्याख्या मात्र थे। दूसरा; आलोचक यह भी कहते हैं कि वह बुर्जुआ विचारक था और श्रमिक विरोधी था।

इन आलोचनाओं के बावजूद सही तथ्य यह है कि प्रारम्भ में मिल पूंजीवाद एवं व्यक्तिवाद का समर्थक दिखलायी देता है क्योंकि वह मुक्त अर्थव्यवस्था का प्रतिपादक है, किन्तु जैसे–जैसे उम्र बढ़ती गई उसका झुकाव समाजवाद की ओर होने लगा। अब उसका आग्रह था कि श्रमिकों को उनके परिश्रम का पूर्ण पारिश्रमिक दिया जाये। उसने समता स्थापित करने की दृष्टि से सम्पत्ति की विरासत पर भारी कर लगाने की सिफारिश की। वह श्रमिक संघों के निर्माण का स्वागत करता है एवं ऐच्छिक सहकारिता के समाजवादी सिद्धांत को स्वीकार करता है। उसके अनुसार बड़े–बड़े उद्योगों में उद्योगपतियों एवं श्रमिकों के बीच पूर्ण सहयोग होना चाहिए जिससे उद्योगों की सफलता से पूंजीपतियों एवं श्रमिकों, दोनों के हितों की सिद्धि हो। उसकी मान्यता है कि वितरण व्यवस्था मानव कृत है एवं ऐतिहासिक तथा राजनीतिक संस्थाओं पर निर्भर करती है। अतः वह राज्य के नियन्त्रण द्वारा वितरण व्यवस्था में भी परिवर्तन लाना चाहता है। इस प्रकार मिल के विचार प्रगतिशील अवश्य हैं, परन्तु वह उग्र समाजवाद में कभी भी विश्वास नहीं करता। मार्क्स और लेनिन की तरह वह न तो भूमि जैसे सम्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण करना चाहता है, न आर्थिक प्रतियोगिता को घृणा की दृष्टि से देखता है, न क्रान्ति का समर्थन करता है और न वर्ग संघर्ष में विश्वास करता है। वस्तुतः वह न तो कट्टर समाजवादी था और न ही नग्न पूंजीवाद का समर्थक। वह एक व्यक्तिवादी होते हुए भी समाजवादी था। वह पूंजीवादी होते हुए भी उदारवादी था। इसीलिए बार्कर ने लिखा है, "मार्क्स नहीं, मिल ही इंगलिश समाजवाद का आरम्भिक बिन्दु है।"

14.8 राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मिल का योगदान एवं प्रभाव

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में जॉन स्टुअर्ट मिल का अनूठा स्थान है। वह इतिहासकार, दार्शनिक, अर्थशास्त्री, नीतिशास्त्र और राजनीति विज्ञान का प्रकाण्ड विद्वान था। वह समाज सुधारक और प्रखर संसदवेत्ता भी था। सन् 1873 में लार्ड मार्ले ने लिखा कि लगभग बीस वर्षों तक आक्सफोर्ड से निकलने वाला प्रत्येक बुद्धिजीवी मिल के उपदेशों से किसी न किसी रूप में प्रभावित रहा। लार्ड आक्सफोर्ड लिखते हैं कि "जब मैं 1870 में आक्सफोर्ड में गया तो उसका प्रभाव चरम सीमा पर था" और प्रो. मार्शल के अनुसार, "1867 में मिल की कृति 'पॉलिटिकल इकॉनामी' को पढ़कर के अर्थशास्त्र के गहन अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए क्योंकि इन दिनों मिल की ख्याति चरम सीमा पर थी।" मैकाले का तो यहां तक कहना था कि, "19वीं शताब्दी के मध्य में पत्रकार अपने विचार मिल से ग्रहण करते थे।" मिल के योगदान के बारे में कहा जाता है कि यह राजनीति दर्शन में अकेला 'स्वतन्त्रता' का प्रकाश स्तम्भ है।

संक्षेप में, मिल का विचार एवं दर्शन की दृष्टि से निम्नलिखित क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान रहा है–

1. **पद्धतिशास्त्र की दृष्टि से**–पद्धतिशास्त्र के क्षेत्र में मिल ने गहरा चिन्तन एवं अध्ययन किया। बेन्थम के अनुभववाद और जेम्स मिल के बुद्धिवाद के विपरीत ऐतिहासिक या प्रतिलोम निगमनात्मक पद्धति को प्रश्रय देकर पद्धतिशास्त्र के क्षेत्र में उसने उल्लेखनीय योगदान किया।

2. **उपयोगितावाद की दृष्टि से**–मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद में संशोधन किया। वस्तुतः मिल का उपयोगितावाद अपने आप में नवीन विचार है। वह उपयोगितावाद, सार्वजनिक नैतिकता एवं सार्वजनिक आध्यात्मिकता पर आधारित है।
3. **समाज सुधारक की दृष्टि से**– समाज सुधारक की दृष्टि से भी मिल का अपूर्व योगदान है। उसने महिला मुक्ति के समर्थन में जोरदार आवाज उठाई। आधुनिक युग का वह पहला विचारक था जिसने महिलाओं की समानता, शिक्षा और राजनीतिक अधिकारों का समर्थन किया।
4. **लोकतन्त्र के उपचारक की दृष्टि से**–मिल ने लोकतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली बतलाया। उसने लोकतन्त्र की दुर्बलताओं को दूर करने के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व, द्विसदनात्मक विधायिका, शैक्षणिक योग्यताएँ जैसे बहुमूल्य सुझाव दिये।
5. **स्वतन्त्रता के प्रबल प्रवक्ता की दृष्टि से**–व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दार्शनिक एवं नैतिक दृष्टि से समर्थन करने वालों में मिल का नाम अग्रगण्य है। मिल ने विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्ष में जो कुछ लिखा वह सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन के साहित्य में अद्वितीय माना जाता है।
6. **उदारवादी विचारक की दृष्टि से**–सेबाइन ने मिल को उदारवाद का प्रवक्ता माना है और उदारवादी दर्शन की दृष्टि से उसके योगदान को इस प्रकार रेखांकित किया हैमिल ने उपयोगितावाद का महत्वपूर्ण संशोधन किया, उसका कहना था कि हमें मनुष्य के प्रति गौरव का भाव रखना चाहिए।

   मिल का मत था कि स्वतन्त्रता का महत्व इसलिए नहीं है कि वह किसी भौतिक स्वार्थ को सिद्ध करती है बल्कि उसका महत्व इसलिए है कि वह उत्तरदायी मनुष्य की एक सहज और स्वाभाविक आस्था है। अपने ढंग से जीवन व्यतीत करना, अपनी सहज प्रतिभा का विकास करना, सुख को प्राप्त करने का साधन नहीं है, वह खुद सुख का एक अंग है, इसलिए एक श्रेष्ठ समाज वह है जो स्वतन्त्रता की अनुमति देता है तथा विविध जीवन पद्धतियों के निर्वाह के उचित अवसर प्रदान करता है।

   स्वतन्त्रता एक व्यक्तिगत हित नहीं है, वह एक सामाजिक हित भी है। स्वतन्त्र विचार विनिमय के द्वारा समाज को भी लाभ पहुंचता है।

   स्वतन्त्र समाज में उदारवादी राज्य का कार्य नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक है। वह विधि निर्माण से विरत रहकर या यह मानकर कि चूंकि वैधिक प्रतिबन्धों को हटा दिया गया है इसलिए स्वतन्त्रता की अवस्थाएँ विद्यमान हैं, नागरिकों को स्वतन्त्र नहीं कर सकता। विधान के द्वारा अवसरों का निर्माण किया जा सकता है, उनका विकास किया जा सकता है और समानता की स्थापना की जा सकती है।

निष्कर्षतः राजनीति दर्शन के इतिहास में मिल का महत्व चिरस्थायी है। स्वतन्त्रता के पुजारी के रूप में उसे रूसो, वाल्टेयर और जेफरसन के साथ सदैव स्मरण किया जाता रहेगा।

14.9 निष्कर्ष

पश्चिमी राजनीतिक चिंतन में जे.एस. मिल को स्वतंत्रता की धारणा का प्रबल समर्थक माना जाता है। मिल ने स्वतंत्रता को व्यक्ति के विकास का महत्वपूर्ण माध्यम माना तथा स्वतंत्रता को व्यक्ति हेतु अति आवश्यक बतलाया। प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी विचार में मिल ने बहूल मतदान का समर्थन कर यह भी बतलाने का प्रयास किया कि अशिक्षित व्यक्ति की तुलना में शिक्षित व्यक्ति को अधिक मत देने का अधिकार होना चाहिए। अतः पाश्चात्य दर्शन में उनका विशिष्ट योगदान माना जाता है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. मिल की स्वतंत्रता की धारणा का विवेचन कीजिए।
2. पाश्चात्य दर्शन में मिल के योगदान का विवेचन कीजिए।
3. मिल की प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
4. बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल ने क्या संशोधन किए। स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. मिल ने स्वतंत्रता के कितने प्रकार माने हैं? स्पष्ट कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. 'On liberty' के लेखक का नाम लिखिए।
2. मिल कार्यों के दो रूप कौनसे माने हैं?

इकाई–15
जॉर्ज विलियम फ्रेडरिक हीगल

संरचना

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 जीवन परिचय
15.3 प्रमुख रचनाएँ
15.4 हीगल के दर्शन के स्रोत
15.5 हीगल के राजनीतिक चिन्तन का दार्शनिक आधार : विश्वात्मा का विचार
15.5.1 हीगल के राजनीतिक दर्शन की द्वन्द्वात्मक पद्धति
15.5.2 द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा समाज तथा राज्य के विकास का अध्ययन
15.5.3 द्वन्द्वात्मक पद्धति की विशेषताएं
15.5.4 द्वन्द्वात्मक पद्धति की आलोचना
15.5.5 द्वन्द्वात्मक पद्धति के गुण
15.6 हीगल का राज्य सिद्धांत
15.6.1 राज्य 'विश्वात्मा' का पृथ्वी पर अवतार है
15.6.2 राज्य का विकास 'द्वन्द्वात्मक पद्धति' से हुआ है
15.6.3 हीगल के राज्य की विशेषता
15.7 हीगल के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार
15.7.1 हीगल और काण्ट के स्वतन्त्रता संबंधी विचारों की तुलना
15.7.2 राज्य और नागरिक समाज में भेद
15.8 हीगल : शासन का सिद्धांत
15.9 हीगल का युद्ध सम्बन्धी विचार
15.10 हीगल और काण्ट के राजनीतिक विचारों की तुलना
15.11 हीगल के दर्शन की आलोचना
15.12 राजनीति दर्शन के इतिहास में हीगल के विचारों की उपादेयता
15.13 निष्कर्ष

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् छात्र–

- हीगल के जीवन परिचय की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- हीगल के राज्य सिद्धांत को समझ सकेंगे।
- राजनीति दर्शन के इतिहास में हीगल के योगदान का विवेचन कर सकेंगे।
- हीगल के प्रमुख राजनीतिक विचारों को समझ सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

हीगल के बारे में कहा जाता है कि वह केवल दार्शनिकों का राजा ही नहीं था, बल्कि राजाओं का दार्शनिक था। जिन दार्शनिकों पर हीगल का प्रभाव पड़ा, उनमें सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स का नाम लिया जा सकता है। मार्क्स हीगल के द्वन्द्ववाद के सिद्धांत से प्रभावित हुआ और उसको अपनी विचारधारा के अनुसार मोड़कर समस्त विश्व को एक नए मार्ग पर ले जा सका। मार्क्स के साथ ही अंग्रेजी आदर्शवादी विचारक ग्रीन और बोसांके भी हीगल के दर्शन से प्रभावित हुए।

इतना ही नहीं हीगल के दर्शन ने ट्राटश्की और ट्रायसेन जैसे इतिहासकारों और सैविगनी जैसे विधिशास्त्री को भी प्रभावित किया था। उसके प्रभाव पर टिप्पणी करते हुए बट्रण्ड रसेल ने लिखा कि 19वीं शताब्दी के अन्त में अमरीका तथा इंग्लैण्ड में सभी प्रमुख दार्शनिक हीगल के अनुयायी थे। उसके इतिहास के दर्शन ने राजनीतिक सिद्धांत के विकास पर गम्भीर प्रभाव डाला था। मार्क्स अपनी जवानी में हीगल का शिष्य था। हीगल के दर्शन का प्रभाव समाजवाद और साम्यवाद की दो प्रमुख विचाराधाराओं के विकास पर पड़ा। 20वीं शताब्दी की प्रमुख विचारधाराओं–फासीवाद और नाजीवाद का जन्म हीगल द्वारा राज्य को दैवी संस्था बनाने और उसे निरंकुश सत्ता प्रदान करने का परिणाम समझा जाता है। जर्मनी के महान् राजनेता एवं कूटनीतिज्ञ बिस्मार्क ने हीगल के सिद्धांतों को मूर्तरूप प्रदान किया था। विश्व के इतिहास की धारा के प्रवाह को एक बार स्थिर कर देने वाले और प्रवाह में एक मोड ला देने वाले जर्मनी और इटली के दो तानाशाहों क्रमशः हिटलर और मुसोलिनी को 'हीगल के मानस पुत्र' कहा जाता है।

वेपर का कथन है कि "हीगल राज्य के सावयव सिद्धांत का सबसे महान् समर्थक तथा आधुनिक इतिहास के भाष्यकारों के मध्य एक महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली चिन्तक था।" सेबाइन का मत है कि "हीगल के दर्शन का उद्देश्य आधुनिक चिन्तन का पूर्ण तथा क्रमबद्ध पुनर्निमाण करने से कम और कुछ नहीं था।"

वस्तुतः हीगल बहुत विवादास्पद विचारक था। एक ओर तो विद्वान उसे दर्शन का पितामह कहते थे, तो दूसरी ओर उसे सर्वथा मूर्ख कहने वालों की कमी नहीं थी। क्रॉस ने लिखा है कि हीगल के दर्शन में द्वन्द्वात्मकता का सिद्धांत बिल्कुल बेकार है, जबकि खास बात उसका निरंकुशवाद है, तो मार्क्स ने कहा है कि हीगल की खास बात तो द्वन्द्वात्मकता है, जबकि उसका निरंकुशवाद बिल्कुल बेकार था।

15.2 जीवन परिचय

हीगल (1770–1831) एक महान् द्वन्द्ववादी विचारक थे जिनकी सृजनात्मक उपलब्धियां दार्शनिक और राजनीतिक विधिक चिन्तन के समूचे इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मील का पत्थर है। उनका नाम जर्मन आदर्शवादी परम्परा के मूल प्रवर्तकों में काण्ट के पश्चात् लिया जाता है। उसके ग्रन्थों में राजनीतिक आदर्शवाद अपनी चरम सीमा तक पहुंच गया।

हीगल का जन्म जर्मनी के एक नगर स्टुटगार्ट में सन् 1770 में हुआ था। उनके पिता वैर्टमबग एक सरकारी पदाधिकारी थे। उसका पिता हीगल को धर्मशास्त्र का विद्वान बनाना चाहता था और इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु टयूबिंगन के धार्मिक विद्यालय में उसे भर्ती करवाया गया। हीगल स्कूल में पढ़ाई के दौरान ही प्राचीन यूनानी रोमन इतिहास तथा साहित्य में रुचि लेने लग गए थे। इस काल के उनके विचारों में प्राचीन यूनान का एक कुछ हद तक आदर्शीकृत बिम्ब और लोगों के वास्तविक नैतिक संगठन के नाते राज्य के बारे में प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों के प्रति रुझान देखे जा सकते हैं। सन् 1788 से 1793 तक हीगल ने ट्यूबिंगन विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र की शिक्षा पायी। विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी कर (1793) लेने के बाद हीगल ने जो उस समय ईसाई धर्म को आलोचना की दृष्टि से देखते थे, धर्माचार्य का पेशा अस्वीकार करके विश्वविद्यालय में प्राध्यापक पद पाने की आशा में कुछ वर्ष बर्न और फ्रेंकफर्ट–आन–मेन में प्राइवेट शिक्षक का काम किया (1793–1800)। इन वर्षों में हीगल के राजनीतिक विचार सामन्तवाद विरोधी थे। यह पुरातन, कालातीत व्यवस्था पर प्रायः क्रान्तिकारी आलोचनात्मक और बुर्जुआ जनवादी दृष्टिकोणों से खुले कटाक्ष करते थे।

1801 में हीगल ने अपने शोध प्रबन्ध 'नक्षत्रों की कक्षाएँ' का मण्डन किया और येना विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बन गए। 1806 तक वे वहां रहे और दर्शन के साथ–साथ प्राकृतिक विधि पर भी व्याख्यान देते थे। 1789–1802 में उन्होंने अपना काफी समय राजनीति तथा विधि से सम्बन्धित एक विशद ग्रन्थ 'जर्मनी का संविधान' की रचना को भी समर्पित किया, जो अधूरा ही रह गया और उनके जीवन काल में प्रकाशित न हो पाया। येना में बिताए गए वर्षों की एक अन्य रचना 'नैतिकता की पद्धति' में हीगल नैतिकता को अमूर्त व्यक्ति, परिवार तथा आचार जैसे तत्वों का समन्वय बताते हैं। हीगल के 1805–1806 के व्याख्यानों का संग्रह 'येना का यथार्थ दर्शन' उनकी दर्शन पद्धति का प्रथम आभास देता है। 1807 में उनकी 'फिनोमिनोलॉजी ऑफ स्पिरिट' नामक रचना प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने विकासशील चेतना के विभिन्न चरणों पर प्रकाश डालते हुए द्वन्द्वात्मक विश्लेषण के एक विशिष्ट उपकरण के नाते बोध का दार्शनिक महत्व प्रतिपादित किया।

मार्च 1807 में हीगल बाम्बर्ग चले आए और वहां दैनिक 'बाम्बर्ग समाचार' का सम्पादन करने लगे, किन्तु इस काम की कठिनाइयों, विशेषतः सेन्सर के साथ आए दिन के झगड़ों को वह अधिक समय तक न झेल सके और अक्टूबर 1808 में बाम्बर्ग छोड़कर न्यूरेम्बर्ग आ गए, जहां 1816 तक एक विद्यालय में रेक्टर तथा प्रोफेसर के पद पर कार्य किया। येना के दिनों के अन्त से ही हीगल नेपोलियन के व्यक्तित्व और उसके ऐतिहासिक–प्रगतिशील कार्यों के प्रशंसक बन गए थे। नेपोलियन को उन्होंने राज्य का महान् नायक, विश्वात्मा आदि संज्ञाएँ दीं। उन्हें आशा थी कि नेपोलियन और उसके सुधारात्मक कार्य अर्द्धसामन्ती जर्मनी में भी प्रगतिशील परिवर्तन लाने और बुर्जुआ अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं एवं सांविधानिक–प्रतिनिधिक संस्थाओं की स्थापना में सहायक होंगे। नेपोलियन का पतन हीगल के लिए विश्व इतिहास के स्तर की ट्रैजेडी थी। उन्हें 'कजाकों बश्कीरों तथा प्रशाई देशभक्तों' और 'अन्य श्रेष्ठ मुक्तिदाताओं' की विजय पसन्द नहीं आयी थी। न्यूरेम्बर्ग काल में हीगल ने 'तर्क विज्ञान' नामक रचना प्रकाशित की। अक्टूबर 1816 में हीगल हाइडलबर्ग

विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बन गए। 1817 में उन्होंने 'ब्युर्टेम्बर्ग राज्य की श्रेणी सभा की रिपोर्ट' नामक रचना प्रकाशित की जिसमें वंशागत, सांविधानिक ढंग से गठित, सीमित राजतन्त्र का समर्थन किया गया। हाइडलबर्ग में बिताए वर्षों में ही उनका 'दर्शन शास्त्र विश्वकोश' (1817) भी प्रकाशित हुआ जिसका तीसरा भाग–'आत्मा का दर्शन' उनके अधिकार दर्शन विषयक आधारभूत प्रस्थापनाओं को समर्पित है। अक्टूबर 1818 से 14 नवम्बर 1831 तक (लगभग मृत्युपर्यन्त) हीगल बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहे। इस काल में उनकी राजनीतिक विचारधारा में अनुदारवाद ने जोर पकड़ा। 61 वर्ष की उम्र में 14 नवम्बर 1831 को अचानक हैजे की बीमारी से उनका देहान्त हो गया।

बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के रूप में हीगल को अपूर्व ख्याति मिली। उन्हें जर्मनी का राष्ट्रीय दार्शनिक कहा जाने लगा। उनके भाषणों को सुनने के लिए विद्यार्थियों और विद्वानों की भीड़ लगी रहती थी। उनके निधन के बाद हीगल को पढ़ना, उनके दर्शन पर चर्चा करना एक फैशन सा हो गया। कोई भी दार्शनिक या विचारक अपनी विद्वता की छाप तब तक नहीं छोड़ सकता था जब तक वह यह सिद्ध न कर दे कि उसने हीगल के ग्रन्थों को पढ़ा है। मार्क्स तक को हीगल पढ़ना पड़ा। 19वीं शताब्दी में उन्हें न केवल जर्मनी का चिन्तक माना जाता था बल्कि प्लेटो और अरस्तू की कोटि का विश्व स्तर का दार्शनिक माना जाने लगा।

15.3 प्रमुख रचनाएँ

हीगल न केवल एक महान् दार्शनिक था अपितु एक विद्वान लेखक भी था। उसकी रचनाओं की परिधि दर्शन और राजनीति के क्षेत्रों से भी अधिक आगे थी। उसके कृतित्व की परिधि में दर्शन, आध्यात्म, कला, आचार, इतिहास और राजनीति सभी आते हैं। उसकी कतिपय उल्लेखनीय रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

(1) फिनोमिनोलॉजी ऑफ स्पिरिट
(2) साइन्स ऑफ लॉजिक
(3) ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि फिलोसोफिकल साइन्स
(4) फिलोसफी ऑफ लॉ या फिलासफी ऑफ राइट
(5) कान्स्टीट्यूशन ऑफ जर्मनी
(6) दि फिलोसफी ऑफ हिस्ट्री

हीगल के दार्शनिक विचारों का श्रेष्ठतम निचोड़ उसके ग्रन्थ 'फिनोमिनॉलोजी ऑफ स्पिरिट' में मिलता है। यह राजनीतिक विचारों से सम्बन्धित ग्रन्थ नहीं है, अपितु सार्वभौमिक सत्य की खोज मात्र है। इस ग्रन्थ में हीगल यह प्रतिपादित करता है कि इस विश्व के मूल में जो प्रधान वस्तु है वह 'विश्वात्मा' है। और 'विश्वात्मा' का विचार ही उसके समस्त राजनीतिक दर्शन का आधार–स्तम्भ है। 'साइन्स ऑफ लॉजिक' में हीगल ने तर्क के तरीकों का विश्लेषण नहीं किया है, लेकिन तर्क हेतु प्रयोग की जाने वाली धारणाओं का विश्लेषण किया है। इस दृष्टि से दर्शन, हीगल के अनुसार एक वस्तुनिष्ठ, निर्णयात्मक विज्ञान है। अपने उपागम को परिकल्पनात्मक कहते हुए हीगल उसका खुलासा विलोमों का उसकी एकता में द्वन्द्वात्मक ज्ञान, नकारात्मक में सकारात्मक का ज्ञान के रूप में करते हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि फिलोसोफिकल साइन्स' में अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं से सम्बन्धित व्यापक प्रश्नों की चर्चा करते हैं। उनकी सहानुभूति कानूनों का अंकुश मानने वाले वंशागत राजतन्त्र के साथ है। 'फिलोसफी ऑफ राइट' राजनीतिक दर्शन के इतिहास में हीगल की महत्वपूर्ण रचना मानी जाती है। इसमें स्वतन्त्रता की प्राकृतिक और सामाजिक अवधारणा प्रस्तुत की गई है। स्वतन्त्रता की अवधारणा ही उनके राजनीतिक चिन्तन को समझने में हमारी सहायता करती है। 'कान्स्टीट्यूशन ऑफ जर्मनी' उनके जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो सकी थी। इसमें टुकड़ों–टुकड़ों में विभाजित जर्मनी की हालत पर प्रकाश डालते हुए वह एक नीति, एक शासन और एक विधान से युक्त केन्द्रीकृत जर्मन राज्य को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता को प्रमाणित करते हैं। 'हिस्ट्री ऑफ फिलोसफी' में स्वतन्त्रता बोध के क्षेत्र में हुई ऐतिहासिक प्रगति पर प्रकाश डाला गया है। इसमें हीगल ने इतिहास की द्वन्द्वात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है।

आलोचकों के अनुसार हीगल की रचनाओं का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। उसकी अधिकांश रचनाएँ उन विद्यार्थियों के नोट्समात्र हैं जिन्होंने कक्षाओं में उसके व्याख्यानों को सुनते हुए तैयार किए थे। केवल 'साइन्स ऑफ लॉजिक' और 'फिनोमिनोलॉजी ऑफ स्पिरिट' उसने अपनी कलम से लिखी है। उसकी सभी रचनाएँ दुर्बोध एवं क्लिष्ट हैं और उन्हें जर्मन मूर्खता का स्मारक समझा जाता है। उसके विचारों को समझना कठिन है और ऐसा कहा जाता है कि हीगल ने स्वयं अपने विचारों के बारे में कहा था कि "केवल एक ही व्यक्ति ने मेरे सिद्धांतों को समझा है, यह भी सम्भव है कि उसने भी इन्हें न समझा हो।" अन्य आलोचकों ने उसे 'रहस्यवादी मूर्ख' तथा 'अनपढ़ ढोंगी' तक कह डाला है जो स्वयं अपने दर्शन को नहीं समझ पाया था। फिर भी वेपर का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'वह जितना क्लिष्ट है उतना ही महत्वपूर्ण भी है।'

15.4 हीगल के दर्शन के स्रोत

हीगल के दार्शनिक विचारों के बहुआयामी स्रोत हैं। रूसो के दर्शन का उसने विस्तृत अध्ययन किया तथा यूनानी दार्शनिकों का उसके जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा। प्लेटो और अरस्तू के राज्य संबंधी विचारों का बचपन से ही उस पर प्रभाव देखा गया। "हीगल स्कूल में पढ़ाई के दौरान ही प्राचीन यूनानी–रोमन इतिहास तथा साहित्य में रुचि लेने लग गए थे। इस काल में उनके विचारों में प्राचीन यूनान का एक कुछ हद तक आदर्शीकृत बिम्ब और लोगों के वास्तविक नेथ्तक संगठन के नाते राज्य के बारे में प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों के प्रति रुझान देखे जा सकते हैं।" उसने ईसा के जीवन चरित्र को लिखकर ईसाई धर्म की नैतिक असत्यता के रूप में आलोचना की। काण्ट और फिक्टे के प्रभाव में उसने अंग्रेजी विचाराधारा की इन्द्रियों से प्राप्त संवेदना तथा परीक्षण द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, का खण्डन किया। इन दोनों दार्शनिकों की भांति, हीगल का भी विश्वास था कि अन्तिम सत्य तथा इस विश्व से सम्बन्धित समस्याओं का निराकरण केवल दार्शनिक चिन्तन द्वारा ही किया जा सकता है। साथ ही वह इन्हीं की तरह यह भी स्वीकार करता था कि विश्व का आन्तरिक स्वरूप नैतिक एवं आध्यात्मिक है तथा स्वतन्त्रता विवेक बुद्धि के अनुसार कार्य करने को ही कहते हैं।

हीगल के दृष्टिकोणों के निर्माण और बौद्धिक विकास में फ्रांसीसी क्रान्ति का भी प्रबल प्रभाव पड़ा, किन्तु जहां वह इस क्रान्ति के मुख्य विचारों को स्वीकार करते थे और अपने सृजनात्मक विकास के आरम्भिक चरणों में सामन्तवाद तथा निरंकुशतन्त्र विरोधी बुर्जुआ क्रान्ति की आवश्यकता से सहमत थे, वहां वह जैकोबिनी आतंक और रोबेसपियर के अनुयायियों के घोर आलोचक भी थे।

हीगल के विचारों पर जर्मन दार्शनिकों काण्ट, फिक्टे, यूनानी दार्शनिकों–प्लेटो, अरस्तू तथा फ्रांसीसी दार्शनिकों माण्टेस्क्यू और रूसो का बहुत प्रभाव पड़ा। फिर भी हीगल के विचारों की अपनी विशेषता है तथा उसने इन विचारकों से उन्हीं सिद्धांतों को ग्रहण किया जो उसको रुचिकर लगे।

15.5 हीगल के राजनीतिक चिन्तन का दार्शनिक आधार : विश्वात्मा का विचार

काण्ट के ठीक विपरीत हीगल अद्वैतवादी विचारक है। काण्ट में एक प्रकार का द्वैतवाद था। उसने केवल दृश्यजगत की वस्तुओं को ही बुद्धिगम्य माना था। उसके अनुसार इस जगत के मूल में जो सत्य है वह बुद्धिगम्य नहीं है। उसका आभास हमें व्यावहारिक बुद्धि द्वारा ही होता है। हीगल ने इस विचारधारा का खण्डन किया। उसके अनुसार यदि मूल वस्तु अज्ञात है तो उसकी कल्पना करना ही व्यर्थ है तथा उसका आभास हो ही कैसे सकता है? साथ ही यह कहना कि कोई वस्तु अज्ञात है इस बात को सूचित करता है कि वह वस्तु पूर्ण अज्ञात नहीं है, अन्यथा यह कहा ही नहीं जा सकता कि वह वस्तु अज्ञात है। हीगल ने इस तर्क द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सभी कुछ बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है।

अद्वैतवादी हीगल के राजनीतिक चिन्तन का दार्शनिक आधार उसके 'विश्वात्मा' की अवधारणा में खोजा जा सकता है। 'विश्वात्मा' की अवधारणा एक आध्यात्मिक विचार है। उसने विश्व इतिहास की विभिन्न घटनाओं को एक विकासक्रम में जोड़कर विकास के एक अनवरत क्रम का निर्माण किया और यह सिद्ध किया कि इतिहास 'विश्वात्मा' की अभिव्यक्ति की कहानी है। उसके अनुसार इतिहास में घटित होने वाली सभी घटनाएँ "विश्वात्मा' के निरन्तर विकास के विभिन्न चरणों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

हीगल विशुद्ध अद्वैतवादी विचारक है और इस जगत में दिखाई देने वाली जड़ एवं चेतन सभी वस्तुओं का उद्भव 'विश्वात्मा' के रूप में देखता है। वेदान्तियों के 'तत्वमसिः', 'अयमात्मा ब्रह्म' की भांति हीगल का दार्शनिक सूत्र है–"जो कुछ वास्तविक है वह बुद्धिगम्य है और जो कुछ बुद्धिगम्य है वह वास्तविक है।"

काण्ट के द्वैतवाद का सार था कि केवल दृश्य जगत ही बुद्धिगम्य है, इसके अन्तरंग में जो मूल तत्व है उसे हम नहीं जान सकते। हीगल ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा कि मूल वस्तु को अज्ञेय कहना ही यह दर्शाता है कि हम उसके बारे में थोड़ा बहुत जानते हैं।

हीगल के अनुसार जड़ और चेतन में, आत्मा और प्रकृति में अन्तर करना तर्क संगत नहीं है। ये सब विश्वात्मा के विभिन्न रूप हैं। वस्तुतः इस विश्व में जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब विश्वात्मा के विशाल विस्तार में समा जाती हैं। यह सारा विश्व एक ही समष्टि है। इसकी सभी वस्तुओं में विश्वात्मा ओत–प्रोत है।

हीगल के अनुसार यह विश्वात्मा मकड़ी के जाले की भांति अपनी अन्तः प्रेरणा से अनेक रूपों और श्रेणियों में क्रमशः प्रस्फुटित होती हुई पुनः अपने प्रारम्भिक निर्विकार रूप में लौट आती है। यही सृष्टि का क्रम है।

हीगल के अनुसार विश्वात्मा के विकास में अनेक सोपान हैं। प्रत्येक सोपान अगले सोपान का बोध कराता है। ये सोपान आन्तरिक तथा बाह्य जगत दोनों में पाए जाते हैं। आन्तरिक सोपान विचार जगत का बोध कराते हैं तथा बाह्य सोपान दृ श्य जगत का।

हीगल के अनुसार विश्वात्मा के विकास का प्रारम्भिक रूप भौतिक अथवा जड़ जगत है उसके बाद यह वनस्पतियों और प्राणियों में प्रकट होती है और इसका उच्चतम रूप मनुष्य में अभिव्यक्त होता है। इस विकास क्रम में मनुष्य की स्थिति सर्वोपरि है क्योंकि उसमें चेतन आत्मा रहती है। हीगल यह मानता है कि इसके बाद भी विश्वात्मा का विकास अवरुद्ध नहीं होता क्योंकि सम्पूर्ण विश्व विकास के क्रम से बंधा है तथा वह विश्वात्मा की ओर उन्मुख है। विश्वात्मा का बाह्य विकास विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के रूप में होता है। सामाजिक संस्थाओं में राज्य का स्थान सर्वोच्च है, क्योंकि वह अन्य सभी सामाजिक संस्थाओं का नियामक एवं रक्षक है। यही कारण है कि हीगल ने राज्य को विश्वात्मा का पार्थिव स्वरूप अथवा पृथ्वी पर विद्यमान ईश्वर कहा है। इसी से राज्य एक नैतिक एवं आध्यात्मिक संस्था है। नैतिकता तथा विधि निर्माण सभी कुछ राज्य के अन्तर्गत है। वास्तव में नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का बोध मनुष्य को राज्य के अन्तर्गत ही होना सम्भव है। इसी से राज्य का अपना निजी व्यक्तित्व है तथा उसकी अपनी इच्छा शक्ति है जिसका प्रभाव सभी के ऊपर समान रूप से रहता है। चूंकि राज्य एक नैतिक संस्था है तथा उसका स्थान सर्वोपरि है इसलिए उसे साधारण नैतिकता के नियमों से नहीं बांधा जा सकता। हीगल द्वारा प्रतिपादित 'विश्वात्मा' शाश्वत् है, सतत् क्रियाशील और गतिशील है। इसका विकास द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से निरन्तर होता रहता है। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से 'विश्वात्मा' के विकास को हीगल तीन क्रमों में विभाजित करता है। पहली स्थिति पूर्वी देशों की थी; दूसरी यूनानी और रोमन राज्यों की थी; तीसरी जर्मन राज्य के उत्थान की स्थिति होगी। उसने विश्वात्मा के विकास के इस क्रम का उल्लेख करते हुए घोषणा की कि "प्रशा (जर्मनी) शीघ्र ही एक प्रबल शक्तिशाली राज्य के रूप में विकसित होगा और वह यूरोप के समूचे महाद्वीप का अधीश्वर बन जाएगा।"

हीगल के 'विश्वात्मा' के विचार की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. **'विश्वात्मा' का विचार बहुनामी अवधारणा है**–हीगल द्वारा प्रतिपादित 'विश्वात्मा' का विचार अनेक नामों से जाना जाता है। हीगल स्वयं इसे 'Weltgeist' कहता है। इसे 'विचार', आत्मा, विवेक, दैवीय मानस, आदि नामों से पुकारा जाता है।
2. **आध्यात्मिक अवधारणा है**–यह एक आध्यात्मिक विचार है। काण्ट के द्वैतवाद एवं फिक्टे के विराट अहंवाद के बदले हीगल ने निरपेक्ष प्रत्ययवाद का मण्डन किया जिसके अनुसार जगत भी आध्यात्मिक है और मानव तथा जगत दोनों ही विश्वात्मा के प्रकाशन हैं।
3. **पूर्ण सत्ता**–हीगल के अनुसार विश्वात्मा जगत की सब वस्तुओं को अपने में ओत–प्रोत करने वाली स्वतः पूर्ण सत्ता है।
4. **गतिशीलता**–हीगल की विश्वात्मा अनन्त शक्ति का रूप है, वह सदैव सक्रिय और गतिशील बनी रहती है, इससे जगत में निरन्तर परिवर्तन आते रहते हैं।
5. **द्वन्द्वात्मक पद्धति से विकास**–हीगल के अनुसार विश्वात्मा का विकास सीधा और सरल नहीं है, वह टेढ़ा–मेढ़ा है। उसने विश्वात्मा के विकास की एक विशेष पद्धति बताई जो आन्तरिक विरोध द्वारा संचालित होती है। द्वन्द्वात्मक पद्धति कहते हैं।
6. **विश्वात्मा की चरम परिणति**–मनुष्य और राज्य–हीगल आध्यात्मिक क्षेत्र में विश्वात्मा के विकास का चरम रूप मनुष्य को मानता है और बाह्य क्षेत्र में विश्वात्मा की चरम परिणति 'राज्य' में मानता है। वह राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार मानता है।

15.5.1 हीगल के राजनीतिक दर्शन की द्वन्द्वात्मक पद्धति

हीगल के दर्शन का आधार स्तम्भ है–'विश्वात्मा की अवधारणा' और विश्वात्मा की विशेषताएँ हैं–सतत् गतिशीलता। अतः 'विश्वात्मा' की इस स्वतः प्रेरित गतिशीलता को अभिव्यक्त करने वाली पद्धति को उसने 'द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया' का नाम दिया है। उसने अपने समस्त दार्शनिक और राजनीतिक सिद्धांतों को द्वन्द्वात्मक पद्धति की पृष्ठभूमि पर आधारित किया।

द्वन्द्वात्मक पद्धति का विचार हीगल के दर्शन का मूल तत्व अवश्य है, किन्तु यह उसका मौलिक विचार नहीं है। वस्तुतः इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सुकरात ने किया था। प्राचीन यूनान में वाद–विवाद द्वारा सत्य का अन्वेषण करने की प्रवृत्ति बहुत प्रचलित थी और सत्य का अन्वेषण करने के लिए सुकरात, प्लेटो आदि विद्वानों ने इसी पद्धति का प्रयोग किया था। यूनानी भाषा में 'डायलेक्टिक' शब्द 'डाइलेगो' से बना है जिसका अर्थ होता है–'वाद–विवाद' या 'तर्क–वितर्क'। यूनानी विचारकों का विश्वास था कि वाद–विवाद तथा तर्क–वितर्क द्वारा सत्य तक पहुंचा जा सकता है, परन्तु हीगल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग सुकरात के अनुरूप न करके अरस्तू के 'राज्य चक्र' के विचार की तरह किया। अरस्तू का यह विचार था कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, हर वस्तु अति मात्रा में पहुंचकर स्वयमेव अपनी विरोधी वस्तु को उत्पन्न करती है। उसके अनुसार जब राजतन्त्र स्वार्थ सिद्धि में लिप्त हो जाता है तो निरंकुशतन्त्र में, जब कुलीनतन्त्र भ्रष्ट हो जाता है तो धनिकतन्त्र में और जब सर्वजनतन्त्र की दूषित हो जाता है तो

जनतन्त्र में परिवर्तन हो जाता है और इस प्रकार 'परिवर्तन चक्र' चलता रहता है। हीगल ने इसी 'द्वन्द्व' का लाभ उठाया।

हीगल ने यूनानियों से द्वन्द्वात्मक पद्धति को ग्रहण करते हुए उसमें मौलिक परिवर्तन कर दिए और इसे वाद–विवाद के स्तर से उठाकर, वाद, प्रतिवाद और संवाद के स्तर पर ले गया। हीगल के अनुसार यूनानियों के विचार में द्वन्द्व की प्रक्रिया की जटिलता को दर्शाता है और उसका मत है कि यह प्रक्रिया तीन चरणों में चलती है। हीगल के अनुसार किसी वस्तु की वास्तविकता की पहचान में तीन चरण होते हैं–(1) उसका होना; (2) उसका प्रतिरोध अर्थात् वह क्या नहीं है और (3) दोनों का संश्लेषण अर्थात् उसका बन जाना।

हीगल के मतानुसार 'विश्वात्मा' के विकास क्रम राज्य का एक विशिष्ट स्थान है, पर विश्वात्मा के विकास की प्रक्रिया किस प्रकार होती है, उसके प्रमुख सोपान कौन–कौन से हैं तथा राज्य का किसलिए विशिष्ट स्थान है, ये सब बातें द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से ही जानी जा सकती हैं। हीगल का कहना है कि मानव सभ्यता का विकास सीधा और सपाट नहीं है, वह टेढ़ा–मेढ़ा है जिसे आध्यात्मिक चिन्तन या बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है। विकास की प्रक्रिया गतिशील तथा द्वन्द्वात्मक है साथ ही यह आन्तरिक विरोध के द्वारा संचालित होती है। इसका प्रत्येक सोपान वाद, प्रतिवाद तथा संवाद से बनी त्रयी के रूप में दिखायी देता है।

यहां एक बात समझ लेने की है और वह यह कि आन्तरिक और बाह्य विकास प्रक्रिया का वर्णन मानव बुद्धि के अनुसार होता है और क्योंकि मानव बुद्धि अपूर्ण है, अतः उसके द्वारा आंशिक सत्य का बोध होता है। मानव बुद्धि धीरे–धीरे सत्य की ओर उन्मुख होती है। किसी भी विषय के सत्य की जो प्रथम झलक मानव बुद्धि को मिलती है, वही 'वाद' है। आगे चलकर जब मनुष्य को उसकी अपूर्णता का आभास होता है और वह नए सत्य की खोज करता है तो वह 'प्रतिवाद' को जन्म देता है, परन्तु वाद की भांति यह प्रतिवाद की आंशिक सत्य ही रहता है, पूर्ण सत्य नहीं। अतः शीघ्र ही उसकी असत्यता का आभास भी मानव बुद्धि को होने लगता है और उसके विरुद्ध भी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। मनुष्य फिर वाद और प्रतिवाद के आंशिक सत्यों का मेलकर संवाद के रूप में एक नवीन सत्य की खोज करता है। इस प्रकार मनुष्य प्रत्येक त्रयी द्वारा सत्यान्वेषण की एक सीढ़ी चढ़कर उच्च स्तर पर पहुंचने का प्रयास करता है। आगे चलकर संवाद, पूर्ण सत्य होने के अभाव में, स्वयं वाद बन जाता है तथा विकास प्रक्रिया में एक नवीन त्रयी को जन्म देता है। इस प्रकार वाद, प्रतिवाद और संवाद का क्रम अबाध गति से चलता रहता है। यह क्रम सदैव आगे की ओर बढ़ता रहता है और तब तक बढ़ता रहेगा जब तक कि विकास की प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो जाती और पूर्ण सत्य की प्राप्ति नहीं होती।

सभ्यता के विकास क्रम को द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार समझाते हुए हीगल कहता है कि सबसे पहले प्रत्येक वस्तु का मौलिक रूप होता है जो वाद के रूप में होता है। विकसित होने की प्रकृति के कारण धीरे–धीरे यह विकसित होकर अपने में निहित अन्तर्विरोधों के कारण अपने विपरीत रूप को जन्म देता है जो उसके प्रतिवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। विकास की प्रक्रिया बराबर जारी रहती है, अतः प्रारम्भ में इन दोनों रूपों में संघर्ष होता है जिससे अन्ततः उसमें समन्वय एवं सन्तुलन स्थापित होता है और वह संवाद के रूप में प्रकट होता है। यह संवाद, वाद और प्रतिवाद दोनों का समन्वित रूप होने के कारण इन दोनों से विकास की उच्च स्थिति का द्योतक होता है, लेकिन विकास की प्रक्रिया यहां आकर रुकती नहीं वरन् निरन्तर जारी रहती है। अतः कालान्तर में यह संवाद पुनः वाद में अपने आपको परिवर्तित कर लेता है और पुनः अपने प्रतिवाद को जन्म देता है जिससे पुनः संवाद की स्थिति पैदा होती है। इस तरह वाद, प्रतिवाद और संवाद की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है और सभ्यता अपने विकास के मार्ग पर अग्रसर होती रहती है। अतः हीगल के अनुसार सभ्यता के विकास का मार्ग त्रिकोणात्मक है।

सामाजिक विधान के क्षेत्र में कानून को वह वाद मानता है। इसका स्वरूप बाह्य है। इसका निर्माण करने वाली त्रयी सम्पत्ति, संविदा तथा अपराध की है। इन्हीं की व्यवस्था के लिए कानून बनता है, परन्तु कानून में भी विरोधाभास है, वह पूर्ण नहीं है। कानून का अभिप्राय, उसका इरादा तथा उसकी भलाई या बुराई उसमें अन्तर्विरोध उत्पन्न करते हैं। इन अन्तर्विरोधी तत्वों का स्रोत नैतिकता है जो आन्तरिक स्वरूप अर्थात् प्रतिवाद है। कानून तथा नैतिकता के तत्वों के सम्मिश्रण से संवाद के रूप में सामाजिक नीतिशास्त्र का अभ्युदय होता है। यह बाह्य तथा आन्तरिक दोनों तत्वों का सम्मिश्रण है।

15.5.2 द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा समाज तथा राज्य के विकास का अध्ययन

द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा हीगल समाज और राज्य के विकास का अध्ययन करता है। सामाजिक विकास क्रम में परिवार सर्वप्रथम सामाजिक व्यवस्था है। परिवार वाद के रूप में उपस्थित होता है जहां से हीगल राज्य का विश्लेषण करना प्रारम्भ करता है। परिवार का आधार पारस्परिक विश्वास और स्नेह है। इसमें एकत्व की भावना रहती है तथा पति–पत्नी, सन्तान, आदि सभी एकत्व का अनुभव करते हैं। उनके हितों में परस्पर विरोध नहीं होता, किन्तु धीरे–धीरे बच्चे बड़े होते हैं तथा उनके विचारों का क्षेत्र व्यापक होता जाता है, वे परिवार को अपनी प्रगति में बाधक मानने लगते हैं। अतः परिवार से निकलकर वे व्यापक सामाजिक व्यवस्था में प्रवेश करते हैं। इस सामाजिक व्यवस्था को हीगल 'बुर्जुआ समाज'

का नाम देता है तथा यह व्यवस्था परिवार की प्रतिक्रियास्वरूप 'प्रतिवाद' के रूप में सामने आती है। इस व्यवस्था में व्यक्ति को संघर्ष करना पड़ता है और सबको अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ता है। इस व्यवस्था में उद्योग तथा व्यापार की पर्याप्त उन्नति होती है तथा व्यापारिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा का श्रीगणेश होता है। आगे चलकर मनुष्यों को यह व्यवस्था भी असन्तोषपूर्ण दिखाई देती है। इसका कारण है व्यक्तिगत संघर्ष की तीव्रता। जब व्यक्तिगत संघर्ष बहुत बढ़ जाता है तब वह व्यक्ति के विकास का साधन न रहकर बाधक बन जाता है। अतः इस संघर्ष को नियमित और सीमाबद्ध करने के लिए राज्य प्रादुर्भाव होता है। राज्य, परिवार और समाज का सामंजस्य (संवाद) है। राज्य व्यक्तियों की रक्षा भी करता है तथा उन्हें पारस्परिक संघर्ष करके आगे बढ़ने का अवसर भी देता है। हीगल के अनुसार राज्य सभी संस्थाओं से उच्चतर संस्था है जिसमें परिवार तथा व्यवस्थित समाज दोनों के गुणों का समावेश है। द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा हीगल का मुख्य उद्देश्य जर्मन राष्ट्रवाद के पूर्णत्व को प्रमाणित करना था क्योंकि उस समय जर्मनी अनेक छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त था और राष्ट्रीय भावनाएँ लगभग मिटती–सी जा रही थीं। अतः उनका कहना था कि यूनानी राज्य वाद थे, धर्मराज्य उसके प्रतिवाद और राष्ट्रीय राज्य उनका एक संवाद होगा। हीगल की कामना थी कि जर्मनी में राष्ट्रीय राज्य का उदय होगा। जर्मन जाति जो विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति थी, एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में संगठित होकर एक ऐसे राष्ट्र के रूप में उभरेगी जो विश्व में अद्वितीय हो और जिसे ईश्वर की इच्छा का प्रतीक कहा जा सके।

15.5.3 द्वन्द्वात्मक पद्धति की विशेषताएँ–हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक पद्धति की निम्न विशेषताएँ हैं–

1. संघर्ष ही विकास का आधार है–द्वन्द्वात्मक पद्धति की मूल मान्यता है कि प्रगति या विकास दो परस्पर विरोधी वस्तुओं या शक्तियों में द्वन्द्व या संघर्ष का परिणाम है। वस्तुतः व्यक्ति और समाज का विकास सीधी रेखा में नहीं होता। हीगल के शब्दों में "मानव सभ्यता की प्रगति एक सीधीरेखा के रूप में नहीं हुई है। इसकी प्रगति लगभग बवण्डर के धक्के खाते हुए जलपोत की तरह टेढ़ी–मेढ़ी है।"

2. स्वतः प्रेरित और स्वतः संचालित–इस पद्धति की प्रमुख विशेषता इसमें स्वतः संचालित होने का गुण है। इसकी स्वतः चलायमान होने की शक्ति का आधार इसमें निहित अन्तःविरोधी संघर्ष की प्रवृत्ति है। वाद धीरे–धीरे स्वतः प्रतिवाद बन जाता है और प्रतिवाद स्वतः ही संवाद बन जाता है। संवाद नया वाद बनकर प्रतिवाद को जन्म देने के लिए बाध्य होता है। हीगल ने इसे 'ऐतिहासिक आवश्यकता' कहा है।

3. सत्य के अन्वेषण का अद्वितीय तरीका–द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा हीगल ने सत्य के अन्वेषण का व्यवस्थित नियम बतलाया है। हीगल ने यही दर्शाया कि किसी भी वस्तु की वास्तविकता एक वस्तु को उसकी प्रतिकूल वस्तु से तुलना के द्वारा ही की जा सकती है। अतः भलाई का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि बुराई का अस्तित्व है, गर्मी का इसलिए क्योंकि सर्दी का है।

द्वन्द्वात्मक पद्धति की विशेषता बतलाते हुए राइट ने ठीक ही लिखा है–"द्वन्द्ववाद विशुद्ध तर्क की अत्यन्त निराकार धारणा से प्रारम्भ होता है और इसकी समाप्ति विचार के अत्यन्त साकार रूप–अपनी पूर्ण व्यापकता तथा साकारता के साथ निरपेक्ष बुद्धि के दर्शन में होती है।" डॉयल के अनुसार, "द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा हीगल ने ऐसी व्यवस्था को लागू किया है जिसके द्वारा मस्तिष्क विकास की प्रक्रिया का अध्ययन कर सकता है।"

15.5.4 द्वन्द्वात्मक पद्धति की आलोचना–यद्यपि बौद्धिक प्रक्रियाओं को समझने की दृष्टि से हीगल की इस पद्धति को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है, लेकिन इसकी विभिन्न दृष्टिकोणों से आलोचना की गई है और इसके विभिन्न दोषों की ओर संकेत कर इसे एक मनगढन्त पद्धति सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। आलोचकों के तर्क अग्रलिखित हैं–

1. विभिन्न वस्तुओं में विरोध की अनावश्यक कल्पना–द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा हीगल ने विभिन्न वस्तुओं में विरोध की अनावश्यक कल्पना कर ली है। हीगल जहां–कहीं थोड़ी भिन्नता देखता है वहां तुरन्त द्वन्द्वात्मक विरोध की कल्पना कर लेता है और वाद, प्रतिवाद व संवाद के त्रिकोण की स्थापना में लग जाता है। बण्ड रसेल के अनुसार, "निर्धनता और सम्पन्नता दो परस्पर विरोधी नहीं वरन् दो विभिन्न स्थितियां भी हैं, लेकिन वह इन्हें परस्पर विरोधी मान लेता है।"

2. अस्पष्ट पद्धति–आलोचकों के अनुसार हीगल की पद्धति अस्पष्ट एवं क्लिष्ट है। उसके द्वन्द्व की अस्पष्टता को उसके द्वारा प्रस्तुत (अ) समाज और परिवार (ब) कला और धर्म के उदाहरणों में देखा जा सकता है। उसके अनुसार परिवार का प्रतिवाद समाज है, जबकि परिवार के समस्त गुण प्रेम, स्नेह, एकत्व, आदि समाज में जाकर नष्ट नहीं होते। समाज तो परिवार का विकसित ही नहीं विराट रूप है। इसी प्रकार कला का विरोधी धर्म का होना पूर्ण अनुचित लगता है। यह कहना बहुत कठिन है कि कला और धर्म आपस में विरोधी तत्व हैं।

3. शाब्दिक जटिलता–द्वन्द्वात्मक पद्धति की आलोचना करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि हीगल ने विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का, जिनकी परिभाषा करना कठिन है, बड़ी अस्पष्टता से प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए, हम दो शब्दों 'विचार' और 'अन्तर्विरोध' को ले सकते हैं। हीगल के अनुसार प्रत्येक प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन–धर्म, दर्शन, अर्थशास्त्र, विधि अथवा राजनीति का परिवर्तनद्'विचार' में उन्नति के कारण होता है। यह प्रयोग संयोगवश ही नहीं किया

गया था, प्रत्युत उसकी तत्वमीमांसा और द्वन्द्वात्मक पद्धति के कारण आवश्यक था। उसका आदर्शवाद मस्तिष्क की प्रक्रिया को प्रकृति की प्रक्रिया के साथ समीकृत करने पर निर्भर था। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति इस बात पर निर्भर थी कि विचार के नियम को ऐसे समस्त विषयों के ऊपर लागू कर दिया जाए जिनमें प्रक्रिया एक अनिवार्य विशेषता होती है। समस्त परिवर्तन विचार की प्रेरणा के फलस्वरूप होते हैं। उनका उद्देश्य अन्तर्निहित अन्तर्विरोधों का निवारण करना होता है जिससे कि सामरस्य अथवा तार्किक संगति के एक उच्चतर धरातल को प्राप्त कर लिया जाए। यदि इन शब्दों को ठीक–ठीक अर्थ दिया जाए तो फिर सिद्धांत ठीक नहीं बैठता। विज्ञान अथवा दर्शन में जो भी नए–नए परिवर्तन होते हैं, उनका कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वे आरम्भिक सिद्धांतों के अन्तर्विरोधों के कारण सम्भव हुए हैं। जब विज्ञान और दर्शन के बारे में ही यह बात है, तो अन्य कम बौद्धिक समाज शास्त्रों के बारे में क्या कहा जा सकता है? न्यायमूर्ति होम्स ने विधि के बारे में कहा था कि उसमें विधि की अपेक्षा अनुभव का अधिक महत्व होता है। हीगल ने विचार को सार्वभौम रूप देने की जो कोशिश की, उसका उसकी शैली के इतिहास लेखन पर दो तरह से असर पड़ा या तो असंगत तथ्यों को मनमाने ढंग से तर्कसम्मत माना गया या सामरस्य या सुसंगति जैसे शब्दों को ऐसा अस्पष्ट अर्थ दिया गया कि उनका कोई उपयोग ही नहीं रहा। इसी प्रकार हीगल द्वारा प्रयुक्त 'अन्तर्विरोध' शब्द का कोई सटीक अर्थ नहीं था। हीगल ने उसका बड़ी अस्पष्ट रीति से विरोध अथवा वैपरीत्य के अर्थ में प्रयोग किया था। कभी–कभी इसका अर्थ ऐसी भौतिक शक्तियां होता था जो विरोधी दिशाओं अथवा कारणों की ओर संचालित होती हैं तथा जिनके फलस्वरूप विरोधी परिणाम सामने आते हैं। उदाहरण के लिए, हम जीवन और मरण को ले सकते हैं। कभी–कभी विरोध का अभिप्राय नैतिक गुणावगुण होता था। वास्तविक व्यवहार में द्वन्द्वात्मक पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का मनमाने ढंग से प्रयोग किया गया था।

4. वैज्ञानिकता का अभाव–आलोचकों के अनुसार द्वन्द्वात्मक पद्धति में वैज्ञानिकता का अभाव है। इसमें किसी भी वस्तु को मनमाने ढंग से वाद और किसी को प्रतिवाद के रूप में माना जा सकता है। अतः इस पद्धति के अनुसार किसी भी अच्छी व्यवस्था को बुरी और बुरी व्यवस्था को अच्छी सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, इस पद्धति का प्रयोग करके स्वयं हीगल ने निरंकुश राजतन्त्र को विश्व की सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था सिद्ध किया था। वेपर के शब्दों में, "हीगल की यह पद्धति नाममात्र के लिए ही वैज्ञानिक है क्योंकि इसका विकास विज्ञान के उद्यान में नहीं वरन् प्रशिया के शासन की दासता के रोड़े पर हुआ है।"

हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति की अलोचना करते हुए केटलिन ने कहा है कि अपने विभिन्न अनुभवों को वाद, प्रतिवाद और त्रयी के रूप में विभक्त करना एक मनोरंजक बौद्धिक व्यायाम है। सेबाइन के अनुसार हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति में ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि और यथार्थवाद, नैतिक अपील, स्वच्छन्द आदर्शीकरण और धार्मिक रहस्यवाद का पुट था..... द्वन्द्वात्मक पद्धति ने नैतिक निर्णयों को भी तार्किक आधार पर प्रतिष्ठित किया। नैतिक निर्णय नैतिक अन्तर्दृष्टि पर निर्भर होते हैं जो हर एक के लिए खुली होती है। इन दोनों को मिलाने की कोशिश में द्वन्द्वात्मक पद्धति किसी के भी अर्थ को स्पष्ट न कर सकी बल्कि उसने दोनों के अर्थ को उलझा दिया।

15.5.5 द्वन्द्वात्मक पद्धति के गुण–उपर्युक्त आलोचना और कमियों के बावजूद द्वन्द्वात्मक पद्धति के अग्रलिखित गुण हैं–

1. इस पद्धति द्वारा वस्तुओं के यथार्थस्वरूप को समझने में मदद मिलती है। वस्तुओं के विरोधी तत्वों–वाद–प्रतिवाद को समझने से असली स्वरूप उभरकर सामने आता है।
2. इस पद्धति से स्पष्ट होता है कि मानव सभ्यता का विकास कोई आकस्मिक घटना नहीं है। हीगल का द्वन्द्ववाद मानव सभ्यता के विकास की एक नवीन धारणा प्रस्तुत करता है।
3. द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा प्रतिपादित विकास का नियम अधिक तार्किक है। पूर्व में यह माना जाता था कि सभ्यता का विकास सरल रेखा में निरन्तर उन्नति के पथ पर होता रहता है। हीगल ने यह प्रतिपादित किया कि प्रगति में अनेक उतार–चढ़ाव आते हैं और प्रगति की रेखा सपाट न होकर टेढ़ी–मेढ़ी होती है।
4. हीगल की यह पद्धति मानव की बौद्धिक क्रियाओं के मनोविज्ञान को समझने में बहुत ही सहायक है। रसेल के अनुसार, "हीगल की पद्धति मानव मन की कार्य–प्रणाली को सुचारू रूप से चित्रित करती है क्योंकि कई बार मानव मन इसी प्रकार के विरोधों के मार्ग से आगे बढ़ता है।"

15.6 हीगल का राज्य सिद्धांत

हीगल के राज्य संबंधी सिद्धांत' को समझने के लिए उसके दो ग्रन्थ–फिनोमिनोलॉजी ऑफ स्पिरिट' तथा 'फिलोसफी ऑफ राइट' बड़े महत्वपूर्ण हैं। उसके राज्य संबंधी दर्शन को जर्मनी की तात्कालिक राजनीतिक दुर्दशा ने भी बहुत अधिक प्रभावित किया है। उसने बड़े दुखपुर्ण शब्दों में जर्मनी की राजनीतिक कातरता का वर्णन किया है और राज्य का महत्व बुलन्द शब्दों में घोषित किया ताकि जर्मनी एकीकृत हो सके। उसके राज्य सिद्धांत को निम्नलिखित शीर्षकों में समझना आसान होगाः

15.6.1 राज्य 'विश्वात्मा' का पृथ्वी पर अवतार है—हीगल के राजनीतिक दर्शन का आधार 'विश्वात्मा' का विचार है। विश्व में पायी जाने वाली समस्त जड़ और चेतन वस्तुएँ इसी 'विश्वात्मा' से निःसृत हुई हैं। विश्वात्मा का धीरे–धीरे विकास होता रहता है। सर्वप्रथम जड़ जगत में इसकी अभिव्यक्ति होती है फिर वनस्पतियों और प्राणियों के रूप में और इसका उच्चतम रूप मनुष्य में प्रकट होता है। विश्वात्मा का विकास यहीं अवरुद्ध नहीं हो जाता और परिवार, समाज जैसी सामाजिक संस्थाओं में इसका प्रकटीकरण होता है। अन्त में विश्वात्मा 'राज्य' के रूप में प्रकट होती है। इसीलिए हीगल ने राज्य को विश्वात्मा का पार्थिव रूप अथवा भूमण्डल पर विद्यमान ईश्वर माना है।

15.6.2 राज्य के विकास का आधार द्वन्दवाद पद्धति—हीगल से पूर्व राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में 'सामाजिक संविदा' प्रचलित था और रूसो जैसे विचारक यह मानते थे कि राज्य की उत्पत्ति किसी सामाजिक समझौते से हुई है। हीगल ने संविदा सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित किया कि राज्य 'विश्वात्मा' के आध्यात्मिक पक्ष का द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार होने वाले चरम विकास का प्रतीक है।

हीगल के अनुसार विश्वात्मा बाह्य जगत में विकास के अनेक स्तरों को पार करते हुए सामाजिक आचार की संस्थाओं में प्रकट होती है। सामाजिक आचार के क्षेत्र में परिवार का प्रादुर्भाव उसकी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए होता है। परिवार का मौलिक तत्व प्रेम की भावना है, राज्य की उत्पत्ति के लिए हीगल परिवार को पहली सीढ़ी या वाद मानता है, किन्तु परिवार मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ नहीं है। अतः मनुष्य परिवार के प्रभाव क्षेत्र से बाहर जाकर अपनी विभिन्न अपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करता है। मनुष्य की यह क्रिया समाज को जन्म देती है। हीगल ने इसे 'बुर्जुआ' नाम से पुकारा है। जो राज्य के विकास में 'प्रतिवाद' की भूमिका का निर्वाह करता है। क्योंकि इस समाज के संगठन का आधार परिवार की तरह प्रेम और त्याग के सिद्धांत नहीं होते वरन् इसका आधार प्रतिस्पर्धा और संघर्ष की भावना होती है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की बात सोचता है। फलतः उसमें प्रतिस्पर्धा और संघर्ष के फलस्वरूप व्यक्ति आत्मनिर्भर बनने की चेष्ट करता है जिससे उसकी एक सीमा तक उन्नति होती है, लेकिन अन्ततः निरन्तर चलने वाली प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष की प्रक्रिया उसकी प्रगति में बाधक सिद्ध होने लगती है। अतः इसे मर्यादित करने की आवश्यकता अनुभव होने लगती है जिससे कि प्रेम और सहयोग के पारिवारिक गुणों की मनुष्य जीवन में पुनः स्थापना की जा सके। इस आवश्यकता की अनुभूति राज्य को जन्म देती है जो संवाद के रूप में होता है तथा जिसमें परिवार और समाज दोनों के गुणों का समावेश होता है और जो इन दोनों से उच्चतर संगठन की स्थिति में होता है। राज्य अपने नेतृत्व में समाज में एकता और सामंजस्य की स्थापना करता है और उसे सामाजिक हितों के अनुकूल कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। हीगल राज्य को एक उच्च जीवधारी मानता है जो विश्वात्मा के बाह्य विकास के चरमोत्कर्ष का प्रतीक है। हीगल के शब्दों में, "राज्य का अस्तित्व विश्व में ईश्वर की शोभायात्रा है उसका आधार विवेक की शक्ति है, जो अपने को इच्छा के रूप में साकार बनाती है।"

15.6.3 हीगल के राज्य की विशेषताएँ—हीगल राज्य को 'विश्वात्मा' का द्वन्द्वात्मक पद्धति से विकास मानता है। इस प्रकार उद्भव होने वाले राज्य की अग्रलिखित विशेषताएँ हैं—

1. राज्य दैवीय है—हीगल ने राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार' कहा है। उसकी द्वन्द्वात्मक धारणा के अन्तर्गत राज्य सर्वोच्च संगठन है जिसमें 'विश्वात्मा' की पूर्ण अभिव्यक्ति हो चुकी है। हीगल के मत से यद्यपि राज्य की उत्पत्ति द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया से क्रमिक विकास के फलस्वरूप हुई है तथापि इस विकासक्रम में दैवी चेतना कार्य करती है और राज्य के रूप में उस दैवी चेतना को पूर्णता प्राप्त हो जाती है। "राष्ट्रीय राज्य विश्वात्मा की अभिनव अभिव्यक्ति होती है और उसका स्वरूप दैवी होती है।" हीगल के मत से राज्य की उत्पत्ति दीर्घकालीन विकास की प्रक्रिया से हुई है। यह निम्नकोटि के सामूहिक जीवन से उच्चतर प्रकृति के संगठनों के रूप में विकसित होते हुए जीवन की पूर्णता पर पहुंचने की प्रक्रिया का फल है जिसमें दैवी चेतना निरन्तर कार्यरत रहती है। परिवार निम्नतम सामाजिक इकाई है, उससे उच्च इकाई समाज तथा उच्चतम इकाई राज्य है। हीगल के मत से राज्य पृथ्वी पर विश्वात्मा का अन्तिम रूप है।

2. राज्य सावयवी है—हीगल राज्य को एक पूर्ण सावयव के रूप में मानता है। अपने युग के अन्य सावयवधारियों की भांति वह जीवन सावयव तथा राज्य सावयव के मध्य केवल आंगिक समानता की ही स्वीकृति नहीं करता, अपितु वह राज्य को एक चेतन प्राणी के तुल्य भी चित्रित करता है। उसके अनुसार राज्य की स्वतः अपनी इच्छा तथा व्यक्तित्व होते हैं जिनमें उसके अंगों (व्यक्तियों तथा समुदायों) की इच्छा तथा व्यक्तित्व विलीन रहते हैं। राज्य की इच्छा तथा उसका व्यक्तित्व राज्य का निर्माण करने वाले व्यक्तियों की इच्छाओं तथा व्यक्तियों का योग मात्र नहीं है, अपितु राज्य की इच्छा तथा व्यक्तित्व उसके निर्माणकारी व्यक्तियों की इच्छता तथा व्यक्तित्व से भिन्न तथा श्रेष्ठतम है। इतिहासकार रांके ने हीगल के विचार को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—"राज्य व्यक्ति है। वे एक–दूसरे के समान हैं फिर भी एक–दूसरे से स्वतन्त्र हैं। वे आध्यात्मिक सत्ताएँ हैं, मानव आत्मा की मूल सृष्टि है, उन्हें ईश्वर के विचार तक कहा जा सकता है।"

3. राज्य साध्य है, साधन नहीं—हीगल राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मानता है। उसके अनुसार राज्य पृथ्वी पर विश्वात्मा का अन्तिम रूप है, अतः वह अपने आप में साध्य ही हो सकता है, साधन कभी नहीं बन सकता। मैकगबन के शब्दों में, "पुराने उदारवादी इस बात पर बल देते थे कि राज्य अपने में साध्य नहीं बल्कि साध्य के लिए साधन मात्र है। वे साध्य के रूप में जनता की भलाई या कल्याण को मानते थे। इसके विपरीत, हीगल ने यह घोषित किया कि राज्य स्वयं एक साध्य है और व्यक्ति एक साध्य के लिए साधन मात्र है—साध्य है उस राज्य का ऐश्वर्य जिसके कि वे घटक हैं।"

4. राज्य और व्यक्ति पूरक है—हीगल के अनुसार राज्य और व्यक्ति में विरोध नहीं है क्योंकि विश्वात्मा जिन संस्थाओं के रूप में प्रकट होती है, उनमें राज्य सर्वोच्च है और दोनों के हित एक हैं। उसके अनुसार, "इतिहास में राज्य ही व्यक्ति है और जीवन चरित्र में जो स्थान व्यक्ति का है, इतिहास में वही स्थान राज्य का है।" हीगल की मान्यता है कि राज्य हमारी सच्ची, निष्पक्ष एवं निःस्वार्थ सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, अतः राज्य और व्यक्ति के हितों में किसी पारस्परिक विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती।

5. राज्य सर्वशक्तिमान है—हीगल के अनुसार राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार होने के कारण सर्वशक्तिमान है। राज्य से ऊपर और शक्तिशाली कोई संस्था नहीं होती। सेबाइन के अनुसार, "हीगल के चिन्तन में राज्य स्वयं ही शक्ति है, वह राष्ट्र की इच्छा का बाह्य स्वरूप है, यह व्यक्तिगत जीवन तथा नागरिक समाज की नैतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं से पृथक तथा ऊपर है।"

6. राज्य नैतिक बंधनों से मुक्त है—हीगल के अनुसार राज्य सर्वोच्च संस्था है, विश्वात्मा का अवतार है, अतः पर वे नैतिक बन्धन लागू नहीं किये जा सकते जो एक व्यक्ति पर लागू किये जाते हैं। उसके अनुसार राज्य स्वयमेव नैतिकता के सिद्धांतों का सृजन करने वाला है और राज्य जो भी कार्य करता है वह सर्वथा न्यायोचित है।

7. राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व—हीगल के अनुसार राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह स्वयं ही अपने कर्तव्य का निर्धारण करता है। राज्य एक पूर्णात्मा है जो सत् और असत् को विवेकपूर्ण ढंग से छांटकर शर्मनाक जघन्य नियमों का परित्याग करता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य दूसरे देशों के साथ अपने हितों की रक्षा के लिए जो भी कार्यवाही करे वह हीगल के अनुसार न्यायोचित है।

संक्षेप में, हीगल राज्य को प्लेटो और अरस्तू की भांति सर्वश्रेष्ठ संस्था मानता है। उसके अनुसार राज्य मूर्तिमान स्वतन्त्रता है, यह बुद्धि का स्वरूप है तथा विश्वात्मा का उच्चतम विकास है। राज्य व्यक्ति की इच्छा के श्रेष्ठतम स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी अपनी इच्छा शक्ति रहती है तथा इसकी इच्छा और व्यक्तित्व, व्यक्तियों की इच्छा और व्यक्ति से श्रेष्ठ है। व्यक्ति राज्य की इच्छा का विरोध कदापि नहीं कर सकता। राज्य निरपेक्ष है और उसका अन्तिम लक्ष्य वह स्वयं है। व्यक्ति राज्य का केवल एक अंग मात्र है और अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए सर्वथा उसी पर आधारित रहता है। हीगल के अनुसार राज्य मानव इतिहास में ईश्वर है। सेबाइन के शब्दों में, "हीगल का मस्तिष्क जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न से चिन्तित था। अतः उसने व्यक्ति को राज्य में विलीन करते समय कुछ भी हिचकिचाहट नहीं दिखलाई। वह राज्य की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान चढ़ा देता है।" मैकगवर्न के अनुसार, "राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन बताने के उद्देश्य से शुरू होने वाला राजनीतिक हीगलवाद नास्तिक निरंकुशों या तानाशाहों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हुए समाप्त हुआ।"

15.7 हीगल के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार

हीगल ने व्यक्तिवाद की दो आधारों पर आलोचना की थी। सर्वप्रथम उसने व्यक्तिवाद को उस प्रान्तवाद तथा संकीर्ण मनोवृत्ति से समीकृत किया था जिसने जर्मनी को आधुनिक राष्ट्रीय राज्यत्व प्राप्त करने से रोक रखा था। उसने इस राष्ट्रीय प्रवृत्ति के लिए लूथर के प्रभाव को उत्तरदायी ठहराया था, लूथर ने ईसाई स्वतन्त्रता की भावना को एक रहस्यात्मक रूप दे दिया था और उसे लौकिक दशाओं से निरपेक्ष ठहराया था। दूसरे, हीगल ने व्यक्तिवाद को जैकोबिनवाद समीकृत किया था। जैकोबिनवाद फ्रांस की क्रान्ति के आतंकवाद, नास्तिकता और हिंसा का प्रतीक था। हीगल इस तरह के व्यक्तिवाद को दार्शनिक बुद्धिवाद का परिणाम मानता था। उसके विचार से इन दोनों प्रकारों में समान भ्रांति यह थी कि उन्होंने मनुष्य को संगठित समाज (राज्य) से अलग करके देखा था। उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि व्यक्ति की समाज में एक स्थिति होती है, उसे अपने कुछ कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है और कुछ भूमिका निभानी पड़ती है। यदि हम व्यक्ति पर एकाकी दृष्टि से विचार करें तो वह एक पशु मात्र है। उसके एकमात्र नियम अपनी चंचल प्रवृत्तियां, स्वार्थ भावनाएँ और मन की तरंगें हैं। यदि हमें व्यक्ति को ठीक तरह से समझना है तो हमें उसे समाज और राज्य के एक सदस्य के रूप में देखना चाहिए। हीगल के अनुसार राष्ट्रीय राज्य आधुनिक सभ्यता की एक अनुपम सिद्धि है। उसने यह सीख लिया है कि उच्चतम सत्ता का नागरिकों की स्वतन्त्रता के उच्चतम प्रकार और रूप के साथ किस प्रकार समन्वय स्थापित किया जाए। फिलोसफी ऑफ राइट में हीगल ने लिखा है—"आधुनिक राज्य का तत्व यह है कि वह अंशों की सत्ता का अंश की स्वतन्त्रता वे साथ सामंजस्य स्थापित करता है।"

हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता मनुष्य का एक विशेष गुण है। स्वतन्त्रता को छोड़ने का अर्थ मानवता का परित्याग करना है। अतः स्वतन्त्र न होना मनुष्य द्वारा अपने मानवीय अधिकारों तथा कर्तव्यों का परित्याग करना है।

हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता को एक सामाजिक व्यापार समझना चाहिए। वह उस सामाजिक व्यवस्था की एक विशेषता है जो समुदाय के नैतिक विकास के आधार पर उत्पन्न होती है। वह व्यक्तिगत प्रतिभा की चीज नहीं है। वह तो एक प्रकार की स्थिति है जो व्यक्ति को समुदाय की नैतिक और वैधानिक संस्थाओं के माध्यम से दी जाती है। फलतः उसे स्वेच्छा अथवा व्यक्तिगत प्रवृत्ति नहीं माना जा सकता। स्वतन्त्रता व्यक्तिगत इच्छा और व्यक्तिगत क्षमता को सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य के निष्पादन में लगा देने में है। इसी बात को एफ. एच. ब्रैडले ने 'मेरा पद और उसके कर्तव्य' सूत्र में व्यक्त किया था। ये बातें ही इच्छा को नैतिक मूल्य देती हैं। स्वतन्त्रता अथवा सुख के किसी दावे का नैतिक दृष्टि से उस समय तक समर्थन नहीं किया जा सकता जब तक वह सामाजिक हित के किसी न किसी पहलू को पुष्ट न करता हो और सामान्य इच्छा द्वारा समर्थित न हो। व्यक्ति के अधिकार और स्वतन्त्रताएँ वे हैं जो समाज में उसके पद द्वारा आरोपित कर्तव्यों से साम्य रखती हैं। व्यक्तिगत सुख–दुःख में भी कुछ न कुछ समाज का भाव निहित रहता है। जब हम सामाजिक दृष्टि से उपयोगी किसी कार्य को करते हैं तो हमें सुख की अनुभूति होती है। हीगल का सदैव विश्वास था कि आत्म चेतना की भावना सदैव ही दुःखदायी होती है, वह निराशा और निष्फलता को प्रकट करती है। इस प्रकार प्लेटो और अरस्तू की भांति हीगल का भी स्वतन्त्र नागरिकता विषयक सिद्धांत व्यक्तिगत अधिकारों पर नहीं बल्कि सामाजिक कार्य पर आधारित था। आधुनिक राज्य में व्यक्ति राज्य की सेवा करके उच्चतम आत्मसिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं। आत्म इच्छा की नकारात्मक स्वतन्त्रता के स्थान पर राज्य में नागरिकता की वास्तविक स्वतन्त्रता स्थापित होती है।

हीगल की स्वतन्त्रता संबंधी धारणा वैयक्तिक न होकर सामाजिक नीतिशास्त्र पर आधारित है। हीगल ने इसे भी राज्य की धारणा की ही भांति आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया है। उसके मत से स्वतन्त्रता का अभिप्राय ऐसी इच्छा है जो कि विवेकपूर्ण है, अर्थात् जिसे दैवात्मा चाहती है। चूंकि राज्य दैवात्मा की अभिव्यक्ति है, अतः जैसा राज्य चाहता है वैसा करने में ही स्वतन्त्रता निहित है। हीगल के शब्दों में, "स्वतन्त्रता विवेक के आदेश का पालन करने में है, परन्तु एक व्यक्ति का विवेक सदा विश्वसनीय नहीं होता। कभी–कभी वह तात्कालिक और अस्थायी कारणों से प्रभावित हो जाता है और किसी विशिष्ट हित की ओर झंका रहता है। राज्य के कानूनों द्वारा जो विवेक व्यक्त होता है उसमें यह दोष नहीं होते। वह सार्वभौम होता है, विशिष्ट नहीं। इस कारण सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के कानून का पालन करने में ही है।" चूंकि हीगल ने व्यक्तिगत इच्छा को चंचलता, भावनात्मकता अथवा धर्मान्धता के साथ समीकृत किया था, इसलिए उसके अनुसार स्वतन्त्रता से तात्पर्य अपनी वैयक्तिक इच्छा के अनुसार कार्य करना नहीं है; अपितु राज्य की बुद्धि के अनुसार कार्य करना है। राज्य विश्वात्मा के विकास का चरम रूप है, अतः उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करना ही सच्ची स्वतन्त्रता है।

हीगल के अनुसार विश्व का इतिहास स्वतन्त्रता की चेतना की प्रगति से भिन्न और कुछ नहीं है और चूंकि विश्वात्मा स्वतन्त्र है, यह स्वयं परिपूर्ण है, अतः उसकी आत्मपूर्णता ही स्वतन्त्रता का मूल तत्व है। इसके विपरीत, भौतिक जगत् गुरुत्वाकर्षण के नियमों के अधीन रहने के कारण स्वतन्त्र नहीं है। वे विश्वात्मा का विकास ही स्वतन्त्रता का विकास है और मानव इतिहास स्वतन्त्रता का इतिहास है। मानव इतिहास की इति राज्य में होती है जिसमें विश्वात्मा अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति कर लेती है। अतएव जो राज्य पूर्णता को प्राप्त हो चुका है, वही वास्तव में स्वतन्त्र राज्य है और जो व्यक्ति एक पूर्णता प्राप्त राज्य के पूर्णता प्राप्त कानूनों का निष्ठापूर्वक पालन करता है, वही व्यक्ति वास्तव में पूर्ण स्वतन्त्र है।

हीगल के अनुसार राज्य 'सामान्य इच्छा' की अभिव्यक्ति है। वह प्रत्येक व्यक्ति की सदइच्छा के अनुकूल ही कार्य करता है। यहां तक कि जब चोर जेल की ओर ले जाया जाता है तो राज्य का यह कार्य उसकी सदइच्छा के अनुसार ही होता है। वह जेल जाने में अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है क्योंकि स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों का पालन करने में है।

हीगल के अनुसार राज्य के भय से यदि व्यक्ति कानूनों का पालन करता है तो वह स्वतन्त्र नहीं है प्रत्युत बाह्य शक्ति के अधीन है। व्यक्ति तभी स्वतन्त्र है जब वह अपनी इच्छा से राज्य के आदेशों का पालन करें।

इस प्रकार हीगल ने राज्य को वस्तुगत तथा आत्मगत स्वतन्त्रता कहा है। वह व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता तथा आदर्श इच्छा का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता वरन् उन्हें सुरक्षित भी करता है, अतः राज्य और व्यक्ति के उद्देश्य समान हैं। राज्य की इच्छा में सदैव व्यक्ति की वास्तविक अथवा आदर्श इच्छा निहित रहती है, अतः दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। जब कभी राज्य की इच्छा और व्यक्ति की इच्छा में विरोध दिखाई देता है, तब वास्तव में वह विरोध दोनों ही वास्तविक, इच्छाओं से नहीं होता, व्यक्ति की स्वार्थपरता तथा अपूर्णता के कारण हमें दोनों में विरोध प्रतीत होता है। हीगल यद्यपि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पोषक था फिर भी उसकी दृष्टि में व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग राज्य में रहकर तथा उसके नियमों का पालन करके ही कर सकता है। उसके अनुसार 'राज्य स्वतन्त्रता का मूर्तिमान रूप है"। अपनी इच्छानुसार कुछ भी कार्य करने को हीगल स्वतन्त्रता नहीं मानता।

वस्तुतः हीगल का उद्देश्य फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति की भूलों को सुधारना था, जिसमें उसके अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया गया था। प्रारम्भ से ही हीगल इस बात के लिए जागरूक था कि अत्यधिक व्यक्तिवाद जर्मनी के राष्ट्रीय चरित्र का सबसे बड़ा दुर्गुण था। वह यह कहा करता था। कि यद्यपि जर्मनी के लोग एक स्वतन्त्र राष्ट्र निर्मित करने के लिए लालायित हैं, पर वे भूलते हैं कि स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना से पूर्व किस प्रकार उसके लिए सर्वप्रथम एक संगठित राष्ट्र के रूप में कार्य करना है। जब तक जर्मनी के लोग अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को उत्सर्ग करके एक संगठित राष्ट्र के रूप में कार्य करना आरम्भ नहीं करते, तब तक उनकी स्वतन्त्र जर्मन राष्ट्र की कल्पना निर्मूल है। अतः हीगल के अनुसार नागरिकों का कर्तव्य है कि वे संगठित रूप से कार्य करना सीखें तथा सामाजिक नियमों का विधिवत् पालन करें। व्यक्तिगत इच्छा केवल भावात्मक उद्दण्डता ही है, वह बनावटी भी है। इसलिए व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य राज्य के आदेशों का पालन करना है।

15.7.1 हीगल और काण्ट के स्वतन्त्रता संबंधी विचारों की तुलना—बार्कर का कथन है कि काण्ट की स्वतन्त्रता की धारणा को नकारात्मक, सीमित और आत्मगत बताते हुए हीगल ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अधिक विधेयात्मक और तथ्य प्रधान परिभाषा प्रस्तुत की है तथा राज्य के सिद्धांत का कम व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।" हीगल काण्ट की स्वतन्त्रता की धारणा को नकारात्मक कहता था। हीगल के अनुसार काण्ट व्यक्ति के अन्तःकरण की स्वतन्त्रता पर अधिक बल देता। वह स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्रधान रूप से कई प्रकार के प्रतिबन्धों से मुक्त करने पर, उसकी गतिविधि, विचारों की अभिव्यक्ति, आदि पर नियन्त्रण न लगाने से लेता था। जबकि हीगल स्वतन्त्रता को नकारात्मक (बन्धनों का अभाव) न मानकर विधेयात्मक अर्थात् राज्य के कानूनों का पालन करना मानता था।

हीगल काण्ट की स्वतन्त्रता की धारणा को व्यक्तिवादी एवं सीमित मानता है। काण्ट का स्वतन्त्रता का विचार व्यक्ति तक ही सीमित था काण्ट की स्वतन्त्रता व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों पर कोई ध्यान नहीं देती। काण्ट व्यक्ति को साध्य मानता है और उसके सामाजिक दायित्वों को गौण मानता है। जबकि हीगल का मानना है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति समाज के नैतिक जीवन में भाग लेने से ही सम्भव है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय वैयक्तिक इच्छा के अनुसार कार्य करना नहीं है; अपितु राज्य की इच्छा के अनुसार कार्य करना है। इस प्रकार हीगल का स्वतन्त्रता संबंधी विचार व्यक्ति तक ही सीमित न होने से आत्मगत नहीं था। इसी प्रकार काण्ट का विचार व्यक्ति के इर्द–गिर्द ही चक्कर लगाता है इसलिए सीमित है जबकि हीगल द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता का दृष्टिकोण राज्य के परिप्रेक्ष्य में स्वतन्त्रता की व्याख्या करता है इसलिए अधिक व्यापक है।

संक्षेप में, काण्ट का स्वतन्त्रता संबंधी दृष्टिकोण व्यक्ति के चारों ओर घूमता है, व्यक्ति को साध्य मानता है इसलिए हीगल उसे 'नकारात्मक, सीमित और आत्मगत' कह कर आलोचना करता है। दूसरी तरफ हीगल का दृष्टिकोण राज्य और समाज की दृष्टि से स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करता है इसलिए वह इसे अधिक व्यापक, सकारात्मक और वस्तुगत' मानता है। हीगल के अनुसार व्यक्ति स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से नियन्त्रित होता है और सामाजिक प्रेरणाओं से वंचित रहता है। चूंकि राज्य नैतिक प्रयोजनों की साक्षात मूर्ति है, इसलिए व्यक्ति नैतिक गरिमा और स्वतन्त्रता केवल उसी समय प्राप्त करता है जबकि वह अपने को राज्य की सेवा में लगा देता है। "वस्तुनिष्ठ आत्मा के क्षेत्र में स्वतन्त्रता पहली बार यथार्थ का, विद्यमान सत्व का रूप ग्रहण करती है। आत्मा अपनी आत्मनिष्ठता से निकलकर अपनी स्वतन्त्रता की बाह्य यथार्थता का ज्ञान तथा वास्तवीकरण करती है, यानी आत्मा की वस्तुनिष्ठता बाकायदा स्थापित हो जाती है।"

15.7.2 राज्य और नागरिक समाज में भेद

हीगल नागरिक समाज और राजनीतिक राज्य में भेद करते हैं। इस प्रश्न पर उनके विचार अपनी सारी मौलिकता के बावजूद पूर्ववर्ती संकल्पनाओं से प्रभावित हैं। समाज के मुकाबले राज्य की प्रमुखता और उनके सहसम्बन्धों के स्वरूप विषयक हीगलीय मान्यता पर प्लेटो और अरस्तू की इस प्रस्थापना की छाप है कि राज्य व्यक्ति से पहले आता है, ठीक वैसे ही कि जैसे समष्टि अंश से पहले आती है। हीगल इन प्लेटोवी और अरस्तूई अवधारणाओं का रूसो की इस अवधारणा से समन्वय करते हैं कि राज्य का मूल तत्व इच्छा है। हीगल के अनुसार राज्य में निहित सामान्य इच्छा एक ऐसी नैतिक समष्टि है जो अपने सभी अंगों व्यक्ति, परिवार तथा समाज–की तुलना में सर्वोपरि है। हीगल ने नागरिक समाज को विशेष जीवनीय सम्बन्धों का विशिष्ट क्षेत्र बताया और उनकी यह मान्यता उस युग के एडम स्मिथ, डी. रिकार्डो जैसे बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के विचारों से प्रभावित थी।

नागरिक समाज से हीगल का आशय बुर्जुआ समाज से था। वह लिखते हैं–"प्रसंगतः, नागरिक समाज आधुनिक विश्व में ही साकार बन पाया है क्योंकि केवल आधुनिक विश्व ही प्रत्यय की हर परिभाषा को उसका उचित अर्थ प्रदान करता है।" नागरिक समाज अलग–अलग व्यक्तियों के विशेष निजी हितों तथा उद्देश्यों की पूर्ति का क्षेत्र है। अधिकार के बोध के विकास की दृष्टि से यह एक आवश्यक चरण है क्योंकि यहां विशिष्ट और सामान्य का परस्पर सम्बन्ध और परस्पर निर्भरता प्रदर्शित होते हैं।

हीगल के अनुसार, नागरिक समाज में वास्तविक स्वतन्त्रता अभी अप्राप्य रहती है, क्योंकि निजी हितों के टकरावों की शक्ति पर सामान्य की आवश्यक सत्ता का विवेक पर आधारित अंकुश नहीं, अपितु सांयोगिक अंकुश रहता है। वह लिखते हैं–"इन विलोमों और उनके अन्तर्गुम्फन से हमारे सामने नागरिक समाज का जो चित्र उपस्थित होता है, वह उतना ही असामान्य विलासिता तथा अतिरेक से परिपूर्ण है जितना कि दरिद्रता और शारीरिक तथा नैतिक, दोनों ही दृष्टियों से सर्वव्यापी भ्रष्टता से परिपूर्ण है।"

हीगल नागरिक समाज को विरोधी हितों द्वारा संघर्षपूर्ण समाज के रूप में, सबके विरुद्ध सबके युद्ध के रूप में चित्रित करते हैं। उनके अनुसार नागरिक समाज के लक्षण हैं–आवश्यकताओं का तन्त्र, न्याय प्रशासन, पुलिस और निगम।

नागरिक समाज की संरचना में हीगल तीन श्रेणियों का उल्लेख करते हैं–1. बुनियादी (भूमिधर, कुलीनवर्गीय तथा किसान) 2. औद्योगिक (कारखानेदार, व्यापारी और शिल्पी) तथा 3. सामान्य (कर्मचारी वर्ग)। सामाजिक–आर्थिक प्रश्नों की चर्चा करते हुए हीगल स्वीकार करते हैं कि नागरिक समाज कितना भी समृद्ध क्यों न हो, वह अत्यधिक गरीबी से और कंगालों के पैदा होने से लड़ने की अवस्था में नहीं होता है। हीगल का विश्लेषण दिखाता है कि नागरिक समाज मात्र अपनी आन्तरिक क्षमताओं के आधार पर ही गरीबी की समस्या को हल नहीं कर सकता और गरीबी की द्वन्द्वात्मकता उसे अपनी सीमाओं से बाहर निकलने, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और उपनिवेशीकरण के रूप में नई क्षमताएँ खोजने को बाध्य करती है। उपनिवेशीकरण के आधुनिक रूपों के प्रति, जिनका अन्त पिछड़े हुए देशों और जातियों को गुलाम बनाने में होता है, हीगल का रवैया बुनियादी तौर पर नकारात्मक है। वह लिखते हैं–"उपनिवेशों की मुक्ति उपनिवेश स्वामी के लिए ठीक वैसे ही बहुत बड़ा वरदान है, जैसे दासों की मुक्ति उनके मालिकों के लिए बहुत बड़ा वरदान होती है।"

नागरिक समाज के ही प्रसंग में हीगल सकारात्मक विधि, न्याय, प्रशासन और पुलिस कार्य का भी विवेचन करते हैं, यद्यपि अधिकार के बोध के मूर्तिकरण की दृष्टि से इस विषय को 'अधिकार के दर्शन' के उस भाग में उठाया जाना चाहिए था, जहां राज्य की चर्चा की गयी है। हीगल ने इसका जो कारण बताया है, उसका प्रत्यक्ष सामाजिक–राजनीतिक महत्व है। हीगल यह मानकर चलते हैं कि सम्पत्ति का वास्तविक कार्य क्षेत्र नागरिक समाज है। सम्पत्ति की शक्ति की पुष्टि कानून, न्याय व्यवस्था और पुलिस द्वारा उसकी रक्षा में ही होनी चाहिए। इन संस्थाओं का उद्देश्य निजी हितों के जंगल में समाज के सामान्य हितों की रक्षा करना है।

हीगल कानूनों की सार्वजनिक घोषणा, सार्वजनिक विधिक कार्यवाही और जूरी न्यायालय की आवश्यकता पर जोर देते हैं। वह सर्वव्यापी पुलिस राज्य की संकल्पना की आलोचना करते हैं, किन्तु निजी मामलों में पुलिस के हस्तक्षेप की क्या सीमाएँ होनी चाहिए, इस बारे में स्पष्टतः कुछ नहीं बताते। हीगल के दर्शन के अनुसार, कानून, न्यायालय और पुलिस द्वारा नागरिक समाज में परिरक्षित सर्वोच्च हितों का प्रश्न हमें नागरिक समाज से राज्य के क्षेत्र में ले आता है।

हीगल के अनुसार नागरिक समाज के विकास के लिए राज्य का उसकी बुनियाद के तौर पर मौजूद होना आवश्यक है, किन्तु राज्य के बोध का वैज्ञानिक प्रमाण' यही है कि बोध की अन्तर्वर्ती गति में, परिवार और नागरिक समाज के विकास में राज्य को उनकी समन्वयकारी एकता के रूप में हासिल कर लिया जाये, जो यद्यपि परिणाम के तौर पर सामने आता है, किन्तु वास्तव में उनकी वास्तविक बुनियाद ही होता है। हीगल लिखते हैं, "इसलिए वास्तव में राज्य सर्वोपरि है और उसकी सीमाओं के भीतर ही परिवार बढ़कर नागरिक समाज बनता है और स्वयं राज्य का प्रत्यय भी अपने को इन दो पहलुओं में विभाजित करता है।"

संक्षेप में, नागरिक समाज का हीगल का विश्लेषण काफी सारगर्भित है। उसका राज्य सिद्धांत राज्य तथा नागरिक समाज के सम्बन्धों के विशिष्ट स्वरूप पर आधारित था। यह सम्बन्ध विरोध का भी है और पारस्परिक निर्भरता का भी। हीगल के विचार से राज्य कोई ऐसी उपयोगितावादी संस्था नहीं है जो सार्वजनिक सेवाओं, विधि के प्रशासन, पुलिस कर्तव्यों के पालन और औद्योगिक तथा आर्थिक हितों के सामंजस्य में लगी हो। ये सारे कार्य नागरिक समाज के हैं। राज्य आवश्यकतानुसार उनका निदेशन और विनियमन कर सकता है, लेकिन वह खुद इन कार्यों को नहीं करता। नागरिक समाज बुद्धिमत्तापूर्ण पर्यवेक्षण और नैतिक महत्व के लिए राज्य के ऊपर निर्भर रहता है। यद्यपि नागरिक समाज और राज्य दोनों एक–दूसरे पर निर्भर हैं, फिर भी एक–दूसरे से अलग–अलग हैं। राज्य साधन नहीं है, बल्कि साध्य है। वह विकास में विवेकयुक्त आदर्श को और सभ्यता में आध्यात्मिक तत्व को प्रकट करता है। इस दृष्टि से वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नागरिक समाज का प्रयोग करता है।

15.8 हीगल : शासन का सिद्धांत

हीगल के मतानुसार राज्य का प्रकटीकरण तीन रूपों में होता है। 1. संविधान, 2. अन्तरर्राष्ट्रीयता सम्बन्ध तथा 3. विश्व इतिहास।

संविधान के अन्तर्गत उसने तीन प्रकार की सत्ताएँ बतलायीं–विधायिका, कार्यपालिका और राजा। अपने पूर्ववर्ती लॉक और माण्टेस्क्यू की भांति हीगल भी सत्ताओं के पृथक्करण की संकल्पना को एक राजनीतिक आदर्श के रूप में सांविधानिक

राजतन्त्र का औचित्य सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल करते हैं, किन्तु लॉक और माण्टेस्क्यू से मतभेद दिखाते और फ्रांसीसी क्रान्ति के दिनों में सत्ताओं के पृथ्थकरण के विचार को जिस ढंग से इस्तेमाल किया गया था, उसकी आलोचना करते हुए हीगल सत्ताओं की स्वायत्तता और उनके परस्पर नियन्त्रण की अवधारणा को भ्रामक बताते हैं, क्योंकि उसमें इन सत्ताओं के बीच परस्पर द्वेष, परस्पर अविश्वास और एक–दूसरे के विरुद्ध कार्य करने की कल्पना की गयी है। हीगल विभिन्न सत्ताओं के बीच जीवन्त, अटूट एकता का समर्थन करते हैं, न कि उनके बीच सन्तुलन बनाये रखने का। ऐसी एकता को वह उनकी आदर्श स्थिति कहते हैं। इसका यह अर्थ है कि सभी सत्ताएँ एक समग्र की शक्ति से निःसृत होती हैं और उसके चलायमान अंग हैं। हीगल के अनुसार, राज्य की आन्तरिक सम्प्रभुता का सार समग्र की प्रधानता में और विभिन्न सत्ताओं की राज्य की एकता पर निर्भरता तथा अधीनता में ही निहित हैं।

हीगल जन–सम्प्रभुता के जनवादी सिद्धांत की आलोचना करते हैं और उसके स्थान पर वंशागत सांविधानिक राजा की सम्प्रभुता का विचार रखते हैं। सम्राट का होना वह राज्य के लिए अत्यन्त आवश्यक मानता था, क्योंकि उसकी दृष्टि में सम्राट के अभाव में एकता स्थापित नहीं की जा सकती। हीगल का विश्वास था कि राज्य के सभी कार्य किसी एक व्यक्ति द्वारा ही सम्पादित किये जाते हैं। राज्य तथा प्रशासन में एकता बनाये रखने के लिए वह बहुत अनिवार्य है। अतः वह सम्राट को राज्य की एकता का मूर्तिमान रूप मानता था। हीगल का कहना था कि वह व्यक्ति वंशानुगत सम्राट ही होना चाहिए, निर्वाचित राष्ट्रपति, आदि नहीं। सम्राट की समर्थता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि सुव्यवस्थित राजतन्त्र में शासन का सारा वस्तुनिष्ठ पक्ष कानूनों से निर्देशित होता है और सम्राट के लिए इसमें अपना आत्मनिष्ठ "मैं चाहता हूँ" जोड़ना ही शेष रह जाता है।

कार्यपालक सत्ता को परिभाषित करते हुए हीगल कहते हैं कि यह "विशेष क्षेत्रों और अलग–अलग मामलों को एक सामान्य सूत्र में पिरोने वाली सत्ता है।" इस सत्ता का, जिसमें हीगल पुलिस और न्याय प्रशासन को भी सम्मिलित करते हैं, कार्य सम्राट के निर्णयों को क्रियान्वित करना, प्रचलित कानूनों पर अमल करवाना और विद्यमान संस्थाओं को बनाये रखना है। हीगल सरकार के सदस्यों और राजकर्मचारी वर्ग को समाज के मध्यम तबके का, जिसमें राज्य की चेतना तथा शिक्षा का स्तर सर्वाधिक ऊंचा होता है, मुख्य संघटक अंग मानते हैं। राजकर्मचारियों के समुदाय की प्रशंसा करते हुए हीगल उसे 'वैधता तथा बौद्धिकता के मामले में राज्य का मुख्य अवलम्ब कहते हैं।

हीगल के अनुसार, विधायी सत्ता वह है, जो सर्वसामान्य का निर्धारण तथा स्थापना करती है। विधायी सत्ता द्वारा राज्य व्यवस्था में मूलगामी परिवर्तन किये जाने का विरोध करते हुए हीगल कहते हैं कि विद्यमान व्यवस्था में सुधार शान्तिपूर्वक, क्रमशः अप्रत्यक्ष तरीके से और स्वयं इस व्यवस्था की प्रकृति के अनुसार किये जाने चाहिए। विधायी सत्ता में उसके अनुसार विभिन्न श्रेणियों के लोगों के अलावा अन्तिम निर्णय का अधिकार रखने वाले राजा और मात्र विचार–विमर्श में भाग लेने वाली कार्यपालक सत्ता का भी स्थान होना चाहिए। हीगल विधायिका में दो सदनों की व्यवस्था करते हैं। अभिजात सदन की सदस्यता वंशागत ओर ज्येष्ठाधिकार के सिद्धांत पर आधारित होती है। प्रतिनिधि सदन नागरिक समाज के शेष भाग से बनता है और प्रतिनिधि निगमों, गिल्डों, समुदायों, आदि द्वारा अपने लिए निर्धारित संख्या के हिसाब से, न कि व्यक्तिगत मतदान के जरिये चुने जाते है। इस प्रकार प्रतिनिधियों का निर्वाचन नहीं, चयन होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि हीगल वयस्क मताधिकार में विश्वास नहीं करता था। उसके अनुसार विधानमण्डल में संगठित वर्गों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, असंगठित व्यक्तियों का नहीं। सर्वसाधारण की राय का आदर किया जाना चाहिए, पर सर्वसाधारण में प्रशासन की क्षमता नहीं होती, अतः जनता को शासन के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। शासन का प्रबन्ध तो कोई महान् व्यक्ति ही कर सकता है। हीगल का कथन था कि, 'जिसने लोकमत से घृणा करना नहीं सीखा है वह कोई बड़ा कार्य नहीं कर सकता।

हीगल विधायिका में बहसों की गोपनीयता, प्रेस की स्वतन्त्रता और सूचना स्वतन्त्रता के सिद्धांतों का समर्थन करते हैं, किन्तु इसके साथ ही वह कहते हैं कि जनमत में सार्वजनिक मामलों के बारे में अपना मत व्यक्त करने की आत्मनिष्ठ स्वतन्त्रता विधानमण्डल की बहसों की विवेकपरकता के विपरीत विशृंख्ल, स्वतःस्फूर्त और सांयोगिक होती है। "कुछ मिलाकर हीगल ने सांविधानिक राजतन्त्र के अपने राजनीतिक आदर्श को जिस ढंग से पेश किया उसमें उनके समकालीन जर्मनी में विद्यमान अर्द्धसामन्ती व्यवस्था को ऊपर से शनैः शनैः शान्तिपूर्ण सुधार लाकर बुर्जुआ व्यवस्था में बदलने की गुंजाइश रखी गयी थी।"

15.9 हीगल का युद्ध सम्बन्धी विचार

हीगल के अनुसार 'सम्प्रभुता' राज्य का सर्वोच्च तत्व है। राज्यों का एक–दूसरे के साथ आत्मनिर्भर, स्वायत्त और स्वतन्त्र व्यक्तियों जैसा सम्बन्ध होता है। राज्य की सम्प्रभुता समस्त व्यक्तियों तथा संगठनों पर लागू होती है। सम्प्रभुता का प्रश्न एक स्वतन्त्र तथा नैतिक समष्टि के रूप में राज्य की वास्तविकता का प्रश्न भी है। हीगल के मत में यही युद्ध के, जिसे निरपेक्ष बुराई और मात्र बाह्य संयोग नहीं समझना चाहिए, नैतिक पक्ष को जन्म देता है।

राज्य को हीगल सामाजिक विकास का चरमोत्कर्ष मानता था। अतः उसकी शक्ति असीमित होती है। जिस प्रकार उसके ऊपर कोई आन्तरिक बन्धन नहीं होते, उसी प्रकार वह बाह्य बन्धनों से भी मुक्त होता है। उसकी शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों अथवा संधियों से सीमित नहीं किया जा सकता। राज्यों के ऊपर कोई अन्तर्राष्ट्रीय या सार्वभौमिक सत्ता न होने के कारण, उनके पारस्परिक झगड़े अन्ततोगत्वा युद्ध द्वारा ही तय किये जाते हैं। हीगल के अनुसार राष्ट्र राज्य का आवश्यक सिद्धांत युद्ध ही है।

हीगल के अनुसार इतिहास में 'विश्वात्मा' अपने को नाना रूपों में प्रकट करती है। प्रत्येक युग में विश्वात्मा का असली रूप शक्तिशाली राज्य के रूप में अवतरित होता है। युद्ध में ही विश्वात्मा यह निर्णय करती है कि कौन–सा राज्य उसकी आत्मा का सच्चा मूर्त रूप है और उसी राज्य को विश्वात्मा विजय प्रदान करती है। हीगल के अनुसार "विभिन्न सम्प्रभु इच्छाओं के टकराव में और उनके परस्पर सम्बन्धों की द्वन्द्वात्मकता के जरिये सार्वभौम विश्वात्मा काम करती है जो सभी राज्यों से भी ऊंची है।"

हीगल के अनुसार युद्ध के अनेक सुपरिणाम निकलते हैं जो लाभदायक होते हैं। वह मानता है कि युद्ध व्यक्ति के स्वार्थी अहम् का नाश करता है और इस प्रकार मानव जाति को पतन के मार्ग से बचाकर क्रियाशील करता है। उसके अनुसार युद्ध स्वयमेव एक नैतिक कार्य है। शान्ति भ्रष्टाचार फैलाती है और अनन्त शान्ति अनन्त भ्रष्टाचार फैलायेगी। युद्ध वह स्थिति है जो इहलौकिक स्वार्थों और स्वाभिमान को ऊंचा उठाती है। युद्ध का महत्व यह भी है कि इसके द्वारा जनता का नैतिक स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है। जिस प्रकार वायु का चलना समुद्र को शान्त वातावरण से उत्पन्न होने वाली गन्दगी से बचाना है, ठीक उसी प्रकार गतिहीन अनन्त शान्ति से राष्ट्रों में भ्रष्टाचार फैलता है।

हीगल के अनुसार सफल युद्धों ने नागरिक विद्रोहों को रोककर राज्यों की आन्तरिक शक्ति को संगठित और बलशाली बनाया है। युद्ध मनुष्यों में विभिन्न सद्गुणों जैसे साहस, देशभक्ति, एकता, शूरवीरता, बलिदान, आदि का विकास करता है। बन्दूक और बारूद सभ्यता को उन्नत करने वाले आविष्कार थे।

युद्ध द्वारा हीगल जर्मन राज्य का उत्कर्ष देखना चाहता था क्योंकि तत्कालीन जर्मन व्यवस्था को वह सर्वोत्कृष्ट एवं आदर्श मानता था। उसके विश्वात्मा की प्रगति का इतिहास सम्प्रभु राज्यों के विकास का इतिहास है। इसके अनुसार हीगल विश्व इतिहास को चार ऐतिहासिक राज्यों में विभाजित करते हैं–प्राच्य, यूनानी, रोमन और जर्मन। इनसे सम्बद्ध राज्य पद्धतियां क्रमशः इस प्रकार हैं–प्राच्य धर्मतन्त्र (एक ही स्वतन्त्रता) जनतन्त्र तथा अभिजाततन्त्र (कुछ की स्वतन्त्रता) और सांविधानिक राजतन्त्र (सबकी स्वतन्त्रता)। हीगल लिखते हैं–"पर्व एक ही की स्वतन्त्रता जानता था और जानता है, यूनानी और रोमन विश्व कुछ की स्वतन्त्रता जानता है और जर्मन विश्व जानता है कि सभी स्वतन्त्र हैं।" अतः जर्मन राज्य के विकास हेतु, जिसे वह विश्वात्मा का चरमोत्कर्ष मानता था, वह व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की बलि देने के लिए तैयार था। हीगल के शब्दों में, "विश्व आत्मा के विकास के चरण का संवाहक होने के उसके इस परमाधिकार के सामने, वर्तमान काल में अन्य सभी राष्ट्रों की आत्माएँ अधिकारहीन हैं और जिनका युग गुजर चुका है, उनकी भांति ये राष्ट्र भी विश्व इतिहास में अब कोई मानी नहीं रखते।"

15.10 हीगल और काण्ट के राजनीतिक विचारों की तुलना

काण्ट और हीगल दोनों जर्मन विचारक हैं और दोनों की विचारधाराओं में कई साम्यताएँ हैं। काण्ट और फिक्टे के प्रभाव में हीगल ने अंग्रेजी विचारधारा कि इन्द्रियों से प्राप्त संवेदना तथा परीक्षण द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, का खण्डन किया। इन दोनों दार्शनिकों की भांति, हीगल का भी विश्वास था कि अन्तिम सत्य तथा इस विश्व से सम्बन्धित समस्याओं का निराकरण केवल दार्शनिक चिन्तन द्वारा ही किया जा सकता है। दोनों आदर्शवादी विचारधारा से सम्बन्धित महान् दार्शनिक हैं, किन्तु दोनों के विचारों में काफी अन्तर है। हीगल के विचारों पर काण्ट का प्रभाव है, किन्तु वह काण्टवादी नहीं है। बार्कर के शब्दों में "काण्ट के विरुद्ध हीगल ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अधिक विधेयात्मक और तथ्य प्रधान परिभाषा प्रस्तुत की है और राज्य की कम व्यक्तिवादी धारणा व्यक्त की है।"

1. काण्ट में एक प्रकार का द्वैतवाद है। उसने केवल दृश्य जगत् की वस्तुओं को ही बुद्धिगम्य माना था। उसके अनुसार इस जगत के मूल में जो सत्य है वह बुद्धिगम्य नहीं है। उसका आभास हमें व्यावहारिक बुद्धि द्वारा ही होता है। हीगल ने इस विचारधारा का खण्डन किया। उसके अनुसार यदि मूल वस्तु अज्ञात है तो उसकी कल्पना करना ही व्यर्थ है तथा उसका आभास हो ही कैसे सकता है? साथ ही यह कहना कि कोई वस्तु अज्ञात है इस बात को सूचित करता है कि वह वस्तु पूर्ण अज्ञात नहीं है, अन्यथा यह कहा ही नहीं जा सकता कि वह वस्तु अज्ञात है। हीगल ने इस तर्क द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सभी कुछ बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है। संक्षेप में, हीगल अद्वैतवादी था, वह जड़ जगत की पृथक् सत्ता नहीं मानता। वह जड़–चेतन सभी वस्तुओं को विश्वात्मा का रूप मानता है।
2. दोनों की पद्धतियां भिन्न–भिन्न हैं। काण्ट ने विश्लेषणात्मक तथा निगमनात्मक पद्धति द्वारा ज्ञान पर बल दिया था, जबकि हीगल ने ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक पद्धति का सहारा लिया।

3. काण्ट आदर्शवादी होते हुए भी व्यक्तिवादी विचारक है। वह व्यक्ति को स्वशासित इकाई मानता है और वह नैतिक नियमों के अनुसार आचरण करके ही सच्ची स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकता है। अतः काण्ट, व्यक्ति को राज्य के अधीन न बनाकर राज्य की सदस्यता को अनिवार्य नहीं मानता। दूसरी तरफ हीगल राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मानता है। उसने व्यक्ति के हितों और अधिकारों को राज्य के लिए बलिदान कर दिया है।
4. काण्ट राज्य की उत्पत्ति का कारण सामाजिक अनुबन्ध मानता है। इसके विपरीत, हीगल राज्य की उत्पत्ति का कारण सामाजिक अनुबन्ध न मानकर राज्य को विश्वात्मा के आध्यात्मिक पक्ष का द्वन्द्वात्मक पद्धति से होने वाला चरम विकास मानता है।
5. काण्ट के अनुसार राज्य में तीन सत्ताएँ हैं–विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका। स्वतन्त्रता के लिए वह विधानमण्डल और कार्यपालिका के पृथक्करण का समर्थक था। इसके विपरीत, हीगल के अनुसार राज्य में तीन सत्ताएँ विधायिका, कार्यपालिका और सम्राट होता है और वह उनकी एकता बनाये रखना चाहता है। उसके अनुसार तीनों शक्तियां एक–दूसरे की पूरक तथा एक महान् समष्टि के विभिन्न अंग हैं। उसने तीनों में सम्राट को विशिष्ट महत्व दिया जो विधायिका और कार्यपालिका में समन्वय स्थापित करके उन्हें एक बनाता है।
6. काण्ट के अनुसार सच्चे अर्थों में वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जो नैतिक रूप में स्वाधीन है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता व्यक्ति की इच्छा का अधिकार है जिसे आत्मारूपित आदेशात्मक कर्तव्य भी कहा जा सकता है। इसके विपरीत, हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ है राज्य की आज्ञाओं का पालन करना।
7. काण्ट राज्य को सीमित कार्य सौंपता है। उसके अनुसार राज्य का कार्य उत्तम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। दूसरी तरफ हीगल राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार मानता है। अतः उसकी राज्य सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान है, उसके कार्यों का कोई अन्त नहीं है।
8. काण्ट विश्वशान्ति का जबर्दस्त पोषक था। उसके अनुसार स्वतन्त्र राज्यों का एक विशाल संघ निर्मित होना चाहिए जिनके बीच अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रयोग वांछित है। इसके विपरीत, हीगल राष्ट्र के विकास के लिए युद्ध को अनिवार्य आवश्यकता मानता था। उसके अनुसार बन्दूक और बारूद सभ्यता को उन्नत करने वाले आविष्कार थे। वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का समर्थक नहीं था। नैतिकता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य पर कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता।

इस प्रकार हीगल और काण्ट दोनों आदर्शवादी विचारक हैं, किन्तु दोनों में मौलिक अन्तर है। वॉहन के शब्दों में, "काण्ट ने अपना चिन्तन व्यक्तिगत चेतना से आरम्भ किया था, लेकिन हीगल ने बाह्य ज्ञान और संगठित संस्थाओं की दुनिया से।" सेबाइन के अनुसार, "व्याख्यात्मक आलोचना काण्ट के दर्शन का मुख्य विचार है और हीगल की सफलता का केन्द्र बिन्दु है विकास।"

15.11 हीगल के दर्शन की आलोचना

सेबाइन के अनुसार "हीगल का दर्शन बहुत अधिक जटिलताओं से युक्त है।" आइवर ब्राउन के अनुसार, "व्यावहारिक दृष्टि से हीगल के सिद्धांत का अर्थ है आत्मिक दासता, दैहिक अधीनता, अनिवार्य सैनिक भर्ती, राष्ट्रीय हितों के लिए युद्ध और शान्तिकाल में मनुष्यों द्वारा लेवियाथन दैत्य की उपासना और युद्धकाल में मोलोक की उपासना।" मैक्सी का कथन है कि "राज्यों का पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन बताने के उद्देश्य से शुरू होने वाला राजनीतिक हीगलवाद नास्तिक निरंकुशों या तानाशाहों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हुए समाप्त हुआ।" वेपर के अनुसार, "हीगल सर्वाधिकारवादी सिद्धांतों को पिता है।" शोपनहार जैसा आलोचक उसके दुरूह शब्दजाल को पागल व्यक्ति का प्रलाप कहता था। उदारवादी आर. हाइम ने हीगल को 'पुनर्स्थापना का सरकारी दार्शनिक और उनके दर्शन को 'प्रशाई दर्शन' की संज्ञा दी। अपनी बहुचर्चित पुस्तक "हीगल और उसका काल" (1857) में उन्होंने लिखा–"मुझे तो लगता है कि सारे वास्तविक की विवेकपूर्णता विषयक प्रसिद्ध उक्ति की तुलना में जिस अर्थ में वह हीगल की प्रस्तावना में मिलती है, उसकी तुलना में हॉब्स और फिल्मर ने हाम्लेट और श्टाल ने जो कुछ भी कहा था, वह सब एक अर्थ में कहीं अधिक स्वतन्त्र सिद्धांत था।" हीगल के राजनीतिक दर्शन की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है–

1. **द्वन्द्वात्मक पद्धति अस्पष्ट और सर्वथा अवैज्ञानिक**–सेबाइन के अनुसार द्वन्द्वात्मक पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का मनमाने ढंग से प्रयोग किया गया है, वह किसी भी प्रकार से कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं है।
2. **राज्य को ईश्वर का मूर्तिमान रूप समझना**–हीगल के दर्शन में राज्य को ईश्वर का अवतार माना गया है जो गलती नहीं करता। इस सम्बन्ध में हाबहाउस ने लिखा है कि हीगल का राज्य सिद्धांत राज्य को एक महानतर प्राणी, एकात्मा तथा एक अतिव्यक्ति सत्ता मानता है जिसमें व्यक्ति, उनके अन्तःकरण, उनके दावे तथा अधिकार, उनका हर्ष, उनका दुःख–ये सब केवल पराधीन तत्व हैं।

3. **व्यक्ति को साधन मानना**—हीगल के अनुसार राज्य सर्वोपरि है और राज्य एवं व्यक्ति के हितों में कोई विरोध नहीं है। राज्य आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही जगतों का केन्द्र है। राज्य की सत्ता को बनाये रखने के लिए व्यक्ति को अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए। स्पष्ट है कि हीगल का दर्शन राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मानता है। वह व्यक्ति को राज्य का दास बना देता है, व्यक्ति को पूर्णतः राज्य के अधीन कर देता है।

4. **राज्य की निरंकुशता का प्रतिपादक**—हीगल ने राज्य को ईश्वर का अवतार मानकर राजा के दैवी अधिकारों का समर्थन किया। उसने राज्य की निरंकुशता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार व्यक्ति को सदैव राज्य की आज्ञाओं का आंख मूंदकर पालन करना चाहिए। जोड के अनुसार, "राज्य का निरपेक्ष सिद्धांत व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु है क्योंकि जब भी व्यक्ति और राज्य में कोई संघर्ष उत्पन्न होता है तो इसके अनुसार राज्य अवश्य ही सही होना चाहिए।" आलोचकों के अनुसार जर्मन निरंकुशता और बर्बरतावाद हीगल के दर्शन का ही एक परिणाम था।

5. **अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के प्रतिकूल युद्ध का दर्शन**—जोड के अनुसार हीगल के दर्शन से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में वर्तमान राज्यों के सिद्धांत विहीन कार्यों को मान्यता मिल सकती है। वास्तव में हीगल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में विचार अराजकता की सीमा को छूते हैं। हीगल की विचारधारा का सहारा लेकर राज्य अपने अनैतिक एवं सिद्धांतहीन कार्यों को मान्यता मिलने का अनिवार्य परिणाम विश्वशान्ति और सहयोग का गला घोंट देना है। वह युद्ध को मानव सभ्यता के विकास एवं राज्य की सर्वशक्तिशालिता का परिचय देने के लिए परम उपयोगी साधन मानता है। युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपेक्षा की शिक्षा देने वाला उसका यह सिद्धांत मृत्यु, विनाश एवं संहार की ओर ले जाने वाला है।

6. **स्वतन्त्रता की महान् अवधारणा को परतन्त्रता में परिवर्तित कर देना**—हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ है राज्य के आदेशों का पालन। स्वतन्त्रता अपनी इच्छानुसार कार्य करना नहीं है अपितु राज्य की इच्छानुसार कार्य करना है। स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छा के प्रतिकूल आदेशों को अपना कर्तव्य समझते हुए बिना किसी तर्क के पालन करना है। आलोचकों के अनुसार उसने स्वतन्त्रता के सिद्धांत को मरोड़कर उसे 'आज्ञाकारिता' बना दिया।

7. **उग्र राष्ट्रवाद का सिद्धांत**—हीगल का दर्शन उग्र राष्ट्रवाद का दर्शन है जिसकी चरम परिणति जर्मन राज्य एवं जर्मन नस्ल की सर्वोपरिता में होती है। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के नाम पर हीगल ने जर्मनी के सम्राट, सामन्तों और विशेषाधिकार प्राप्त कुलीन वर्ग की जनता से पूजा कराई और जातीयता के गुण गा–गाकर उसे और अधिक प्रोत्साहित किया।

8. **पूर्वाग्रह पर आधारित दर्शन**—आलोचकों के अनुसार उसका दर्शन पूर्वाग्रहों पर आधारित है। उसकी विश्वात्मा के विकास एवं इतिहास की दार्शनिक व्याख्या को निष्पक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि इनके द्वारा वह जर्मनी के गौरव में अभिवृद्धि करना चाहता था।

9. **शक्ति के आदर्शीकरण का दर्शन**—हीगल का दर्शन शक्ति के आदर्शीकरण का दर्शन था। इसमें शक्ति से पृथक् अन्य किसी भी आदर्श के प्रति एक प्रकार की अवज्ञा का भाव था। इसमें शक्ति के आदर्श को एक प्रकार का नैतिक और न्याययुक्त आदर्श माना गया था। उसने राष्ट्र को एक ऐसे आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियन्त्रण से परे था और जिसकी नैतिक दृष्टि से आलोचना नहीं हो सकती थी।

10. **अनुदारवादी दर्शन**—राजनीतिक निष्कर्षों की दृष्टि से हीगल का राज्य सिद्धांत उदारताविरोधी था। उसमें स्वतन्त्र के सत्तावाद को उदात्त रूप दे दिया गया था। इसमें राष्ट्रवाद ने राजवंशीय और सत्ता का रूप धारण कर लिया था। हीगल के दर्शन का सार था "राजनीति को ऐसे लोगों के हाथों में छोड़ दिया जाए जो वंश तथा व्यवसाय के द्वारा शासन करने के योग्य हैं।"

वेपर के अनुसार, "उसने व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलि चढ़ा दिया।" बार्कर के अनुसार, "हीगल ने राष्ट्र राज्य को एक रहस्यात्मक स्तर तक पहुंचा दिया।" एबेन्स्टाइन के शब्दों में, "यद्यपि हीगल ने अपने राजनीतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन बड़ी शब्दाडम्बरपूर्ण दार्शनिक परिभाषाओं में किया है, किन्तु उसमें फासीवाद के सभी तत्व मिलते हैं.....वह मैकियावली से भी आगे बढ़ गया, उसने शक्ति और नैतिकता को अभिन्न बन दिया।" मैकगवर्न के अनुसार, "बिस्मार्क का शक्ति पर आधारित मानव क्रिया के उच्चतम लक्ष्य के रूप में राष्ट्र राज्य पर बल देना, उसका यह विश्वास कि राज्य केवल व्यक्तियों का एक समूह मात्र नहीं है, अपितु एक सावयवी सम्पूर्ण है, उसक जनतन्त्र के विरोध में एक अतिशक्तिशाली राजतन्त्र तथा नौकरशाही का पोषण, आदि सब का मूल हीगल के चिन्तन में निहित था।" गैटेल के अनुसार, "हीगल के विचारों से फासीवाद के विकास और आक्रामक आदर्शों को बड़ा प्रोत्साहन मिला।"

संक्षेप में 20वीं शताब्दी में इटली में फासीवाद तथा जर्मनी में नाजीवाद दोनों हीगल की विचारधारा से ही निःसृत हुए। इन अधिनायकतन्त्रों के अन्तर्गत राज्य की सत्ता को चरम सीमा पर पहुंचाकर व्यक्ति को पूर्णतया राज्य का दास बना

दिया गया। फासीवाद सर्वाधिकारवादी राज्य हीगल की विचारधारा का सर्वसत्तावान राज्य माना जाता था जिसे हीगल ने 'पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार' कहा था।

15.12 राजनीति दर्शन के इतिहास में हीगल के विचारों की उपादेयता

हीगल के चिन्तन को स्वच्छन्द कल्पना कहकर तिरस्कृत कर देना बहुत आसान है तथापि राजनीतिक दर्शन के इतिहास में उसका अद्वितीय महत्व है। हीगल को विश्व का एक महानतम दार्शनिक समझा जाता है। उसके प्रशंसकों को आज भी यह विश्वास है कि दार्शनिक चिन्तन में उसने अन्तिम सत्य को प्राप्त कर लिया था। सेबाइन के शब्दों में, "हीगल के राजनीतिक दर्शन में दो तत्व सबसे महत्वपूर्ण थे। इनमें से एक तत्व तो द्वन्द्वात्मक पद्धति का था। इसके द्वारा हीगल ने सामाजिक अध्ययनों में कुछ नवीन परिणाम निकाले। ये परिणाम ऐसे थे जो अन्यथा सामने नहीं आ सकते थे। दूसरा तत्व राष्ट्रीय राज्य का था। हीगल राष्ट्रीय राज्य को राजनीतिक शक्ति का सजीव प्रतीक मानता था। हीगल के बाद ये दोनों ही सिद्धांत बहुत अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। हीगल के चिन्तन में ये दोनों सिद्धांत अभिन्न थे।" राजनीति दर्शन के इतिहास में हीगल का योगदान एवं महत्व इस प्रकार है–

1. दर्शन एवं सिद्धांत को यथार्थ से जोड़ना–हीगल के विचारों एवं सिद्धांतों ने दर्शन एवं यथार्थ में घनिष्ठ सम्बन्ध प्रस्तुत किया। सेबाइन के शब्दों में, "बहुत कम राजनीतिक सिद्धांत ऐसे हुए हैं जिनका राजनीतिक यथार्थताओं से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हो।" हीगल की विचारधारा में नेपोलियन के युद्धों की समाप्ति के समय की जर्मनी की अवस्था का, फ्रांस के हाथों उसके कटु राष्ट्रीय अपमान का और जर्मन संस्कृति की महत्ता तथा एकता के अनुसार ही राष्ट्रीय एकता का निर्माण करने के लिए उसकी महत्वाकांक्षा का अच्छा चित्रण मिलता है। हीगल के चिन्तन ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि यह महत्वाकांक्षा किस प्रकार कार्यरूप में परिणत होगी। उसने राज्य की संकल्पना को एक विशिष्ट अर्थ दिया और इस संकल्पना को कुछ ऐसी धारणाओं से भर दिया जो फ्रांस तथा इंग्लैण्ड के राजनीतिक चिन्तन में नहीं पायी जाती थीं, लेकिन जिन्होंने इस संकल्पना को सम्पूर्ण 19वीं शताब्दी में जर्मनी के राजनीतिक और न्यायिक दर्शन का मुख्य सिद्धांत बना दिया।

2. आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का प्रस्फुटन–हीगल के दर्शन में आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से रेखांकित किया जा सकता है। सेबाइन के शब्दों में "हीगल का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था और उसके दर्शन में न केवल आधुनिक चिन्तन पूरी तरह व्याप्त था बल्कि वह आधुनिक चिन्तन का समाकलन भी था और संसिद्धि भी।" इस दृष्टि से उसका मुख्य विचार इतिहास भी दार्शनिक व्याख्या का विचार था। यह एकता स्थापित करने वाला विचार था और हीगल ने उसका निरूपण इस तरह से किया था कि वह उस स्थान को ग्रहण कर सके जो 17वीं और 18वीं शताब्दियों में प्राकृतिक विधि के सिद्धांत को प्राप्त था। इसमें हीगल ने रूसो द्वारा असम्बद्ध रीति से प्रतिपादित 'सामान्य इच्छा' के सिद्धांत को और वर्क द्वारा प्रतिपादित इतिहास के धार्मिक दृष्टिकोण को जिसके अनुसार इतिहास "दैवी चमत्कार" है, संयुक्त किया। इन अस्पष्ट कल्पनाओं को हीगल ने तर्कशास्त्र की निश्चितता और यथार्थता प्रदान करने की कोशिश की। उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति के रूप में वैज्ञानिक खोज का एक ऐसा उपकरण तैयार करने की कोशिश की जो 'संसार में ईश्वर की यात्रा' को प्रमाणित कर सके। उसने अपरिवर्तनशील प्राकृतिक विधि की व्यवस्था के स्थान पर इतिहास में निरपेक्ष के विवेकयुक्त उद्घाटन को प्रतिष्ठित किया।

3. द्वन्द्वात्मक पद्धति–हीगल द्वारा प्रस्तुत द्वन्द्वात्मक पद्धति विश्व में होने वाले परिवर्तनों को समझने के लिए एक नवीन एवं मौलिक दार्शनिक उपकरण है। उसने विकासवादी प्रक्रिया से प्रगति के विचार पर बल देते हुए यह प्रतिपादित किया कि हम किसी वस्तु के यथार्थ रूप को उसके विरोधी रूप से उसकी तुलना करके ही जान सकते हैं।

4. राष्ट्रीय राज्य का जनक–हीगल को राष्ट्रीय राज्य का जनक माना जाता है। राष्ट्रवाद को धर्म की भांति एक

विश्वास तथा मत का रूप देने में हीगल के विचारों ने भारी योगदान किया है। मैक्सी के शब्दों में, "आधुनिक युग में पाए जाने वाले राष्ट्रीयता के श्रेष्ठतम सिद्धांतों का पोषण हीगल के विचारों से हुआ है..... उसने अपनी रचनाओं में ऐसे सिद्धांतों को प्रस्तुत किया जिनसे न केवल जर्मनी में, अपितु अन्य सभी देशों में राष्ट्रीयता को धर्म का रूप दिया जा सकता था।"

5. राज्य के सावयवी सिद्धांत का प्रतिपादन–हीगल की दृष्टि का राज्य न तो व्यक्तिवादियों की विचारधारा का ऐसा मानव संगठन है जिसके अंग बिना पारस्परिक आंगिक एकता के एक समूह मात्र का निर्माण करते हों और न ही वह कुछ तथाकथित प्राकृतिक अधिकारों के संरक्षण के निमित्त मानवों की पारस्परिक संविदा के आधार पर कृत्रिम रूप से निर्मित एक यान्त्रिक संरचना है। प्रत्युत् हीगल राजनीतिक समाज को एक नैसर्गिक संवाद मानता है जिसके ऊपर व्यक्ति को पूर्णतया निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार हीगल की विचारधारा में व्यक्ति के सामुदायिक जीवन की महत्ता को स्वीकार किया गया है। हीगल ने व्यक्तिवादी नकारात्मक स्वतन्त्रता के स्थान पर सामुदायिक विधेयात्मक स्वतन्त्रता की धारणा को व्यक्त करके व्यक्ति एवं राज्य के मध्य सावयविक सम्बन्धों को दर्शाया है।

सेबाइन के अनुसार हीगल के चिन्तन के आधार पर राजनीतिक सिद्धांत में जिन विविध प्रवृत्तियों का विकास हुआ, उनमें से तीन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है विकास की सीधी रेखा असंदिग्ध रूप से हीगल से मार्क्स और बाद के साम्यवादी सिद्धांत की थी। यहां द्वन्द्वात्मक पद्धति जोड़ने वाली कड़ी थी। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति को हीगल के दर्शन की युगान्तकारी खोज कहा था। दूसरे, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के आदर्शवादियों ने इंग्लैण्ड के उदारवाद का जो संशोधन किया था, उसमें भी हीगल का चिन्तन एक महत्वपूर्ण तत्व रहा था। अन्त में, इटली में फासिज्म ने अपने प्रारम्भिक चरणों में हीगलवाद से दार्शनिक आधार ग्रहण किया।

हीगल का चिन्तन एक ऐसा बीज था जिसने आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक दर्शन के प्रत्येक पक्ष पर प्रभाव डाला। मेकगवर्न के शब्दों में, "बिस्मार्क की शताब्दी के द्वार पर हीगल का जीवन, विचार तथा कार्य खड़ा है उसी तरह जैसे कि विचार कर्म से पहले आता है.....यह कहना कदाचित् अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि हीगल तथा उसके शिष्यों ने जो विचार अभिव्यक्त किये और जिस बात की मांग की उसी को बिस्मार्क ने क्रियान्वित किया।"

15.13 निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हीगल का चिंतन एवं दृष्टिकोण एक ऐसी चिनगारी थी जिसे आगे के विचारकों के दृष्टिकोण एवं विचारों को काफी प्रभावित किया। प्रमाण के रूप में मार्क्स ने हीगल के विचारों का अनुसरण किया। उसकी द्वंदवाद की पद्धति राजनीतिक चिंतन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं उसने राजय को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार मान कर अपने विचारों में आध्यात्मवादी दृष्टिकोण का परिचय भी दिया। इस प्रकार विश्व में होने वाले परिवर्ततनों को समझने में हीगल की द्वंद्वात्मक पद्धति काफी सहायक सिद्ध हो सकती है। अतः सार रूप में यह माना जा सकता है कि हीगल के दर्शन के बिना भी पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन अधुरा सा प्रतीत होता है।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. हीगल की द्वंद्वात्मक पद्धति का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. हीगल राज्य सम्बन्धी विचारों का परीक्षण कीजिए।
3. राजनीतिक चिंतन में हीगल के योगदान का विवेचन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. हीगल के शासन सम्बन्धी विचार स्पष्ट कीजिए।
2. हीगल के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार स्पष्ट कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. "राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण है।" कथन किसका है?
2. हीगल द्वन्द्वात्मक पद्धति को चरण कौन से है?

इकाई–16
कार्ल मार्क्स

संरचना

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 जीवन परिचय
16.3 प्रमुख रचनाएँ
16.4 मार्क्स के विचारों पर प्रभाव
16.4.1 हीगलवादियों के विचार
16.4.2 ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों का शास्त्रीय चिन्तन
16.4.3 फ्रेन्च समाजवादियों का चिन्तन
16.4.4 सामयिक आर्थिक परिस्थितियां
16.5 कार्ल मार्क्स : वैज्ञानिक समाजवाद के जनक
16.6 कार्ल मार्क्स के प्रमुख सिद्धांत : मार्क्सवाद
16.6.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त
16.6.2 इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या का सिद्धान्त
16.6.1 वर्ग संघर्ष का सिद्धांत
16.6.2 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत
16.6..3 मार्क्स द्वारा प्रतिपादित राज्य सिद्धांत
16.7 सामाजिक परिवर्तन

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् छात्र–

- कार्ल मार्क्स के जीवन वृत्त को जानने में सहायक होंगे।
- मार्क्स के विचारों के स्रोत, प्रमुख सिद्धांत (मार्क्सवाद) की व्याख्या कर सकेंगे।
- भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की समीक्षात्मक विवेचना कर सकेंगे।
- इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धान्त को समझ सकेंगे।
- वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त सम्बन्धी विचारों को समझ सकेंगे।
- अतिरिक्त मूल्य की अवधारणा के बारे में जान सकेंगे।
- मार्क्स की राज्य के बारे में धारणा को समझ सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कार्ल मार्क्स को 'वैज्ञानिक समाजवाद' के जनक के रूप में स्मरण किया जाता है। उसके दर्शन ने समूचे संसार में हलचल मचा दी, बुद्धिजीवी और शासक वर्ग को ही नहीं, आम जन–समुदाय को भी झकझोर दिया। 20वीं शताब्दी में उसके विचारों ने दुनिया को जितना आलोकित किया, उतना संभवतः और किसी विचारक के चिन्तन ने नहीं किया। इस दृष्टि से उसकी तुलना महात्मा बुद्ध, ईसा और मुहम्मद से की जा सकती है। पश्चिमी दुनिया में ईसाइयत और इस्लाम के बाद 'साम्यवाद' जैसा कोई जनआन्दोलन नहीं हुआ। उन्हीं के नाम से प्रचलित 'मार्क्सवाद' आज 20वीं शताब्दी में इस्लाम और ईसाइयत की भाँति भयावह थपेड़ों के बावजूद जीवित है।

कार्ल मार्क्स अर्थशास्त्री, पत्रकार, क्रान्तिकारी साम्यवादी नेता और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्याकार के रूप में बहुत प्रख्यात है। अपने जीवन पर्यन्त मित्र एंगेल्स (1820–1895) के सहयोग से उसने इस क्रान्तिकारी अर्थशास्त्र की रचना

की जिसको बौद्धिक आधार मानकर रूस और चीन, आदि देशों में सामाजिक क्रान्तियाँ हुईं। लुई वाशरमेन ने मार्क्स के सम्बन्ध में लिखा है कि 'उसने समाजवाद को एक षड्यन्त्र के रूप में पाया और उसे एक आन्दोलन के रूप में छोड़ा।' मार्क्स ही ऐसा विचारक था जिसने सामाजिक विकास का एक वैज्ञानिक तथा क्रमिक अध्ययन प्रस्तुत किया। यदि डारविन ने प्राकृतिक क्षेत्र में विकासवादी सिद्धांत का अन्वेषण किया तो मार्क्स ने भी उसकी प्रकार मानव इतिहास में विकास के सिद्धांत को खोज निकाला। यद्यपि मार्क्स से पूर्व भी दार्शनिकों ने विश्व की व्याख्या की है, परन्तु मार्क्सवाद उस विश्व को बदलने से सम्बन्धित समस्या का समाधान है। स्वयं मार्क्स के ही शब्दों में, "दार्शनिक अब तक विश्व की व्याख्या करने का प्रयास करते रहे हैं, किन्तु महत्वपूर्ण बात तो इस विश्व को बदल देने की है।" उसके विचारों ने सचमुच दुनिया को बदल डाला; लोकतन्त्र और तानाशाही शासनों में पूंजीवाद के समर्थकों के तख्ते पलट दिए। मार्क्स ने विश्व को वह दर्शन दिया जो साम्यवाद का आधार बना। मार्क्स द्वारा समाज के आर्थिक एवं भौतिक विश्लेषण में अपनायी गई दृष्टि को 'मार्क्सवाद' कहा जाता है। सत्य तो यह है कि मार्क्स के विचारों का अध्ययन किए बिना समाजवाद का अध्ययन अपूर्ण माना जाता है। मार्क्सवाद को केवल श्रमिकों की आवाज तथा क्रान्तिकारी हिंसात्मक राजनीतिक प्रवृत्ति मानना, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, बहुत बड़ी भूल होगी। मार्क्सवाद समाज की विविध अवस्थाओं का वैज्ञानिक अध्ययन है तथा समाज की जटिलताओं को समझकर उनसे परित्राण पाने का एक तरीका है। सी. एल. वेपर के शब्दों में, "मार्क्सवाद केवल श्रमिक वर्ग की बुलन्द आवाज नहीं है। वह वर्तमान समाज के प्रभावों तथा जटिलताओं को निश्चित रूप से समझने की एक वृहत् प्रणाली है। क्रान्तिकारी परिस्थितियों तथा समाज से सम्बन्धित विविध रूपों का अध्ययन करना भी इसका उद्देश्य है।"

मार्क्सवाद प्रथम दर्शन है जिसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा इतिहास का आर्थिक विवेचन प्रस्तुत करके अध्यात्मवादी मान्यताओं को ठेस पहुँचाई। वर्ग संघर्ष तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत द्वारा पूंजीपति समाज की आवश्यक क्षति पर विशेष रूप से जोर दिया। मार्क्सवाद पहला दर्शन है, जिसने सर्वहारा वर्ग के प्रभुत्व को स्थापित करने के लिए एक व्यावहारिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

16.2 जीवन परिचय

जर्मनी के राइन प्रान्त के त्रियेर (ट्रेर) नगर के वकील हेनरिक मार्क्स के घर कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई, 1818 को हुआ था। उनका पूरा परिवार यहूदी था। कार्ल के दादा और ताऊ यहूदियों के पुरोहित थे। उनकी माँ हालैण्ड के उस प्रेसवर्ग परिवार से थी, जिसके यहां भी यहूदियों की पुरोहिताई का काम होता रहा था। इतना होते हुए भी मार्क्स के परिवार में धार्मिक कट्टरता कतई नहीं थी।

मार्क्स के तीन भाई और चार बहिनें थीं। भाई मोरिस डेविड की जल्दी ही मृत्यु हो गई थी, इस कारण कार्ल ही उस परिवार में सबसे बड़े रह गए थे। मार्क्स के पिता हेनरिक को यहूदियों की परम्परागत सूदखोरी और लालची प्रवृत्ति से नफरत थी। इसके अलावा उन पर फ्रांसीसी क्रांति के प्रेरणादायी विचारकों–रूसो, वाल्टेयर के क्रान्तिकारी विचारों का भी भरपूर असर हुआ था। उनके विचारों में जबर्दस्त परिवर्तन आया और वे यहूदी से प्रोटेस्टेंट ईसाई हो गए। इससे उन्हें प्रशा में वकालत करने की सुविधा मिल गयी। प्रशा में वैसे भी यहूदियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था। उन पर कई तरह के प्रतिबन्ध थे। ईसाई हो जाने से इन प्रतिबन्धों से उन्हें छुटकारा मिल गया था।

मार्क्स को अपने बचपन में एक बहुत ही प्रेरक, उत्साहवर्द्धक और ममतापूर्ण सम्पन्नता का वातावरण मिला था। घर की माली हालत चूंकि काफी अच्छी थी, इसलिए कार्ल को पर्याप्त लाड़–प्यार के साथ–साथ सारी सुख सुविधाएँ भी मिली थीं।

कार्ल की पढ़ाई की शुरूआत त्रियेर नगर से ही हुई थी। पढ़ाई में उनकी दिलचस्पी जल्दी ही पैदा हो गई थी और बचपन में वे अपना ज्यादा से ज्यादा वक्त पढ़ाई में लगाते थे। पढ़ने की यही आदत आगे चलकर उनकी जिन्दगी का एक जरूरी हिस्सा बन गई। 1830 से 35 तक कार्ल मार्क्स की शिक्षा त्रियेर के उच्च माध्यमिक विद्यालय में हुई। यहीं अध्ययन करते हुए अपनी आखिरी परीक्षा के लिए वह प्रसिद्ध निबन्ध "व्यवसाय के चयन पर एक नवयुवक के विचार" लिखा था, जो उनकी सोच, प्रतिभा और भावी आस्थाओं का संकेत देता है। इस निबन्ध में उनके विचारों का नया तेवर और ताजगी का पता चलता है। इस निबन्ध में उन्होंने लिखा था कि अगर ऐसे व्यवसाय का चयन किया जाए, जिसके जरिए मानव जाति का व्यापक हित भी किया जा सकता हो तो व्यवसाय का बोझ तब अनुभव नहीं होता और उसके जरिए जो सुख मिलता है वह निजी किस्म का नहीं होता बल्कि, वह करोड़ों से जुड़ा होता है। इस तरह यह निबन्ध कार्ल के भीतर चल रही उथल–पुथल का अन्दाजा देता है। "यह रचना ही तरुण मार्क्स की अवधारणा बुद्धि और उच्च नैतिक गुणों का परिचय देती है। अपने जीवन पथ के चयन में वह अहंमन्यता, थोथी महत्वाकांक्षा और पदलोलुपता को अस्वीकार करते हैं। सामाजिक कर्तव्य की चेतना रखते हुए वह मानव जाति की सेवा को अपने जीवन का ध्येय मानते हैं।"

1835 में स्कूली शिक्षा पूरी होने के बाद कार्ल ने उच्च शिक्षा के लिए बोन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। कार्ल के पिता उन्हें वकील बनाना चाहते थे, अतः बोन में कानून उनके अध्ययन का विषय था। इसके अलावा उनका दूसरा विषय था अर्थशास्त्र, किन्तु कानून के अध्ययन में उनकी रुचि नहीं थी और कार्ल वकील बनना भी नहीं चाहते थे। पढ़ाई के दौरान ही अपने अतिरिक्त समय में वे दूसरे विषयों की किताबें पढ़ा करते थे। इसी दौरान कार्ल की जेनी से सगाई हो गयी। जेनी एक संभ्रान्त परिवार की सन्तान और कार्ल की बड़ी बहिन सोफी की सहेली और कार्ल के सहपाठी और मित्र की बहिन थी। वैसे जेनी कार्ल से करीब चार साल बड़ी थी और उसके तमाम रिश्तेदार इस रिश्ते को एक तरह से बेमेल रिश्ता मान रहे थे। कार्ल के पिता भी इस रिश्ते के विरोधी थे, लेकिन आखिरकार उन्होंने इस रिश्ते की मंजूरी दे दी, लेकिन कार्ल पर पाबन्दी लगा दी गई, कि वे फिलहाल अपना सारा ध्यान अपनी पढ़ाई में लगाएँ और पढ़ाई पूरी होने तक जेनी से मेल–जोल नहीं रखें। अड़गे डालने का काम तब और बढ़ गया जब मार्क्स के लिए, सरकारी नौकरी के रास्ते बन्द हो गये और उन्हें सरकार ने अपना दुश्मन नम्बर एक करार दे दिया।

मार्क्स की जीवनी लेखिका स्तेपानोवा लिखती हैं, "बर्लिन जाने से पहले 1836 की गर्मियों में मार्क्स की जेनी से मंगनी हुई, किन्तु भाग्य की विडम्बना यह थी कि न वह और न ही उनकी मंगेतर किसी को अपनी खुशी के बारे में बता सकते थे। ऊँचे घराने के जेनी के रिश्तेदार इस बात का विरोध कर सकते थे कि एक अभिजात वर्गीय युवती का, जो अत्यन्त रूपवती भी थी, एक ऐसे युवक से, साधारण विद्यार्थी से विवाह हो जो उसे न तो ऊँची उपाधियाँ और न ही धन–दौलत दिला सकेगा। जेनी की बौद्धिक कुशाग्रता, स्वभावगत उदात्तता और चारित्रिक श्रेष्ठता ही उन्हें मार्क्स के करीब लाई। अपने इन्हीं गुणों की बदौलत जेनी ने मार्क्स को अपना जीवन साथी चुना, पूरे सात वर्ष तक उनके विवाह के मार्ग में खड़ी रही अनेक बाधाओं को वह लांघ सकी और अपनी गहरी प्रेम भावना अक्षुण्ण बनाए रख सकी।"

साल भर बोन में पढ़ने के बाद कार्ल अपनी अगली पढ़ाई के लिए बर्लिन पहुंचे। यहाँ उन्होंने अपने को जी जान से पढ़ाई में लगा दिया। वे विश्वविद्यालय में दर्शन और इतिहास पर आयोजित व्याख्यानों का तो लाभ उठा ही रहे थे, साथ ही साथ कला और साहित्य का अध्ययन भी करने लगे। बीच–बीच में समय निकालकर, अंग्रेजी और इटालियन भाषा सीखने का काम भी जारी था। हर पढ़ी हुई पुस्तक का निष्कर्ष और उसके महत्वपूर्ण उद्धरण लिखना वे बिल्कुल नहीं भूलते थे। अध्ययन का यह उनका खास तरीका था जो उन्होंने आखिर तक जारी रखा। इसी दौरान उन्होंने अपने–आपको एक कवि के रूप में भी आजमाया। उनके इस दौर के सर्जन की प्रेरणा थी जेनी, जेनी के प्रति उफनता प्रेम और जेनी का वियोग उनके गीतों में व्यक्त हुआ, लेकिन शीघ्र ही उन्होंने यह महसूस किया कि उनका असली क्षेत्र कविता नहीं अपितु विश्लेषणात्मक मौलिक लेखन है। चिन्तन और अध्ययन की जो भूख उनमें जगी, उसने उन्हें अन्ततः हीगल तक पहुँचा दिया। प्रशा में उन दिनों हीगल के विचारों का काफी दबदबा था। इन विचारों को सरकारी संरक्षण प्राप्त था, हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति के रूप में अचानक मार्क्स को एक ऐसी चाबी मिल गयी, जिसका सफल इस्तेमाल कर वे इतिहास के अन्धेरे तहखानों को खोल सके और दर्शन की पूरी इमारत खड़ी कर सके।

मई 1838 में गम्भीर बीमारी से कार्ल के पिता का निधन हो गया जो उसके लिए एक वज्रपात था, लेकिन कार्ल ने अपनी अध्ययन यात्रा जारी रखी। उस काल में मार्क्स के अध्ययन का प्रमुख विषय प्राचीन यूनानी रोमन दर्शन था। डाक्टरेट अपने शोध प्रबन्ध के लिए उन्होंने जो विषय चुना वह था : 'डेमोक्राइट्स और एपीक्यूरस के प्रकृति दर्शनों में भेद।' अपनी इस पहली वैज्ञानिक कृति में मार्क्स का दृष्टिकोण अभी प्रत्ययवादी ही था, किन्तु अब अपने विचारों में वह हीगल के प्रभाव से अधिक स्वतन्त्र थे। जहां हीगल का भौतिकवादी एपीक्यूरस के प्रति रुख नकारात्मक था, वहीं मार्क्स धर्म और अन्धविश्वासों के विरुद्ध इस प्राचीन यूनानी दार्शनिक ज्ञान प्रसारक के संघर्ष पर विमुग्ध थे। मार्क्स विज्ञान को धर्म के अधीन लाने, स्वतंत्र मानव चिन्तन को बेड़ियों में जकड़ने के इस तरह के प्रयासों का डटकर विरोध करते थे।

मार्क्स को इस बात का पूर्वाभास था कि प्रशा की राजधानी के विश्वविद्यालय में उनके शोध प्रबन्ध का वस्तुगत वैज्ञानिक मूल्यांकन नहीं होगा। इसलिए उन्होंने इसे येना विश्वविद्यालय में भेजा और अप्रैल 1841 में दर्शनशास्त्र में डाक्टरी की डिग्री पायी।

मार्क्स अपना जीवन वैज्ञानिक कार्य में लगाना तथा बोन विश्वविद्यालय का प्राध्यापक बनना चाहते थे, लेकिन यह देखकर कि प्रशा सरकार प्रतिगामी नीतियों पर चलते हुए विश्वविद्यालय में से प्रगतिशील प्राध्यापकों को निकाल रही है, मार्क्स के इस विश्वास की पुष्टि हुई कि प्रशा के विश्वविद्यालय में अग्रणी वैज्ञानिक चिन्तन के लिए कोई स्थान नहीं है।

विश्वविद्यालय की व्याख्यान पीठिका नहीं, बल्कि–समाचार पत्र वह मंच बना जिसका उपयोग मार्क्स ने जर्मनी में प्रतिगामी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष के लिए किया। 1842 के बसन्त में उन्होंने 'तैबपदपेबीम 'मपजनदह' (राइन समाचार पत्र) में नियमित रूप से लिखना शुरू कर दिया। मार्क्स के लेखन का पाठकों पर खासा असर होने लगा और अखबार की अपनी एक अलग पहचान बनने लगी। 1842 में ही उन्हें इस अखबार का 'सम्पादक बना दिया गया। इसी बीच उन्होंने अखबार में कुछ ऐसी सामग्री भी छापी जिसने प्रशा सरकार की नींद हराम कर दी। प्रशा सरकार ने अखबार पर

अपना सेंसर कड़ा कर दिया और जनवरी 1843 से उसे बन्द कर दिया जाने का हुक्मनामा जारी कर दिया। अखबार मालिकों ने अखबार को बचाने के लिए उसकी नीति बदलने का निर्णय लिया, फलस्वरूप मार्क्स ने अखबार छोड़ दिया।

जून 1843 में जेनी से उनका विवाह हो गया। इन्हीं दिनों उन्हें पेरिस से अर्नाल्ड रुगे का प्रस्ताव मिला कि वे पेरिस से निकाले जाने वाले 'जर्मन–फ्रांस वार्षिकी' का सम्पादन कार्य स्वीकार करें। मार्क्स ने इस आकर्षक प्रस्ताव को मन्जूरी दे दी और जेनी के साथ पेरिस पहुँच गए। पेरिस में उन दिनों काफी मजदूर हलचलें हो रही थीं और कई गुप्त संगठन काम कर रहे थे। मार्क्स का भी इस संगठनों से सम्बन्ध कायम हुआ, जिससे उनका उस वक्त के अनेक प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाजवादियों से परिचय हुआ। वह फ्रांसीसी समाजवादियों और कम्युनिस्टों लुई ब्लां, एत्येन, काबे, पियेर लेरू तथा पियेर जोजेफ फूंदों से भी परिचित हुए। महान् जर्मन कवि हेनरिक हाइके के साथ उनका मित्रता का नाता बना। पेरिस में मार्क्स रूसी राजनीतिक नेताओं मिखाईल, बाकूनिन, वसीली, बोल्किन, इत्यादि से भी मिले। यहीं रहकर उन्होंने अर्थशास्त्र पर एक विशाल ग्रन्थ लिखने के इरादे से अर्थशास्त्र का विधिवत् अध्ययन शुरू किया, लेकिन 'जर्मन–फ्रांस वार्षिकी' पत्रिका का पहला अंक ही उसका आखिरी अंक सिद्ध हुआ। प्रशा सरकार ने उसे जब्त करने का आदेश दिया और सम्पादक को भी गिरफ्तार करने का आदेश दे दिया।

1844 में मार्क्स का परिचय 'जर्मन–फ्रांस वार्षिकी' में लेख लिखने वाले जर्मनवासी, किन्तु मैनचेस्टर में व्यापार करने वाले फ्रेडरिक एंगेल्स से हुआ। यह परिचय शीघ्र ही घनिष्ठ मित्रता में परिणत हो गया। दोनों के बीच इतनी जबर्दस्त वैचारिक सहमति पैदा हो गयी कि आगे चलकर सर्वहारा वर्ग का पक्षधर एक पूरा दर्शन खड़ा हो सका। स्तेपानोवा के शब्दों में, "पेरिस में मार्क्स और एंगेल्स की ऐतिहासिक भेंट के साथ उनकी अनुपम मैत्री का, उन दो युग पुरुषों के सहबन्ध का सूत्रपात हुआ जिन्होंने मजदूर वर्ग को विज्ञानसम्मत क्रान्तिकारी सिद्धांत से लैस किया और सर्वहारा पार्टी की रणनीति और कार्यनीति की नींव रखी।"

इन्हीं दिनों पेरिस से जर्मन भाषा में निकलने वाले समाचार–पत्र 'आगे बढ़ो' पर मार्क्स ज्यादा ध्यान देने लगे। उनके असर की वजह से ही इस अखबार का तेवर ज्यादा 'प्रगतिशील' होता चला गया। प्रशा सरकार के लिए यह एक असहनीय मामला था। प्रशा सरकार अपने असली दुश्मन मार्क्स को पहचानती थी। इसलिए उसने फ्रांस की सरकार पर दबाव डाला और मार्क्स को 1815 में पेरिस से निकलवा दिया।

मार्क्स को विवश होकर बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्ज में शरण लेनी पड़ी। यहां उनके पास गुजारे का कोई साधन नहीं था। इस अवस्था में एंगेल्स ने ही उनकी मदद की। ब्रूसेल्ज में रहते हुए मार्क्स ने एंगेल्स के साथ इंग्लैण्ड की यात्रा की। वहाँ पूंजीवाद का जो स्वरूप विकसित हो रहा था, उसे भी खुद समझा। एंगेल्स के साथ मिलकर उन्होंने अपनी किताब 'जर्मन विचारधारा' लिखी। यह द्विखण्डीय रचना अप्रैल 1846 तक प्रायः पूरी लिख ली गयी, लेकिन कोई ऐसा प्रकाशक नहीं मिला जो इसे छापने को राजी होता। कालान्तर में मार्क्स ने इस सिलसिले में लिखाद्"पांडुलिपी को हमने और भी अधिक खुशी से चूहों की कुतरनी 'आलोचना' के लिए इसलिए छोड़ दिया कि हमारा मुख्य उद्देश्य–विचारों का स्वयं अपने लिए स्पष्टीकरण–पूरा हो चुका था।" इस किताब में पहली बार इतिहास की भौतिकवादी समझ उभर कर आई। मार्क्स की यह महान् खोज दर्शन में, समाज और उसके विकास के नियमों की शिक्षा में आमूल क्रान्ति लायी। ब्रसेल्ज में ही 1846 में मार्क्स ने बिखरे हुए कम्युनिस्ट तत्वों को इकट्ठा करने की दृष्टि से 'कम्युनिस्ट सम्वाद समिति' की स्थापना की। इन्हीं दिनों वे फूंदों के सम्पर्क में आए और प्रूदों द्वारा साम्यवाद के खण्डन में लिखी गई पुस्तकों का उत्तर मार्क्स ने 'दर्शन की दरिद्रता' पुस्तक की रचना करके दिया। मार्क्स ने फूंदों की उनके प्रत्ययवादी दृष्टिकोणों तथा इस बात के लिए आलोचना की कि उन्होंने हीगल के द्वन्द्ववाद का विकृत रूप में उपयोग किया। इसके साथ ही मार्क्स ने पहली बार एक प्रकाशित रचना में इतिहास की अपनी भौतिकवादी धारणा का मण्डन किया। 1847 में ब्रूसेल्ज में स्थापित कम्युनिस्ट लीग और क्षेत्रीय समिति के नेतृत्व की जिम्मेदारी मार्क्स को सौंपी गयी।

'कम्युनिस्ट लीग' का घोषणा पत्र तैयार करने की जिम्मेदारी मार्क्स और एंगेल्स को दी गई। मार्क्स ने एंगेल्स के साथ मिलकर घोषणा पत्र की रचना की। 1848 में 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' प्रकाशित हुआ। इस घोषणा पत्र का साम्यवादी दुनिया में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रारम्भ ही इन शब्दों से होता है–"आज यूरोप को एक हौआ आतंकित कर रहा है–कम्युनिज्म का हौआ।" घोषणा पत्र के अन्त में कहा गया है–"कम्युनिस्ट क्रान्ति के डर से शासक वर्ग को कांपने दो। मजदूरों के पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवाय और कुछ नहीं है जीतने के लिए उनके पास सारी दुनिया है। दुनिया के मजदूरों, एक हो जाओ।" यह घोषणा पत्र वैज्ञानिक कम्युनिस्ट का पहला कार्यक्रममूलक दस्तावेज है। इसके साथ ही यह एक अनुपत कृति है, जिसमें मार्क्स और एंगेल्स ने पहली बार अपनी शिक्षा, उसके तीनों संघटकों–दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र और वैज्ञानिक समाजवाद–के मूलभूत सिद्धांतों का संक्षिप्त, सुव्यवस्थित और समग्रतापूर्ण विवरण दिया।

मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों की प्रतिक्रिया स्वरूप बेल्जियम सरकार ने उन्हें जेल में डाल दिया। जब जेनी अपने पति के बारे में जानने के लिए पुलिस स्टेशन पहुँची तब उन्हें जेल में डाल दिया गया। जिस कोठरी में जेनी को रखा गया

था, उसमें वेश्याएँ बन्द थीं। मार्क्स की गिरफ्तारी का लोगों ने संगठित विरोध किया और आखिरकार उन्हें रिहा करना पड़ा। मार्क्स को प्रशा और पेरिस से निर्वासित कर दिया गया, अतः उन्होंने लन्दन जाने का निश्चय किया, किन्तु इन दिनों जेनी गर्भवती थी, अतः 26 अगस्त, 1849 को जेनी व बच्चों को पेरिस में ही छोड़कर वे अकेले ही लन्दन पहुंचे।

अब लन्दन ही मार्क्स का स्थायी निवास और कर्मभूमि बन गया। इस समय उसका एक मात्र सहारा क्रांतिकारी विचार वाले 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' में लेख लिखना था। उसे यह काम एंगेल्स ने दिलाया था। वह इन वर्षों में ब्रिटिश म्यूजियम का पुस्तकालय खुलते ही उसमें प्रवेश करता था और शाम को इसके बन्द होने पर ही घर लौटता था। दिनभर पुस्तकालय में वह लेखों तथा 'कैपिटल' नामक ग्रन्थ के लिए सामग्री जुटाया करता था।

लन्दन में मार्क्स ने आर्थिक तंगी में भयंकर कठिनाइयों और कष्टों के दिन गुजारे। उसके पास मकान का किराया चुकाने को भी पैसे नहीं थे। एक बार तो मकान–किराया न चुकाए जाने पर मकान मालकिन अदालती कारिन्दों के साथ आ धमकी और किराए के बदले घर का सामान कुर्क करवाने लग गयी थी। इस कुर्की में दूसरे सामान के अलावा बच्चों के पालने और खिलौने तक कुर्क कर लिए गए थे। कई बार मार्क्स स्वयं भूखा रहता था, ताकि बच्चों को भर–पेट खाना मिल सके। उसकी पत्नी जेनी द्वारा इन दिनों अपनी सहेलियों को लिखे गए पत्रों से मार्क्स की हृदयविदारक दरिद्रता पर प्रकाश पड़ता है। जेनी ने लिखा–"एक बार जब मार्क्स घर पर नहीं थे मकान मालकिन आ धमकी और तुरन्त किराया अदा करने की मांग करने लगी। पैसे तो थे नहीं, सो दो अदालती कारिन्दे आए और मेरी छोटी सी गृहस्थी की फहरिश्त बनाने लगेदृचारपाइयाँ, बिस्तर, कपड़े, हर चीज को फहरिश्त में दर्ज कर लिया, मेरे नन्हें–मुन्ने के पालने और बच्चियों के सबसे अच्छे खिलौनों तक, बच्चियां आंसू बहाती पास ही खड़ी थीं।.....

"यह मत सोचिए कि जीवन की इन छोटी–छोटी बातों की परेशानियों से मेरा धीरज टूट गया है। मैं खूब अच्छी तरह जानती हूं कि हमारे संघर्ष में हम अकेले नहीं। मेरे ऊपर तो भाग्य कृपावान है, मैं थोड़े से सौभाग्यशाली लोगों में से हूँ, क्योंकि मेरे पति, मेरे जीवन का सहारा हैं।... भयानक से भयानक क्षणों में भी उन्होंने भविष्य में विश्वास नहीं खोया है और सदा हंसमुख और जिन्दादिल रहे हैं।...

1850 में उनका बेटा ग्विदो चल बसा, जो एक जबर्दस्त धक्का था। 1852 में उनकी साल भर की बेटी फ्रांसिस्का की मृत्यु हो गयी। अपनी प्यारी नन्हीं बेटी को कफन में लिटाने के लिए जेनी को एक फ्रैंच पड़ोसिन से उधार माँगना पड़ा। मार्क्स बच्चों के लिए उनके जीते जी न तो उनको जीने का सामान जुटा पा रहे थे और न मरने पर मौत का! एक पिता के रूप में मार्क्स की यह हृदय विदारक असफलता थी।

प्रशा सरकार ने 1851 में 'कम्युनिस्ट लीग' की प्रशा इकाई के कुछ सक्रिय सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया और झूठे, मामले बनाकर उन पर मुकदमे चलाए गए। यह किस्सा प्रसिद्ध है कि 1852 में कोलोन के कम्युनिस्ट मुकदमे का विवरण छापने के लिए आवश्यक कागज खरीदने के निमित्त मार्क्स ने अपना अन्तिम कोट गिरवी रख दिया था। एक मित्र को लिखे पत्र में उन्होंने इस बात को मंजूर किया कि बाहर जाने लायक जूते और पहनने के लिए पतलून तक न होने से बाहर आना–जाना बन्द है और वे अपने घर में करीब–करीब कैद हैं।

1851 में मार्क्स 'New York Daily Tribune' के लिए लिखने लगे और इस तरह एंगेल्स की सहायता के अलावा उनकी थोड़ी–सी आमदनी होने लगी, किन्तु फिर भी भोजन के नाम पर प्रायः सारे परिवार को डबलरोटी और आलू से ही सन्तोष करना पड़ता था।

पौष्टिक आहार के अभाव और प्रतिकूल आबोहवा की वजह से परिवार में अक्सर किसी न किसी की तबियत खराब रहा करती थी। मार्क्स भी अक्सर बीमार रहा करते थे। उन्हें जिगर की बीमारी भी हो गई थी। दो नन्हीं जानें–ग्वीदो और फ्रांसिस्का काल का ग्रास बन ही चुकी थीं, अब 1855 में मार्क्स को एक नया और सबसे कठोर आघात सहना पड़ा–उनके आठ वर्षीय पुत्र, सारे परिवार के चहेते और लाड़ले एडगर का देहान्त हो गया। जब वह बीमार पड़ा, तो माता–पिता ने इकलौते बेटे को बचाने के लिए भगीरथ प्रयत्न किए। अपनी सारी शक्ति लगाकर मार्क्स ने अत्यन्त अल्प अवधि में–अक्टूबर 1957 से मई 1858 तक–एक विशाल रचना तैयार की जो थोड़े बहुत अन्तराल के साथ 15 साल तक चले उनके आर्थिक अनुसन्धानों का परिणाम थी। 1859 में जब 'कैपीटल' का पहला खण्ड तैयार हो गया तो प्रकाशक के पास पाण्डुलिपी भेजने के लिए उनके पास जरूरी डाक खर्च भी नहीं था। अपने एक मित्र की मदद से पाण्डुलिपी बर्लिन भेजी जा सकी। 1867 में 'कैपीटल' का प्रथम खण्ड जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। इसमें उसने पूंजीवाद का बड़ा गम्भीर विश्लेषण किया है तथा इस मान्यता को जोर देकर प्रतिपादित किया है कि मनुष्य के अस्तित्व को उसकी चेतना निर्धारित नहीं करती, बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना को निर्धारित करता है। इस पुस्तक के शेष दो खण्ड मार्क्स अपने जीवनकाल में पूरा नहीं कर सका। इनको मार्क्स द्वारा तैयार की गई सामग्री के आधार पर एंगेल्स ने पूर्ण किया।

दिसम्बर 1964 में लन्दन में 'पहला इण्टरनेशनल' हुआ। इसमें कई देशों के मजदूर नेताओं ने भाग लिया। मार्क्स इसमें जर्मन मजदूरों के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित हुआ। पहले इण्टरनेशनल का संविधान बनाने में मार्क्स की प्रमुख भूमिका

रही थी। इन्हीं दिनों अमरीका में राष्ट्रपति लिंकन ने गुलामी की प्रथा को समाप्त किया; तब इंग्लैण्ड के मजदूरों की ओर से उनके नाम एक धन्यवाद प्रस्ताव भेजा गया। यह प्रस्ताव मार्क्स ने ही तैयार किया था जिसे पढ़कर लिंकन काफी प्रभावित हुए थे।

मार्क्स को 'कैपीटल' के प्रकाशन से बहुत उम्मीद थी, लेकिन बाजार में पुस्तक की कोई खास बिक्री नहीं हुई। जर्मन अखबारों में भी पुस्तक के कोई खास 'रिव्यू' प्रकाशित नहीं हुए। मार्क्स को इससे क्या रायल्टी मिली होगी, जिसका अनुमान लगाया जा सकता है।

शारीरिक रूप से मार्क्स पूरे टूट चुके थे। लगातार बीमारियों की वजह से उनकी शारीरिक क्षमताएँ कम होती जा रही थीं। अतः उन्होंने तय किया कि 'कैपीटल' के अन्य हिस्से पूरे करने का काम एंगेल्स के हवाले कर दिया जाए। मार्क्स के निधन के बाद एंगेल्स अपना सारा कामधाम छोड़कर इन किताबों में लग गए। दूसरा खण्ड मार्क्स के निधन के बाद 1885 में तथा तीसरा खण्ड 1894 में प्रकाशित हुआ। इन्हें देखकर ऐसा नहीं लगता कि इन्हें मार्क्स ने तैयार नहीं किया। इन 'खण्डों' ने सिद्ध कर दिया कि मार्क्स और एंगेल्स एक ही 'दृष्टि' से सोचते थे और दोनों वैचारिक रूप से एक–दूसरे के हिस्से थे।

1881 में कैन्सर की बीमारी से जेनी का निधन हो गया। जेनी को लन्दन के उस हाइगेट कब्रिस्तान में दफनाया गया, जहाँ आम तौर पर वे लोग दफनाए जाते हैं जिन्हें चर्च और सरकार बहिस्कृत कर देते थे। जेनी की मौत मार्क्स की मौत की शुरूआत थी। एंगेल्स ने तो जेनी की मौत को मार्क्स की मौत कहा था।

बुढ़ापे, बीमारी और आर्थिक अभाव ने मार्क्स के जिस्म को तोड़ दिया था। उनके फेफड़े में फोड़ा हो गया। दवाओं का शरीर पर असर होना बन्द हो गया। 14 मार्च, 1883 को उनका निधन हो गया। उन्हें अपनी पत्नी की कब्र के पास दफना दिया गया। एंगेल्स ने मार्क्स की मौत को सर्वहारा वर्ग के संघर्ष का सबसे बड़ा नुकसान बताया। इस त्रासदी के बारे में उसने लिखा–"मानव जाति एक रत्न से वंचित हो गयी है और वह भी हमारे युग के एक महानतम् रत्न से।"

16.3 प्रमुख रचनाएँ

मार्क्स की निम्नलिखित रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं–

1. The Poverty of Philosophy (1844)
2. The EconomicAnd Philosophical Manuscripts (1844),
3. The Communist Manifesto,
4. The Class Struggle in France (1848),
5. The Critique of Political Economy (1859)
6. Value, PriceAnd Profit (1865)
7. Capital Vol- I (1867) Capital Vol- II (1885) Capital Vol- III (1894)
8. The Civil War in France (1871),
9. The Gotha Programme (1875).

एंगेल्स के साथ मिलकर उन्होंने 'पवित्र परिवार', 'जर्मन विचारधारा' तथा 'साम्यवादी घोषणा पत्र' लिखा।

'पवित्र परिवार' पुस्तक में उसने इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा वर्ग संघर्ष के सिद्धांतों को बीज रूप में प्रतिपादित करते हुए निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को दरिद्र एवं सर्वहारा वर्ग द्वारा समाप्त करने पर बल दिया। जब मार्क्स प्रूदों के सम्पर्क में आया तो उसे उसकी पुस्तक 'वाट इज प्रोपर्टी' पढ़ने का अवसर मिला। प्रूदों की प्रतिभा से वह प्रभावित था, लेकिन उनमें सही विश्व दृष्टिकोण की कमी देखते थे। अतः सही दृष्टिकोण विकसित करने के लिए 'दर्शन की दरिद्रता' ग्रन्थ लिख डाला। गैटेल के शब्दों में, "दर्शन की दरिद्रता का प्रकाशन 1947 में हुआ। इसकी रचना मार्क्स ने फूंदों के 'वाट इज प्रोपर्टी' नामक ग्रन्थ का खण्डन करने के लिए की थी। अतः इसमें यूरोपियाई समाजवाद का पूर्ण खण्डन है। प्रूदों पर मार्क्स का आरोप था कि उनके सोचने का ढंग एक किसान जैसा है जिसे न अर्थशास्त्र का ज्ञान है और न इतिहास का।" इसमें उसने सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन विषयक अपने विचारों का प्रतिपादन किया। मजदूरों की मुक्ति के लिए वर्ग संघर्ष को जरूरी बतलाया और यह भी समझाया कि किस तरह से उत्पादक शक्तियों में परिवर्तन होने के साथ ही जीवन पद्धति, सामाजिक सम्बन्ध, युग विशेष के आदर्श एवं धारणाएँ भी बदल जाती हैं। 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' वैज्ञानिक कम्युनिज्म का पहला कार्यक्रममूलक दस्तावेज है। ऐतिहासिक भौतिकवाद की सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं के आधार पर 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' के रचयिताओं ने यह सिद्धांत साफ–साफ निरूपित किया कि वर्गाधारित विग्रहपूर्ण समाजों में विकास की प्रेरक शक्ति वर्ग संघर्ष ही होता है। "अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है।" इसमें पूंजीवादी समाज पर उसके इतिहास की दृष्टि से गौर किया गया है, उसकी उत्पत्ति और विकास पर

प्रकाश डाला तथा इस समाज में अन्तर्निहित विरोधों को उघाड़ा गया है, जो इसे अनिर्वायतः विनाश की ओर ले जाते हैं। पूंजीवादी समाज समाज का सबसे अधिक उत्पीडित वर्ग होने के साथ–साथ सर्वहारा सर्वाधिक क्रान्तिकारी वर्ग भी होता है। बुर्जुआ वर्ग से अपने संघर्ष में वह विकास के विभिन्न चरणों से गुजरता है और उसका संघर्ष अलग–अलग स्वतः स्फूर्त न रहकर वर्ग संघर्ष बन जाता है। "प्रत्येक वर्ग संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष होता है।" दूसरे शब्दों में यह सारे पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध लक्षित होता है तथा उसके राज्य के विरुद्ध भी, जो (यानी राज्य) "पूरे पूंजीपति वर्ग के सम्मिलित हितों का प्रबन्ध करने वाली कमेटी के अलावा और कुछ नहीं है।" कम्युनिस्ट घोषणा पत्र का पहला अध्याय मार्क्स और एंगेल्स इस निष्कर्ष के साथ समाप्त करते हैं, जो बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध वर्ग के विरुद्ध कठोर ऐतिहासिक निर्णय के रूप में ध्वनित होता है"इस तरह आधुनिक उद्योग का विकास पूंजीपति वर्ग के पैरों के नीचे से उस जमीन को ही खिसका देता है जिसके आधार पर वह उत्पादन करता है और पैदावार का हड़प लेता है। अतः पूंजीपति वर्ग सर्वोपरि अपनी कब्र खोदने वालों को पैदा करता है। उसका पतन और सर्वहारा वर्ग की विजय दोनों समान रूप से अनिवार्य हैं।"

कम्युनिस्ट घोषणा पत्र के दूसरे अध्याय 'सर्वहारा और कम्युनिस्ट' में सर्वहारा पार्टी की स्थापना की आवश्यकता, इस पार्टी की भूमिका, ध्येय और कार्यभार समझाए गए हैं। यहां मार्क्स और एंगेल्स ने सर्वहारा पार्टी के बारे में अपनी शिक्षा की नींव रखी है। घोषणा पत्र में मजदूर और कम्युनिस्ट आन्दोलन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत–सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद–प्रतिपादन किया गया है। मार्क्सवाद के संस्थापक यह भविष्यवाणी करते हैं कि सर्वहारा की विजय के साथ हर प्रकार की जातीय फूट का तथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे के दासीकरण का अन्त हो जाएगा। सर्वहारा ही मानव जाति को उन बेशुमार विपदाओं और यातनाओं से छुटकारा दिला सकेगा जो युद्ध अपने साथ लाते हैं। "जिस अनुपात में एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण खत्म होगा, उसी अनुपात में एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण भी खत्म होगा।" "जिस अनुपात में एक राष्ट्र के अन्दर वर्गों का विरोध खत्म होगा, उसी अनुपात में राष्ट्रों का आपसी वैरभाव भी दूर होगा।" 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' के तीसरे अध्याय में उन दिनों समाजवाद के झण्डे तले प्रचलित विभिन्न गैर–सर्वहारा शिक्षाओं की आलोचना की गयी है। इन शिक्षाओं की भ्रामकता तथा शत्रुतापूर्ण रुख को प्रमाणित करते हुए मार्क्स और एंगेल्स इनका वर्गीय मूल उघाड़ते हैं।

आलोचनात्मक–यूटोपियाई समाजवाद और कम्युनिज्म का 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में गहन द्वन्द्वात्मक मूल्यांकन किया गया है। अपने दिनों के पूंजीवादी समाज की तीव्र आलोचना करते हुए सेण्ट साइमन, फूरिये, ओवेन ने जो भूमिका अदा की उसे मार्क्स और एंगेल्स बहुत ऊँचा आंकते हैं, किन्तु यूटोपियाई समाजवादी चूंकि वर्गों से ऊपर उठने की चेष्टा था राजनीतिक संघर्ष और हर तरह की क्रान्तिकारी कार्यवाहियों के प्रति नकारात्मक रुख रखते हैं, अतः ज्यों–ज्यों मजदूर आन्दोलन बढ़ता और वर्ग संघर्ष तीव्र होता है, त्यों–त्यों यूटोपियाई समाजवाद अपनी सकारात्मक भूमिका खोता और प्रतिगामी बनता जाता है। 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' के 'वर्तमान काल की विभिन्न पार्टियों के सम्बन्ध में कम्युनिस्टों की स्थिति' शीर्षक के चौथे अध्याय में कम्युनिस्टों की कार्यनीति के सैद्धान्तिक मूलाधार दिए गए हैं। सर्वहारा की राजनीति पर भौतिकवादी द्वन्द्ववाद को लागू करते हुए मार्क्सवाद के प्रवर्तकों ने सर्वहारा पार्टी की कार्यनीति की मूल प्रस्थापनाएँ इस प्रकार निरूपित की–"कम्युनिस्ट मजदूरों के तात्कालिक लक्ष्यों के लिए लड़ते हैं, सामाजिक हितों की रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं, किन्तु वर्तमान के आन्दोलन में वे आन्दोलन के भविष्य का भी प्रतिनिधित्व करते हैं और उसका ध्यान रखते हैं।" 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' सर्वहारा क्रान्ति के खुले, सगर्व आह्वान के साथ समाप्त होता है"कम्युनिस्ट क्रान्ति के भय से शासक वर्ग कांपते हैं तो कांपे! सर्वहाराओं के पास अपनी बेड़ियों के सिवाय खोने के लिए कुछ नहीं है। जीतने के लिए उसके सामने सारी दुनिया है।" 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के अभ्युदाय के बारे में लेनिन ने लिखा है–

इस कृति में नया विश्व दृष्टिकोण, सामाजिक जीवन के क्षेत्र को भी अपनी परिधि में ले लेने वाला सुसंगत भौतिकवाद, विकास की अधिकतम सर्वांगीण तथा गम्भीर शिक्षा के रूप में द्वन्द्ववाद, वर्ग संघर्ष का तथा नए कम्युनिस्ट समाज के स्रष्टा के नाते सर्वहारा वर्ग की विश्व–ऐतिहासिक क्रान्तिकारी भूमिका का सिद्धांत मेधावी स्पष्टता और तेजस्विता के साथ वर्णित है।" लास्की ने घोषणापत्र के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि इसने अब तक अन्याय के विरुद्ध अस्पष्ट असन्तोष को एक निश्चित दर्शन प्रदान किया, बिखरे हुए निर्धन वर्गों को संगठित और प्रभावशाली दल के रूप में लाने की लम्बी प्रक्रिया का श्रीगणेश किया। 'फांस में गृह युद्ध' पुस्तक में कम्युनों के पूरे काम–काज और भूमिका का विश्लेषण करते हुए उन साजिशों का भी भण्डाफोड़ किया गया जो कम्युनों के खिलाफ की गई थीं। 1867 में 'कैपीटल' के पहले खण्ड में मार्क्स ने पूंजीवादी का बड़ा गम्भीर विश्लेषण किया, पूंजीवादी उत्पादन, माल और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला। कैपीटल' के दूसरे खण्ड में पूंजी की गतिशीलता को समझाया गया था। उन्होंने बताया कि पूंजी किस तरह अपनी गतिशीलता से अपना मूल्य बढ़ाती है। पूंजी अपने हर रूप में अपना एकमात्र काम अतिरिक्त मूल्य पैदा करना जारी रखती है। 'कैपीटल' के दूसरे और तीसरे खण्ड की सामग्री तो मार्क्स ने प्रदान की, किन्तु उन्हें पूरा किया एंगेल्स ने। मार्क्स ने एंगेल्स का आभार मानते हुए लिखा था, "मैं अपनी 'पूंजी' नामक पुस्तक तुम्हारे सहयोग के बिना पूरी नहीं कर सकता था। मैं तुम्हें यह विश्वास दिलाता हूं कि इस आभार का सदैव मेरे मन पर पहाड़ जैसा भारी बोझ रहा है....।"

गैटेल के शब्दों में, "दास कैपीटल की रचना में मार्क्स ने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। अपने एक मित्र को उसने लिखा है कि इसकी रचना मैंने अपने आराम, सुख और यहां तक कि परिवार का भी उत्सर्ग कर दिया है।" अधिकतर पाठकों के लिए 'कैपीटल' नीरस और भारी भरकम रचना है, किन्तु सच्चे मार्क्सवादी उसे साम्यवाद की अंजलि मानते हैं। दास कैपिटल एक विद्वान की मेधावी बुद्धि का ही नहीं, एक सेनानी, एक क्रान्तिकारी के ओजस्वी हृदय के जोश का भी फल है। इस कृति की विशिष्ट लाक्षणिकता यह है कि इसमें हम उच्च, कठोर वैज्ञानिकता और क्रान्तिकारिता का, वस्तुगतता और पार्टी निष्ठा का सुयोग पाते हैं। 'गौथा कार्यक्रम की आलोचना' में मार्क्स ने राज्य के सार और वर्तमान समाज में उसकी भूमिका का विश्लेषण किया है तथा इस प्रश्न पर विचार कि भविष्य में राज्यत्व में क्या परिवर्तन आने चाहिए। मार्क्स समसामयिक राज्य के वर्गीय स्वरूप पर जोर देते हैं और कहते हैं कि विभिन्न विकसित देशों में इसके रूपों की सारी विविधता के बावजूद यह बुर्जुआ वर्ग का राज्य ही है।

16.4 मार्क्स के विचारों पर प्रभाव

मार्क्स वैज्ञानिक समाजवाद का जनक है इस दृष्टि से उसकी विचारधारा मौलिक विचारधारा मानी जाती है, परन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि मार्क्स ने अपनी विचारधारा के निर्माण में जिन भिन्न–भिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है वे उसके मौलिक सिद्धांत नहीं हैं। एलेक्जेण्डर ग्रे के अनुसार, "यह बात निःसन्देह सत्य है कि मार्क्स के विचारों का निर्माण करने वाले तत्व अनेक स्रोतों से लिए गए हैं। उसने अपनी ईंटों को कई भट्टों से एकत्र किया, परन्तु उसने उनका उपयोग एक ऐसी इमारत का निर्माण करने के लिए किया जो स्वयं उसके अपने नमूने की है।" मार्क्स की विचारधारा के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैं–

16.4.1 हीगलवादियों के विचार–अपने विद्यार्थी काल में मार्क्स युवा–हीगलवादियों के सम्पर्क में आया। इन लोगों में लुडविग फायरबाख, हेस, आर्नल्ड रूग, ब्रूनो तथा एडगस बावर बन्धु, कोपेन, आदि के नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि फायरबाख जर्मन धर्मशास्त्री श्यालमरमारवर से प्रभावित था तथापि उसने धर्म की मानववादी व्याख्या की तथा जर्मन विज्ञानवाद की आलोचना की और भौतिकवाद का पोषण किया।

मार्क्स की जीवनी लेखिका स्तेपानोवा लिखती हैं–"हीगल के प्रत्ययवादी दर्शन का विरोध करने वाले पहले दार्शनिक थे लुडविग फायरबाख; उनकी पुस्तक 'ईसाई धर्म का सार तत्व' (1841) से मार्क्स बहुत प्रभावित हुए और इससे भौतिकवाद की ओर उनकी गति अधिक तीव्र हुई, किन्तु फायरबाख प्रकृति की परिघटनाओं की व्याख्याओं की व्याख्या में ही भौतिकवादी थे, इतिहास, सामाजिक सम्बन्धों और राजनीति की समझ में तो वह प्रत्ययवादी ही बने रहे थे। फायरबाख की कृतियों का उच्च मूल्यांकन करते हुए मार्क्स ने उनके भौतिकवाद की सीमितता और असंगतता स्पष्टतः देखी। फायरबाख से भिन्न मार्क्स की चेष्टा यह थी कि एक ऐसा सुघड़, अखण्ड, विज्ञान समस्त विश्व दृष्टिकोण तैयार किया जाए, जिसकी परिधि में प्रकृति ही नहीं, समाज भी आ जाए।"

हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति ने कार्ल को सर्वाधिक प्रभावित किया। हीगल की वह दृष्टि उनके लिए महत्वपूर्ण थी जो मनुष्य के इतिहास, उसके विकास क्रम को द्वन्द्वात्मक आधार पर समझने–समझाने की कोशिश करती थी। हीगल की भांति मार्क्स ने भी यह स्वीकार किया कि ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है। हीगल की भांति मार्क्स के सामाजिक दर्शन का लक्ष्य भी दुहरा था। सामाजिक विकास के जिस दर्शन का निर्माण इन दोनों व्यक्तियों ने किया था, उसमें यह भी शामिल था कि वे उसमें भाग लें और उसे प्रभावित करें। हीगल की भांति मार्क्स का दर्शन भी सामाजिक दर्शन था। इसमें विकास की उन प्राकृतिक अवस्थाओं का वर्णन कर दिया गया था जो द्वन्द्वात्मक पद्धति के आन्तरिक घात–प्रतिघात के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं।

हीगल का यह विचार था कि यूरोपीय इतिहास की चरम परिणति जर्मन राष्ट्रों के विकास में हुई है और जर्मनी यूरोप का आध्यात्मिक नेतृत्व ग्रहण करेगा। इसके विपरीत, मार्क्स का यह विश्वास था कि सामाजिक इतिहास की चरम परिणति सर्वहारा वर्ग के उत्थान के रूप में हुई है और यह वर्ग समाज में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा। हीगल के समाज दर्शन में प्रेरक शक्ति एक स्वविकासशील आध्यात्मिक सिद्धांत है जो अपने को बारी–बारी से इतिहास प्रसिद्ध राष्ट्रों के रूप में व्यक्त करता है। इसके विपरीत, मार्क्स के दर्शन में यह प्रेरक तत्व वे स्वविकासशील उत्पादनशील शक्तियां हैं जो अपने आपको आर्थिक वितरण के बुनियादी ढंगों में तथा उनसे सम्बद्ध सामाजिक वर्गों में व्यक्त करती हैं। हीगल के लिए प्रगति का तत्व राष्ट्रों के संघर्ष में निहित था। मार्क्स के लिए यह तन्त्र सामाजिक वर्गों के विरोधाभाव में निहित था। दोनों विचारक इतिहास के प्रवाह को तर्क सम्मत ढंग से आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि यह प्रवाह एक सुनिश्चित योजना के अनुसार संचालित होता है और एक सुनिर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ता है। सेबाइन के अनुसार "मार्क्स के दर्शन में कार्य करने की भी प्रेरणा थी। यह मार्क्स के दर्शन की अपनी प्रेरणा थी। जहां हीगल राष्ट्रीय देश भक्ति के भाव के प्रति अपील करता था, मार्क्स की मजदूरों की वर्ग निष्ठा के प्रति अपील सामुदायिक होती थी, वह स्वार्थ के प्रति नहीं प्रत्युत निष्ठा के प्रति अपील होती थी..।"

16.4.2 ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों का शास्त्रीय चिन्तन–मार्क्स का अन्य प्रमुख प्रेरणा स्रोत 19वीं शताब्दी के ब्रिटिश अर्थशास्त्रीय चिन्तन था। मार्क्स का समाज अर्थशास्त्रीय चिन्तन उसी से निःसृत है। मार्क्स ने एडम स्मिथ, रिकार्डो, आदि अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित 'श्रम आधारित मूल्य सिद्धांत', 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धांत' आदि का पूर्ण प्रयोग किया, लेकिन उसकी दिशा बदल दी। ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों ने उन्हें पूंजीपतियों के हित में प्रतिपादित किया था। मार्क्स ने उनका प्रयोग श्रमिकों के हित में पूंजीपतियों द्वारा किए जाने वाले शोषण का पर्दाफाश करने के लिए किया।

16.4.3 फ्रेन्च समाजवादियों का चिन्तन–फ्रांस में सेण्ट साइमन, चार्ल्स फूरियर, फूंदों, आदि चिन्तकों के द्वारा जिस समाजवाद का प्रतिपादन किया गया था उसका स्वरूप यद्यपि काल्पनिक था तथापि वह अपने चरित्र में क्रान्तिकारी था। उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का सिद्धांत, श्रमिकों का उत्थान और उनका शोषण करने वाले वर्ग के विनाश का सिद्धांत और वर्ग विहीन समाज की स्थापना का विचार, आदि मार्क्स ने फ्रांसीसी चिन्तन से ही ग्रहण किए थे।

सेण्ट साइमन, चार्ल्स फूरियर और राबर्ट आवेन की विचार पद्धतियां पूर्व–मासीय समाजवादी सिद्धांतों के इतिहास में गुणात्मकतः एक नया चरण थी। इन विचारकों ने तब तक विकसित हो चुके बुर्जुआ समाज के बहुत से असाध्य रोगों और उसे भीतर से खोखला बनाने वाले अन्तर्विरोधों को ठीक–ठीक पहचाना और उनकी तीव्र आलोचना की। इस तरह उन्होंने जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स ने बल देते हुए कहा है, "मजदूरों के प्रबोधन के लिए अत्यन्त मूल्यवान सामग्री मुहैया की। एंगेल्स ने ठीक ही कहा है कि वैज्ञानिक समाजवाद 'कभी नहीं भूलेगा कि वह सेण्ट साइमन, फूरियर और आवेन के कन्धों के सहारे टिका हुआ है।'

16.4.4 सामयिक आर्थिक परिस्थितियां–मार्क्सवादी दर्शन का जन्म यूरोप के नवीन युग के इतिहास के लिए काफी अर्थपूर्ण वर्षों में हुआ था। 19वीं शताब्दी के चौथे और पांचवें दशकों की महती सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक घटनाओं ने पहली बार और इतने प्रखर तथा नग्न रूपों में बुर्जुआ व्यवस्था की अन्तर्विरोध पूर्ण प्रकृति तथा जनविरोधी चेहरे को उद्घाटित किया था और पूंजीवाद के सामाजिक मूल्यों की सारी प्रणाली के आरम्भ हो चुके संकट को जगजाहिर बना दिया था। उन दिनों कम्युनिस्ट घोषणा पत्र के लेखकों ने लिखा था–"आधुनिक पूंजीवाद समाज.... एक ऐसे जादूगर के समान है, जिसने अपने जादू के जोर से पाताल लोक की शक्तियों को बुला तो लिया है, लेकिन अब इन्हें काबू में रखने में वह असमर्थ है।"

ऐसा कहा जाता है कि यदि उदारवाद उभरते हुए पूंजीवादी वर्ग का आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन था, तो मार्क्सवाद मजदूर तथा मेहनत करने वाले वर्गों के दर्शन के रूप में जन्मा। औद्योगिक क्रान्ति के दौरान, पूंजीवादी उद्योगों की प्रगति ने यूरोप में एक नया वर्ग को जन्म दिया। यह था मजदूर वर्ग–पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का एक आवश्यक परिणाम, जो 19वीं शताब्दी में निरन्तर बढ़ता गया, जिसकी दशा इतनी दर्दनाक थी कि स्वयं पूंजीवादी लेखक तथा अन्य मानवतावादी भी इसकी ओर ध्यान देने लगे। फ्रांस की क्रान्ति तथा फ्रांस के बौद्धिकवाद के नारे, विचार, मानवीय मूल्य तथा आदर्श जब 19वीं शताब्दी में पूंजीवादी शोषण की आंधी में धुंधले पड़ने लगे, तब इन्हीं आदर्शों की मशाल को मार्क्सवाद के दर्शन ने उठाया। हीगल के द्वन्द्ववाद, फायरबाख के वस्तुवाद, फ्रांस के तर्कवाद, काल्पनिक समाजवादियों के मानवतावाद, अंग्रेज अर्थशास्त्रियों के आर्थिक विश्लेषण को इकट्ठा करके एक नव वैज्ञानिक दर्शन के रूप में ढाला जर्मन दार्शनिक काल मार्क्स तथा उनके सहयोगी फ्रेडरिक एंगेल्स ने। उन्होंने पूंजीवादी शोषण खत्म करने की अपील पूंजीपतियों की अन्तरात्मा से नहीं की (जैसे सेण्ट साइमन और चार्ल्स फोरियर ने की), पूंजीपतियों के तर्क से नहीं की (जैसे राबर्ट ओवन ने की), बल्कि स्वयं मजदूर वर्ग को क्रान्तिकारी दर्शन दिया–'दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ, तुम्हारे पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के अलावा कुछ भी नहीं है तथा पाने के लिए संसार पड़ा है।

मैक्सी ने ठीक ही लिखा है, "मार्क्स के चिन्तन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात उसकी मौलिकता नहीं है वरन् उसी समन्वयकारी शक्ति है। उसने उस दार्शनिक सामग्री को ग्रहण किया जो कई वर्षों से बिखरी हुई तथा अप्रयुक्त पड़ी थी और उसे एक व्यवस्थित समग्रता में गूंथ दिया जिसने सर्वहारा आन्दोलन को एक गतिशील सिद्धांत और कार्य करने की एक अदम्य प्रेरणा प्रदान की।"

16.5 कार्ल मार्क्स : वैज्ञानिक समाजवाद के जनक

कार्ल मार्क्स आधुनिक युग का ऐसा दार्शनिक है जिसने न केवल समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया है, अपितु सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के वैज्ञानिक नियमों की खोज भी की है। मार्क्स का अमर ग्रन्थ 'कैपीटल' तथा 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' समस्त समाजवादी विचारों की खान माने जाते हैं। मार्क्सवादी समाजवाद को प्रायः 'सर्वहारा समाजवाद' अथवा 'वैज्ञानिक समाजवाद' के नाम से पुकारा जाता है। यह सच है कि मार्क्स के विचारों को एकदम मौलिक नहीं कहा जा सकता, किन्तु मैक्सी के अनुसार, इससे हम उसे द्वितीय श्रेणी का दार्शनिक नहीं कह सकते और न ही इससे उसका महत्व ही कम हो जाता है। मार्क्स से पूर्व अनेक अंग्रेज तथा फ्रेन्च विचारक हुए जिनके द्वारा समाजवादी विचार व्यक्त किए जा चके थे। इनमें मुख्य थे–राबर्ट ओवेन, सेन्ट साइमन, फूंदों, चार्ल्स फूरियर, लुई ब्लां, आदि। राबर्ट ओवेन का विचार था कि नयी औद्योगिक व्यवस्था प्रतिस्पर्धात्मक होने के बजाय सहयोगात्मक होनी

चाहिए। सेण्ट साइमन वर्ग सिद्धांत का समर्थक था। फूंदों ने यह प्रतिपादित किया कि सारी सम्पत्ति चोरी है। कार्ल मार्क्स ने इन सब विचारकों को काल्पनिक समाजवादी कहकर पुकारा है। वस्तुतः ये विचारक आर्थिक विषमता के स्थान पर समाज में धन के न्यायोचित वितरण पर बल देते थे, किन्तु इन्होंने यह नहीं बताया था कि यह विषमता किन कारणों से उत्पन्न होती है और उसका उत्पादन की विधियों के साथ क्या सम्बन्ध है? उन्होंने समाज की प्रगति और विकास के नियमों को समझने का प्रयत्न नहीं किया था। समाज में प्ररिवर्तन का तरीका क्या है और उसका प्रयोग कर समाजवादी व्यवस्था को कैसे स्थापित किया जा सकता है, आदि प्रश्नों का उत्तर स्वप्नलोकीय समाजवादियों ने नहीं खोजा। दूसरे शब्दों में उनका समाजवाद संबंधी चिन्तन एक "आदर्शपरक चिन्तन' था। वेपर ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि "उन्होंने सुन्दर गुलाबों के सपने तो अवश्य देखे, किन्तु गुलाब के पौधे उगाने के लिए जमीन तैयार नहीं की।"

ऐसे स्वप्नलोकीय (यूटोपियन) समाजवाद को वास्तविकता के धरातल पर उतारने का महान् कार्य कार्ल मार्क्स ने किया। उसके हाथों समाजवाद काल्पनिक आदर्श से व्यावहारिक आदर्श बन गया। मार्क्स ने एक वैज्ञानिक की तरह ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण किया और सामाजिक प्रगति के लिए उत्तरदायी तत्वों को खोज निकाला। उसने पूंजीवाद के दोषों का वर्णन करने के साथ–साथ पूंजीवाद का अन्त कर वर्ग विहीन समाज की स्थापना करने के लिए एक विधिवत् प्रक्रिया का निरूपण भी किया। 'दास कैपीटल' के पहले खण्ड के अध्याय 32 में जिसका शीर्षक है–'पूंजीवादी संचय की ऐतिहासिक प्रवृत्ति' मार्क्स ने वे निष्कर्ष सूत्रबद्ध किए हैं जिन पर वह पूंजीवादी समाज के विकास के आर्थिक नियम की खोज के फलस्वरूप पहुंचे थे। अकाट्य तर्क देते हुए मार्क्स ने यह प्रमाणित किया कि पूंजीवाद स्वयं अपने विकास की प्रक्रिया में समाजवाद के लिए भौतिक पूर्वाधार बनाता है और उस सामाजिक शक्ति को जन्म देता है जो पूंजीवाद का दफन करेगी और अधिक प्रगतिशील समाजवादी उत्पादन पद्धति का सृजन करेगी। इस प्रकार समाजवाद की उसी भावुक तथा काल्पनिक पृष्ठभूमि से निकालकर उसे वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। केवल इतना ही नहीं, वरन् समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के उद्देश्य से उसके द्वारा 'विश्व के मजदूरो एक हो जाओ' इन शब्दों में श्रमिक वर्ग का क्रान्ति के लिए आह्वान किया गया और इस दृष्टि से 1864 में 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' की स्थापना एक महत्वपूर्ण कदम था। उसने सर्वहारा वर्ग को तर्क संगत सिद्धांत देकर महान् शक्ति और गति प्रदान की। जोड़ के शब्दों में, "मार्क्स प्रथम समाजवादी लेखक है जिसके कार्य को वैज्ञानिक कहा जा सकता है। उसने अपने वांछित समाज का चित्रण ही नहीं किया है, वरन् उन परिस्थितियों का विस्तृत वर्णन भी किया है जिसके माध्यम से इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।" प्रसिद्ध इतिहासकार टेलर के शब्दो में, "मार्क्सवाद में सामाजिक परिवर्तन करने वाली शक्तियों की जो व्याख्या है वह उसे वैज्ञानिकता प्रदान करती है।' प्रो. लास्की के शब्दों में, "मार्क्स ने साम्यवाद को अस्त–व्यस्त रूप में पाया तथा उसे एक नया आन्दोलन बना दिया। उसके द्वारा उसे एक दर्शन मिला और एक दिशा मिली।"

16.6 कार्ल मार्क्स के प्रमुख सिद्धांत : मार्क्सवाद

कार्ल मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का प्रवर्तक माना जाता है। मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारकों ने नवयुग के सामने लिए थे, किन्तु मार्क्स ने उन सपनों को साकार बनाने के लिए प्रयास किया। मार्क्स ने अपने विचारों को 'वैज्ञानिक समाजवाद' बतलाया। उसने अपने विचारों को वैज्ञानिक इसलिए कहा है कि उसने एक वैज्ञानिक की भांति समाज के स्वरूप एवं विकास के नियमों की खोज करने का प्रयत्न किया था। उसने यह पता लगाया था कि समाज में परिवर्तन क्यों होते हैं, भविष्य में ये परिवर्तन किस प्रकार तथा किस दिशा में होंगे। यह निष्कर्ष पर पहुंचा कि मानव समाज में परिवर्तन अकस्मात् नहीं होते हैं, अपितु कुछ विशिष्ट नियमों के अनुसार होते हैं।

कार्ल मार्क्स का दर्शन अत्यन्त ही विराट तथा सुसम्बद्ध है। केटलिन के अनुसार, "क्रान्तिकारी कदम वर्ग संघर्ष के सिद्धांत पर आर्थिक व्याख्या पर, यह व्याख्या हीगल के द्वन्द्ववादी भौतिकवादी विचारधारा पर।"

कार्ल मार्क्स के सिद्धांतों को ही 'मार्क्सवाद' कहा जाता है। इसके प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित हैं–

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
2. इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या
3. वर्ग संघर्ष का सिद्धांत
4. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत।

16.6.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त

रूसी विद्वान वि. अफवास्येव के शब्दों में, "मार्क्स ने द्वन्द्ववाद का विचार हीगल से तथा भौतिकवाद का विचार फायर बाख से ग्रहण किया और उनका शुद्धिकरण तथा समन्वय करके अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत का निर्माण किया।"

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत मार्क्स के सम्पूर्ण चिन्तन का मूलाधार है। इस सिद्धांत के प्रतिपादन में मार्क्स ने द्वन्द्ववाद का विचार हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति से ग्रहण किया और भौतिकवाद का दृष्टिकोण फायरबाख से। इन दोनों

के सम्मिश्रण ने द्वन्द्ववाद के सिद्धांत को एकदम नयी और मौलिक दिशा प्रदान की। इस नवीन सिद्धांत की उपयोगिता इस तथ्य से आंकी जा सकती है कि मार्क्स ने इसे समस्त साम्यवादियों के लिए एक दिशा निर्देश यन्त्र की उपमा दी जिसका प्रयोग करके साम्यवादी अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों के संचालन की दिशा निर्धारित करते हैं। इसकी सहायता से हर साम्यवादी "न सिर्फ सही दृष्टिकोण अपना सकता है, सामाजिक घटनाओं के आन्तरिक सम्बन्धों को समझ सकता है, उनकी गति को पहचान सकता है और यह जान सकता है कि वर्तमान में उनका विकास किस दिशा में हो रहा है बल्कि वह यह भी जान सकता है कि भविष्य में उनका विकास किस दिशा में होगा।"

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में दो शब्द है–इनमें प्रथम शब्द 'द्वन्द्वात्मक' उस प्रक्रिया को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार सृष्टि का विकास हो रहा है दूसरा शब्द 'भौतिकवाद' सृष्टि के मूल तत्व को सूचित करता है। एमिल बर्न्स के अनुसार "आम तौर से समझा जाता है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कोई रहस्यमयी चीज है, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि यह वास्तविक संसार का प्रतिबिम्ब ही तो है और रोजमर्रा की साधारण चीजों का वर्णन करके, जिन्हें हर आदमी जानता है, द्वन्द्वात्मक शब्द का अर्थ समझाया जा सकता है।"

द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया–मार्क्स का द्वन्द्ववाद हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आधारित है, परन्तु हीगल के द्वन्द्ववाद का मार्क्स ने बिल्कुल उल्टा कर दिया। स्वयं मार्क्स ने कहा है, "मेरी द्वन्द्ववादी पद्धति हीगलवादी पद्धति से न केवल भिन्न है, बल्कि ठीक उसकी उल्टी है। हीगल के लिए मानव मस्तिष्क की जीवन प्रक्रिया अर्थात् चिन्तन की प्रक्रिया जिसे 'विचार' के नाम से उसने एक स्वतंत्र कर्ता तक बना डाला है, वास्तविक संसार की सृजनकी है और वास्तविक संसार 'विचार' का बाहरी, इन्द्रियगम्य रूप मात्र है। इसके विपरीत, मेरे लिए विचार इसके सिवा और कुछ नहीं कि भौतिक संसार मानव मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होता है और चिन्तन के रूपों में बदल जाता है।"

हीगल के यहां द्वन्द्ववाद सिर के बल पर खड़ा है। यदि आप उसके रहस्यमय आवरण के भीतर छिपे तर्कबुद्धिपरक सारतत्व का पता लगाना चाहते हैं, तो आपको उसे उलटकर फिर पैरों के बल सीधा खड़ा करना होगा।

हीगल यह मानकर चलता है कि समाज की प्रगति प्रत्यक्ष न होकर एक टेढ़े–मेढ़े तरीके से हुई है जिसके तीन अंग हैं–वाद, प्रतिवाद और संवाद मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति का आधार हीगल का यही द्वन्द्ववादी दर्शन है।

मार्क्स के अनुसार 'वाद' समाज की एक साधारण स्थिति है जिसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं पाया जाता। थोड़े समय बाद 'वाद' से असन्तुष्ट होकर उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप 'प्रतिवाद' उत्पन्न हो जाता है। यह निषेधात्मक स्थिति वाद की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील मानी जाती है। 'वाद' और 'प्रतिवाद' में अन्तर्विरोध के फलस्वरूप एक समझौता हो जाता है जिससे एक नए विचार की उत्पत्ति होती है। इसे हीगल 'संवाद' या 'संश्लेषण' का नाम देता है। यही 'संश्लेषण' आगे चलकर एक वाद हो जाता है जिसका फिर प्रतिवाद उत्पन्न होकर 'संश्लेषण' के द्वारा फिर नया विचार उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस प्रक्रिया में पहले किसी वस्तु का 'निषेध' होता है और उसके पश्चात् 'निषेध का निषेध' होता है जिसके द्वारा एक उच्चतर वस्तु अस्तित्व में आती है। लेनिन के शब्दों में, "सही अर्थों में द्वन्द्वात्मक विरोधी बातों का अध्ययन है। विकास विरोधी बातों में संघर्ष का परिणाम है।"

हीगल के द्वन्द्ववाद के परिप्रेक्ष्य में मार्क्स के द्वन्द्ववाद को समझा जा सकता है। मार्क्स तथा उसके अनुयायियों ने द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को गेहूं के पौधे के उदाहरण से समझाया है। गेहूं का दाना वाद है, भूमि में इसे बो देने पर यह गलकर या नष्ट होकर अंकुरित हो जाता है और पौधे का रूप ग्रहण कर देता है। यह पौधा विकास का दूसरा चरण 'प्रतिवाद' है। तीसरा चरण पौधे से बाली का आना, इसके पकने पर गेहूं के दाने का बनना तथा पौधे का सूखकर नष्ट होना है। यह तीसरा चरण 'संवाद' है। द्वन्द्वात्मकता को एंगेल्स ने गणित में भी लागू किया। उसके अनुसार 'अ' एक अंक है और '–अ' उसका प्रतिवाद है। '–अ' के निषेध का निषेध अर्थात् –अ × –अ = $अ^2$ हो जाता है। संवाद–वाद और प्रतिवाद की तुलना में मात्रात्मक या गुणात्मक रूप से अधिक होता है। आर्थिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के सन्दर्भ में इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को इस प्रकार समझाया जा सकता है–पूंजीवाद 'वाद' है सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की अवस्था 'संवाद' है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्वन्द्ववाद विरोधी तत्वों में निहित संघर्ष के माध्यम से संचालित होता है। यह संघर्ष अन्ततः उन पारस्परिक विरोधी तत्वों में समन्वय स्थापित कर देता है जिससे उच्च स्थिति में उन दोनों तत्वों के गुण विद्यमान होते हैं। कालान्तर में यह समन्वय पुनः अपने विरोधी विचार को जन्म देकर संघर्ष की स्थिति पैदा करता है और एक बार फिर दोनों के समन्वय से विचार परिमार्जन के उच्च स्तर को प्राप्त करता है। संघर्ष और समन्वय की यह प्रक्रिया, जिसे हम द्वन्द्वात्मक पद्धति के नाम से जानते हैं, उस समय तक चलती रहती है जब तक विचार का आदर्श रूप प्राप्त नहीं हो जाता और वह अपने आन्तरिक विरोधों से मुक्त नहीं हो जाता।

चूंकि वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धांत में द्वन्द्ववाद का उपयोग अलग–अलग एवं विभिन्न संदर्भो में किया गया है, अतः उसकी परिभाषा का स्वरूप भी हीगल द्वारा दी गयी परिभाषा से विस्तृत है। एंगेल्स ने द्वन्द्ववाद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "द्वन्द्ववाद मानव समाज तथा चिन्तन के विकास और गति के सामान्य नियमों का विज्ञान है।"

भौतिकवाद–मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगल से ग्रहण की है, परन्तु मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद हीगल के द्वन्द्ववाद से बहुत अधिक भिन्न है। हीगल और मार्क्स के द्वन्द्ववाद में प्रमुख अन्तर यह है कि हीगल एक आदर्शवादी था। उसके द्वन्द्ववाद का आधार 'विचार' या 'आध्यात्मिकता' था, परन्तु मार्क्स के अनुसार 'विचार' नहीं, 'भौतिक पदार्थ' ही इस जगत का आधार है। हीगल की दृष्टि में इतिहास 'विश्वात्मा' की क्रमिक अभिव्यक्ति है और वह भी एक दैवी आयोजन के द्वारा जो सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त है, परन्तु मार्क्स ने हीगल के 'विश्वात्मा' के विचार को 'काल्पनिक' कहकर छोड़ दिया और उसके स्थान पर विशुद्ध भौतिक तत्व की महत्ता स्वीकार की। कैपीटल की भूमिका में मार्क्स ने लिखा "मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगलवादी पद्धति से न केवल भिन्न है, बल्कि ठीक उसकी उल्टी है। हीगल के लिए मानव मस्तिष्क की जीवन प्रक्रिया अर्थात् चिन्तन की प्रक्रिया जिसे 'विचार' के नाम से उसने एक स्वतन्त्रकर्ता बना डाला है, वास्तविक संसार का सृजनकर्ता है और वास्तविक संसार 'विचार' का बाहरी इन्द्रियगम्य रूप मात्र है। इसके विपरीत मेरे लिए विचार इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि भौतिक संसार मानव मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होता है और चिन्तन के रूप में बदल जाता है।" इस प्रकार हीगल के लिए मूल वस्तु 'विचार' है। मार्क्स के लिए मूल वस्तु पदार्थ है। हीगल ने कहा–विचार द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से विकसित होते हैं और उनके विकास के साथ–साथ यह संसार बदलता है। मार्क्स ने कहा–नहीं, मुख्य वस्तु पदार्थ है और पदार्थ में परिवर्तन द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया द्वारा होते हैं। वेपर के अनुसार, "हीगल ने विचार को मुख्य माना और पदार्थ को महत्ता नहीं दी, किन्तु मार्क्स ने विचार को केवल मानव के दिमाग में वस्तुवादी जगत की परछाई मात्र जाना जो चिन्तन में बदल जाता है।" संक्षेप में, हीगल ने विचार को वास्तविक मानते हुए बाह्य जगत को विचारों की परछाई मात्र समझा जबकि मार्क्स ने वस्तुवादी जगत (भौतिक जगत) की वास्तविक मानते हुए विचार को इसकी परछाई माना।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद–द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रगतिवादी है तथा उसकी प्रकृति भौतिक है, आत्मिक नहीं, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मूल धारणा है कि विश्व का आधार भौतिक तत्व या पदार्थ है। वह अपने आन्तरिक स्वभाव द्वारा स्वतः विकसित होता है तथा समय–समय पर नाना प्रकार के रूप धारण करता है। यह विकास भौतिक पदार्थ में निहित आन्तरिक विरोध के कारण संचालित होता है और इसमें, जैसा कि हीगल ने कहा है, वाद, प्रतिवाद और संवाद की त्रयी को लेकर आगे चलता है तथा भौतिक विकास का पथ प्रशस्त करता जाता है। मार्क्स ने इसे मानव इतिहास का अटल तथा अपरिवर्तनशील नियम कहा है।

मार्क्स के अनुसार विश्व एक भौतिक जगत है। इसमें घटनाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। चूंकि भौतिक जगत में परिवर्तन निरन्तर होते रहते हैं, अतः सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों का कारण कोई दैवी सत्ता या ईश्वरीय नियम नहीं है प्रत्युत भौतिक परिस्थितियों का होना है। इन भौतिक परिस्थितियों से मार्क्स का अभिप्राय आर्थिक सम्बन्धों से है। मार्क्स के अनुसार पदार्थ अर्थात् भौतिक जगत द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से अपनी पूर्णता की यात्रा पर अग्रसर है और उसके विभिन्न रूप उसकी इस यात्रा के विभिन्न पड़ाव हैं।

'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' की भूमिका में मार्क्स लिखते हैं–

"अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य निश्चित सम्बन्धों–उत्पादन के सम्बन्धों में बंटते हैं, जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग ही समाज का आर्थिक ढांचा है–वह असली आधार है, जिस पर कानून और राजनीतिक ढांचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे, उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"

"अपने विकास की एक खास मंजिल पर पहुंचकर समाज की भौतिक उत्पादक शक्तियाँ तत्कालीन उत्पादन सम्बन्धों से या जो उसी चीज की कानूनी अभिव्यक्ति है–उन सम्पत्ति सम्बन्धों से टकराती है, जिनके अन्तर्गत वे उस समय तक काम करती रहती हैं। ये सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के विकास का रूप न रहकर उनके लिए बेड़ियां बन जाते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का युग शुरू होता है। आर्थिक आधार के बदलने के साथ समस्त वृहदाकार ऊपरी ढांचा भी कमोबेश तेजी से बदल जाता है। ऐसे रूपान्तरणों पर विचार करते हुए एक भेद हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। एक ओर तो उत्पादन की परिस्थितियों का भौतिक रूपान्तरण, जो प्राकृतिक विज्ञान की अचूकता के साथ निर्धारित किया जाना चाहिए दूसरी ओर वे कानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, सौन्दर्यबोधी या दार्शनिक, संक्षेप में, विचारधारात्मक रूप है, जिनके दायरे में मनुष्य इस टक्कर के प्रति सचेत होते हैं और उससे निपटते हैं। जैसे किसी व्यक्ति के बारे में हमारी राय इस बात पर निर्भर नहीं होती कि वह अपने बारे में क्या सोचता है, उसी तरह हम ऐसे रूपान्तरण के युग के बारे में स्वयं इस युग की चेतना के आधार पर निर्णय नहीं कर सकते। इसके विपरीत, भौतिक जीवन के अन्तर्विरोधों के आधार पर ही, समाज की उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों की मौजूदा टक्कर के आधार पर ही इस चेतना की व्याख्या की जानी चाहिए।"

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताएँ–मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत की निम्न विशेषताएँ बतायी जा सकती हैं–

1. **आंगिक एकता**–द्वन्द्ववाद के अनुसार विश्व एक भौतिक जगत है जिसमें वस्तुएँ तथा घटनाएँ एक–दूसरे से पूर्णतः सम्बद्ध हैं। प्रकृति के सभी पदार्थों में परस्पर निर्भरता तथा आंगिक एकता पायी जाती है। प्रकृति एक सम्पूर्णता है, इसके हर पहलू दूसरे पर निर्भर हैं तथा एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं।
2. **गतिशीलता**–प्रकृति में पाया जाने वाला प्रत्येक पदार्थ गतिशील है लगातार गतिशीलता से उसमें परिवर्तन होता रहता है जिसके फलस्वरूप कुछ चीजें पैदा तथा विकसित होती रहती हैं। अतः यह भौतिकवादी विश्व निरन्तर परिवर्तनशील है, विकासशील है।
3. **परिवर्तनशीलता**–आर्थिक शक्तियाँ सामाजिक विकास की प्रेरक शक्तियाँ हैं। चूंकि भौतिक जगत निरन्तर परिवर्तनशील है, अतः सामाजिक जीवन भी, उसी के अनुरूप परिवर्तनशील है। यह प्रक्रिया द्वन्द्ववाद के माध्यम से चलती रहती है।
4. **परिमाणात्मक, गुणात्मक परिवर्तन**–प्रकृति में परिवर्तन एवं विकास साधारण रीति से केवल परिमाणात्मक ही नहीं होते बल्कि गुणात्मक भी होते हैं। गुणात्मक परिवर्तन झटके के साथ क्रान्तिकारी रीति से होते हैं जब पुरानी नष्ट होकर नयी चीज में बदल जाती हैं। पुरानी चीज में परिमाणात्मक परिवर्तन एक विशेष बिन्दु पर आकर गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। जैसे पानी गर्म हो रहा है, एक विशेष बिन्दु पर आकर वह भाप बन जाएगा तथा उसमें गुणात्मक परिवर्तन हो जाएगा।
5. **क्रान्तिकारी प्रक्रिया**–गुणात्मक परिवर्तन के आने को क्रान्तिकारी प्रक्रिया माना जाता है। वस्तुओं में गुणात्मक परिवर्तन धीरे–धीरे न होकर शीघ्रता के साथ तथा अचानक होते हैं।
6. **नकारात्मक, सकारात्मक संघर्ष**–प्रकृति की हर चीज में अन्तर्विरोध होता है तथा नकारात्मक एवं सकारात्मक पहलू होते हैं जिनका आपसी संघर्ष विकास की प्रक्रिया है। विकास का आधार संघर्ष है, सामंजस्य या मेलमिलाप नहीं। केवल संघर्ष के माध्यम से विरोधी पक्षों में आपसी टकराव से ही विकास होता है।

द्वन्द्वात्मक विकास के नियम–द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति का विकास कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होता है। इसके प्रमुख नियम निम्नलिखित हैं–

1. विपरीतों की एकता और संघर्ष का नियम–लेनिन के अनुसार विपरीतों की एकता और संघर्ष का नियम द्वन्द्ववाद का सारतत्व है। यही वह नियम है जो मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को जन्म देता है। इस नियम का ज्ञान प्रकृति, समाज और चिन्तन के विकास की द्वन्द्वात्मकता को समझने के लिए भारी महत्व रखता है।

इससे तात्पर्य है कि विकास आन्तरिक विरोध से संचालित होता है। जब तक विरोधी तत्व प्रसुप्त या सन्तुलित रहते हैं तब तक परिवर्तन नहीं होता, किन्तु जब एक प्रबल होने लगता है तो परिवर्तन आरम्भ हो जाता है। विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक एकता में परस्पर विरोधी तत्व पाए जाते हैं, जैसे चुम्बक का उदाहरण लिया जा सकता है। एक ही चुम्बक के दो सिरे–उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव हैं। ये सिरे यद्यपि एक–दूसरे के विरोधी और स्पष्ट रूप से भिन्न होते हैं, फिर भी ये पृथक् रूप से अलग–अलग, केवल उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के रूप में नहीं रह सकते। यदि चुम्बक को ठीक दो हिस्सों में काट दिया जाए तो उसके एक हिस्से में उत्तरी ध्रुव तथा दूसरे हिस्से में केवल दक्षिणी ध्रुव हो, ऐसा नहीं होता है। अपितु दोनों टुकड़ों में ही दोनों ध्रुव उत्पन्न हो जाते हैं। चुम्बक की तरह प्रत्येक वस्तु में विपरीत तत्व विद्यमान होते हैं। उदाहरण के लिए, श्रमिक और पूंजीपति एक–दूसरे के विपरीत वर्ग चरित्र होते हुए भी एक एकताबद्ध पूंजीवादी समाज का निर्माण करते हैं। विपरीतों का यह परस्पर निषेधक स्वरूप अनिवार्यतः पुरातन और नूतन के मध्य, परम्पराजनित और आधुनिक के मध्य संघर्ष को जन्म देता है।

2. परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन के रूपान्तरण का नियम–द्वन्द्ववाद भौतिकवाद का दूसरा नियम यह है कि मात्रा में भारी अन्तर होने से गुण में भी अन्तर पड़ जाता है। उदाहरणार्थ, पानी का तापक्रम एक निश्चित सीमा से बढ़ जाने पर वह भाप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार उसका तापक्रम एक निश्चित सीमा से घट जाने पर वह जम जाता है। इस प्रकार मात्रा में भारी अन्तर पड़ने से गुण में अन्तर पड़ना भी निश्चित ही है। यह नियम प्रकृति में होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों की व्याख्या करता है। वैसे तो सभी वस्तुओं में मात्रा के थोड़े बहुत परिवर्तन सदैव होते रहते हैं, इनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, किन्तु एक विशेष मात्रा में परिवर्तन होने पर उसके गुणों में अन्तर आ जाता है। सामाजिक क्षेत्र में इस प्रकार से सहसा होने वाले परिवर्तनों को हम क्रान्ति कहते हैं। मार्क्स क्रान्ति की स्वाभाविकता को सिद्ध करने के लिए इस सिद्धांत का प्रयोग करता है और कहता है कि परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन करने वाली ये क्रान्तियां समाज के विकास में विशेष महत्व रखती हैं, ये पुरातन सामाजिक व्यवस्था को नष्ट करके नयी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करती हैं और इस प्रकार सामाजिक प्रगति के मार्ग में उत्पन्न कठिनाइयों को हटाती हैं।

3. निषेध के निषेध का नियम–निषेध के निषेध का नियम भौतिक जगत के विकास की आम दशा तथा प्रवृत्ति का उद्घाटन करता है। एंगेल्स के अनुसार द्वन्द्ववाद के अनुसार ऐसी कोई चीज नहीं है जो हमेशा कायम रहे। हर चीज का आखिरी तौर पर निषेध होता है और उसका अस्तित्व खत्म हो जाता है। पुरानी चीज के नयी में बदल जाने को उसका निषेध कहते हैं। निषेध के निषेध का नियम यह सिद्ध करता है कि विरोधी शक्तियों के टकराव से मूल चीज का निषेध हो जाता है और जो नयी चीज पैदा होती है वह उससे कहीं बढ़कर शक्तिशाली और उन्नत होती है।

इन नियमों में से प्रथम विरोधी भाव के सामंजस्य का नियम है जो यह बताता है कि आन्तरिक विरोध द्वारा परिवर्तन की क्रिया किस प्रकार संचालित होती है। दूसरा नियम आन्तरिक विरोध नियम है जिसके द्वारा हमें बताया जाता है कि मात्रा परिवर्तन से गुण परिवर्तन कैसे होता है। तीसरा निमय हमें विकास की क्रिया के सोपान और उनका पारस्परिक सम्बन्ध बताता है। इसे हम 'निषेध से निषेध वाला नियम' कहते हैं।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना–मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सिद्धांत की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की गयी है–

1. **आत्म तत्व की घोर उपेक्षा**–मार्क्स ने पदार्थ अथवा इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले ज्ञान को ही प्रामाणिक माना है और आत्म तत्व की घोर उपेक्षा की है, किन्तु इन्द्रियों से न दिखायी देने पर भी हमें अपनी आत्मा की अनुमति इतनी प्रबलता से होती है कि इसको नहीं किया जा सकता।
2. **भौतिकवाद की धारणा अस्पष्ट एवं गूढ़**–मार्क्स ने अपने ग्रन्थों में भौतिकवाद की सुस्पष्ट व्याख्या नहीं की है। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है कि पदार्थ किस प्रकार गति करते हैं। वस्तुतः मार्क्स का द्वन्द्ववाद भौतिकवाद अत्यन्त ही रहस्यमय दिखायी देता है। इसीलिए वेपर ने लिखा है कि "द्वन्द्ववाद की धारणा अत्यन्त गूढ़ एवं अस्पष्ट है।"
3. **भौतिकवादी दर्शन**–मार्क्स का दर्शन अत्यन्त भौतिकवादी है। उसका विचार है कि मानवीय चेतना भौतिक तत्वों के अधीन होती है। मानव जीवन में भौतिक सन्तुष्टि ही मानसिक सन्तुष्टि की आधारशिला और मानव जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है। आलोचकों के अनुसार केवल भौतिकवादी दर्शन के आधार पर एक आदर्शवादी दर्शन की सृष्टि नहीं की जा सकती। वस्तुतः मनुष्य में जो कुछ चेतना है, उसी का महत्व उसके क्रियाकलापों में अधिक है।
4. **चेतन द्वारा जड़ पदार्थों का संचालन**–मार्क्स चेतन तत्वों का स्रोत भी जड़ पदार्थों से मानता है जबकि संसार में सर्वत्र चेतन व्यक्ति द्वारा जड़ शक्ति के संचालन के उदाहरण देखे जाते हैं। वस्तुतः जड़ पदार्थ में कोई गति स्वयमेव नहीं उत्पन्न हो सकती है। मार्क्स का उसे स्वयमेव गतिशील और विकासशील मानना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।
5. **द्वन्द्वात्मक पद्धति से विकास एक कपोल कल्पना**–मार्क्स का यह विचार तर्कसंगत नहीं है कि सृष्टि में सम्पूर्ण विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से ही होता है। गेहूं के बीज का अनुकूल परिस्थितियों में स्वयमेव स्वाभाविक विकास होता है, इसमें किसी व्यक्ति को तब तक वाद–प्रतिवाद और संवाद नजर नहीं आता जब तक कि उसने हीगल और मार्क्स के दर्शन को पढ़कर उसे समझ न लिया हो। द्वन्द्वात्मक पद्धति से विकास की प्रक्रिया केवल हीगल और मार्क्स के मस्तिष्क की कल्पना की है। केरयू हाण्ट के अनुसार, "यद्यपि द्वन्द्ववाद हमें मानव विकास के इतिहास में मूल्यवान क्रान्तियों का दिग्दर्शन कराता है, लेकिन मार्क्स का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत्य का अनुसन्धान करने के लिए यही एकमात्र पद्धति है।"
6. **प्रमाणों के बजाय दृष्टान्तों पर बल**–मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति को पुष्ट करने के लिए केवल दृष्टान्त दिए हैं, कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं दिए हैं। यह कैसे मान लिया जाए कि भौतिक जगत में जो नियम काम करते हैं, वही नियम उसी रूप में मानव समाज में भी लागू हो सकते हैं।

मैक्स ईस्टमैन ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना करते हुए लिखा है कि मार्क्स हीगल से छुटकारा नहीं पा सका जैसा कि उसने सोचा था। संसार को अचेतन पदार्थ से निर्मित घोषित करके उसने पदार्थ में हीगल के परमेश्वर के तत्वों को ढूंढना प्रारम्भ किया। इस प्रकार मार्क्स का दर्शन आदिम मनुष्य के जीववाद की पुनरावृत्ति है जिसमें भौतिक पदार्थों और वृक्षों को मानवीय आदर्शों से अलंकृत किया जाता है। वस्तुतः मार्क्स हीगल के इस सिद्धांत को इतिहास की व्याख्या के व्यवस्थित सिद्धांत के रूप में परिपक्व करने में असफल रहा है। मार्क्स की रुचि अपने दलीय हितों में थी जिससे कि वह इस सिद्धांत के आधार पर क्रांतिकारी सर्वहारा दल के लिए कार्यरीति निर्धारित कर सके तथा इतिहास के अध्ययन के लिए मार्गदर्शन कर सके। ऐसा करने में मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को केवल एक फार्मूला मात्र बना दिया और उसका यन्त्रवत प्रयोग पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को सिद्ध करने के लिए किया। इन कठिनाइयों के कारण द्वन्द्ववाद का सिद्धांत रहस्यपूर्ण, अपूर्ण, अस्पष्ट और कपोल कल्पना मात्र रह जाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का महत्व—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मार्क्स उस नए समाज की स्थापना का तर्कपूर्ण औचित्य सिद्ध करना चाहता था जिसके भविष्य में निर्माण की वह कल्पना करता था। गतिशीलता के आधार पर पूंजीवाद के नष्ट होने पर समाजवादी मार्ग की वह पुष्टि करता है। गुणात्मक परिवर्तन के आधार पर वह बतलाता है कि शोषण जब तक विशेष मंजिल तक पहुंचेगा, श्रमिक वर्ग की संख्या और शक्ति बढ़ेगी तो श्रमिक क्रान्ति करेगा न कि धीरे–धीरे पूंजीवाद का अन्त करेगा। इस प्रकार वह सुधारवाद के स्थान पर क्रान्ति की अनिवार्यता सिद्ध करता है। उसका इस सिद्धांत के आधार पर यह भी कहना है कि प्रत्येक पदार्थ में जिस तरह अन्तर्निहित विरोध होते हैं, ऐसे भी समाज में भी होते हैं। इन विरोधी शक्तियों के मध्य वर्ग संघर्ष चलता रहता है। इस तरह पूंजीवाद में ही अपने विनाश के बीज विद्यमान रहते हैं।

मार्क्स ने इस सिद्धांत का प्रयोग धार्मिक रूढ़ियों और धर्माधिकारी सत्ताओं के आडम्बरों के विरुद्ध भी किया। भौतिकवाद के इस सिद्धांत ने समाज में धर्मनिरपेक्षता की शक्तियों को सुदृढ़ किया। लेनिन के शब्दों में "मार्क्सवाद का दर्शन भौतिकवाद है। यूरोप के पूरे आधुनिक इतिहास में और विशेष रूप से 18वीं शताब्दी के अन्त में फ्रांस के अन्दर, जहाँ हर प्रकार के मध्ययुगीन कचरे के विरुद्ध, संस्थाओं तथा विचारों में भूदासता के खिलाफ निर्णायक संघर्ष चलाया गया, भौतिकवाद एकमात्र ऐसा सुसंगत दर्शन सिद्ध हुआ है, जो प्राकृतिक विज्ञानों की समस्त शिक्षाओं की कसौटी पर खरा उतरा और अन्धविश्वास, पाखण्ड आदि का विरोधी निकला।"

16.6.2 इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या का सिद्धान्त

मानववादी विकास को समझने के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत को ऐतिहासिक विकास पर लागू करने के मार्क्स के प्रयोग को हम 'इतिहास की भौतिक व्याख्या' के सिद्धांत के नाम से पुकारते हैं। इतिहास या समाज का विकास द्वन्द्व की प्रणाली से होता है और भौतिक पदार्थ उस विकास को चलायमान करते हैं, यह इतिहास की भौतिक व्याख्या के सिद्धांत की प्रमुख मान्यता है। इस सिद्धांत को 'आर्थिक नियतिवाद', 'ऐतिहासिक भौतिकवाद', अथवा 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' जैसे अनेक नामों से पुकारा गया है।

इस सिद्धांत द्वारा मार्क्स ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि सामाजिक विकास कोई सीधी सरल रेखा के समान नहीं है और न ही उसका कोई ईश्वरीय प्रेरक कारण है। समाज की प्रगति द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा होती है और विकास की प्रक्रिया एवं उसकी अन्तिम दिशा को निर्धारित करने वाले आर्थिक तत्व होते हैं। मार्क्स के शब्दों में, "इतिहास का निर्धारण अपने अन्तिम रूप में आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार होता है।" लेनिन के शब्दों में, "मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद वैज्ञानिक चिन्तन की महान् सिद्धि था। पहले इतिहास तथा राजनीति से सम्बन्धित विचारों के क्षेत्र में जो गड़बड़ी और मनमानी फैली हुई थी, उसके स्थान पर आश्चर्यजनक रूप से पूर्ण तथा क्रमबद्ध वैज्ञानिक सिद्धांत की स्थापना हुई, जो बताता है कि किस प्रकार उत्पादक शक्तियों के विकास के फलस्वरूप सामाजिक जीवन की एक व्यवस्था में से एक दूसरी ओर उच्चतर व्यवस्था का विकास होता है—उदाहरण के लिए, भूदास व्यवस्था में से किस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था विकसित होती है।"

वेपर के अनुसार, इस सिद्धांत का प्रारम्भ इस साधारण सत्य से होता है कि "लोग भोजन, वस्त्र, आवास और जीवन की अन्य आवश्यकताओं के बिना नहीं रह सकते पर प्रकृति यह सब उन्हें स्वयं बनाकर उनके हवाले नहीं करती। उन्हें प्राप्त करने के लिए मनुष्य को श्रम करना पड़ता है। अतः श्रम सामाजिक जीवन का आधार है और मनुष्य के लिए एक प्राकृतिक आवश्यकता है। श्रम और उत्पादक कार्यकलाप के बिना मानव जीवन ही असम्भव हो जाएगा। अतः भौतिक सम्पदा का उत्पादन सामाजिक विकास का मुख्य उत्पादक उपादान है।" दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद की मुख्य विशेषता यह मान्यता है कि उत्पादन पद्धति समाज के विकास में निर्णायक भूमिका निर्वाह करती है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद की प्रमुख विशेषता यह मान्यता है कि उत्पादन पद्धति समाज के विकास में निर्णायक भूमिका निर्वाह करती है।

मार्क्स से पूर्व समाज के विकास के इतिहास की व्याख्या करते हुए कतिपय विद्वानों ने कहा कि इतिहास का निर्माण बड़े–बड़े राजाओं, बादशाहों, युद्धों तथा सेनापतियों द्वारा हुआ है। कायल जैसे विचारकों का मानना था कि इतिहास का निर्माण जूलियस सीजर, नेपोलियन, क्रामवैल जैसे महान् नायक करते हैं। हीगल का मानना था कि महान् विचारों ने मानव समाज का विकास किया है।

मार्क्स ऐसे विद्वानों और इतिहासकारों से सहमत नहीं है जिन्होंने इतिहास को कुछ विशेष और महान् व्यक्तियों के कार्यों का परिमाण मात्र समझा। मार्क्स के अभिमत में इतिहास की सभी घटनाएँ आर्थिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों का परिणाम मात्र हैं और किसी भी राजनीतिक संगठन अथवा उसकी न्याय व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके आर्थिक ढांचे का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। मानवीय क्रियाएँ नैतिकता, धर्म या राष्ट्रीयता से नहीं वरन् केवल आर्थिक तत्वों से प्रभावित होती हैं।

मार्क्स के अनुसार मनुष्य सामाजिक स्तर पर जो उत्पादन करते हैं, उसमें वे एक–दूसरे के साथ निश्चित सम्बन्धों के सूत्र में बंध जाते हैं। ये सम्बन्ध अनिवार्य होते हैं और इन पर उनका अपना कोई वश नहीं होता। इन उत्पादन सम्बन्धों का स्वरूप उनकी भौतिक उत्पादन शक्ति के विकास की निश्चित अवस्था के अनुरूप होता है। इन उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग से समाज की आर्थिक संरचना अस्तित्व में आती है और वही कानूनी तथा राजनीतिक अधि–रचनाओं की असली आधारशिला का काम देती है। दूसरे शब्दों में भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करती है।

उत्पादन प्रणाली में जैसे–जैसे परिवर्तन होता है, वैसे–वैसे मनुष्यों के सारे सामाजिक सम्बन्ध भी बदल जाते हैं। जब उत्पादन हाथ की चक्की से होता है तब सामन्त अस्तित्व में आता है, जब उत्पादन भाप की चक्की से होने लगता है तब पूंजीपति, उद्योगपति का आविर्भाव होता है। जब भौतिक उत्पादन प्रणाली के अनुरूप सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं, तब इन सम्बन्धों के अनुरूप सिद्धांतों, विचारों और आदर्शों की उद्भावना की जाती है। 1848 में मार्क्स और एंगेल्स ने 'साम्यवादी घोषणापत्र' में लिखा कि बुर्जुआ या मध्य वर्ग ने उत्पादन के साधनों में क्रान्ति लाकर समाज के सम्पूर्ण स्वरूप को ही बदल दिया है।

सामाजिक चेतना को ध्यान में रखते हुए मार्क्स कहता है कि तकनीकी विकास के फलस्वरूप उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता है और फिर सामाजिक सम्बन्धों में भी उसके अनुरूप परिवर्तन आवश्यक हो जाता है, पर पुरानी व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों का निर्माण हो चुका होता है जो नयी व्यवस्था के अनुकूल नहीं होते, पर चूंकि निहित स्वार्थ इन पर आंच नहीं आने देना चाहते, इसलिए जो सामाजिक वर्ग पुरानी व्यवस्था की बेड़ियों से जकड़ा हुआ था, उसमें चेतना का उदय होता है। वह इन बेड़ियों को अचानक झटककर उतार फेंकता है। इस तरह सामाजिक क्रान्ति से ही सामाजिक परिवर्तन का आविर्भाव होता है। इस प्रकार मार्क्स उत्पादन पद्धति को सामाजिक व्यवस्था का आधार सिद्ध करते हुए उस परिवर्तन प्रक्रिया का वर्णन करता है तो उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के साथ सामाजिक विकास के नए चरणों को जन्म देती है। मार्क्स के अनुसार, ऐतिहासिक क्रम की प्रत्येक अवस्था चाहे वह कितनी ही खराब क्यों न दिखायी दे–अपनी पिछली अवस्था से उत्तम होती है क्योंकि वह विकास की चरम परिणति के निकट होती है। उत्पादन के साधनों के आधार पर बदलने वाले समाज के इतिहास को मार्क्स ने निम्नलिखित पांच युगों में बांटा है

1. आदिम साम्यवादी युग;
2. दास युग;
3. सामन्ती युग;
4. पूंजीवादी युग; तथा
5. साम्यवादी युग।

1. आदिम साम्यवादी युग–मार्क्स के अनुसार प्रारम्भिक आर्थिक व्यवस्था एक साम्यवादी व्यवस्था थी। मनुष्य कन्द–मूल, फल व शिकार से अपना पेट भरता था। शिकार द्वारा पेट भरने की इस स्थिति ने सामूहिक जीवन को जन्म दिया। लोग मिलकर शिकार करते थे और मिलकर ही उसे खाते थे। उस समय पूर्ण समानता एवं पूर्ण स्वतंत्रता थी। न कोई लुटेरा था और न कोई शोषक। उन दिनों परिवार का जन्म नहीं हुआ था और सम्पूर्ण कबीला ही एक परिवार होता था जिसमें बगैर किसी रिश्ते के सभी स्त्री–पुरुष में समानता और स्वतंत्रता के आधार पर सम्बन्ध हुआ करते थे। इस समाज में मानव द्वारा मानव का शोषण नहीं होता था। एंगेल्स के शब्दों में, "कबीलों की व्यवस्था की श्रेष्ठता यह थी कि उसमें शासकों और शासितों के लिए कोई स्थान नहीं होता था।"

आगे चलकर प्रकृति से मानव के अन्तर्द्वन्द्व ने औजारों को जन्म दिया। नए–नए औजारों का आविष्कार हुआ और मनुष्य ने आग जलाना, जानवर पालना, बर्तन बनाना, पौधे उगाना सीखा। पौधे उगाना खेती की तरह पहला कदम था। इसके परिणामस्वरूप एक तरफ तो अलग–अलग कबीलों के अलग–अलग पेशे हो गए और दूसरी तरफ कबीले कबीले में लड़ाई शुरू हो गयी। एक तो नए कामों में पहले से ज्यादा मेहनत करनी पड़ती थी, उस पर लड़ाई की मांग पूरी करने के लिए अपनी जरूरत से ज्यादा उत्पादन करना पड़ता था। अब पहले से अधिक काल की जरूरत पड़ने लगी। कबीलों में आपस में भी लड़ाइयां होती रहती थीं। इन लड़ाइयों ने काम करने वालों की कमी को पूरा किया। अब हारे हुए लोगों को गुलाम बनाकर उनसे काम लिया जाने लगा। इस प्रकार सामाजिक कार्य के बंटवारे ने समाज को ही बांट दिया। समाज दो वर्गों में बंट गया–मालिक और दास। अब समाज में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया जो दूसरों की मेहनत पर जिन्दा रहता है।

2. दास युग–जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि प्रारम्भ में साम्यवादी व्यवस्था थी। इसके पश्चात् व्यवस्था बदली और दास युग प्रारम्भ हुआ। कृषि व्यवस्था के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का श्रीगणेश हुआ। साथ ही श्रम विभाजन भी

प्रारम्भ हुआ। श्रम विभाजन ने परजीवियों को जन्म दिया। कुछ लोग जबरदस्ती लोगों को दास बनाकर शारीरिक श्रम के कार्य उनसे लेने लगे व अपना समय, आमोद–प्रमोद, विद्या, कला तथा राजनीति, आदि में बिताने लगे। आदिम वर्ग हीन समाज अब स्वतंत्र नागरिकों और दासों के दो वर्गों में विभक्त हो गया। दास युग में मालिक का दास पर वैसा ही हक होता था जैसे मकान, जमीन या जानवर पर। दास युग में आदमी पशुओं की तरह बिका करते थे। दास की पत्नी व बच्चे भी मालिक की वस्तु कहलाते थे। दास युग में मालिकों की संख्या कम थी और दासों की ज्यादा। इसलिए मालिकों को डर रहता था कि कभी दास विद्रोह करके उनको नष्ट न कर दें। अतः उन्होंने दासों की शारीरिक शक्ति को नियन्त्रित रखने के लिए राज्यसत्ता (कानून, पुलिस, जेल) को जन्म दिया। यूरोपीय इतिहास का अध्ययन करने पर इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था हमें प्राचीन यूनान के नगर राज्यों में देखने को मिलती है।

3. सामन्ती युग–इस युग में दास मालिकों की गुलामी से तो आजाद हो गए, लेकिन वे जमीन के गुलाम बन गए। सामन्तवादी युग में राजा और उसके सैनिक सामन्त भूमि के मालिक होते थे। क्योंकि इनका अधिकांश समय युद्धों में बीतता था, अतः उत्पादन का कार्य किसानों द्वारा किया जाता था। किसान दास तो न थे, किन्तु पूर्ण स्वतन्त्र भी नहीं थे। उन्हें इसी शर्त पर दास स्थिति से मुक्त किया गया कि वे स्वामी की जमीन जोतेंगे और इसके बदले उन्हें एक फसल का हिस्सा या जमीन का टुकड़ा दे दिया जाएगा। उन्हें मालिक की जमीन छोड़कर जाने का अधिकार नहीं होगा। इस तरह से उसे जमीन का टुकड़ा देकर सामन्त अधिकांश समय अपनी जमीन पर काम करवाकर उसका शोषण करने लगा।

सामन्तवाद में समाज सामन्त और किसान दो विरोधी वर्गों में बंट गया। अब सामन्त किसानों का शोषण करने लगे, लेकिन सामन्ती व्यवस्था में किसान को खेती करने के बाद काफी समय मिल जाता था। ऐसी स्थिति में करघे व दस्तकारी की चीजों का आविष्कार हुआ, जिनकी मदद से किसान अपनी जरूरतों की दूसरी चीजें बनाने लगा। पहले इससे वह अपनी जरूरतों को पूरा करता था, बाद में इनका आदान–प्रदान भी शुरू हो गया और अब वस्तुएँ आवश्यकता पूर्ति के लिए नहीं बल्कि व्यापार के लिए होने लगीं। इस प्रक्रिया ने एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जो एक व्यक्ति से चीजें खरीदकर दूसरे व्यक्ति को दे देता था। यह वर्ग व्यापारी वर्ग कहलाया। धीरे–धीरे इस वर्ग के पास पैसा इकट्ठा होता गया और वह प्रतिदिन विकसित होते हुए कल–करघे का मालिक भी बन गया। मशीन का आविष्कार होने पर सामन्ती समाज पूंजीवादी समाज में बदल गया।

4. पूंजीवादी युग–उत्पादन के नए साधन (मशीन) ने उत्पादन के नए रिश्तों को जन्म दिया और सामन्तवाद के स्थान पर पूंजीवादी युग प्रारम्भ हुआ। पूंजीवाद को अपना वास्तविक स्वरूप औद्योगिक क्रान्ति के होने पर प्राप्त हुआ। वास्तव में औद्योगिक क्रान्ति उत्पादन प्रणाली में ही एक महान् परिवर्तन का नाम है। पूंजीवाद में उत्पादन साधन, महंगी मशीनें, कल कारखाने, आदि थे। सर्वसाधारण को न तो ये साधन सुलभ थे और न वे अपने पुराने हस्तकौशल वाले रोजगारों को ही चला सकते थे। मजबूर होकर उन्हें अपने श्रम को बेचना पड़ा। इस युग में मजदूर भी अन्य सामान की भांति खरीदे और बेचे जाने लगे। पूंजीवाद ने दासता को मिटाने की बजाये इसे दूसरे रूप में स्थायी बनाया है और वेतनभोगी 'वेतन पाने वाला दास' बन जाता है।

इस प्रकार की अर्थव्यवस्था के विकास के बीच मध्य वर्ग का उदय होता है जो पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के मध्य रहकर इन दोनों, परस्पर विरोधी वर्गों में सीधे संघर्ष नहीं होने देता, पर समय बीतने पर यह मध्यम वर्ग भी सर्वहारा वर्ग की भांति ही बन जाता है फलतः पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के पास एक–दूसरे के विरुद्ध घोर युद्ध करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता है। इस युद्ध का अन्त तभी होता है जब पूंजीपति वर्ग का पूर्णरूपेण नाश हो जाता है और उत्पादन के साधनों पर राज्य का एकाधिकार हो जाता है।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद अपने अन्दर ही अपने पतन के बीच छिपाए है। मार्क्स का कहना था कि समाजवाद का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जो भौतिक परिस्थितियां आवश्यक होती हैं ये पूंजीवादी समाज के ही गर्भ में छिपी रहती हैं। स्वभावतः पूंजीवाद में अव्यवस्था रहती है। पूंजीवाद का परिणाम होता है–मांग से अधिक पूर्ति, जरूरत से अधिक उत्पादन, बाजार का माल से पट जाना, व्यापारिक संकट, बेरोजगारी, कम रोजगार और गलत रोजगार। इनके पश्चात् निजी पूंजी के स्थान पर धीरे–धीरे संयुक्त कम्पनियां और ट्रस्ट कायम हो जाते हैं और बाद में 'एकाधिकार पूंजी' और 'वित्त पूंजी' का बोलबाला हो जाता है। यह स्थिति पूंजीवादी की चरम सीमा है और यहीं से पूंजीवाद का पतन होने लगता है। पूंजीवाद के पतन के बाद 'सर्वहारा के अधिनायकत्व' की स्थापना होती है।

मार्क्स के शब्दों में, "पूंजी का अधिकाधिक केन्द्रीकरण होता है...भूमि को उत्तरोत्तर अधिक सुनियोजित ढंग से जोता–बोया जाता है, श्रम के औजार ऐसे औजारों में बदले जाते हैं जिनका केवल सामूहिक ढंग से ही उपयोग किया जा सकता है, उत्पादन के साधनों का संयुक्त, समाजीकृत श्रम के साधनों के रूप में उपयोग करके हर प्रकार के उत्पादन के साधनों का मितव्ययिता के साथ इस्ते माल किया जाता है, सभी कौमे संसारव्यापी मण्डी के जाल में फस जाती है और इसलिए पूंजीवादी शासन का स्वरूप अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय होता जाता है। रूपान्तरण की इस प्रक्रिया से उत्पन्न होन वाली

समस्त सुविधाओं पर जो लोग जबरदस्ती अपना एकाधिकार कायम कर लेते हैं, पूंजी के उन बड़–बड़े स्वामियों की संख्या यदि एक ओर बराबर घटती जाती है, तो दूसरी और गरीबी, अत्याचार, गुलामी, पतन और शोषण में लगातार वृद्धि होती जाती है, लेकिन इसके साथ–साथ मजदूर वर्ग का विद्रोह भी अधिकाधिक तीव्र होता जाता है। यह वर्ग संख्या में बराबर बढ़ता जाता है। उत्पादन प्रक्रिया का यंत्र ही उसे अधिकाधिक अनुशानबद्ध, एकजुट और संगठित करता जाता है। पूंजी का एकाधिकार उत्पादन की उस पद्धति के लिए एक बन्धन बन जाता है जो इस एकाधिकार के साथ–साथ और उसके अन्तर्गत जन्मी है और फूलीफली है। उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण और श्रम का समाजीकरण अन्त में एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच जाते हैं, जहां वे अपने पूंजीवादी खोल के भीतर नहीं रह सकते। खोल फाड़ दिया जाता है। पूंजीवादी निजी सम्पत्ति की मौत की घण्टी बन उठती है। सम्पत्ति हरण करने वालों का सम्पत्तिहरण हो जाता है।''

5. साम्यवादी युग– पूंजीवादी व्यवस्था सर्वहारा के शोषण पर आधारित है और जब यह शोषण चरम सीमा पर पहुंच जाता है और मजदूर को अपना अस्तित्व ही खतरे में नजर आता है तो वह इसके खिलाफ लाल झण्डा उठाकर बगावत कर देता है और पूंजीपति वर्ग एवं उसके शासन को उखाड़ फेंकता है। इसी को क्रान्ति कहते हैं। इस क्रान्ति के फलस्वरूप एक 'वर्ग विहीन एवं राज्य विहीन' समाज की स्थापना होगी, किन्तु इस अवस्था से पूर्व एक संक्रमणकालीन युग आएगा जिसमें कि 'सर्वहारा का अधिनायकवाद' स्थापित होगा तथा उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण किया जाएगा। इस अवस्था की समाप्ति के बाद एक ऐसे समाज की स्थापना होगी जिसमें वर्ग नहीं होंगे, व्यक्ति–व्यक्ति का शोषण नहीं करेगा और राज्य का लोप हो जाएगा। मार्क्स ने साम्यवादी युग के दो लक्षण बतलाए हैं– (1) यह समाज अन्ततोगत्वा राज्य विहीन एवं वर्ग विहीन होगा। (2) इस समाज के अन्दर वितरण का सिद्धांत होगा–''प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करे और उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त हो।'' इस प्रकार उत्पादकीय शक्तियां, उत्पादकीय सम्बन्धों का निर्माण करती हैं और जब उत्पादकीय शक्तियों में परिवर्तन होते हैं तब परिणामस्वरूप उत्पादकीय सम्बन्धों में समाज की रचना के स्वरूप में भी परिवर्तन होते हैं। प्रत्येक प्रकार की उत्पादकीय शक्तियों के अनुकूल विशिष्ट प्रकार की समाज व्यवस्था एवं वर्ग व्यवस्था रहती है।

इतिहास की भौतिकवादी के सिद्धान्त की विशेषताएं–मार्क्स द्वारा की गयी इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं–

1. इतिहास का अध्ययन मानव समाज के विकास के नियम जानने के लिए किया जाता है।
2. प्रकृति के विकास के नियमों की तरह की समाज के विकास के भी कुछ वैज्ञानिक नियम हैं।
3. सामाजिक जीवन के परिवर्तन ईश्वर की इच्छा अथवा महापुरुषों के विचारों और कार्यों के परिणाम नहीं होते और न ही संयोगवश होते हैं बल्कि आर्थिक शक्तियों में परिवर्तन के कारण होते हैं।
4. किसी राष्ट्र या समाज से विकास की प्रक्रिया में आर्थिक तत्व अर्थात् वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय और वितरण प्रणाली की भूमिका सबसे प्रधान होती है।
5. प्रत्येक युग की समस्त सामाजिक व्यवस्था पर उसी वर्ग का आधिपत्य होता है जिसे उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व प्राप्त थे।
6. जब उत्पादकीय शक्तियों में परिवर्तन होता है तब उत्पादकीय सम्बन्धों में भी परिवर्तन आ जाता है।
7. वर्ग संघर्ष सामाजिक विकास की कुन्जी है और दासयुग से लेकर सर्वहारा के अधिनायकवाद तक वर्ग संघर्ष ने सामाजिक व्यवस्थाओं को परिवर्तित करने का कार्य है, लेकिन साम्यवादी युग की स्थापना से वर्ग विहीन समाज की स्थापना होगी और वर्ग संघर्ष की यह प्रक्रिया समाप्त हो जाएगी।
8. उत्पादन सम्बन्धों तथा आर्थिक अवस्थाओं के आधार पर समाज के इतिहास को पांच मुख्य युगों में बांटा गया है।
9. इतिहास की आर्थिक व्याख्या के माध्यम से मार्क्स पूंजीवाद के अन्त और साम्यवाद के आगमन की अनिवार्यता व्यक्त करता है।

इतिहास की आर्थिक व्याख्या और आलोचना–मार्क्स द्वारा प्रतिपादित 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धांत' की पूंजीवाद के समर्थकों द्वारा निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की गई है।

1. आर्थिक तत्व पर अत्यधिक और अनावश्यक बल–आलोचकों के अनुसार मार्क्स ने समाज के राजनीतिक, सामाजिक और वैधानिक ढांचे में आर्थिक तत्व को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। यह सत्य है कि वर्तमान समय में आर्थिक तत्व पर ही आधारित नहीं होती है। आर्थिक तत्व के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में अन्य तत्वों के द्वारा भी कार्य किया जाता है और सामाजिक जीवन को निर्धारित करने वाले इन दूसरे तत्वों में भौगोलिक तत्व, सामाजिक वातावरण, मानवीय विचारों और अनुभूतियों का नाम लिया जा सकता है। प्रसिद्ध दार्शनिक बण्ड रसेल के शब्दों में, "राजनीतिक जीवन की महत्वपूर्ण घटना भौतिक स्थितियों और माननीय भावनाओं की पारस्परिक क्रिया से निर्धारित होती है।"

2. आर्थिक आधार पर सभी ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या सम्भव नहीं—प्रत्येक ऐतिहासिक घटना का आधार आर्थिक तत्व नहीं माना जा सकता और यह कहना उचित नहीं है कि प्रत्येक ऐतिहासिक संघर्ष उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था का परिणाम होता है। सन् 1914 में प्रथम विश्व युद्ध का कारण आर्थिक साम्राज्यवाद अवश्य था, किन्तु इसमें राष्ट्रीय विचारों का संघर्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। क्रिस्टोफर लॉयड के मतानुसार "इतिहास की आर्थिक व्याख्या रोम के पतन और अभी—अभी हुए युद्धों के विस्फोट को नहीं समझ सकती। यह इतनी यान्त्रिक है कि मनोवैज्ञानिक आन्दोलनों तथा राष्ट्रीयता के विकास को नहीं समझा सकती। यह इतनी भौतिकवादी है कि इससे मस्तिष्क पर आदर्शों के प्रभाव को नहीं समझा जा सकता।"

3. इतिहास के निर्धारण में संयोग के तत्व की उपेक्षा—मानव इतिहास में अनेक परिवर्तन संयोग से ही होते हैं। यह संयोग ही था कि न्यूटन ने पेड़ से सेब गिरते देखा और इसके आधार पर गुरुत्वाकर्षण के महत्वपूर्ण सिद्धांत का विकास किया। यदि गौतम बुद्ध सड़क पर अचानक बूढ़े, बीमार और मृत व्यक्ति को न देखते तो उन्हें वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। यदि जर्मन और रूसी सरकारें 1917 में लेनिन को रूस आने की अनुमति न देतीं तो रूस में बोल्शेविक क्रान्ति इतनी शीघ्र न होती। यदि 1991 में गोर्बाच्योब को बन्दी नहीं बनाया जाता तो सोवियत संघ से साम्यवाद का पतन इतना शीघ्र नहीं होता। इस प्रकार संयोग से महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं जबकि मार्क्स ने संयोग तत्व की उपेक्षा की है।

4. धर्म की उपेक्षा—मार्क्स ने परिवर्तन लाने वाले तत्वों में धर्म जैसे तत्व की उपेक्षा की है, जबकि मानव इतिहास में धर्म एक प्रभावक तत्व रहा है। यूरोप में लम्बे समय तक राजनीतिक परिवर्तनों को लाने में ईसाई धर्म की प्रमुख भूमिका रही है। आज भी पश्चिमी एशिया की राजनीति को धर्म के बिना नहीं समझा जा सकता।

5. राजनीतिक सत्ता एकमात्र आर्थिक सत्ता नहीं—मार्क्स यह मानता है कि आर्थिक कारण ही राजनीतिक सत्ता का मूल है। वस्तुतः सर्वत्र राजनीतिक सत्ता का मूल आर्थिक कारण नहीं होते। नेपोलियन ने फ्रांस की राजनीतिक सत्ता सैनिक शक्ति से प्राप्त की न कि किसी आर्थिक कारण से।

6. इतिहास की अवैज्ञानिक व्याख्या—मार्क्स ने इतिहास की वैज्ञानिक व तर्क संगत व्याख्या नहीं की है। उसने अपने सिद्धांत को प्रमाणों से पुष्ट नहीं किया। उसने इतिहास के वैज्ञानिक तर्कसंगत अनुशीलन से पूर्व ही हीगल की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के आधार पर कल्पना कर ली कि पूंजीवाद अपने विनाश की ओर उन्मुख है। उसने पूर्वाग्रहों से इतिहास का अध्ययन करके उसके नियम ढूंढने का प्रयत्न किया।

7. मानवीय चेतना एवं सृजनात्मक कौशल की उपेक्षा—मार्क्स का विचार है कि जब उत्पादकीय शक्तियों में परिवर्तन आते हैं तब उत्पादकीय सम्बन्धों में भी परिवर्तन आ जाते हैं। स्वाभाविक रूप से हम यह पूछ सकते हैं कि उत्पादकीय शक्तियों से परिवर्तन क्यों आते हैं? एक प्रकार की उत्पादन प्रणाली बदल कर दूसरे प्रकार की उत्पादन प्रणाली का रूप धारण कर लेती है। क्यों? क्या उत्पादकीय शक्तियां जीवमान शक्तियां हैं जो सोद्देश्यता को लिए हुए इतिहास का नेतृत्व करती हैं? मार्क्स का सम्भवतः उत्तर इतना ही है कि 'पदार्थ गतिशील तत्व है और गतिशीलता के प्रवाह में भौतिक शक्तियां स्वतः परिवर्तित होती हैं।' इस व्याख्या को स्वीकारकरने का अर्थ यह होगा कि हमें मानवीय बुद्धि, आविष्कार, कौशल और विवेकपूर्ण नियोजन शक्ति का 'गतिशील पदार्थ' के नाम पर परित्याग करना पड़ेगा। सच्चाई यह है कि उत्पादकीय शक्तियों में मनुष्य सचेतन रूप से अपनी रचनात्मक बुद्धि, उद्यम और आविष्कार कौशल का योगदान देकर उनमें परिवर्तन लाता है। यह मनुष्य की चेतना है जो अचेतन उत्पादकीय शक्तियों का निर्माण करती है, उन्हें विकसित और परिवर्तित करती है।

8. इतिहास की धारा का साम्यवादी युग में आकर रुक जाना—इतिहास की भौतिक व्याख्या से मार्क्स यह सिद्ध करता है कि 'साम्यवाद' विकास की अन्तिम अवस्था है, लेकिन 'साम्यवाद' की स्थिति तक पहुंचकर 'गतिशील भौतिक तत्व' अपनी गतिशीलता क्यों छोड़ देता है? क्या उसके आगे विकास सम्भव नहीं है? ऐसा लगता है कि मार्क्स का भौतिक तत्व सोद्देश्यता को लिए हुए अपने साम्यवादी उद्देश्य की प्राप्ति के साथ रुक जाता है। यह मार्क्सवाद की वैज्ञानिक मान्यताओं के विपरीत जाने वाला निष्कर्ष है।

16.6.3 वर्ग संघर्ष का सिद्धांत

वेपर के अनुसार मार्क्स के चिन्तन में वर्ग संघर्ष की धारणा का विशिष्ट महत्व है। उसका वर्ग संघर्ष का सिद्धांत उसकी इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत पर आधारित है। सेबाइन के अनुसार मार्क्स वर्ग संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम मानता है और आदिकाल में अब तक के समस्त परिवर्तनों को उसी का प्रतिफल मानता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद की सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं के आधार पर 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के रचयिताओं ने यह सिद्धांत साफ—साफ निरूपित किया कि वर्गाधारित विग्रहपूर्ण समाजों में विकास की प्रेरक शक्ति वर्ग संघर्ष ही होता है। "अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग—संघर्षों का इतिहास रहा है।"

वास्तव में वर्ग संघर्ष का सिद्धांत ऐतिहासिक भौतिकवाद की ही उपस्थिति है। मार्क्स ने आर्थिक नियतिवाद की सबसे महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति इस बात में देखी कि समाज में सदैव ही विरोधी आर्थिक वर्गों का अस्तित्व रहा है। यह वर्ग संघर्ष हमेशा समाज में विद्यमान दो परस्पर विरोधी हितों वाले वर्गों में चलता है। इन वर्गों का आधार आर्थिक है। इनमें से एक वर्ग आर्थिक सत्ता प्राप्त वर्ग है जिसके पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व है और दूसरा जो केवल शारीरिक श्रम करता है अर्थात् आर्थिक सत्ता से विहीन अपना श्रम बेचकर जीवन निर्वाह करने वाला वर्ग है। मार्क्स का कथन है कि हर युग में इन दोनों वर्गों का किसी न किसी रूप में अस्तित्व रहा है। पहला वर्ग सदा ही दूसरे वर्ग का शोषण करता है। समाज के शोषक और शोषित ये दो वर्ग सदा ही आपस में संघर्ष करते रहे हैं। इन दो वर्गों में समझौता कभी भी सम्भव नहीं है।

वर्ग से तात्पर्य—वर्ग व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जो उत्पादन की किसी विशेष प्रक्रिया से सम्बन्धित हो और जिनके साधारण हित एक हों। इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर बल देने के कारण मार्क्स इसका लक्षण आर्थिक तत्वों पर बल देते हुए कहता है कि जिस समूह के आर्थिक हित एक समान होते हैं, उसको वर्ग कहते हैं, जैसे मिल मालिक, जमींदार, व्यापारी, किसान, मजदूर, आदि।

संघर्ष से तात्पर्य—संघर्ष का अर्थ केवल लड़ाई नहीं है, किन्तु इसका व्यापक अर्थ असन्तोष, रोष और आंशिक असहयोग है। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार संघर्ष का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि समाज में निरन्तर युद्ध की सी स्थिति बनी रहे अपितु इसका केवल इतना अर्थ है कि समाज में एक वर्ग ऐसा अवश्य होता है जिसकी आवश्यकताएँ पूरी न होने से वह सर्वदा असन्तुष्ट रहता है। इस असन्तोष को वह वर्ग समय—समय पर कई रूपों में—असहयोग, हड़ताल, आदि द्वारा व्यक्त करता है और जब यह असन्तोष असहनीय हो जाता है तो द्वन्द्ववाद के आधार पर यह संघर्ष क्रान्ति का रूप ले लेता है जिसमें शोषित वर्ग की विजय और शोषक वर्ग का पतन अवश्यम्भावी है।

वर्ग संघर्ष और पूंजीवाद—मार्क्स के अनुसार समाज का विकास वर्गों के आपसी तालमेल, सहयोग तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के आधार पर नहीं होता है। बल्कि वर्गों के आपसी संघर्ष के परिणामस्वरूप होता है। समाज में तमाम परिवर्तन वर्ग संघर्ष के आधार पर ही होते हैं तथा इससे समाज का विकास होता है। दासयुग में मालिक और दास, सामन्ती युग में सामन्त और किसान के वर्ग होते थे और आज के पूंजीवादी युग में आजीविका कमाने के साधनों के आधार पर समाज को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(1) पूंजीपति या बुर्जुआ तथा (2) श्रमजीवी या सर्वहारा। बुर्जुआ वर्ग उस सम्पत्ति का स्वामी है जिसका उपयोग वह श्रमजीवी के श्रम से अवैध लाभ प्राप्त करने के लिए करता है। बुर्जुआ वर्ग बिना कुछ परिश्रम किए श्रमिक वर्ग का शोषण करता है। श्रमजीवी वर्ग समाज का वह वर्ग है जो अपने जीविकोपार्जन के लिए पूर्ण रूप से अपने श्रम के विक्रय पर निर्भर होता है।

मार्क्स के अनुसार पूंजीपति और श्रमिक, दोनों को एक—दूसरे की जरूरत होते हुए भी इनके हितों में परस्पर विरोध है। पूंजीपति कम से कम मजदूरी देना चाहता है जिससे उसे अधिकाधिक लाभ हो और मजदूर अधिक से अधिक मजदूरी लेना चाहता है, अतः हितों के विरोध के कारण इन दोनों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है। यही वर्ग संघर्ष की बुनियाद है और इसी कारण वर्ग संघर्ष हमेशा से चला आ रहा है। मार्क्स और एंगेल्स 'साम्यवादी घोषणापत्र' में लिखते हैं, "स्वतन्त्र व्यक्ति तथा दास, अमीर तथा सामान्य जन, भूस्वामी तथा भूदास, पूंजीपति तथा दस्तकार, संक्षेप में उत्पीड़क तथा उत्पीड़ित, निरन्तर एक—दूसरे का विरोध करने तथा अनवरत, कभी लुक—छिपकर तथा कभी खुलकर, संघर्ष चलाते रहे हैं। इस संघर्ष की परिणति हर बार या तो समाज के क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण में हुई या संघर्ष करने वाले वर्गों के सर्वनाश में।" आधुनिक पूंजीवादी युग को मार्क्स ने वर्ग संघर्ष के चरमोत्कर्ष की अवस्था माना है। उसका अनुमान है कि पूंजी पर आधारित उत्पादन प्रणाली में उत्पादनकर्ताओं की निरन्तर प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप सारी पूंजी और जमीन धीरे—धीरे इने—गिने लोगों के हाथों में सिमटती चली जाएगी। मध्य वर्ग अपने पैरों पर खड़ा न रह पाने के कारण श्रमिक वर्ग का आकार बढ़ता जाएगा। पूंजीपति अपने बढ़ते हुए लाभ का उपयोग स्वयं नहीं कर पाएँगे, अतः वे फिर इसे उद्योगों में लगा देंगे। इससे उत्पादन तो बढ़ेगा, परन्तु निर्धन श्रमिक वर्ग क्रय शक्ति के अभाव में बाजार नहीं जुटा पाएगा। तब देश के बाहर बाजार की तलाश शुरू होगी। अतः परिवहन और संचार के उन्नत साधनों द्वारा विभिन्न देशों से सम्बन्ध जुड़ेगा। सचेत श्रमिक वर्ग या सर्वहारा वर्ग अपना संगठन सुदृढ़ करने के लिए अपने आन्दोलन को व्यापक बनाने के लिए साधनों का प्रयोग करने लगेगा। इस तरह पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों के बीच सीधे संघर्ष की सम्भावना तेज हो जाएगी। सर्वहारा वर्ग अपनी विशाल संख्या और सुदृढ़ संगठन के बल पर मुट्ठी भर पूंजीपतियों को धराशायी करने में निश्चय ही समर्थ और सफल होगा। फलतः 'स्वत्वहरण करने वालों का स्वत्वहरण कर लिया जाएगा' सर्वहारा की विजय के बाद उत्पादन के प्रमुख साधनों को 'सामाजिक स्वामित्व' में रखकर पुराने पूंजीपतियों को श्रमिक बन जाने के लिए विवश किया जाएगा, जिससे समाज के सभी सदस्य उत्पादन करने वाले होंगे दूसरों के श्रम पर पलने वाला कोई नहीं होगा। इस तरह अन्त में वर्गहीन समाज की स्थापना हो जाएगी।

पूंजीवादी समाज का सबसे अधिक उत्पीडित वर्ग होने के साथ–साथ सर्वहारा सर्वाधिक क्रान्तिकारी वर्ग भी होता है। बुर्जुआ वर्ग से अपने संघर्ष में वह विकास के विभिन्न चरणों से गुजरता है और उसका संघर्ष अलग–अलग स्वतः स्फूर्त संघर्ष न रहकर वर्ग संघर्ष बन जाता है।" प्रत्येक वर्ग संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष होता है।" दूसरे शब्दों में यह सारे पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध लक्षित होता है तथा उस राज्य के विरुद्ध भी जो पूरे पूंजीपति वर्ग के सम्मिलित हितों का प्रबन्ध करने वाली कमेटी के अलावा और कुछ नहीं है।" विकास के एक चरण में मजदूर वर्ग के संघर्ष को क्रान्ति का रूप लेना चाहिए, जिसमें सर्वहारा वर्ग बुर्जुआजी को सत्ताच्युत करेगा और अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करेगा। सर्वहारा वर्ग इतिहास में एकमात्र ऐसा वर्ग है जो अपने को मुक्त करते हुए सारी मानवजाति को भी हर तरह के शोषण से मुक्त करेगा।

वर्ग संघर्ष की भावना किस प्रकार से पूंजीवाद के अन्त का मार्ग प्रशस्त करती है, इसे स्पष्ट करते हुए कोकर ने लिखा है : "पूंजीवादी व्यवस्था मजदूरों की संख्या बढ़ाती है उन्हें वह संगठित समुदायों में एकत्रित कर देती है, उनमें वर्ग चेतना का प्रादुर्भाव करती है और उनमें परस्पर सम्पर्क तथा सहयोग स्थापित करने के लिए विश्वव्यापी पैमाने पर साधन प्रदान करती है। उनकी क्रय शक्ति को कम करती है और उनका अधिकाधिक शोषण करके उन्हें संगठित प्रतिरोध करने के लिए प्रेरित करती है।"

मार्क्स कहता है कि अब तक के इतिहास में जिस वर्ग ने शोषणकर्ताओं से सत्ता छीनी, कालान्तर में वह स्वयं शोषणकर्ता सिद्ध हुआ। इसलिए अब तक जितनी क्रान्तियां हुईं, उनसे इतिहास अपने चरम लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाया, परन्तु पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों के संघर्ष से जो क्रान्ति होगी, वह पिछली सब क्रान्तियों से भिन्न होगी क्योंकि उसके फलस्वरूप शोषक वर्ग का अस्तित्व ही मिट जाएगा और वर्गहीन समाज की स्थापना होगी।

वर्ग संघर्ष सिद्धांत की विशेषताएं–मार्क्स का कहना है कि पूंजीवादी अपनी कब्र आप खोदता है। पूंजीवाद के विनाश के कारणों पर प्रकाश डालते हुए मार्क्स ने कहा है "इस संघर्ष में 'उसका' विनाश और सर्वहारा वर्ग की विजय दोनों ही अवश्यम्भावी हैं।" उसके वर्ग संघर्ष सिद्धांत से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

1. उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर समाज में वर्ग विभाजन स्पष्ट होता है।
2. समाज का विकास वर्गों के आपसी संघर्ष के फलस्वरूप होता है, आपसी सहयोग के द्वारा नहीं।
3. समाज में मुख्यतः दो वर्ग होते हैं जिनके हित परस्पर विरोधी होते हैं।
4. जब तक वर्ग में वर्ग चेतना तथा वर्ग संगठन न हो तब तक वर्ग संगठन तेज होकर क्रान्ति की दशा में नहीं बढ़ता।
5. वर्ग संघर्ष क्रान्ति को जन्म देते हैं जिसके फलस्वरूप एक वर्ग की सत्ता दूसरे वर्ग के हाथों में आ जाती है।

इस प्रकार वर्ग संघर्ष तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या के माध्यम से मार्क्स ने श्रमिकों को न केवल विजय का विश्वास दिलाया, बल्कि जैसा कि फ्रेडरिक वैटकिन्स ने लिखा है–"उन्हें यह भी विश्वास दिलाया कि यह अन्तिम संघर्ष है और इसके बाद में साम्यवादी समाज की स्थापना का सवेरा शुरू हो जाएगा।"

वर्ग संघर्ष सिद्धांत की आलोचना–मार्क्स के वर्ग संघर्ष सिद्धांत की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है–

1. मानव इतिहास संघर्ष का इतिहास नहीं है–मार्क्स का सिद्धांत संघर्ष पर अत्यधिक बल देता है। मार्क्स के अनुसार, अब तक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है।' आलोचकों के अनुसार मार्क्स का विचार एक पक्षीय है। मानव समाज में संघर्ष के साथ–साथ सहयोग की प्रवृत्ति प्रबल रूप से विद्यमान रही है। आपसी सहयोग की भावना ही आज तक की प्रगति और उत्थान का आधार रही है। यदि समाज के विभिन्न वर्गों–व्यापारी, किसान, श्रमिक, कारीगर, आदि में सहयोग न होता तो मानव समाज टूट जाता।

2. वर्ग की अस्पष्ट एवं दोषपूर्ण परिभाषा–मार्क्स द्वारा वर्ग की जो परिभाषा की गयी वह दोषपूर्ण है। उसकी परिभाषा के अनुसार वर्तमान समाज में मजदूरों और पूंजीपतियों के दो स्पष्ट वर्ग निश्चित नहीं किए जा सकते। आजकल उद्योगों में काम करने वाले अनेक मजदूर कम्पनियों के शेयर खरीदकर, हिस्सेदार बन जाते हैं और अतिरिक्त मूल्य के रूप में लाभ ग्रहण करने वाले पूंजीपति बन जाते हैं। इसी प्रकार उद्योगों में दस–दस हजार रुपए का मासिक वेतन पाने वाले प्रबन्धकों को क्या कहेंगे? वह कारखाने की मशीनों के मालिक नहीं हैं, इसलिए पूंजीपति नहीं है, किन्तु यदि उन्हें मजदूर कहा जाए तो क्या मजदूर शब्द के साथ अन्याय नहीं होगा।

3. समाज में केवल दो ही वर्ग नहीं होते–मार्क्स ने समाज में दो ही वर्ग माने हैं जबकि समाज में एक तीसरा वर्ग (मध्यम वर्ग) जिसमें वकील, डाक्टर, इन्जीनियर, उच्च लोक सेवा के सदस्य, पत्रकार होते हैं, अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और इस वर्ग की संख्या निरन्तर बढ़ रही है। मार्क्स के समकालीन लेखकों ने इस वर्ग पर ध्यान दिया है, किन्तु उसके द्वारा इस वर्ग के अस्तित्व को स्वीकार न करना उसके सिद्धांत की एक बड़ी कमजोरी है।

4. मार्क्स की क्रान्ति की धारणा सिद्ध हुई–वर्ग संघर्ष के कारण श्रमजीवी क्रान्ति जिसको कि मार्क्स और एंगेल्स बहुत निकट समझते थे, अभी तक भी नहीं हुई हैं क्रान्ति हुई अवश्य, किन्तु वह वहां हुई जहां कि उसके होने की सबसे कम आशा थी और एक प्रकार से मार्क्स की धारणा की क्रान्ति से भिन्न थी।

5. मार्क्स की भविष्यवाणी का वैज्ञानिक आधार नहीं–वर्ग संघर्ष के सिद्धांत के विरुद्ध सबसे अधिक महत्वपूर्ण आलोचना यह है कि श्रमजीवी वर्ग की अन्तिम विजय और उसके अधिनायकवाद की स्थापना की भविष्यवाणी का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यह मार्क्स की कामना और आशा की अभिव्यक्ति दिखायी पड़ती है, तथ्यों पर आधारित तर्क सम्मत परिणाम नहीं। यदि हम मार्क्स की इस बात को भी मान लें कि पूंजीवाद का विनाश निश्चित है तो भी उसका आवश्यक परिणाम साम्यवाद की विजय ही तो नहीं हो सकेगा। जैसा कि लास्की ने लिखा है–"हो सकता है कि पूंजीवाद के विनाश का परिणाम साम्यवाद न हो। बल्कि अराजकता हो जिसमें से एक ऐसे अधिनायकतन्त्र का जन्म हो सकता है जिसका कि सिद्धांत में साम्यवादी आदर्शों से कोई सम्बन्ध न हो।"

मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धांत एक जटिल सामाजिक प्रणाली का सरलीकरण करने का प्रयास है। मार्क्स ने इस सिद्धांत का प्रयोग अपने मनोवांछित उद्देश्यों को सिद्ध करने के लिए एवं विवादास्पद दलीय हितों की पुष्टि के लिए किया था। अतः इसके द्वारा वर्ग व्यवस्था का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इतिहास में शायद ही कभी इतना वर्गीय ठोसपन, उद्देश्यों की एकता या वर्गीय शत्रुता रही हो जिसकी मार्क्स ने कल्पना की है। सर्वहारा वर्ग के पारस्परिक मतभेदों के साथ–साथ इतिहास में शासकों में भी पारस्परिक मतभेद पाए जाते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी समाज की वर्ग व्यवस्था इतनी जटिल होती है, विशेषकर औद्योगिक समाज की, कि उसे मार्क्स के सरलीकृत सिद्धांत से नहीं समझा जा सकता। कैरयू हण्ट के शब्दों में, "मार्क्स का यह विचार है कि मनुष्यों के समस्त झगड़े वर्ग संघर्ष से उत्पन्न होते हैं, यद्यपि आम लोगों को यह विश्वास दिलाने में कि उनका दुर्भाग्य पूंजीवादी व्यवस्था के कारण जो सर्वहारा वर्ग की विजय के साथ ही समाप्त हो जाएगा, युक्तियुक्त महत्व रखता है, किन्तु एक वैज्ञानिक धारणा के रूप में मिथ्या है।"

वर्ग संघर्ष सिद्धांत का महत्व–मार्क्स पहला व्यक्ति था जिसने इतिहास की वर्ग हितों के आधार पर व्याख्या की है। पूंजीवाद के सम्बन्ध में मार्क्स की कई भविष्यवाणियां गलत सिद्ध हुई हैं, परन्तु पूंजीवाद के विकास की धारा लगभग वही है जैसी कि मार्क्स व एंगेल्स ने बनाई थी। मार्क्स का वर्ग संघर्ष सिद्धांत श्रमजीवी वर्ग के लिए महान् प्रेरणा का स्त्रोत है क्योंकि उसके द्वारा श्रमजीवी वर्ग की विजय अवश्यम्भावी बतायी गई। प्रभाव की दृष्टि से यदि उस सिद्धांत का हम मूल्यांकन करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि वर्ग संघर्ष के शस्त्र को अपनाकर विश्व मानवता के बहुत बड़े भाग ने प्रत्यक्ष रूप से पूंजीवादी बुराईयों से मुक्ति प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की है। यही नहीं, पूंजीवादी, देशों में भी श्रमिकों की दशा सुधारने और उन्हें सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के जितने भी उपक्रम हुए हैं उनको प्रेरित करने में वर्ग संघर्ष के सिद्धांत ने अप्रत्यक्ष रूप से महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। अतः वर्तमान समय में विश्व श्रमिक समाज के हाथों में यह एक बहुत ही प्रभावपूर्ण शस्त्र के रूप में है, जिससे वह पूंजीवादी शोषण से अपनी रक्षा कर पाने में ही समर्थ नहीं हो रहा है, वरन् शान्ति, स्वतन्त्रता और समानता के उन लक्ष्यों को प्राप्त करने में भी सफलता प्राप्त कर रहा है जो कि समग्र रूप से विश्व मानवता के लक्ष्य हैं।

16.6.4 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत

एंगेल्स के शब्दों में, "इतिहास की भौतिकवादी धारणा और अतिरिक्त मूल्य द्वारा पूंजीवादी उत्पादन के रहस्य का उद्घाटन इन दो महान् आविष्कारों के लिए हम मार्क्स के आभारी हैं।" इन आविष्कारों के साथ समाजवाद एक विज्ञान बन गया। लेनिन ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत को मार्क्स की अर्थशास्त्रीय शिक्षा की आधारशिला कहा है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का गहन विश्लेषण करके मार्क्स ने यह सिद्ध किया कि यह व्यवस्था शोषण पर आधारित है। मार्क्स का 'अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत' ही वह सिद्धांत है जिसके द्वारा वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि पूंजीपति श्रमिकों का शोषण करते हैं। इस सिद्धांत का प्रतिपादन मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दास कैपीटल' में किया है। 'अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत' मूल्य के श्रम सिद्धांत' पर आधारित है। इस सिद्धांत के अनुसार "अन्त में किसी वस्तु का विनिमय मूल्य उसके उत्पादन में लगाए गए सामाजिक दृष्टि से लाभदायक श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है।"

मार्क्स अपने अतिरिक्त मूल्य सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए प्रत्येक वस्तु के दो तरह के मूल्य बतलाता है–

1. उपयोग मूल्य, तथा 2. विनिमय मूल्य

उपयोगिता मूल्य–मार्क्स ने उपयोगिता मूल्य और विनिमय मूल्य के मध्य अन्तर किया है। उपयोगिता का अर्थ है मनुष्य की इच्छा पूरी करना। जो वस्तुएँ मनुष्य की इच्छा पूरी करती हैं, वे उसके लिए उपयोगी हैं, अतः वे मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण और मूल्यवान हैं। जो वस्तुएँ उसकी इच्छा को पूरी नहीं करतीं, वे उसके लिए उपयोगी न होने से कोई मूल्य नहीं रखतीं। उदाहरणार्थ, रेगिस्तान में बालू बहुत अधिक होती है और पानी की कमी पायी जाती है, अतः पानी अधिक

उपयोगी है और बालू की कोई उपयोगिता नहीं है। पानी मनुष्यों की प्यास बुझाने के काम आता है, अतः बालू की तुलना में पानी अधिक मूल्यवान है।

विनिमय मूल्य—मूल्य का दूसरा आधार विनिमय है, इसे विनिमय मूल्य कहते हैं। विनिमय मूल्य इस बात में है कि उस वस्तु के बदले में क्या प्राप्त होता है। विनिमय मूल्य वह अनुपात है जिसके द्वारा वस्तुओं के बदले में विनिमय हो सके। उपयोगिता की वस्तु हुए बिना किसी वस्तु का मूल्य नहीं हो सकता, लेकिन हर उपयोगी वस्तु का विनिमय मूल्य होना आवश्यक नहीं है। खाने की वस्तु होने के कारण रोटी का उपयोग मूल्य है, लेकिन जब रोटी को बेचा जाता है, उस समय उसका दूसरा मूल्य है जिसे हम विनिमय मूल्य के नाम से पुकारते हैं। मार्क्स के अनुसार किसी वस्तु का विनिमय मूल्य उस वस्तु के उत्पादन पर खर्च किए गए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है। यही मूल्य का मानदण्ड है। यदि पांच मन गेहूं का विनिमय दस गज कपड़ा है तो इसका यह कारण है कि पांच मन गेहूं पैदा करने में उतना ही श्रम लगता है जितना दस गज कपड़ा उत्पन्न करने में। अर्थात् किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगाए गए श्रम के आधार पर निश्चित होता है। मार्क्स के अनुसार "प्रत्येक वस्तु का वास्तविक मूल्य वह श्रम है जो उसे मानव उपयोगी बनाने के लिए उस पर व्यय किया जाता है, क्योंकि वही उसमें 'विनिमय मूल्य' पैदा करता है।" मार्क्स स्पष्टतया यह प्रतिपादित करता है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य उनकी उपयोगिता अर्थात् उपयोग मूल्य पर निर्भर नहीं करता, बल्कि उनके उत्पादन में लगाए गए श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है। मार्क्स के शब्दों में, "श्रम ही एक वस्तु के मूल्य निर्धारण का एकमात्र उचित मापदण्ड है, क्योंकि यही एक ऐसा तत्व है जो सभी वस्तुओं में समान रूप से विद्यमान है। अतः यही सम्पत्ति के उत्पादन का एकमात्र वास्तविक उत्पादक तत्व है।" मार्क्स रिकार्डो के इस सिद्धांत को पूर्णतया स्वीकार करता है कि 'श्रम ही मूल्य का स्त्रोत है।' वस्तुतः श्रम ही विनिमय मूल्य का आधार है। किसी वस्तु का विनिमय मूल्य इसलिए अधिक होता है कि उसके उत्पादन में मानव श्रम की मात्रा किसी अन्य वस्तु के उत्पादन से अधिक लगी होती है।

अतिरिक्त मूल्य—मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूर अपनी श्रमशक्ति बेचता है तथा 'मजदूरी' प्राप्त करता है। हर मजदूर अपनी मजदूरी से ज्यादा काम करता है तथा अधिक मूल्य पैदा करता है। मार्क्स के अनुसार हर वस्तु का विनिमय मूल्य उस पर लगे मानव श्रम के बराबर होता है। पूंजीपति 'लाभ' वस्तु को बेचकर नहीं बल्कि उत्पादन में मजदूर को उसके काम के अनुपात में कम मजदूरी देकर अर्जित करता है। हर मजदूर को मजदूरी कम मिलती है तथा काम ज्यादा करना पड़ता है। हर मजदूर अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। अतिरिक्त मूल्य मजदूर द्वारा प्राप्त मजदूरी तथा मजदूर द्वारा किए गए मूल्य का अन्तर है।

अतिरिक्त मूल्य परिभाषा इस प्रकार की गई है जितना मूल्य श्रमिकों के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक है, उसके अतिरिक्त जो मूल्य उन्होंने उत्पादित किया, वह अतिरिक्त मूल्य है, जो पूंजीपति की जेब से चला जाता है। मार्क्स के अनुसार 'अतिरिक्त मूल्य' उन दो मूल्यों का अन्तर है जिसे एक श्रमिक पैदा करता है और जिसे वह वास्तव में पाता है उदाहरणार्थ, मजदूरी के लौह नियम के अनुसार दैनिक मजदूरी की दर पांच रुपया है। कारखाने में काम करने वाला मजदूर उसे दी जाने वाली मजदूरी के मूल्य की अर्थात् पांच रुपए की वस्तुएँ चार घण्टे में ही बना लेता है, किन्तु कारखाने का मालिक उससे आठ घण्टे काम लेता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि वह दिन भर में दस रुपए मूल्य की वस्तुएँ उत्पन्न करता है, किन्तु कारखाना मालिक पांच रुपए उसे देकर प्रतिदिन पांच रुपए अपनी जेब में डालता है। मार्क्स के अनुसार यह अतिरिक्त मूल्य श्रमिक को मिलना चाहिए, किन्तु कारखाना, मालिक उसके श्रम की चोरी करता है, यही चोरी उसका लाभ है, इसी से पूंजी का निर्माण होता है। लाभ का कोई भी अंश मजदूरों को नहीं दिया जाता। इस अतिरिक्त लाभ के एकत्रीकरण से ही पूंजी बनती है। मार्क्स के अनुसार पूंजी' की परिभाषा है—"अतिरिक्त मुनाफे को प्राप्त करने के लिए लगाए गए समस्त उत्पादन के निजी साधनों का भोग। अतः पूंजी श्रम का शोषण है। पहले के समाजों में जिस प्रकार दासों एवं अर्द्धदासों का शोषण हुआ है उसी प्रकार पूंजीवादी युग में श्रमिक वर्ग का शोषण होता है। श्रमिक अपनी सेवाओं और श्रम को पूंजीपति को प्रदान करते हैं, लेकिन उसके बदले में उन्हें केवल निर्वाह करने योग्य पैसा भी नहीं मिलता। पूंजी के मालिक उस 'अतिरिक्त मूल्य' को हड़प लेते हैं। मजदूरों के विरुद्ध पूंजीपतियों का यह शोषण कुचक्र बहुत समय से चल रहा है और इसका अन्त पूंजीवाद के अन्त के साथ ही हो सकेगा। कोकर के अनुसार "मार्क्स का (इस सिद्धांत के आधार पर) अन्तिम निष्कर्ष यह है कि इस अवस्था को समाप्त करने का एकमात्र उपाय है व्यक्तिगत भाड़े, ब्याज और लाभ के सभी सुयोगों का सर्वनाश और यह परिणाम केवल साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है, जिसमें व्यक्तिगत पूंजी का स्थान सामूहिक पूंजी ले लेगी, न कोई पूंजीपति रहेगा और न श्रमिक, अपितु सब व्यक्ति सहकारी उत्पादक बन जाएँगे।"

अतिरिक्त मूल्य सिद्धांत की आलोचना— मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य की अग्रलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है।

1. श्रम उत्पादन और मूल्य का एक मात्र स्त्रोत नहीं है—मार्क्स के 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धांत' का निष्कर्ष यह है कि वस्तु के मूल्य के निर्धारण का एकमात्र तत्व इसके उत्पादन में लगने वाला मजदूर का श्रम है, अतः उसका सारा मूल्य

मजदूर को ही मिलना चाहिए। वस्तुतः यह विचार सत्य नहीं है क्योंकि मूल्य का निर्धारण केवल श्रम से ही नहीं होता। इस पर प्रभाव डालने वाले अन्य तत्व पूंजी, मशीनें, कच्चा माल, तकनीकी ज्ञान, प्रबन्ध कौशल, आदि भी होते हैं। एक वस्तु का मूल्य निर्धारित करने में श्रम के अतिरिक्त अन्य तत्व जैसे वस्तु की उपयोगिता उपलब्धि और मांग, आदि भी प्रभावपूर्ण होते हैं। लोहे और सोने को खान से निकालने में एक समान ही श्रम व्यय होता है, लेकिन जहां तक उनके मूल्य का प्रश्न है, उसमें भारी अन्तर है और इस अन्तर का मुख्य कारण उनकी उपयोगिता, उपलब्धि की मात्रा और मांग, आदि है।

2. सम्पूर्ण अतिरिक्त मूल्य लाभ नहीं है—मार्क्स अतिरिक्त मूल्य को पूंजीपति का लाभ मानता है जबकि पूंजीपति को वस्तुओं के उत्पादन में श्रमिक के अतिरिक्त अन्य बहुत सी बातों के लिए धनराशि व्यय करनी पडती है। उसे पूंजी का ब्याज, मशीनों की घिसावट,श्रमिकों की बीमारी, बेकारी के बीमों के लिए काफी धनराशि व्यय करनी पड़ती है। अतः इन खर्चों को निकालने के बाद अतिरिक्त मूल्य में से प्राप्त होने वाला लाभांश बहुत कम रह जाता है। मार्क्स ने इस बात का ध्यान नहीं रखा और सम्पूर्ण अतिरिक्त मूल्य को लाभांश घोषित कर दिया जो वास्तविक स्थिति के अनुकूल नहीं है।

3. मानसिक श्रम की उपेक्षा—मार्क्स के इस सिद्धांत से ऐसा प्रतीत होता है कि उसने शारीरिक श्रम को ही श्रम माना है और मानसिक श्रम की उपेक्षा की है। वस्तुतः तकनीकी ज्ञान, प्रबन्ध पटुता और व्यवसाय कुशलता वस्तुओं के निर्माण और तैयार वस्तुओं के लिए उपयुक्त ढूंढने में महत्वपूर्ण योग देते हैं। उद्योग में प्राप्त होने वाला लाभांश बहुत कुछ सीमा तक इन पर निर्भर करता है।

4. विरोधाभासी सिद्धांत—मार्क्स के इस सिद्धांत में अनेक विरोधाभास एवं असंगतियां दिखलायी देती हैं। एक ओर तो वह कहता है कि पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य बढ़ाने के लिए अधिकाधिक नई मशीनें लगाता है और दूसरी तरफ वह यह भी मानता है कि स्थायी पूंजी—मशीनों, कच्चे माल, आदि से कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं मिलता है।

5. यह सिद्धांत आर्थिक कम और प्रचारात्मक अधिक है—मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी गलत है। अधिक से अधिक इसे 'श्रमिकों के शोषण का सिद्धांत' कहा जा सकता है। मार्क्स का उद्देश्य राजनीतिक प्रचार था न कि अर्थशास्त्रीय। मैक्स बीयर के अनुसार, "इस दृष्टिकोण को अस्वीकार करना असम्भव है कि मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत एक आर्थिक सत्य होने के बजाय एक राजनीतिक और सामाजिक नारा है।"

6. मार्क्स का सिद्धांत मौलिक नहीं—कतिपय विद्वानों का मत है कि यह मार्क्स का सिद्धांत मौलिक नहीं है। कोकर का कहना है कि यह वास्तव में एक अंग्रेजी सिद्धांत था, जिसका प्रतिपादन 19वीं शताब्दी में सर विलियम पेटी ने किया। इसके बाद रिकार्डो एवं एडम स्मिथ जैसे शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों ने इसमें संशोधन कर नया रूप दिया। सेबाइन के अनुसार 'अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों के श्रम सिद्धांत का विस्तार मात्र है।" वेपर के अनुसार मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत रिकार्डो के सिद्धांत का ही व्यापक रूप है।"

अतिरिक्त मूल्य सिद्धांत का महत्व—अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत द्वारा मार्क्स ने पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली तथा उत्पादन व्यवस्था में छिपे शोषण, जुल्म तथा अत्याचार को वैज्ञानिक आधार पर स्पष्ट किया तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था का समर्थन किया।

चाहे मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य सिद्धांत पूर्णतया सत्य न हो, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि पूंजीपतियों ने श्रमिकों की मेहनत पर अपनी विलासिता के महल खड़े किए हैं। चाहे उनको प्राप्त होने वाला सारा लाभ अतिरिक्त मूल्य न हो, परन्तु उनके लाभ का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा होता है।' जिसके लिए वे किसी भी प्रकार योग्य नहीं हैं। श्रमिकों और दलितों की दयनीय अवस्था देखते हुए कहा जा सकता है कि उनकी इस अवस्था का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व पूंजीपतियों पर है।

अतः मूल्य के सिद्धांत के रूप में मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत अमान्य हो गया है, लेकिन एक शोषण के सिद्धांत के रूप में यह आज भी उतना ही सही है जितना की मार्क्स के समय में था। लेनिन के शब्दों में, "मार्क्स से पहले क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की उत्पत्ति इंग्लैण्ड में हुई थी, जो पूंजीवादी देशों में सबसे उन्नत देश था। एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो ने आर्थिक व्यवस्था के विषय में अपनी गवेषणाओं द्वारा 'मूल्य के श्रम सिद्धांत' की नींव डाली। मार्क्स ने उनके काम को और आगे बढ़ाया। उन्होंने इस सिद्धांत को प्रमाणित किया और उसे सुसंगत रूप से विकसित किया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि हर माल का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि उसके उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से कितना आवश्यक श्रम—काल लगाया गया है।" पॉपर ने ठीक ही लिखा है, "मेरे विचार में यद्यपि मार्क्स का विश्लेषण दूषित था', लेकिन शोषण के सिद्धांत का निरूपण करने वाले प्रयास की दृष्टि से आज भी वह आदरणीय है।" सेबाइन के अनुसार, "अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत एक ऐसा मूल तत्व है जो पूंजीवाद की हृदय हिला देने वाली विभीषिकाओं को उद्घाटित करता है। यह सिद्धांत इतना तर्कपूर्ण और ठोस है कि इसे चुनौती नहीं दी जा सकती और स्वीकार कर लेने पर पूंजीवाद की हम किसी भी आधार पर रक्षा नहीं कर सकते।"

16.6.5 मार्क्स द्वारा प्रतिपादित राज्य सिद्धांत

मार्क्स ने स्वयं राज्य के सिद्धांत पर अलग से तथा स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है। मिलिबिन्द के शब्दों में, "मार्क्स ने स्वयं कभी राज्य का क्रमबद्ध एवं व्यापक सिद्धांत देने का प्रयास नहीं किया।" च्यांग लिखते हैं, "लेनिन के 'राज्य और क्रान्ति' (1917) के प्रकाशित होने से पहले राज्य का मार्क्सवादी सिद्धांत न केवल अर्थशास्त्र में बल्कि राजनीति और समाजशास्त्र में भी बिल्कुल उपेक्षित था।" यह सच है कि मार्क्सवादी सिद्धांत सामाजिकशास्त्र में साधारणतया उपेक्षित ही रहा है, किन्तु आर्थिक विषयों पर मार्क्स की रचनाओं में राज्य का विवरण छिटका हुआ है। राज्य पर इनके विचार उनकी कुछ अन्य रचनाओं में भी मिलते हैं।

प्लेटो और अरस्तू की भांति राज्य को एक लोक कल्याणकारी संगठन मानने के स्थान पर मार्क्स राज्य को एक वर्ग संगठन मानता है। उसकी उत्पत्ति वर्ग संघर्ष से हुई है। यह एक दमनकारी समुदाय है जो वर्ग विभेदों को बनाए रखता है। राज्य तब तक बना रहेगा जब तक समाज में वर्ग रहेंगे। मार्क्स का आदर्श वर्ग विहीन समाज है जिसमें राज्य' विलुप्त हो जाएगा और साम्यवादी समाज की स्थापना होगी। "राज्य वर्ग समाज की उपज है, उसका उदय वर्गों के उदय के साथ हुआ और वर्गों के अन्त के साथ ही उसका लोप भी हो जाएगा, यह धीरे–धीरे मुरझा जाएगा।"

राज्य की उत्पत्ति का कारण वर्ग विभेद–राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मार्क्स की विचारधारा सामान्य मत के सर्वथा विपरीत है। प्लेटो, अरस्तू और अनेक विचारकों का मत है कि राज्य एक स्वाभाविक और नैतिक संस्था है जो मानव जीवन के साथ ही जुड़ी हुई है, लेकिन मार्क्स राज्य को एक वर्गीय संस्था मानता है। आदिम साम्यवादी व्यवस्था में समाज के सदस्यों के बीच हितों का कोई संघर्ष नहीं था, इसलिए सम्पूर्ण समाज मिलकर अपने मामलों का प्रबन्ध स्वयं कर लेता था और राज्य का कोई अस्तित्व नहीं था, लेकिन दास युग में स्थिति बदल गई। इस युग में स्वामियों के हाथ में 'भूमि' सम्पत्ति और उत्पादन के समस्त साधन थे और ये दासों का शोषण करते थे। स्वामी वर्ग के सदस्यों की संख्या बहुत कम थी और बहुसंख्यक समाज के विरुद्ध अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए उन्हें शक्ति का आश्रय लेना पड़ा। इनके द्वारा सेना, पुलिस, न्यायालय और कारागार, आदि की व्यवस्था की गई। इन संस्थाओं पर उन लोगों का अधिकार था जो शासक वर्ग के समर्थक थे। यही से राज्य संस्था का जन्म हुआ। एंगेल्स लिखते हैं, "राज्य, शासन के रूप में सबसे शक्तिशाली उच्च आर्थिक वर्ग का राज्य है जो राज्य के माध्यम से , राजनीतिक रूप से भी उच्च वर्ग बन जाता है और इस प्रकार यह शोषित वर्ग के शोषण का नया हथियार है। पुराने समय का राज्य गुलामों पर शासन करने के लिए गुलामों के मालिकों का राज्य था, सामन्तवादी राज्य किसान तथा भूमिहीनों पर शासन करने के लिए कुलीन लोगों का राज्य था तथा आधुनिक प्रतिनिध्यात्मक राज्य मजदूरों पर शासन करने के लिए पूंजीपतियों का शासन है।" एंगेल्स राज्य की उत्पत्ति वर्गों की उत्पत्ति के साथ ही मानते हैं तथा राज्य को एक आर्थिक वर्ग के हाथ में दूसरे आर्थिक वर्ग पर शोषण करने का हथियार बताते हैं। मार्क्स लिखते हैं, "राज्य सम्पत्तिशाली वर्ग का संगठन है जो सम्पत्तिहीन वर्ग से इसकी सुरक्षा करता है।" वे लिखते हैं, "राज्य आदि काल से अस्तित्व में नहीं था। ऐसे समाज भी रहे हैं जो इसके बिना थे, उनमें राज्य तथा राज्यसत्ता की कोई धारणा नहीं थी। आर्थिक विकास की निश्चित दशा में, जो समाज के वर्ग विभाजन द्वारा उत्पन्न झगड़ों के कारण पैदा हुई, राज्य की उत्पत्ति हुई जो इस झगड़े की आवश्यकता थी।"

राज्य वर्ग शोषण का यन्त्र–राज्य के उद्देश्य एवं स्वरूप के बारे में मार्क्स का विचार अन्य दार्शनिकों से काफी भिन्न है। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारों की कटु आलोचना की। हीगल यह मानते थे कि राज्य उच्च नैतिकता है तथा समाज के सारे द्वन्द्व खत्म कर देता है। मार्क्स ने इस विचार की कटु आलोचना करते हुए कहा कि राज्य व्यक्तिगत हितों से ऊपर रहकर सामान्य हित का प्रतिनिधित्व नहीं करता बल्कि निजी सम्पत्ति का सेवक है। मार्क्स ने यह भी माना कि राजनीतिक मुक्ति मानव की मुक्ति नहीं है, राज्य स्वतन्त्र हो सकता है बिना मनुष्य के स्वतन्त्र हुए। इस प्रकार उन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में स्पष्ट किया कि राज्य पूरे समाज का एक पहलू है, समाज के नीचे है तथा राज्य निजी सम्पत्ति के हितों से जुड़ा हुआ है।

मार्क्स ने राज्य के बारे में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कही कि "राज्य बिखरे हुए नागरिक समाज को संगठित नहीं करता, यह एक राजनीतिक अन्धविश्वास है कि राज्य सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करता है। जबकि वास्तविकता यह है कि सामाजिक जीवन राज्य को संगठित रखता है। अतः इस विचार के अनुसार राज्य समाज से बाहर नहीं है बल्कि समाज की ही उपज है।

मार्क्स के अनुसार राज्य शासक वर्ग के हितों को सुरक्षित बनाए रखने का तथा अन्य वर्गों के शोषण करने का साधन या उपकरण मात्र है। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य पूंजीपतियों का संगठन है। इसका उद्देश्य मजदूर वर्ग का शोषण करना है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह अपनी सम्पत्ति एवं हितों की रक्षा की दृष्टि से कानूनों का निर्माण करता है। कानून भंग करने वालों को पकड़ने तथा दण्ड देने के लिए पुलिस तथा न्यायालयों की व्यवस्था करता है। एंगेल्स के शब्दों में, "आधुनिक राज्यदृउसका स्वरूप कुछ भी होकृमूलतः एक पूंजीवादी मशीन है; पूंजीपतियों का राज्य है, समस्त राष्ट्रीय पूंजी का आदर्श मूर्तरूप है। जितना ही अधिक वह उत्पादक शक्तियों को अपने हाथ में लेता है, उतना ही वह

वास्तव में राष्ट्रीय पूंजीपति बनता जाता है और उतने ही अधिक नागरिकों का वह शोषण करता है।" साम्यवादी घोषणा पत्र' में राज्य को 'पूंजीपतियों की कार्यकारिणी समिति' कहा गया है। "आधुनिक राज्य की कार्यपालिका सभी पूंजीवादियों के सामान्य मामलों के प्रबन्ध के लिए एक समिति मात्र है।"। एंगेल्स के शब्दों में, 'राज्य एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के दमन के लिए एक यन्त्र है'। इस प्रकार मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार राज्य का जन्म इतिहास की प्रक्रिया में उस समय होता है जब समाज ऐसे दो विरोधी गुटों में विभक्त हो जाता है जिनके हित परस्पर विरोधी होते हैं और जिनके हितों में कोई सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में राज्य 'वर्ग संघर्ष की उत्पत्ति' है, यह "आधारभूत आर्थिक ढांचे अर्थात् उत्पादन के सम्बन्धों पर उत्पादन के भौतिक साधनों के स्वामियों द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए खड़ा हुआ ऊपरी ढांचा है।"

मार्क्स के अनुसार राज्य मानव जीवन के विकास की उत्तम साधन अथवा समाज के सभी वर्गों में सामंजस्य और सन्तुलन बनाए रखने वाला, उसके अधिकारों की रक्षा करने वाला तथा उनके कल्याण में संलग्न संगठन नहीं है, अपितु इसका उद्देश्य एक विशेष वर्ग की प्रभुता को बनाए रखना तथा उसे अन्य वर्गों के शोषण की खुली छूट देना है। यह वर्ग आर्थिक उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व स्थापित करके सेना, पुलिस और कानून द्वारा अपने वर्ग के आधिपत्य को सुदृढ़ बनाता है। "राज्य एक ऐसी संस्था है जो श्रमिकों के अतिरिक्त मूल्य को छीनने में पूंजीपतियों की सहायक है।" पूंजीवाद के हितों की रक्षा के लिए राज्य न केवल पुलिस और सैनिक शक्ति रखता है, बल्कि राज्य की न्याय प्रणाली भी इसी काम में प्रयुक्त होती है। "जर्मन राज्य लीब्कनैक्ट को बन्दीगृह में डालता है क्योंकि वह उसकी सुरक्षा को चुनौती देती है, लेकिन उसे लीब्कनैक्ट के हत्यारों को छोड़ने में कोई कठिनाई नहीं होती।" और तो और शिक्षा जैसी सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रयोग भी श्रमिकों के दमन हेतु किया जाता है।

अन्तरिम काल में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद—मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद का अन्त अनिवार्य है। क्रान्ति द्वारा पूंजीवादी वर्ग को नष्ट कर दिया जाएगा और सर्वहारा (श्रमजीवी) का अधिनायकत्व स्थापित हो जाएगा। वर्गहीन समाज की स्थापना में कुछ समय लगेगा और अन्तरिम काल में सर्वहारा का शासन होगा। "पूंजीवाद के अन्त के बाद भी राज्य कुछ समय तक अस्तित्व में रहेगा और इस काल में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित होगा।"

'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' में मार्क्स एक अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रस्थापना निरूपित करते हैं—"पूंजीवादी और कम्युनिस्ट समाज के बीच एक से दूसरे में क्रान्तिकारी रूपान्तरण का काल होता है। इसका समवर्ती एक राजनीतिक संक्रमण काल भी है, जिसमें राज्य सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी अधिनायकत्व के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। इस संक्रमण काल में राज्य की शक्ति का प्रयोग सर्वहारा वर्ग के द्वारा पूंजीपतियों के प्रतिरोध को कुचलने तथा पूंजीवाद के अवशेषों को समाप्त करने के लिए किया जाएगा। मार्क्स यह देखते हैं कि समाजवादी क्रान्ति के दौरान कितने विराट और कितने जटिल कार्यभार पूरे करने होंगे शोषक वर्ग के प्रतिरोधों का दमन करना, मेहनतकश जनसाधारण के व्यापकतम समूहों को सर्वहारा के पक्ष में लाना, समाज की अर्थव्यवस्था, राजनीति, संस्कृति और सामाजिक सम्बन्धों में आमूल क्रान्तिकारी पुनर्गठन करना। इन सबको ध्यान में रखते हुए मार्क्स यहां अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कर्ष का क्लासिकीय सूत्र पेश करते हैं—एक पूरे संक्रमण काल की ऐतिहासिक आवश्यकता है और इस काल का राज्य सर्वहारा अधिनायकत्व ही होना चाहिए। इस संक्रमण काल में हैलोवेल द्वारा प्रस्तुत रूपरेखा के अनुसार साम्यवाद का निम्नलिखित कार्यक्रम रहेगा :

1. हर प्रकार की जमींदारी का उन्मूलन और भूमि से प्राप्त होने वाले समस्त राजस्व का सार्वजनिक लाभ के कार्यों पर खर्च किया जाना;
2. आय के साथ तेजी से बढ़ने वाला आयकर;
3. सब प्रकार के उत्तराधिकारी की समाप्ति;
4. देश छोड़कर अन्य देशों में बसने वालों की और विद्रोहियों की सम्पत्ति की जब्ती;
5. सरकारी पूंजी और पूर्ण एकाधिकार से सम्पन्न राष्ट्रीय बैंक द्वारा राज्य के हाथ में उधार का केन्द्रीकरण;
6. संचार और परिवहन के साधनों का राज्य के हाथों में केन्द्रीकरण;
7. राज्य स्वामित्व वाले कारखानों और उत्पादन के साधनों का विस्तार। एक सामान्य योजना के अनुसार बंजर भूमि को खेती के योग्य बनाना और जमीन को अधिक उपजाऊ बनाने के उपाय करना;
8. हर एक के लिए काम करना समान रूप से अनिवार्य किया जाना; विशेषकर कृषि के लिए औद्योगिक सेनाएँ कायम करना;
9. खेती और उद्योग का उचित समायोजन और नगरों तथा गांवों में आबादी का अधिक न्यायपूर्ण वितरण;
10. निःशुल्क सार्वजनिक स्कूली शिक्षा और बच्चों से मजदूरी कराने पर रोक।

मार्क्स इस 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतत्व' को ही लोकतन्त्र मानता था। सर्वहारा वर्ग को अपने आपको दलित वर्ग के नाते संगठित करना है और उसे 'शासक वर्ग की स्थिति तक' उठाना है। इसके लिए सर्वहारा को राजनीतिक दल के रूप में गठित होकर, राजनीतिक नियन्त्रण अपने हाथ में लेना होगा। मार्क्स के राज्यों में, "अब तक की सभी राज्य व्यवस्थाएँ अल्पसंख्यकों की अथवा अल्पसंख्यकों के हित के लिए विद्यमान रही हैं। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद बहुसंख्या की जागृत तथा स्वतन्त्र व्यवस्था है और यह बहुसंख्या के हितों के लिए है।"

राज्य संस्था का विलोप—सर्वहारा के अधिनायकवाद की संक्रमणकालीन अवस्था के बाद मार्क्स एक ऐसी आदर्श व्यवस्था की कल्पना करता है, जिसमें राज्य का विलोप हो जाएगा। यह अवस्था वर्गविहीन समाज की होगी जिसमें राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी। कम्युनिष्ट घोषणा पत्र में स्पष्ट कहा गया है—"विकासक्रम में जब वर्गों के भेद मिट जाएँगे और सारा उत्पादन पूरे राष्ट्र के एक विशाल संघ के हाथ में संकेन्द्रित हो जाएगा, तब सार्वजनिक सत्ता अपना राजनीतिक स्वरूप खो देगी।" एंगेल्स के शब्दों में, "राज्य का 'अन्त' नहीं किया जाता। उसका 'लोप' हो जाता है।"

मार्क्स की मान्यता के अनुसार जब तक समाज में वर्ग बने रहेंगे तब तक एक विशेष वर्ग की सत्ता के समर्थक राज्य की भी सत्ता बनी रहेगी, किन्तु सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता के चरण में पूंजीपतियों के वर्ग का उन्मूलन हो जाएगा, इसके बाद समाज में वर्ग भेद की सत्ता स्वतः समाप्त हो जाएगी और सब व्यक्तियों को समानता की स्थिति प्राप्त हो जाएगी। जब समाज में कोई विशेष वर्ग नहीं रहेंगे तो उनकी सत्ता को बनाए रखने वाले राज्य की भी कोई उपयोगिता नहीं रहेगी तथा राज्य का धीरे–धीरे स्वतः लोप हो जाएगा। इस अवस्था में मनुष्य पहली बार पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करेगा तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करेंगे। जो व्यक्ति काम करने योग्य नहीं होंगे, उनके लिए सामाजिक सहायता और सामाजिक बीमे की व्यवस्था होगी। इस प्रकार मार्क्स जिस तरह की साम्यवादी सामाजिक–आर्थिक संरचना की कल्पना करता है, उसमें व्यक्ति और समाज के पूरी तरह से स्वतन्त्र होने, उनकी हर तरह की तरक्की की सहूलियतें होने की कल्पना की गई है। उत्पादन के साधनों पर चन्द पूंजीपतियों का नहीं, बल्कि पूरे समाज का मालिकाना हक होता है। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की गुंजाइश नहीं होती। भूख, गरीबी, बेकारी नहीं होती। मार्क्स के शब्दों में "पुराने बुर्जुआ समाज तथा उसके वर्गों और वर्ग विरोधों के स्थान पर हम एक ऐसे समाज की स्थापना करेंगे जिसमें प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास सभी के स्वतन्त्र विकास की आवश्यक शर्त होगी।" वस्तुतः मार्क्स ने उस समाज की कल्पना की थी जब 'राज्य' की भी जरूरत नहीं रह जाएगी। जैसे फूल सूखकर झड़ जाता है, उसी तरह 'राज्य' का व्यवस्था वृक्ष मुरझाकर समाप्त हो जाएगा। दमन करने वाली सारी एजेन्सियाँ भी खत्म हो जाएँगी। मानव पूर्णतः मुक्त होगा–अपना मालिक खुद। मार्क्स के राज्य के लुप्त होने सम्बन्धी विचारों को एंगेल्स ने इन शब्दों में स्पष्ट व्यक्त किया है—"वह युग आने वाला है जब राज्य संग्रहालयों में रखी जाने योग्य प्राचीन वस्तुओं–चरखे या कांसे के कुल्हाड़े की भांति अतीतकाल की वस्तु बन जाएगी।"

राज्य सिद्धांत की आलोचना—मार्क्स के राज्य सिद्धांत से स्पष्ट होता है कि राज्य का वर्ग संघर्ष के सिद्धांत के साथ गहरा सम्बन्ध है राज्य सदैव मजदूरों का शोषण करता है। राज्य का आधार पाशविक शक्ति है, अतः इसका अन्त भी क्रान्ति (हिंसा) से ही हो सकता है। राज्य का प्रधान कार्य विशेष वर्ग के हितों को शक्ति द्वारा सुरक्षित बनाना है, अतः यह इस वर्ग को क्षति पहुंचाने वाले सभी कार्यों का दमन करता है।

आलोचकों के अनुसार मार्क्स के राज्य सिद्धांत में कई दोष हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत राज्य के अधिक पूर्ण और अधिक सच्चे स्वरूप की उपेक्षा करते हुए केवल एक रोगग्रस्त राज्य का अध्ययन करना है। इस सिद्धांत की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है–

1. **राज्य परोपकारी निकाय है**—मार्क्स ने राज्य को शोषण करने वाली संस्था कहा है जबकि यह देखा गया है कि राज्य तो व्यक्ति की सेवा एवं भलाई करने वाला संगठन है। राज्य का प्रधान कार्य व्यक्ति के उत्तम जीवन के लिए उपयुक्त परिस्थितियां उत्पन्न करना है। स्पेन्सर जैसा व्यक्तिवादी विचारक भी इसी दृष्टि से राज्य की उपयोगिता मानता है।

2. **राज्य एक कल्याणकारी संस्था है**—मार्क्स ने राज्य को सर्वहारा वर्ग का शत्रु बताया और कहा कि राज्य द्वारा ही पूंजीपति वर्ग श्रमिकों का शोषण करता है, किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। पिछले लगभग 60 वर्षों से विश्व के सभी राज्यों द्वारा कल्याणकारी राज्य का विचार स्वीकार कर लिया गया है और अमरीका समेत पश्चिमी यूरोप में सभी देशों में श्रमिकों के हित में सैकड़ों कानूनों का निर्माण किया गया है। पूंजीवाद का गढ़ समझे जाने वाले देशों में राज्य के बेकारी, बीमारी, बुढ़ापे के बारे में विभिन्न योजनाओं द्वारा श्रमिक वर्ग की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया है। आज तो राज्य श्रमिकों के शोषण के यन्त्र के रूप में नहीं, अपितु लोककल्याण के उपकरण के रूप में कार्य कर रहा है।

3. **शान्तिपूर्ण तरीकों से परिवर्तन सम्भव**—मार्क्स के अनुसार बिना क्रान्ति और हिंसा के पूंजीवादी राज्य में परिवर्तन सम्भव नहीं है। समाजवादी समाज की स्थापना के लिए पूंजीवादी राज्य के विनाश का एकमात्र साधन हिंसा है। जबकि वस्तुतः इंग्लैण्ड, अमरीका और भारत जैसे देशों में शान्तिपूर्ण एवं वैध साधनों से पूंजीवादी राज्य का समाजवादी राज्य में

रूपान्तरण के सफल प्रयत्न हुए हैं। भारत में कानून बनाकर राजाओं के विशेषाधिकार तथा जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया।

4. राज्य के विलोप की काल्पनिक धारणा–मार्क्स राज्य विहीन समाज की कल्पना करता है। वह कहता है कि धीरे–धीरे राज्य की व्यवस्था स्वयमेव समाप्त हो जाएगी। जिस प्रकार एक फूल अपने पूर्ण विकास के बाद स्वयमेव मुरझा जाता है, उसी प्रकार अन्त में राज्य रूपी फूल की पंखुड़ियाँ कुम्हलाकर गिर जाएँगी और इस संस्था का लोप हो जाएगा, किन्तु आलोचकों के अनुसार मार्क्स की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध नहीं हुई। रूस में क्रान्ति को हुए 75 वर्ष बीत गए हैं, किन्तु राज्य का विलोप नहीं हुआ। गोर्बाचोव के सत्ता में आने के बाद तो सोवियत संघ पूंजीवादी लोकतन्त्र के मार्ग पर चल पड़ा, साम्यवादी पार्टी पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, 'समाजवादी' शब्द को 'यू. एस. आर.' के नाम से निकाल दिया गया और तो और खुली प्रतियोगी अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन दिया जाने लगा है। सोवियत संघ के विघटन के साथ वहां साम्यवाद को भी दफना दिया गया।

मार्क्स तथा साम्यवादी कार्य प्रणाली

मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद का पतन निश्चित है, साम्यवादी क्रान्ति स्वतः होगी तथापि इसके लिए हमें निष्क्रिय होकर नहीं बैठना चाहिए। साम्यवादी क्रान्ति को लाने के लिए यह आवश्यक है कि साम्यवादी विचारों का प्रचार किया जाए और साम्यवादी विचारों के प्रचार के लिए साम्यवादी दलों का संगठन किया जाए।

'साम्यवादी घोषणा पत्र' (1848) में जो कि मार्क्स एवं एंगेल्स की संयुक्त कृति है, यह इंगित किया गया है कि पूंजीवाद के विनाश के लिए साम्यवादी दलों को निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाना चाहिए :

1. भूमि के रूप में सम्पत्ति की व्यवस्था का अन्त किया जाए।
2. भूराजस्व का सार्वजनिक हितों के लिए उपयोग किया जाए।
3. आयकर इस प्रकार लगाया जाए कि आमदनी के साथ–साथ वह भी काफी मात्रा में बढ़ता जाए।
4. यातायात तथा संचार के साधनों का राज्य के हाथों में केन्द्रीकरण;
5. उत्तराधिकार की प्रथा का अन्त किया जाए।
6. बैंकों का राष्ट्रीयकरण, राष्ट्रीय बैंक की स्थापना;
7. भगोड़ों और विद्रोहियों की सम्पत्ति जब्त कर ली जाए;
8. कारखानों में छोटे श्रमिक बच्चों के कार्य करने पर रोक;
9. प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य करना अनिवार्य हो;
10. कृषि कार्यों का उद्योग धन्धों के कार्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाए।
11. राजकीय कारखानों तथा उत्पादन के साधनों का विस्तार;
12. शिक्षा का औद्योगिक उत्पादन के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाए।

उपर्युक्त कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए मार्क्स ने एक विशिष्ट कार्यपद्धति पर जोर दिया जो इस प्रकार है :

1. श्रमिकों के नेतृत्व में शोषितों एवं निर्धन लोगों को संगठित करना। मार्क्स के अनुसार श्रमजीवी वर्ग ही क्रान्ति का नेतृत्व कर सकता है क्योंकि वह वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था का विरोधी होता है। मार्क्स के अनुसार सर्वप्रथम औद्योगिक श्रमजीवियों को संगठित करना चाहिए; श्रम संघों पर अधिकार करना चाहिए तथा हड़ताल कराके वर्ग संघर्ष को तीव्र करना चाहिए।
2. विद्यार्थियों में साम्यवादी विचारों का प्रचार करना चाहिए। विद्यार्थियों में उत्साह एवं जोश सर्वाधिक होता है, अतः वे अधिक क्रान्तिकारी होते हैं।
3. जन आन्दोलनों को अनवरत बनाए रखना चाहिए जिससे आम जनता की श्रमजीवियों एवं निर्धन लोगों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है।
4. विभिन्न देशों की परिस्थितियों का गहन अध्ययन करके उसी परिप्रेक्ष्य में समयानुकूल 'साम्यवादी कार्यक्रम' निर्धारित किया जाना चाहिए। यदि देश गुलाम है तो अन्य दलों के साथ मिलकर उस देश की स्वतन्त्रता के लिए साम्यवादियों को प्रयत्न करना चाहिए। यदि देश स्वतन्त्र है और वहां चुनाव होते रहते हैं तो चुनाव लड़कर राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि चुनाव में बहुमत प्राप्त नहीं होता तो विरोधी दलों की भूमिका का निर्वाह करते हुए किसानों की शिकायतों को उजागर करना चाहिए।

16.7 सामाजिक परिवर्तन

मार्क्स की क्रान्ति की अवधारणा

मार्क्स सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रान्ति को अपरिहार्य मानता था। क्रान्ति से तात्पर्य है सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन होना। सामाजिक क्रान्तियों से ही समाज का विकास होता है क्योंकि उनके द्वारा पुरानी प्रतिगामी सामाजिक व्यवस्था का उन्मूलन किया जाता है और उनके स्थान पर नई प्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाती है। मार्क्स के शब्दों में, "नई उत्पादक शक्तियों और पुराने उत्पादक सम्बन्धों की टक्कर ही सामाजिक क्रान्ति की वस्तुगत आर्थिक बुनियाद है जिसके अन्तर्गत नई उत्पादक शक्तियों के वाहक प्रगतिशील वर्ग के वर्ग हितों के बीच टक्कर होती है। सामाजिक क्रान्ति इस टक्कर की उच्चतम अभिव्यक्ति और परिणति होती है।"

मार्क्स ने द्वन्द्ववाद के आधार पर पूंजीवाद का विश्लेषण करते हुए यह मत व्यक्त किया कि पूंजीवाद का विध्वंस अवश्यम्भावी है क्योंकि यह स्वयं ऐसे अन्तर्विरोध तथा ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करता है जो इसके विनाश का कारण बनती है। "उत्पादक शक्तियों तथा सम्बन्धों के बीच अन्तर्विरोध पूंजीवादी समाज में समय–समय पर संकट पैदा करते रहते हैं। कम्युनिस्ट–क्रान्ति समाज के परम्परागत सम्बन्धों को पूरी तरह खत्म कर देती है।" लेकिन साथ ही मार्क्स का यह भी मत था कि पूंजीवाद से समाजवाद में रूपान्तरण शान्तिमय अथवा वैज्ञानिक साधनों से सम्भव नहीं होगा क्योंकि प्रतिगामी पूजीपति वर्ग कभी भी स्वेच्छा से उत्पादन के साधनों पर से अपना स्वामित्व नहीं छोड़ेगा और इसलिए इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए क्रान्ति के हिंसापूर्ण साधनों का प्रयोग करना पड़ेगा। मार्क्स के शब्दों में, "नए समाजरूपी शिशु को गर्भ में धारण करने वाली हर पुरातन व्यवस्था के लिए शक्ति हर पुरातन व्यवस्था के लिए शक्ति एक दाई "मार्क्स कई कारणों से क्रान्ति को अपरिहार्य समझता था। सर्वप्रथम, उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धांत क्रान्ति की अनिवार्यता प्रतिपादित करता है। इसके अनुसार संसार के समस्त परिवर्तन अन्तर्विरोध के अनुसार स्वयमेव होते हैं। पूंजीवाद के आन्तरिक विरोध का निवारण करने के लिए क्रान्ति अनिवार्य है। द्वितीय, 1848–1851 के अनुभव ने मार्क्स को यह दर्शाया कि पूंजीपतियों के संगठित विरोध का सामना श्रमजीवी केवल शक्ति के प्रयोग से ही कर सकते हैं। उस समय फ्रांस, हंगरी, हालैण्ड, आदि देशों में क्रान्तियां इसलिए असफल हुईं क्योंकि निरंकुश शासनों ने सैनिक शक्ति द्वारा श्रमजीवियों के आन्दोलन को कुचल दिया था। मार्क्स ने उस समय स्पष्ट कहा, "मजदूर वर्ग की क्रान्ति का पहला कदम सर्वहारा वर्ग को उठाकर शासक वर्ग के आसान पर बैठाना और जनवाद के लिए होने वाली लड़ाई को जीतना है।" तृतीय कारण मार्क्स का यह विचार था कि शासक वर्ग ने बिना संघर्ष के कभी भी अपनी सत्ता नहीं छोड़ी है, अतः शान्तिपूर्ण तरीकों से परिवर्तन लाना सम्भव नहीं है।

मार्क्स के अनुसार समाजवादी क्रान्ति तब कही जाती है जब राज्य की शक्ति पर सर्वहारा का कब्जा हो जाता है और निर्णायक उत्पादक शक्तियां मजदूर वर्ग के हाथों में केन्द्रित हो जाती हैं।

क्रान्ति का सिलसिला यहीं समाप्त नहीं होता। यह एक निरन्तर प्रक्रिया है जिसमें संक्रमण अवस्था के दौरान सर्वहारा की तानाशाही की स्थापना से राज्यहीन समाज की अन्तिम अवस्था की दिशा में अग्रसर होने की अपेक्षा की जाती है। अपने लेख 'दि क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस' में मार्क्स क्रान्ति को निरन्तरता की घोषणा, सामान्यतया वर्ग विभेदों की समाप्ति की दिशा में आवश्यक मध्यम श्रेणी के रूप में सर्वहारा की वर्गीय तानाशाही, ऐसे सभी सामाजिक सम्बन्धों का उन्मूलन जो उत्पादन के इन सम्बन्धों के अनुरूपी है और उन सभी विचारों का क्रान्तिकरण जो इन सामाजिक सम्बन्धों से पैदा होते हैं के साथ क्रान्तिवादी प्रयोजनों की विशिष्टता का अभिनिर्धारण करता है। प्रारम्भ में मार्क्स का विचार था कि क्रान्ति हिंसक ही हो सकती है। बाद में, विशेषतः 1848 के उपरान्त मार्क्स ने अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन किया तथा क्रान्ति के अन्य मार्गों को भी अपने चिन्तन में समाहित किया। उनके अनुसार समाजवाद की दिशा में संक्रमण किसी देश की सामाजिक–आर्थिक स्थितियों के अनुरूप ही हो सकता है। मार्क्स को यह भरोसा होने लगा था कि लोकतान्त्रिक दृष्टि से उन्नत देशों (इंग्लैण्ड, हालैण्ड, फ्रांस और अमरीका), आदि में मतदान के माध्यम से समाजवादी क्रान्ति हो सकती है।

मार्क्स महानतम् क्रान्तिकारी था। उसका यह कथन क्रान्ति का शंखनाद है–"दार्शनिकों ने अब तक विश्व की व्याख्या की है, सवाल यह है कि इसको कैसे बदला जाए।" 17 मार्च, 1883 को मार्क्स की कब्र के एक ओर खड़े होकर उसके मित्र एंगेल्स ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि, "सब बातों से ऊपर, मार्क्स एक क्रान्तिकारी था और उसके जीवन का वास्तविक ध्येय किसी न किसी तरह से पूंजीवादी समाज को और इसके द्वारा अस्तित्व में लायी गयी राज्य की संस्थाओं को उखाड़ फेंकना है जिससे आधुनिक सर्वहारा की स्वाधीनता में योगदान दिया जा सके।" मार्क्स पहला व्यक्ति है जिसने सबसे पहले इस बात पर बल दिया कि सामाजिक क्रान्ति तब होती है जब उत्पादन के मौजूदा सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों के और अधिक विकास पर जंजीर की तरह कार्य करने लगते हैं।

मार्क्स : परिवार तथा धर्म

मार्क्स के अनुसार परिवार तथा निजी सम्पत्ति दोनों का श्रीगणेश एक साथ हुआ था, अतः दोनों का लोप भी साथ ही साथ होगा। साम्यवादी समाज में जिसकी मार्क्स ने कल्पना की है, परिवार, सम्पत्ति तथा धर्म तीनों का कोई स्थान नहीं

है। भविष्य में विवाह का एकमात्र आधार 'पारस्परिक प्रेम' होगा। विवाह का कोई नैतिक, धार्मिक अथवा आर्थिक महत्व न होगा। परिवार के लुप्त होने के साथ ही साथ धर्म भी लुप्त हो जाएगा। समाजवादी राज्य में धर्म की स्वाभाविक मृत्यु हो जाती है। जो कुछ भी नैतिकता होगी वह विशिष्ट आर्थिक परिस्थिति पर निर्भर एक आपेक्षिक नैतिकता होगी। परम नैतिकता या स्वतः सिद्ध नैतिकता जैसी कोई वस्तु न होगी। मध्यवर्गीय नैतिकता के स्थान पर सर्वहारा वर्ग की नैतिकता प्रतिष्ठित होगी।

मार्क्स : पूंजीवाद की आलोचना

मार्क्स के लेखन का सर्वाधिक स्थायी भाग, विशेषतः 'दास कैपीटल' में पूंजीवाद सम्बन्धी उसकी समालोचना था। मार्क्स का पूरा आर्थिक राजनीतिक दर्शन दास कैपीटल में अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत हुआ है। सर्वहारा वर्ग की पूरी भूमिका तथा शोषण का समूचा स्वरूप यह ग्रन्थ उजागर करता है। पूंजीवादी समाज के अस्तित्व में आने, फलने–फूलने और नष्ट होकर एक नए समाज–समाजवादी समाज में तब्दील होने की प्रक्रिया इसमें समझाई गई है।

पूंजीवाद की समालोचना करते हुए मार्क्स ने लिखा है कि इसमें उत्पादन मुनाफे के लिए होता है और उत्पादन के साधन कारखाने तथा मशीनें होती हैं। मशीनों तथा उद्योगों का स्वामित्व पूंजीपतियों के हाथों में होता है और वे केवल लाभ कमाने के लिए अधिकतम उत्पादन करते हैं। इस व्यवस्था में पूंजीपतियों को लाभ इसिलए होता है क्योंकि वे श्रमिकों को कम मजदूरी देते हैं, अतिरिक्त मूल्य अपनी जेब में रखते हैं तथा मजदूरों का शोषण करते हैं। मजदूरों का जितना अधिक शोषण करते हैं उतनी ही अधिक उनमें जागरूकता आती है और वे पूंजीवाद के विध्वंस के लिए उग्रता से जुट जाते हैं। इस प्रकार पूंजीवादी स्वयमेव अपने अन्तर्विरोध से मजदूरों को पैदा करके अपने विनाश की कब्र खोदता है।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में आर्थिक संकट उत्पन्न होते हैं जिससे पूंजीवाद धीरे–धीरे स्वतः ही खोखला होता जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था से खुली प्रतियोगिता के कारण पूंजीपति वे ही चीजें मशीनों द्वारा उत्पन्न करता है जिनसे अधिक लाभ हो। सभी कारखाने एक प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न करने में लग जाते हैं जिससे उत्पादन बढ़ जाता है, किन्तु मजदूरी कम दिए जाने से मजदूरों की आय कम हो जाती है और उनकी क्रय शक्ति घट जाती है। अतः माल की मांग और खपत कम होना स्वाभाविक है जिसका अन्ततोगत्वा परिणाम होता है आर्थिक संकट। आर्थिक संकट से लोगों में असन्तोष बढ़ता है और वे पूंजीवाद के अन्त के लिए संगठित होना शुरू कर देते हैं।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद मजदूरों को संगठित करता है और उनमें सामुदायिक भाव पैदा करता है। सामन्ती युग के मजदूर एक दूसरे से अलग, कटी–छंटी स्थिति में रहते थे। माल का निजी उत्पादन होता था। आधुनिक फैक्टरी प्रणाली मजदूरों को एकजुट करती है, उनमें वर्गीय चेतना पैदा करती है तथा इस प्रकार वह अन्ततः उन्हें संगठित वर्गीय कार्यवाही के लिए तैयार करती है। इस संगठित वर्गीय कार्यवाही का परिणाम ही वर्ग संघर्ष व क्रान्ति है।

मार्क्स ने यह कल्पना की कि पूंजीवाद का चरमोत्कर्ष होने पर पूंजीपति अधिक धनी और श्रमिक अधिक निर्धन होते चले जाएँगे, पूंजीपतियों की संख्या घटती जाएगी तथा श्रमिकों की संख्या बढ़ती जाएगी। कालान्तर में समाज में दो ही वर्ग रह जाएँगे–मुट्ठी भर पूंजीपतियों का वर्ग तथा विशाल सर्वहारा वर्ग। भृत्ति के लौह नियम के अनुसार पूंजीपति का मुनाफा बढ़ता जाता है और श्रमिक की दरिद्रता में वृद्धि होती है जिससे उनमें पूंजीवाद के विरुद्ध तीव्र रोष और असन्तोष की भावना उत्पन्न होती है, यही क्रान्ति को पैदा करती है, पूंजीवाद के विध्वंस का मार्ग प्रशस्त करती है।

मार्क्स पूंजीवाद के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को उजागर करता है और कहता है कि मशीनों से इतनी विशाल मात्रा में उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है कि उसे खपाने के लिए मण्डियों की आवश्यकता होती है, अतः दूसरे देशों में मण्डिया खोजी जाती हैं। यातायात एवं संचार के साधनों के विकास होने से दूरस्थ देशों से व्यापार करना आसान हो जाता है। पूंजीपति अब दूसरे देशों में अपनी पूंजी लगाने लगते हैं। अतः धीरे–धीरे पूंजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर लेता है। जब पूंजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है तो इसे विध्वंस करने वाला आन्दोलन भी सभी देशों में फैल जाता है। अब श्रमिक केवल अपने देश में ही पूंजीवाद के खिलाफ आन्दोलन नहीं करते बल्कि अन्य देशों में भी संगठित होने लगते हैं। साम्यवादी आन्दोलन विश्वव्यापी रूप धारण कर लेता है। इसलिए 'साम्यवादी घोषणापत्र' में कहा गया है–"दुनिया के मजदूर एक हो जाओ।"

कुल मिलाकर मार्क्स इस बात के प्रति आश्वस्त थे कि पूंजीवाद का पतन अपरिहार्य है।

मार्क्स के दर्शन की आलोचना

मार्क्सवादी दर्शन की कड़ी आलोचना विभिन्न लेखकों तथा दार्शनिकों ने की है। इनमें से पूंजीवादी वर्ग के लेखक कार्ल, पॉपर, बर्नस्टीन जैसे संशोधनवादी तथा कीन्स जैसे अर्थशास्त्री प्रमुख हैं। कार्ल पॉपर की आलोचना आज सबसे सशक्त तथा पूर्ण मानी जाती है। जिसका उनके ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है।

मार्क्स के विचारों की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है–

1. मुक्त समाज का दुश्मन–कार्ल पॉपर ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'दि ओपन सोसायटी एण्ड इटस एनिमीज' में मार्क्सवाद को 'मुक्त समाज' का दुश्मन ठहराया है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को नष्ट कर देता है और उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधक है।

2. हिंसा को बढ़ावा देना–मार्क्स के दर्शन की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि वह क्रान्ति का सन्देश देकर हिंसा को बढ़ावा देता है, वर्ग संघर्ष का प्रचार करके वर्ग सहयोग की सम्भावाएँ समाप्त कर देना चाहता है।

3. अधिनायकवाद को प्रोत्साहन–मार्क्सवाद के विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यह है कि साम्यवादी समाज की कल्पना चाहे कितनी ही मधुर क्यों न हो, व्यवहार में वह सर्वहारा के अधिनायकतन्त्र या निरे 'अधिनायकतन्त्र' की स्थापना करता है। सोवियत रूप से चीन में साम्यवादी क्रान्तियों के फलस्वरूप जो व्यवस्थाएँ अस्तित्व में आयीं, उन्होंने आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी और सैनिक प्रगति का चाहे कितना ही बड़ा प्रमाण क्यों न दिया हो, वहां के नागरिक चिरकाल तक 'अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता' से वंचित ही रहे। सिद्धांततः सोवियत शासन प्रणाली का अधिनायकतन्त्रीय स्वरूप अस्थायी होना चाहिए था, परन्तु वहां पर आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों के बढ़ते हुए केन्द्रीकरण ने 'राज्यविहीन समाज' की कल्पना को पीछे धकेल दिया।

4. भविष्यवाणियां गलत साबित होना–मार्क्स की अधिकांश भविष्यवाणियां गलत साबित हुई हैं। मार्क्स के ग्रन्थ 'दास कैपीटल' को सौ से भी अधिक वर्ष हो चुके हैं, किन्तु पूंजीवाद के विध्वंस और राज्य के लोप होने की भविष्यवाणी सच नहीं निकली, धनी अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन नहीं हुए हैं, मध्यम वर्ग का लोप होने के स्थान पर उसकी संख्या तथा प्रभाव में वृद्धि हुई।

5. इतिहास की मनमानी व्याख्या–आलोचकों के अनुसार मार्क्स ने इतिहास की मनमानी व्याख्या की है। उसने

द्वन्द्वात्मक पद्धति और वर्ग संघर्ष के सिद्धांत के आधार पर मानव इतिहास को पांच कालों में बांटा है। एक्टन ने कहा है कि पिछले एक सौ वर्ष पुराने इतिहास के अनुभव के आधार पर हजार वर्ष के पुराने इतिहास की व्याख्या करना सन्तोषजनक नहीं है। मार्क्स की सबसे बड़ी भूल यह है कि पूंजीवाद के पिछले सौ वर्ष के ऐतिहासिक विकास के आधार पर उसने समूचे इतिहास का गलत और मनमाना युग विभाजन कर दिया।

6. धर्म की उपेक्षा–मार्क्स ने धर्म जैसे तत्व की उपेक्षा की है। उसने धर्म को जनता के लिए अफीम कहा है। उसके विचारों में धर्म का कोई स्थान नहीं है।

7. राज्य सम्बन्धी भ्रांत धारणा–मार्क्स की यह कल्पना गलत है कि राज्य अपने आप धीरे–धीरे समाप्त हो जाएगा। वास्तविकता तो यह है कि आजकल साम्यवादी देशों में राज्य के अधिकार और उसकी शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। मार्क्सवादी अगले दरवाजे से राज्य को बाहर निकालता है तो पिछले दरवाजे से उसे किसी अन्य रूप में वापस ले आता है।

मार्क्स की पुस्तक 'दास कैपीटल' की आलोचना करते हुए कीन्स ने लिखा है, "मार्क्स का ग्रन्थ, 'कैपीटल' रद्द की गई पाठ्यपुस्तक है। वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही असत्य नहीं है, आधुनिक संसार में न इसकी कोई उपयोगिता है और न लोगों की इसमें रुचि है।" कार्ल पॉपर ने दार्शनिक आधार पर मार्क्सवाद को विचारों की कट्टरता तथा इतिहासवाद की संज्ञा दी है। हण्ट ने मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत के विषय में लिखा है कि यह वास्तव में मूल्य का सिद्धांत न होकर शोषण का सिद्धांत है। लिण्डसे के अनुसार उसने जिस पूंजीवाद का वर्णन किया है वह एक काल्पनिक पूंजीवाद' है, उसका वास्तविक जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आलोचकों के अनुसार मार्क्स में न तो मौलिकता है और न ही भावी समाज का उसने स्पष्ट चित्र खींचा है। मार्क्स ने अपने प्रायः सभी विचारों को दूसरों से ग्रहण किया है। उसका मजदूरों से भी कम सम्बन्ध था, उसका सम्बन्ध बुद्धिवादी निर्वासित क्रान्तिकारियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्रकारियों से ही था। उसने अपना ज्ञान मजदूरों में रहकर नहीं अपितु ब्रिटिश म्यूजियम के पुस्तकालय में बैठकर सरकारी रिपोर्टों और पुस्तकों से प्राप्त किया था।

अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
2. मार्क्स के इतिहास के भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए।
3. मार्क्स के राज्य सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. मार्क्स की द्वन्द्ववादी प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।
2. वर्ग संघर्ष की धारणा को स्पष्ट कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. "Das Caital" के लेखक का नाम लिखिए।
2. किसने "राज्य विहीन–वर्ग–विहीन–शोषण–विहीन समाज" की स्थापना पर बल दिया है?